अप्रतिम नायक

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी

तथागत राय

भूमिका : लालकृष्ण आडवाणी

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी (1901-1953) एक बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी ही नहीं, एक महान् शिक्षाविद्, देशभक्त, राजनेता, सांसद, अदम्य साहस के धनी और सहृदय मानवतावादी थे। बावन वर्ष के जीवनकाल में, और उसमें से भी राजनीति में सिर्फ चौदह साल में वे स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में कैबिनेट मंत्री के पद तक पहुँचे; जिसे उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान में हुए अल्पसंख्यक हिंदुओं के नरसंहार के मुद्दे पर प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से गंभीर मतभेद होने के कारण ठुकरा दिया। इससे पहले वे जिन्ना के पाकिस्तान से छीनकर बनाए गए पश्चिम बंगाल और पूर्वी पंजाब के अस्तित्व में आने के पीछे एक सक्रिय ताकत रहे। कैबिनेट मंत्री के पद को ठुकराने के बाद उन्होंने भारतीय जनसंघ की स्थापना की, जिसकी परिणति आज की भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के रूप में हुई।

यह पुस्तक भलीभाँति शोध की हुई मातृभूमि के उस महान् सपूत की समग्र जीवनी है, जो उनके प्रेरणादायी जीवन का ज्ञान कराती है।

अप्रतिम नायक

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी

अप्रतिम नायक
डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी

तथागत राय

भूमिका

लालकृष्ण आडवाणी

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
4/19 आसफ अली रोड,
नई दिल्ली–110002
सर्वाधिकार • सुरक्षित
संस्करण • प्रथम, 2013
अनुवाद • श्री सुशील राजेश
मूल्य • आठ सौ रुपए
मुद्रक • भानु प्रिंटर्स, दिल्ली

APRATIM NAYAK DR. SYAMA PRASAD MOOKERJEE
by Tathagata Roy
Rs. 800.00
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2
e-mail: prabhatbooks@gmail.com
ISBN 978-93-5048-236-0

मेरी प्रिय पुत्रियों

मालिनी रॉय (राव)

व

मधुरा रॉय (खेडेकर)

को स्नेहपूर्वक समर्पित

भूमिका

इस पुस्तक के लेखक तथागत राय विगत समय में हमारी पार्टी की पश्चिम बंगाल इकाई के अध्यक्ष रह चुके हैं। कुछ समय पहले जब वे मुझसे कोलकाता में मिले तो उन्होंने मुझे डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की जीवनी की पांडुलिपि भेंट की और उसकी भूमिका लिखने का अनुरोध किया। उनका यह अनुरोध मेरे लिए सम्मान की बात थी। मैं डॉ. मुकर्जी को स्वतंत्र भारत की एकता और अखंडता के लिए पहला शहीद मानता हूँ।

मैं सन् 1927 में कराची (अब पाकिस्तान) में पैदा हुआ था। हजारों देशभक्तों के बलिदान और संघर्ष की बदौलत भारत को सन् 1947 में ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता मिली। हालाँकि हमारी मातृभूमि को यह स्वतंत्रता विभाजन की त्रासदी के साथ मिल पाई, जो कि एक ऐसी घटना थी, जिसमें हजारों लोगों का नरसंहार हुआ और लाखों लोगों को अपना घर-बार छोड़कर भागना पड़ा।

विभाजन के एक माह बाद मैंने कराची छोड़ दिया। स्वतंत्रता के बाद के मेरे पहले दस साल (1947 से 1957) राजस्थान में व्यतीत हुए। ऐसे में जब सन् 1951 में डॉ. मुकर्जी ने राष्ट्रवाद, लोकतंत्र तथा सुशासन के प्रति समर्पित राजनीतिक दल भारतीय जनसंघ की स्थापना की, जो भारतीय संस्कृति तथा मूल्यों पर आधारित था, तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से बचपन से जुड़े हमारे जैसे कई लोगों ने इस नए दल में शामिल होने और राजनीति के माध्यम से देशसेवा करने का निश्चय किया।

उस समय बीस से तीस की उम्र के कई युवाओं, जैसे पंडित दीनदयाल उपाध्याय, अटल बिहारी वाजपेयी, नानाजी देशमुख, बलराज मधोक, यज्ञदत्त शर्मा, सुंदरसिंह भंडारी, जगन्नाथ राव जोशी, गोपाल राव ठाकुर, कैलाशपति मिश्र, वसंतराव भागवत, नाथाभाई, जगदीश प्रसाद माथुर, पी. परमेश्वरन, रामप्रसाद दास, कुशाभाऊ ठाकरे आदि के साथ मैं भी देश की आजादी के बाद बने पहले राजनीतिक दल में सम्मिलित हो गया।

ऊपर मैंने जिन कार्यकर्ताओं के नाम बताए, वे सब बेहद प्रतिभाशाली थे, और उन लोगों ने विकसित हो रहे लोकतंत्र के शुरुआती दशकों में कड़ी मेहनत की तथा उन्हीं की बदौलत आज भारतीय जनता पार्टी मजबूत ताकत बन सकी है।

जैसा कि मैंने पहले ही बताया है कि जनसंघ की स्थापना के समय मैं राजस्थान में था। पार्टी की स्थापना के कुछ सालों बाद ही डॉ. मुकर्जी ने जम्मू एवं कश्मीर में राज्य सरकार की अनुमति के बिना न जाने के आदेश की अवज्ञा की। पंजाब तथा जम्मू एवं कश्मीर के बीच पुल पर डॉ. मुकर्जी को गिरफ्तार कर श्रीनगर के पास किसी स्थान पर ले जाया गया और कुछ महीनों तक बंदी रखा गया।

23 जून, 1953 को पूरा देश यह जानकर स्तब्ध रह गया कि हिरासत में मामूली सी बीमारी के बाद डॉ. मुकर्जी को श्रीनगर के मुख्य अस्पताल ले जाया गया, जहाँ कुछ ही समय में उनकी मृत्यु हो गई।

मैं उन दिनों जयपुर में था। मुझे अच्छी तरह याद है कि रात में करीब साढ़े चार बजे अपने पार्टी दफ्तर के बाहर किसी की तेज आवाज से मेरी नींद खुली (वह कोई स्थानीय पत्रकार था)। वह रोते हुए चिल्ला रहा था, ''आडवाणीजी, उन्होंने डॉ. मुकर्जी को मार डाला!''

अब तक यह रहस्य ही है कि डॉ. मुकर्जी की मृत्यु कैसे हुई। क्या उन्हें पर्याप्त चिकित्सीय सुविधा उपलब्ध नहीं कराई गई? अथवा यह चिकित्सकीय हत्या थी? पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. बी.सी. राय और डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की श्रद्धेय माताजी श्रीमती योगमाया देवी ने मामले की व्यापक जाँच कराने और सारे तथ्य सामने लाने की माँग को लेकर पंडित नेहरू से कई बार पत्र-व्यवहार किया। इतनी बड़ी ऐतिहासिक त्रासदी घटित हो चुकी थी और जाँच का एक आदेश तक जारी नहीं किया गया था।

श्रीमती योगमाया देवी ने पंडित नेहरू के सांत्वना संदेश के जवाब में उन्हें जो पत्र लिखा था, वह वाकई मार्मिक था। उन्होंने लिखा था—

> मैं आपसे किसी तरह की सांत्वना के लिए नहीं लिख रही हूँ। मैं तो आपसे न्याय की माँग कर रही हूँ। मेरे बेटे की मृत्यु उस हिरासत में हुई, जहाँ उसे बिना मुकदमे के रखा गया था। आपने अपने पत्र में इस बात पर जोर देने की कोशिश की है कि कश्मीर सरकार ने वह सबकुछ किया, जो वह कर सकती थी। आपकी यह धारणा आपको दिए आश्वासनों और जानकारियों पर आधारित है। मैं पूछना चाहती हूँ कि इस तरह की जानकारी का क्या महत्त्व है, जो उन्हीं लोगों ने उपलब्ध कराई है, जो स्वयं कठघरे में खड़े हैं? आपने कहा है, मेरे बेटे की हिरासत के दौरान आप कश्मीर गए थे। आपने उसके प्रति अपने स्नेह की बात की। हालाँकि मुझे हैरानी है कि उससे व्यक्तिगत तौर पर मिलने तथा उसकी सेहत और व्यवस्था के बारे में स्वयं को संतुष्ट करने से आपको किसने रोका था?
>
> उसकी मृत्यु रहस्यमय हालातों में हुई है। इससे ज्यादा स्तब्ध करनेवाली और हैरानी की बात और क्या होगी कि उसे हिरासत में लिये जाने के बाद से कश्मीर

> सरकार की तरफ से पहली जानकारी बस यही मिली कि मेरा बेटा अब जीवित नहीं है, और वह भी पूरे दो घंटे बाद; और यह संदेश भी कितने क्रूर और गुप्त रूप में पहुँचाया गया! हिरासत से अस्पताल ले जाने के बारे में मेरे बेटे ने जो तार भेजा था, वह भी मुझे उसकी मृत्यु के हृदय-विदारक समाचार के बाद मिला। यह पक्की जानकारी है कि मेरे बेटे को वहाँ हिरासत में शुरू से ही अच्छी तरह से नहीं रखा गया था। वह वहाँ कई बार और लंबे समय तक बीमार पड़ा। मैं पूछती हूँ कि कश्मीर सरकार या आपकी सरकार ने उसके बारे में किसी तरह की जानकारी मुझे या मेरे परिवार को क्यों नहीं दी?

भारत की राजनीति में भारतीय जनता पार्टी का स्थान हमारे हजारों साथियों के बलिदान, और इन सबसे ऊपर डॉ. मुकर्जी की विचारदृष्टि एवं बलिदान के बल पर है। हमें अपने महान् नेता को जानने का मौका उनके जीवन के अंतिम वर्षों में ही मिल पाया। तथागत राय ने इतिहास और राजनीति में राष्ट्रीय सरोकारों के बारे में शोध करके उत्कृष्ट कार्य किया। उन्होंने इस महान् नायक के बचपन से लेकर जीवन के अंत तक का विस्तृत विवरण इस पुस्तक में समाहित किया है, जिसे उन्होंने 'संपूर्ण जीवनी' कहा है। मेरी ओर से उन्हें बधाई।

12 जून, 2012

(लालकृष्ण आडवाणी)

अनुक्रमणिका

1

वंश-परंपरा और आरंभिक जीवन

यह विश्वास किया जाता है कि 12वीं शताब्दी में मुखिया आदिसुर (जिन्हें मध्य बंगाल में गौड़ देश के हिंदू शासक, महाराजा बल्लाल सेन भी कहा जाता है) ने तय किया था कि नस्लीय शुद्धता का सुधार और उसे संरक्षित करना आवश्यक है। लिहाजा उन्होंने सुदूर कान्यकुब्ज या कन्नौज (वर्तमान उत्तर प्रदेश) से पाँच ब्राह्मणों और पाँच कायस्थों को बुलाने का निश्चय किया। यह उपजाति हिसाब-किताब बनाने और क्लर्की में विशेषज्ञ मानी जाती थी। ऐसे प्रावधान भी किए गए कि वे आपस में ही कितने भी विवाह कर सकते थे, क्योंकि मुखिया चाहते थे कि एक बंगाली कुलीन वर्ग पैदा होना चाहिए। ऐसे कुलीन ब्राह्मणों के कुछ वंशज मौजूदा पश्चिम बंगाल (गंगा या भागीरथी नदी के पश्चिम में) के एक हिस्से में बसे थे। उस इलाके को रार (लाल रंग की भूमि) और उसमें बसे हुए तबके को रार ब्राह्मण के रूप में जाना गया। वक्त के साथ-साथ वे बंगाली समाज में ही पूर्णतया समरस हो गए। उनके उपनामों में कई बदलाव आए। हालाँकि वे उपनाम का बहुत कम इस्तेमाल करते थे। सामान्यत: वे खुद को 'शर्मा' या 'देवशर्मा' कहते थे; लेकिन उनके उपनाम कई बदलावों के बाद बंद्योपाध्याय, मुखोपाध्याय, चट्टोपाध्याय और घोषाल होते गए। ये बदलाव उनके गोत्र पर भी निर्भर करते थे। बोलचाल की भाषा में उन्हें क्रमश: बनरुजे, मुखुज्जे, चाटुज्जे और गांगुली कहकर पुकारा जाता था। घोषाल का उच्चारण इतना कठिन नहीं था। जब देश में अंग्रेज आए और उनके भारतीय शासन के लिए क्लर्कों की जरूरत पड़ी तो उन्होंने इन ब्राह्मणों और कायस्थों में से ही ज्यादातर चुने। वे तब तक न केवल मैकाले प्रेरित अंग्रेजी शिक्षा ले चुके थे, बल्कि उसमें विशेष योग्यता भी हासिल कर चुके थे। अंग्रेजों के साथ उनके संवाद और मिलने-जुलने के मद्देनजर अंग्रेजों ने अपनी एंग्लो-सैक्सन जुबान के अनुसार उनके उच्चारण तय किए और शब्दों को दाएँ-बाएँ तोड़-मरोड़ लिया गया। इस प्रकार, मौजूदा मध्य कोलकाता में, जहाँ कभी कोलकाता के संस्थापक जॉब चारनोक का पार्लर था और जिसे 'बैठकखाना' कहा जाता था, उसका उच्चारण बदलकर 'बॉयटाकोन्नाह' हो गया। इसी तरह चुचुरा बदलकर 'चिन्नसुराह' और चट्टोग्राम बदलकर 'चिट्टगोंग' हो गया। गंगा नदी को भी 'गंगेज' कहा गया और पाँच में से पहले चार ब्राह्मणों के उपनाम बनर्जी, मुकर्जी, चटर्जी और गांगुली हो गए।

हालाँकि समाज में ब्राह्मणों का आदर था, क्योंकि उन्हें भगवान् और देवत्व के करीब समझा जाता था। वे कुछ भी हों, लेकिन संपन्न नहीं थे। उनका जीवन-निर्वाह बहुत कठिन था और पुरोहित के काम से ही उनकी गुजर-बसर होती थी। उनके यजमान सामान्यत: गैर-ब्राह्मण ही होते थे। पूजा में प्राप्त चावल, सब्जियों, अन्य भेंटों और दक्षिणा से ही उनका जीवन चलता था। ब्राह्मणों में कुछ चतुष्पाठी या टोल (गुरुकुल जैसे विद्यालय, जिनमें बच्चे गुरु के आवास पर ही रहते थे) संस्कृत विद्यालय चलाते थे और हिंदू धर्मग्रंथ पढ़ाते थे। विद्यार्थियों से जो नकद धन मिलता था या वस्तुएँ दी जाती थीं, वही उनकी आजीविका थी। जिनके यजमान अमीर होते थे, वे ब्राह्मण भी अपेक्षाकृत संपन्न होते थे। हिंदू समाज व्यवस्था में पुरोहित न तो पहले और न ही आज संगठित हैं। नतीजतन धनी यजमान शीर्ष पर होते थे, हालाँकि जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ माना जाता था। लिहाजा उन्हें 'वर्णश्रेष्ठ' कहा जाता था। लेकिन ऐसा भी होता था कि कई यजमान अपने पुरोहित को बरखास्त कर देते थे तो उन्हें नए यजमान की तलाश में निकलना पड़ता था, जो कि आसान काम नहीं था। इसलिए ब्राह्मणों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमना पड़ता था कि कहाँ पुरोहितों का अभाव है और कहाँ इन्हें नया यजमान मिल सकता था। अंतत: किसी-न-किसी तरह से ब्राह्मणों को कुछ-न-कुछ मिल ही जाता था। इसलिए यह असामान्य नहीं है कि रारी ब्राह्मण सुदूर पूर्व में सिलहट तक और बरेंद्र ब्राह्मण दक्षिण में हावड़ा तक मिल जाते हैं। बरेंद्र उत्तरी बंगाल में लाहिड़ी, सान्याल आदि नामों से भी बसे हुए हैं।

कुलीन व्यवस्था में पुरुष के बहु विवाहों के कारण अकसर ऐसा भी होता था कि 60 साल या उससे भी ज्यादा उम्र का आदमी 9 साल की कन्या से भी शादी कर सकता था। ऐसे कई मामलों में पुरुष अपनी उम्र के मुताबिक मर जाते थे, लेकिन पीछे छोड़ जाते थे—एक अनाथ बाल-विधवा! बच्चा भी छोटा होता था, जो अनाथ हो जाता था। वैसे भी उन दिनों बंगाल में औसत आयु बहुत कम थी। पति के मरने के बाद बाल-विधवा सामान्यत: अपने मायके चली जाती थी। समाज में उन्हें सम्मान प्राप्त नहीं था। उन पर अनेक पाबंदियाँ थोप दी जाती थीं। मसलन बिना किसी हास-परिहास और सादा भोजन के साथ ही उन्हें अपना जीवन काटना पड़ता था। ऐसी ही एक लड़की थी—सरस्वती। उसका विवाह दिग्सुई गाँव, जिला हुगली के निवासी रामजॉय के साथ हुआ। लड़की ने जल्द ही एक बच्चे को जन्म दिया, लेकिन उसके पति का देहांत हो गया। उसी जिले के गाँव जिराट में वह अपने मायके लौट आई। वह अपने दो साल के बेटे विश्वनाथ के साथ माता-पिता के घर आई थी। बेटे का जन्म 18 अक्तूबर, 1787 को हुआ था। जिराट गंगा नदी के किनारे पर स्थित है, जो बर्द्धमान जिले के कालना कस्बे से ज्यादा दूर नहीं है।

यद्यपि बालक विश्वनाथ को विरासत में मुखोपाध्याय या मुकर्जी उपनाम मिला था। यह ऐसे पिता का उपनाम था, जिसे उसने कभी देखा ही नहीं था। पिता सामदेवी रारी ब्राह्मण था और उसका गोत्र भारद्वाज था। कृतिबास ओझा के एक भतीजे से भी उस बालक के वंश का सीधा संबंध था। बंगाली में 'रामायण' महाकाव्य के विख्यात अनुवादक ओझा का परिवार नादिया जिले के फुलिया गाँव का था और मुकर्जी भी फुलिया मेल का रहनेवाला था। 'मेल' उस दौर की जाति व्यवस्था का ही एक अंग था।

समय के साथ-साथ विश्वनाथ बड़ा हुआ और उसका विवाह ब्रह्ममयी से हुआ। ऐसा नहीं

था कि प्रत्येक कुलीन ब्राह्मण बहुपत्नी प्रथा में ही लिप्त था। महाराजा बर्द्धमान के न्यायालय के प्रख्यात पुरोहित सार्वभौम चटर्जी की प्रपौत्री थी ब्रह्ममयी। गुजरते वक्त के साथ विश्वनाथ धनवान व्यक्ति बन गया था। उसने बँगला भाषा में एक यात्रा-वृत्तांत का लेखन भी किया था। वह यात्रा उत्तरी बंगाल (अब बँगलादेश) में जिराट से रंगपुर तक नौका से की गई थी। ब्रह्ममयी की तीर्थयात्राओं में बहुत आस्था थी। उसने अपने गाँव की कुछ और महिलाओं के साथ ओड़िशा में पुरी तक की धर्मयात्रा करने का फैसला किया। यह स्थान करीब 500 किलोमीटर दूर था। बहरहाल ब्रह्ममयी पुरी तक सकुशल पहुँच गई, लेकिन वहाँ उसे चेचक की बीमारी ने घेर लिया। कुछ लोग उस बीमारी को मलेरिया कहते रहे हैं। ब्रह्ममयी ने वहीं अपने जीवन की आखिरी साँस ली थी। करीब 7 साल के बाद, जब विश्वनाथ गंगा में पवित्र डुबकी लगा रहे थे, तब वहाँ से गुजरती एक नौका का मस्तूल टूट गया और उसके सिर पर चोट मारता हुआ गिरा। अंतत: इस चोट ने विश्वनाथ की जान ले ली। वह अपने पीछे चार बेटे छोड़ गए थे—दुर्गाप्रसाद, हरिप्रसाद, गंगाप्रसाद और राधिकाप्रसाद। उनकी उम्र क्रमश: 17, 15, 13 और 10 वर्ष थी।

जाह्नवी नाम की एक कायस्थ महिला, जो मुकर्जी के घर में काम करती थी, ने उन अनाथ बच्चों की देखभाल का जिम्मा अपने ऊपर लिया। सभी बच्चे बड़े होशियार थे। उन्होंने अपनी पढ़ाई बड़ी लगन के साथ की थी। मृत्यु के समय विश्वनाथ पर भारी कर्ज था। हालाँकि कर्ज के भुगतान की समय-सीमा गुजर चुकी थी, लेकिन सबसे बड़े बेटे दुर्गाप्रसाद ने परिवार के सम्मान को कायम रखने के लिए कर्ज के भुगतान का फैसला लिया। कुछ समय के बाद वह हावड़ा जिले के अंदुल नामक स्थान पर चला गया और भाइयों को भी साथ ले गया। वहाँ उसने एक स्कूल अध्यापक के रूप में काम करना शुरू किया। उस स्थिति में उसने अपने भाइयों के लिए माता-पिता की भूमिका निभाई। वह न केवल धनार्जन के लिए अध्यापन का काम करता था, बल्कि भाइयों के लिए भोजन भी पकाता था। उन दिनों ब्राह्मण सिर्फ ब्राह्मण द्वारा पकाए गए भोजन को ही ग्रहण करते थे। कुछ समय बाद वह तामलुक स्थान पर चला गया और अध्यापक के बजाय कुछ अन्य लाभदायी कारोबार के लिए खुद को प्रशिक्षित किया। नतीजतन उसने सिविल इंजीनियरिंग की पढ़ाई की और गाजीपुर जिले (अब उत्तर प्रदेश में) में जिला इंजीनियर के पद तक पहुँचा। इस तरह उसने जो धन कमाया, वह इंपीरियल राजधानी कलकत्ता लौट जाने के लिए पर्याप्त था। बाद में वह फिर गाजीपुर लौट गया। वहाँ अपने भाइयों को स्कूल में प्रवेश दिलवाया, ताकि वे अपनी पढ़ाई पूरी कर सकें।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कलकत्ता एक भिन्न तरह का महानगर था। हालाँकि उसके बाद उसका बहुत पतन हुआ। वह झुग्गी-झोंपड़ी, स्लम और शोरगुलवाला शहर बन गया। लेकिन वह बड़े-बड़े महलों का भी शहर था—साम्राज्यवादी भारत की राजधानी तथा ब्रिटिश हुकूमत में दूसरा शहर…! यह बंगाल में नवजागरण का भी दौर था और बंगाली भद्रलोक अपनी मौजूदगी महसूस कराने लगा था। भारत सरकार की सीट भव्य और विशाल राइटर्स बिल्डिंग में थी। डलहौजी स्क्वायर को नजरअंदाज किया गया था, जबकि यह अंग्रेजों में सबसे महान् साम्राज्य निर्माता लॉर्ड डलहौजी के नाम पर था। क्लाइव स्ट्रीट की कई व्यापारिक फर्मों और बैंक समूहों पर शहर को गुमान था। वह शहर का व्यावसायिक केंद्र था। हिंदू कॉलेज (बाद में प्रेसीडेंसी

कॉलेज) और सेंट जेवियर कॉलेज जैसे प्रमुख शैक्षिक संस्थान थे, जबकि सरकारी शैक्षिक संस्थाएँ उससे अलग थीं। यह पटसन, चाय और कोयला के व्यापार का केंद्र था। यहीं गवर्नर जनरल और वायसरॉय के निवास थे तथा सत्ता का केंद्र भी यहीं था, जिसका प्रभाव लॉर्ड डलहौजी की विजयों के बाद सिंध से असम और उत्तर-पश्चिमी सरहदों से लेकर कन्याकुमारी तक फैला था। कलकत्ता शहर को कहा जाता था—दुर्गाप्रसाद ने अपने भाइयों के साथ कलकत्ता आकर सम्मानित स्थान हासिल कर लिया था।

तीसरा भाई गंगाप्रसाद अत्यंत प्रतिभाशाली था। उसे ब्रिटिश शिक्षाविद् डेविड हरे द्वारा स्थापित हरे स्कूल में प्रवेश मिल गया था। तब उसे शहर का सर्वोत्तम स्कूल माना जाता था। कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना सन् 1857 में हुई। गंगाप्रसाद ने उसी साल यूनिवर्सिटी की प्रवेश परीक्षा में भाग लिया। उसने न केवल परीक्षा पास की, बल्कि छात्रवृत्ति भी हासिल की। इस तरह उसने प्रेसीडेंसी कॉलेज में छात्रवृत्ति पाई। गंगा का संकल्प और परिश्रम अतुल्य थे, हालाँकि आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रहती थी। उसने पढ़ाई जारी रखी और उसमें वह श्रेष्ठ रहा। आर्थिक स्थिति इतनी बदतर थी कि लालटेन में तेल के लिए भी भाई खर्च वहन नहीं कर सकता था, लिहाजा गंगा को गली की लाइट या पड़ोस की परचून की दुकान में बैठकर पढ़ना पड़ता था। बहरहाल सन् 1861 में उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उस दौर में बी.ए. की डिग्री किसी अच्छी नौकरी को पाने के लिए पर्याप्त थी। अकसर भारतीयों को डिप्टी मजिस्ट्रेट का पद मिल जाता था। गंगा अपने इस एक कदम से घर की खराब आर्थिक स्थिति को समाप्त कर सकता था, लेकिन उसने डॉक्टरी की पढ़ाई करना तय किया और शहर में खुले नए मेडिकल कॉलेज में प्रवेश लिया। सन् 1866 में वह मेडिसिन का भी ग्रेजुएट बन गया। इस उपाधि को पाने के बाद वह सरकार में सहायक सर्जन की नौकरी पा सकता था और उस वेतन से आराम की जिंदगी जी सकता था, लेकिन उसने निजी प्रैक्टिस में ही अपने कॅरियर को तलाशा।

मेडिकल कॉलेज में रहते हुए ही गंगा का विवाह जगततारिनी से हो गया था। वह हरिलाल चटर्जी की बेटी थी। उस समय मुकर्जी मध्य कलकत्ता की तंग और सँकरी गलियों में रहते थे। जब गंगा छात्र ही था तो 28 जून, 1864 को जगततारिनी ने अपने पहले बच्चे को जन्म दिया। नाम रखा गया—आशुतोष। वह दौर बंगाली नवजागरण का था और उसमें कुछ हैरानी नहीं थी कि गंगा का बेटा बंगाल के महान् सपूतों में से एक होगा! और उस महापुरुष का जन्म होगा, जिसके बारे में यह पुस्तक लिखी गई है।

डॉ. गंगाप्रसाद को चिकित्सा कार्य में अपेक्षा से भी बढ़कर यश प्राप्त हुआ और वह बहुत शीघ्र ही मलंगा लेन की संकीर्ण गलियों से बाहर आ गए। यहाँ प्राप्त हुए भूखंड पर उन्होंने अपना घर बनाया था, वह बाद के सालों में इतिहास बनता हुआ देखेगा, तब इसका किसे आभास हो सकता था? वह भूखंड था—77, रूसा पागला मार्ग, जिसे अब आशुतोष मुकर्जी मार्ग कहा जाता है। यह भवानीपुर में है। इस सड़क का नाम रूसा पागला बाबा के नाम पर पड़ा, जहाँ उनका आश्रम था। कुछ लोगों को यह भ्रम होता था कि वह रास्ता पागलखाने की ओर जाता है, इसलिए उसका यह नामकरण हो गया। इसका नाम बाद में बदलकर रूसा रोड नॉर्थ किया गया। जहाँ वह भवन स्थित है, उसका नाम बाद में आशुतोष मुकर्जी मार्ग कर दिया गया। वह भवन आज भी

अपनी भव्यता और मजबूती से खड़ा है तथा उसमें आशुतोष व उनके परिवार से जुड़े कई संगठनों के दफ्तर चल रहे हैं। उस समय भवानीपुर 'कलकत्ता' के दक्षिणी उपनगरों में से एक था, लेकिन धीरे-धीरे नगर का विस्तार उसके पार भी हो गया और अब यह दक्षिण कलकत्ता का एक भाग मात्र रह गया है। अप्रैल 1873 में गंगाप्रसाद ने बैसाख मास के पहले दिन अपने घर में गृह-प्रवेश किया। इस दिन से बंगाली नव वर्ष का प्रारंभ मानते हैं। हालाँकि उस घर का निर्माण एक डॉक्टर के द्वारा हुआ, लेकिन बाद में इस घर की परंपराएँ बदलती गईं और यह कानून, शिक्षा और राजनीति की गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया।

यहाँ मुकर्जी परिवार के बारे में कुछ विशिष्ट उल्लेख करना उचित होगा। बंगाली नवजागरण का प्रतिपादन करनेवालों ने 19वीं और 20वीं शताब्दी के शुरू में जो महलनुमा भव्य भवन बनवाए थे, वे आज टूटे-फूटे हैं या खँडहर हो रहे हैं या उनकी पीढ़ियों ने उन्हें छोटे-छोटे हिस्सों में बाँट दिया है। ये सब बुरे वक्त से गुजर रही हैं। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर का पैतृक घर, जोड़ासा ठाकुरबाड़ी जो उनके दादा मर्चेंट प्रिंस द्वारकानाथ टैगोर ने बनवाया था व आचार्य जगदीश चंद्र बोस के घर जिसको सरकार ने एक सार्वजनिक संस्थान में तब्दील कर दिया है। आज अपेक्षाकृत अच्छी हालत में हैं, परंतु कई अन्य भवन—राजा राजेंद्र लाल मल्लिक का प्रसिद्ध मार्बल पैलेस और रानी रश्मोनी आदि के अनेकों भवन ऐसे हैं, जिन्हें देखकर यह इच्छा होती है कि उन्हें सुरक्षित रखा जाना चाहिए। इन धरोहरों को संरक्षित करना जरूरी है। बहरहाल 77, आशुतोष मुकर्जी रोड के साथ ऐसा नहीं हुआ। भवन के भूतल पर कुछ दुकानें बना दी गई हैं, जो उसकी गरिमा में पैबंद लगाती हैं। परंतु अन्य कोई उपाय भी नहीं था, क्योंकि उनके किराए से ही भवन के रख-रखाव का खर्च निकल आता है। लेकिन यह भवन अभी तक निजी हाथों में है और बहुत अच्छी स्थिति में है।

श्री मुकर्जी के परिवार के बारे में एक और बात उल्लेखनीय है कि उनकी वंश-परंपरा, सर आशुतोष मुकर्जी से लेकर उनकी पाँचवीं पीढ़ी तक सही-सलामत है। लेकिन रवींद्रनाथ टैगोर, सुभाषचंद्र बोस, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, चित्तरंजन दास और कई अन्य प्रतिष्ठित लोगों के साथ ऐसा नहीं है। क्रमानुसार पीढ़ियों में या तो नाम के मध्य, मुकर्जी परिवार में सदैव पुरुषों के नाम एक तय परंपरा के मुताबिक रखे जाते रहे हैं। क्रमानुसार या तो नाम के मध्य 'प्रसाद' रखा गया अथवा प्रत्यय के तौर पर 'तोष' को नाम के पहले भाग के साथ जोड़ा गया है। मसलन—गंगाप्रसाद-आशुतोष, श्यामाप्रसाद-अनुतोष, शुभाप्रसाद-अग्रोतोष आदि। मान्यता है कि सभी हिंदू नामों का कुछ अर्थ होता है। लिहाजा प्रसाद के संदर्भ में कहा जा सकता है—किसी हिंदू देवी-देवता का अनुग्रह। गंगाप्रसाद का अर्थ हुआ—जिस पर देवी गंगा का अनुग्रह या कृपा है। इसी तरह 'तोष' का अर्थ है—प्रसन्न करने का काम। आशुतोष का अर्थ होगा—वह जो आसानी से प्रसन्न हो जाए अर्थात् भगवान् शिव इसी तरह चित्ततोष और शिवतोष के अर्थ किए जा सकते हैं। सर आशुतोष और संस्कृत के महान् विद्वान् महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, दोनों ही घनिष्ठ मित्र थे। ऐसा माना जाता है कि वह मित्रता परंपरा और रीति-रिवाज के साथ चली। सर आशुतोष के वंश से लेकर मौजूदा पीढ़ी तक सभी ने उस परंपरा का पालन किया।

गंगाप्रसाद के दो बेटे थे—आशुतोष और हेमंत कुमार (जन्म 1866) और एक बेटी हेमलता

(जन्म 1874)। आशुतोष के दोनों भाई-बहन की बहुत जल्दी मृत्यु हो गई थी। हेमंत का देहांत वर्ष 1887 में मात्र 21 वर्ष की आयु में टायफाइड से हुआ और हेमलता का निधन वर्ष 1903 में 29 साल की उम्र में हो गया। ऐसा माना जाता है कि छोटे बेटे के शोक में गंगाप्रसाद भी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो गए, क्योंकि वह उसे बहुत प्यार करते थे। गंगाप्रसाद के नाम पर एक सड़क उनके प्रसिद्ध पुत्र आशुतोष के नाम पर रखे गए मार्ग के समानांतर है। उनके बाद पत्नी जगततारिनी जीवित रहीं और आशुतोष के जीवन पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा। उन दिनों हिंदुओं में अनेक रूढ़िवादियों का मानना था कि समुद्र को पार करना, यानी इंग्लैंड जाना बड़ा अपराध है, अत: उन्होंने सुपुत्र आशुतोष को अनुमति देने से इनकार कर दिया। आशुतोष ने माँ का कहना माना और कभी इंग्लैंड नहीं गए।

ब्रिटिश साम्राज्य ने बाद में आशुतोष को 'नाइट' की उपाधि से सम्मानित किया और उन्हें 'सर आशुतोष' कहा जाने लगा। खासकर वह बंगाल में किसी परिचय के मोहताज नहीं थे। चौरंगी स्क्वायर पर वायसरॉय के पूर्व आवास, सी.ई.एस.सी. हाउस के सामनेवाली एक प्रमुख सड़क पर उनकी आदमकद कांस्य प्रतिमा स्थापित है। वह कई मायनों में एक उल्लेखनीय व्यक्ति थे। कई चित्रों में वह नंगे बदन खड़े हैं। तब ब्राह्मणों में ऐसी एक परंपरा थी। उनके बदन पर जनेऊ देखा जा सकता है। लेकिन उनके चेहरे का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी मूँछें थीं। आज भी कोई व्यक्ति वैसी मूँछों में दिख जाता है, तो तुरंत उसकी तुलना आशुतोष से की जाती है। दरअसल उनकी मूँछें किसी झाड़ी से कम नहीं थीं। कभी काटी-छाँटी नहीं गई थीं। नाक से लटककर वे उनका मुँह ही ढक लेती थीं। लेकिन उनके बाल छोटे होते थे और बीच से अलग-अलग किए हुए। इन सबको मिलाकर वे एक कठोर व्यक्तित्व के स्वामी लगते थे। मूँछों के कारण उनकी मुसकान भी दिखाई नहीं देती थी। सिर्फ उनकी आँखों में ही हँसी पढ़ी जा सकती थी। बड़ी दमदार आवाज थी, उनकी आवाज प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रतीक थी; लेकिन इस सबके साथ उनके चेहरे से करुणा, संवेदना और दया ही टपकती थी। उनमें तानाशाह या एक रोबीले व्यक्ति के गुण भी थे; लेकिन वह उन्हें अत्यधिक आवश्यकता पर ही प्रयोग में लाते थे।

श्यामाप्रसाद सर आशुतोष मुकर्जी के दूसरे बेटे थे। श्यामाप्रसाद को अपने पिता के गुण और संस्कार विरासत में मिले थे। विरासत से प्राप्त गुण सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन में दिखाई दिए; हालाँकि सर आशुतोष इस क्षेत्र में कभी भी नहीं थे। श्यामाप्रसाद के समकालीन डॉ. धीरेंद्र नाथ सेन की टिप्पणी है—'श्यामा में काम करने की अद्‌भुत क्षमता, व्यक्तियों और विषयों के प्रति उनकी गहरी समझ, अपने लक्ष्यों के प्रति उनका जुनूनी समर्पण और छात्रों का सहयोग व उनकी समुचित देखभाल, मानवीय संवेदनाएँ, साहस, आत्मविश्वास आदि उनके पिता के विरासती गुण थे। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि श्यामा इसलिए महान् थे, क्योंकि उनके पिता भी महान् थे। श्यामाप्रसाद ने निकटता से अपने पिता की विशेषताओं को देखा और उनका अनुसरण किया। उन्होंने पूर्ण तन्मयता से पिता की विरासत और उनके गुणों को ग्रहण किया, ताकि आवश्यकतानुसार वह एक सैनिक, एक निर्माता और एक नेता की भूमिका निभा सकें।'

यह आवश्यक है कि बेटे के जीवन का वर्णन करने से पहले पिता के बारे में कुछ और विस्तार से चर्चा की जाए। आशुतोष को कुदरत ने बचपन से ही आश्चर्यजनक स्मरणशक्ति दी थी। गंगाप्रसाद

अपने पुत्र की स्वयं चिंता करते थे। आशुतोष ने विद्यालय जाने से पूर्व ही प्रारंभिक शिक्षा पिता से ली थी। पिता-पुत्र दोनों ही प्रात:काल जल्दी उठकर एक साथ सैर के लिए जाते थे। किशोर उम्र तक पहुँचने से पहले ही आशुतोष ने डेफो की रचना 'रॉबिंसन क्रूसो' और स्विफ्ट की 'गुलीवर की यात्राएँ' कंठस्थ कर ली थीं। सैर के दौरान वह इनको न केवल अपने पिता को सुनाते थे, बल्कि बँगला में उनकी व्याख्या भी करते थे। आनेवाले दो वर्षों में उन्होंने कैंपबेल की 'प्लेजर ऑफ होप', पोप द्वारा 'दि इलियड' के अनुवाद का प्रथम अध्याय और मिल्टन की 'पैराडाइज लॉस्ट' आदि भी याद कर ली थी।

सिर्फ यह कहना कि पिता आशुतोष का शैक्षिक जीवन विलक्षण था, कमतर होगा। सन् 1883 में बी.ए. की परीक्षा में वह कोलकाता विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आए और उन्हें प्रतिष्ठित प्रेमचंद रॉयचंद छात्रवृति से सम्मानित किया गया, ताकि वह गणित में स्नातकोत्तर कर सकें। दो साल बाद उन्होंने भौतिक विज्ञान में भी परास्नातक की उपाधि प्राप्त कर ली; इस तरह कोलकाता विश्वविद्यालय से ही दो उपाधियाँ हासिल करनेवाले वह पहले छात्र बने। वह स्नातकोत्तर की परीक्षा लेनेवाले पहले भारतीय परीक्षक भी बने। उससे पहले संस्कृत, अरबी, फारसी को छोड़कर ऐसी सभी परीक्षाओं के लिए ब्रिटिश परीक्षक ही होते थे। उन्होंने सन् 1888 में कानून की परीक्षा पास की और वकालत करने योग्य बने। सन् 1893 में उन्होंने एस.पी. सिन्हा (बाद में लॉर्ड सिन्हा) के निर्देशन में पढ़ाई करते हुए कानून में शोध कार्य भी किया। उसके बाद 1889 में उन्होंने 'शाश्वतता एवं स्थायित्व' के कानून पर प्रख्यात टैगोर व्याख्यान भी किया।

आशुतोष बड़े होकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी बने—न्यायाधीश एवं न्यायविद्, गणितज्ञ, विद्वान्, भाषाविद् और शिक्षाविद्। लेकिन शिक्षा के प्रति उनके अनन्य समर्पण, दूरदर्शिता और परिश्रम के लिए उन्हें स्मरण किया जाता है। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय को महज डिग्रियाँ देनेवाले संस्थान के स्थान पर शिक्षा एवं अध्ययन के श्रेष्ठ केंद्र के रूप में स्थापित किया। आज यह काल्पनिक लगता है, क्योंकि विश्वविद्यालय की वर्तमान स्थिति को देखकर उस समय की कल्पना नहीं की जा सकती। जो क्षुद्र राजनीति से ग्रस्त है और यहाँ औसत योग्यतावालों की ही पूजा की जा रही है। एक जज और न्यायविद् के तौर पर उनकी प्रतिष्ठा लॉ रिपोर्ट्स के उन पन्नों में दर्ज है, जो वकीलों के सेल्फ की कतार में मौजूद हैं। हालाँकि कुछ लोग गणित के एक विद्वान् के तौर पर भी उनकी ख्याति मानते हैं। उन्होंने गणित के कुछ मूल शोध प्रबंधों का अध्ययन करने के लिए फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में भी कुशलता प्राप्त की। उस दौर के विख्यात गणितज्ञ डॉ. आर.पी. परांजपे की टिप्पणी थी—'यदि वह गणित में ही अपने अध्ययन को जारी रखते तो महानतम गणितज्ञों में उनकी गणना होती। हालाँकि उन्होंने कानून की पढ़ाई करते हुए पब्लिक इंस्ट्रक्शन विभाग में नौकरी की एक पेशकश को ठुकरा दिया था। परंतु उन्होंने गणित और भौतिक विज्ञान के विषयों पर अपने शोधपत्र प्रकाशित कराना जारी रखा। उनकी लिखित पुस्तक 'ज्यॉमिट्री ऑफ कॉनिक सेक्शंस' ग्रेजुएशन से नीचे की कक्षाओं में गणित की मानक पुस्तक मानी जाती थी, लेकिन उस विषय का नाम बदलकर अब विश्लेषणात्मक ज्यामिति रख दिया गया है।'

ऐसी विलक्षण प्रतिभा और शैक्षिक प्रबंधन के लिए योग्यता के होते हुए भी आशुतोष ने खुद को अध्यापन में व्यस्त नहीं रखा। उन्होंने भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् में भी थोड़े समय के

लिए पढ़ाया। परिषद् के संस्थापक डॉ. महेंद्र लाल सिरकार डॉ. गंगाप्रसाद के एक मित्र थे, उनके आग्रह पर सर आशुतोष को कुछ समय के लिए वहाँ पढ़ाना पड़ा। उनमें किसी भी प्रतिभा को परखने और उसे पोषित करने की जबरदस्त योग्यता थी। ऐसा करते हुए वह संकुचित भाषायी, धार्मिक पूर्वग्रहों से पूरी तरह मुक्त थे। भौतिक विज्ञान में भारत और एशिया के प्रथम नोबेल पुरस्कार विजेता सर सी.वी. रमन की वैज्ञानिक प्रतिभा को भी उन्होंने परखा। तब रमन भारत सरकार के वित्त विभाग में एक नौकरशाह के रूप में नौकरी कर रहे थे। उन्होंने ही सर्वपल्ली राधाकृष्णन को खोजकर और मैसूर विश्वविद्यालय से कोलकत्ता लेकर आए। मुहम्मद शहीदुल्लाह नामक बंगाली मुसलिम युवक को खोज निकाला था। बसीरहट के उपमंडल कोर्ट में एक बेनाम वकील के तौर पर काम कर रहा था। उसने संस्कृत ऑनर्स में स्नातक किया था, लेकिन मुसलिम होने के कारण उसे एम.ए. में दाखिला देने से इनकार कर दिया गया था। सर आशुतोष ने फ्रांस जाकर संस्कृत की पढ़ाई करने के लिए उसकी व्यवस्था की। अंतत: वह उपमहाद्वीप का विलक्षण और श्रेष्ठ विद्वान् बनकर सामने आया। इसी तरह गणितज्ञ गणेशप्रसाद, दार्शनिक ब्रजेंद्र नाथ सील, डी.आर. भंडारकर, खुदाबख्श, सी.ई. कुलिस, अनींद्रनाथ टैगोर, जी. थिबाउट, यमाकानी, आर. किमुरा, डब्ल्यू.एच. यंग, हर्मन ओल्डनबर्ग, काजिम शिराजी, आई.जे.एस. तारापुरवाला, ए.आर. फॉरसिथ, स्टेला क्रॉमरिस आदि कुछ नाम हैं, जिन्हें उन्होंने तलाशा परखा और प्रतिभा के शिखर तक पहुँचाया।

उनका एक और स्वभाव से शर्मीला प्रिय नौजवान राजेंद्रप्रसाद था। बिहार का वह युवक भी प्रतिभा-संपन्न स्कॉलर था और भारत के प्रथम राष्ट्रपति के पद तक पहुँचा। वह एक मुकदमे में सबसे कनिष्ठ वकील था, उसे सर आशुतोष सुन रहे थे। वह युवक दूसरे कोर्ट से अपने वरिष्ठ वकीलों के लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था। आशुतोष ने उसमें कोई चिनगारी महसूस की, अत: उन्होंने प्रसाद को बहस शुरू करने को कहा। हालाँकि उसके वरिष्ठ वकील सामान्यत: उस मुकदमे की पैरवी कर रहे थे। राजेंद्र प्रसाद काफी हड़बड़ाहट के साथ उठे; लेकिन जब एक बार उन्होंने प्रारंभ किया तो शर्म भी उन्हें छोड़कर चली गई और उनकी प्रतिभा चमककर सामने आई। आशुतोष ने बाद में उन्हें अपने चैंबर में बुलाया और विश्वविद्यालय के कानून महाविद्यालय में प्राध्यापक के पद की पेशकश की, जिसे प्रसाद ने आभार सहित स्वीकार कर लिया। उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई व बाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद को भी उन्होंने सुशोभित किया। अंतत: वह भारतीय गणतंत्र के पहले राष्ट्रपति भी बने।

सर आशुतोष के पास ढेरों शैक्षिक उपाधियाँ थीं। ब्रिटिश हुकूमत के साथ-साथ उनके हमवतन भारतीयों ने भी उन्हें ढेरों सम्मान दिए थे। वह उनकी पहचान को एक मान्यता देने की कोशिश भर थी। सर आशुतोष मुकर्जी के पास सी.आई.ई., सी.एस.आई., एम.ए., पी.आर.एस., डी.एस.सी., डी.एल., एफ.आर.ए.एस., एफ.आर.एस.ई., सरस्वती, शास्त्र वाचस्पति, संबुद्धागम-चक्रवर्ती आदि उपाधियाँ थीं। अनेक संस्थानों ने उन्हें अपनी सदस्यता देकर स्वयं को सम्मानित महसूस किया था। वह रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य, रॉयल सोसाइटी (एडिनबर्ग) के फेलो, लंदन की फिजिकल सोसाइटी के सदस्य, पेरिस की मैथमेटिकल ऐंड फिजिकल सोसाइटीज के सदस्य और रॉयल आयरिश अकादमी के सदस्य थे। वह सन् 1889 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी सिंडिकेट के सदस्य बने; 1904 में

कलकत्ता हाई कोर्ट के जज और 1906 में विश्वविद्यालय के कुलपति। उस पद पर वह 1914 तक रहे। इसी पद पर 1921-23 के दौरान भी आसीन हुए। कलकत्ता विश्वविद्यालय कॉलेज ऑफ साइंस की स्थापना के लिए उन्होंने विभिन्न लोगों से आर्थिक सहायता भी ली। यह संस्थान बाद में देश के सर्वोच्च वैज्ञानिक शिक्षण संस्थानों में गिना जाने लगा। जिन दानियों ने उनके आग्रह पर भरपूर सहयोग किया, उनमें सर तारकनाथ पालित, दरभंगा के महाराजा सर रासबिहारी घोष, खैरा के कुमार गुरुप्रसाद सिंह आदि के नाम प्रमुख हैं। उनके नाम पर प्रोफेसर के पद और भवन आज भी मौजूद हैं। वे उनके दान और आशुतोष के अभियान की पुण्य स्मृति लगते हैं। सर के देहांत के छह साल बाद सन् 1930 में सर चंद्रशेखर वेंकट रमन को विज्ञान में 'नोबेल पुरस्कार' मिला तो यूनिवर्सिटी ने गौरव महसूस किया। रमन यह अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करनेवाले पहले भारतीय थे, 1917 से ही वे विश्वविद्यालय से भी जुड़े हुए थे। उन्हें 'रमन प्रभाव' पर नोबेल मिला था। जाधवपुर में बंगाल टेक्निकल इंस्टीट्यूट की स्थापना करने में भी सर आशुतोष की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वह आज जाधवपुर विश्वविद्यालय बन चुका है।

सर आशुतोष इस बात की परवाह नहीं करते थे कि उनके अंग्रेज अधिकारी उनके बारे में क्या सोचते हैं? जहाँ और जब भी उन्हें बुलाया जाता, वह अंग्रेजों के साथ विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करते थे, लेकिन उन्होंने कभी भी माहौल को नकारात्मक नहीं बनने दिया। वह जब भी अपने घर पर अंग्रेज या किसी से भी मुलाकात करते थे तो गरमियों में आराम से नंगे बदन बैठते थे, जबकि अंग्रेज कलकत्ता की गरमी और उमस में भी सूट पहनकर आते थे व पसीने में तर-बतर होते रहते थे। वह अकसर कहते थे कि उन्होंने कानून का पेशा इसलिए चुना और कलकत्ता उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर भी आसीन हुए, ताकि अंग्रेजों की परवाह न करनी पड़े। एक कार्यक्रम में उन्हें इसके कारण दो-चार होना पड़ा था, क्योंकि उस अवसर पर एक खास तरह का लिबास पहनना था, लेकिन उन्होंने धोती और बंद गले का कोट ही पहना हुआ था। शायद नीचे भी कुछ नहीं पहन रखा था। सर आशुतोष खाने के शौकीन थे। यह बताया जाता है कि दोपहर में हाई कोर्ट से लौटकर और यूनिवर्सिटी जाने से पहले वह हर रोज काफी मात्रा में 'संदेश' खाते थे। नतीजतन उनकी तोंद खूब निकल आई थी, जिसे देखकर वह भी व दूसरे भी हास्य व्यंग्य कर आनंदित होते थे।

सर आशुतोष बहुत स्वाभिमानी थे। एक बार वह रेल की प्रथम श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। यात्रा के दौरान ही वह सो गए। रास्ते में कहीं से एक अंग्रेज सवार हुआ और बर्थ पर एक काले नंगे बदन व्यक्ति को सोए देखा। सर लंबे-लंबे खर्राटे भी भर रहे थे। अंग्रेज साहब को क्रोध दिलाने के लिए वह दृश्य ही पर्याप्त था। उसने दुर्गंधवाले बंद गले के कोट को उठाया और रात्रि में ही रेल की खिड़की से बाहर फेंक दिया। उसके बाद पाजामा आदि पहनकर अंग्रेज सो गया।

आशुतोष सुबह जल्दी उठनेवाले व्यक्ति थे। लिहाजा उठकर उन्होंने देखा कि कोट वहाँ नहीं था। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि क्या हुआ होगा और अब क्या करना चाहिए! उन्होंने साहब के फॉर्मल कपड़े उठाए और सुबह सूरज के उजाले में उन्हें खिड़की से बाहर फेंक दिया। कुछ देर में साहब उठे तो अपने कपड़े गायब पाकर उन्होंने आशुतोष पर आरोप लगाया।

आशुतोष ने अत्यंत निडरतापूर्वक मुँहतोड़ जवाब दिया, 'तुम्हारे कपड़े मेरा कोट लेने गए हैं।'

उनके इसी स्वभाव के कारण सर आशुतोष को एक उपनाम दे दिया गया—'बंगाल का बाघ'। उनकी बिखरी हुई मूँछें, बड़ा बदन और गरजती आवाज, चाहे किसी नाम से उन्हें संबोधित करें परंतु आशुतोष बड़े दयालु व्यक्ति थे। उनके नियम के पाबंद क्लर्क, उनके सहकर्मी, अनुयायी और आश्रित, विश्वविद्यालय के गरीब छात्र आदि असंख्य लोगों ने उनकी उदारता और सहृदयता को बयान किया है। उनके दूसरे पुत्र श्यामाप्रसाद ने यह गुण अपने पिता से विरासत में प्राप्त किया था। तीसरे पुत्र उमाप्रसाद ने जो खुलासा किया था, वह बाद में इसी पुस्तक में है कि श्यामाप्रसाद ने एक व्यक्ति की यह जानने के पश्चात् भी उसकी सहायता की थी, उसने उन्हें अपशब्द कहे थे। यह है उनके बेटे की चारित्रिक गुणवत्ता!

सर आशुतोष की एक विशेष दृष्टि थी कि युवा कैसी शिक्षा प्राप्त करें। उन्होंने उपनिवेशीय अधिकारियों से मिलकर नए-नए विषय प्रारंभ किए व उनमें शैक्षिक स्नातक पाठ्यक्रमों का निर्माण भी किया—तुलनात्मक साहित्य, मानव विज्ञान, व्यावहारिक मनोविज्ञान, औद्योगिक रसायन-शास्त्र, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, इसलामी संस्कृति। उन्होंने बँगला, हिंदी और संस्कृत में स्नातकोत्तर (एम.ए.) अध्यापन तथा शोध के लिए भी व्यवस्था की। यह आज अविश्वसनीय सा लगता है, लेकिन कलकत्ता विश्वविद्यालय में बँगला में डिग्री स्तर और दूसरे उच्च पाठ्यक्रमों की शुरुआत के लिए अंग्रेजी-भक्तों और संस्कृत के पंडितों का उन्हें घोर विरोध झेलना पड़ा था। सर आशुतोष की निरंतर मेहनत के बिना यह संभव नहीं हो सकता था। परिणामस्वरूप विश्वविद्यालय में विभिन्न विषयों का अध्ययन, संपूर्ण भारत से स्कॉलरों का आगमन; भाषा, क्षेत्र, जाति के भेदों से ऊपर उठकर अध्ययन और अध्यापन आदि संभव हुआ। उन्होंने विश्वविद्यालय में पढ़ाने के लिए जापानी और यूरोपीय विद्वानों को भी संपर्क कर तैयार किया।

सन् 1902 में लॉर्ड कर्जन के शिक्षा मिशन ने विश्वविद्यालयों की जाँच की व विशेषकर कलकत्ता विश्वविद्यालय को 'राजद्रोह के केंद्र' के रूप में चिह्नित किया था। वहाँ उपनिवेशीय शासन के विरोध में युवाओं को जाग्रत् किया जा रहा था। अत: 20वीं शताब्दी में इन विश्वविद्यालयों को स्वायत्तता देना उचित नहीं समझा गया। इस तरह सन् 1905 से 1935 के दौर में उपनिवेशीय प्रशासन ने शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की। 1923 में जब लॉर्ड लिटन ने उन्हें दोबारा कुलपति पद पर नियुक्त करने की पूर्व शर्तें रखीं तो आशुतोष ने रोष जताते हुए उस पद के लिए इनकार कर दिया।

आशुतोष सन् 1917-19 के दौरान सैडलर आयोग के सदस्य थे। माइकल अर्नेस्ट सैडलर उस आयोग के अध्यक्ष थे, जिसे भारतीय शिक्षा की स्थिति की जाँच करनी थी। आशुतोष तीन बार एशियाटिक सोसाइटी के अध्यक्ष रहे और 1910 में इंपीरियल (अब नेशनल) लाइब्रेरी काउंसिल के अध्यक्ष बने। उन्होंने 80,000 पुस्तकों का अपना निजी संग्रह भी लाइब्रेरी को दान कर दिया था। उन पुस्तकों को अलग स्थान पर रखा गया। सन् 1914 में वह भारतीय विज्ञान कांग्रेस के उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष बने। उन्होंने पाली और रूसी भाषाएँ भी सीखीं। भारतीय शिक्षा की सेवा के लिए बंगाल के पंडितों ने उन्हें 'सरस्वती' और 'शास्त्र वाचस्पति' जैसी उपाधियों से सम्मानित किया।

सन् 1893 में आशुतोष कलकत्ता हाई कोर्ट की बार कौंसिल में शामिल हुए और 1904 में कोर्ट की पीठ तक पदोन्नत हुए, जहाँ वह 1923 में अपनी सेवानिवृत्ति तक रहे। वकील रहते हुए

उन्होंने कई जूनियर वकीलों को प्रशिक्षित किया, तब उन्हें नियमबद्ध क्लर्क कहा जाता था। उनका ऐसा आखिरी क्लर्क एक नौजवान था। एक मेधावी विनम्र छात्र, गणित और कानून में बिलकुल उनके जैसा तथा मुसलिम किसान वर्ग से था। वह युवक पूर्वी बंगाल के बरिसाल जिले से था। उसका नाम अबुल कासिम फजलुल हक था। वह एक सशक्त व प्रभावी वक्ता बना और उत्कृष्ट सांसद भी। वह बंगाल का प्रधान और पूर्वी पाकिस्तान के मुख्यमंत्री पद तक पहुँचा। उसे बँगलादेश में 'शेरे बांग्ला' कहा गया। श्यामाप्रसाद के साथ उनके अंतरंग संबंध थे और इस जीवनी में उनका वर्णन कई बार आया है।

तत्कालीन रीति-रिवाज के अनुसार आशुतोष का विवाह तभी हो गया था, जब वह छात्र थे और उम्र भी लगभग 20 साल थी। कलकत्ता के उत्तर में स्थित एक कस्बे कृष्णा नगर में उनका विवाह राम नारायण भट्टाचार्य की बेटी के साथ हुआ था। हालाँकि उनके पिता गंगाप्रसाद अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार अधिक संपन्न व्यक्ति की बेटी से अपने बेटे का विवाह कर सकते थे और दहेज में हजारों रुपए ले सकते थे; लेकिन उन्होंने एक साधारण और शिक्षित ब्राह्मण की बेटी को ही चुना। यही नहीं, उन्होंने दहेज में एक पैसा तक नहीं लिया। आशुतोष की पत्नी का नाम उसके माता-पिता ने 'रखाली' रखा था, लेकिन विवाह के पश्चात् उसे बदलकर योगमाया कर दिया गया। सन् 1886 में हुए विवाह के बाद पहली बेटी 1895 में हुई। संतानोत्पत्ति में देरी होने के कारण लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे थे कि उनकी पत्नी बाँझ है व आशुतोष को दूसरी शादी करनी चाहिए। उन दिनों में पुरुष की नपुंसकता का विचार तक नहीं किया जाता था और हिंदुओं में बहुपत्नीवाद की भी मान्यता थी। आशुतोष के दूसरे विवाह की चर्चा सुनकर पिता गंगाप्रसाद चौंक उठे। उसी दौरान उन्होंने अपना दूसरा बेटा खोया था और वह भी अपने अंतिम समय के निकट थे। इसलिए उन्होंने वसीयत लिखी और अपने नए मकान को आशुतोष को देने के बजाय उन्होंने पत्नी जगततारिणी और बहू योगमाया के नाम कर दिया। 1914 में जगततारिणी के देहांत तक आशुतोष उस मकान के हिस्सेदार भी नहीं बने थे।

कमला के जन्म के बाद सबसे बड़े बेटे रमाप्रसाद का वर्ष 1896, श्यामाप्रसाद का 1901, तीसरे बेटे उमाप्रसाद का 1902 तथा एक और बेटी अमला का 1905, चौथे बेटे बामाप्रसाद का 1906 तथा आखिरी संतान तीसरी बेटी रमला का 1908 में जन्म हुआ। बेटों में श्यामाप्रसाद के अलावा रमाप्रसाद कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बने। उमाप्रसाद अविवाहित रहे, लेकिन वह एक प्रख्यात पर्वतारोही और बँगला के यात्रा-लेखक थे। इन सभी बच्चों में सबसे बड़ी बेटी कमला ही पिता आशुतोष की सबसे लाडली संतान रही।

लेकिन वह प्यार भी कमला की नियति और दुर्भाग्य को बदल नहीं सका। सन् 1904 में मात्र नौ साल की उम्र में कमला का विवाह शुभेंदु सुंदर बनर्जी के साथ हुआ। वह राष्ट्रगीत 'वंदे मातरम्' के अमर व महान् लेखक बंकिमचंद्र चटर्जी के नाती थे। शुभेंदु बहुत खूबसूरत युवक थे और तब इकलौते दामाद होने के कारण आशुतोष के बेहद प्रिय थे। लेकिन विवाह के कुछ माह बाद ही वह टायफाइड बुखार की चपेट में आ गए, जिसका उन दिनों इलाज उपलब्ध नहीं था। अंततः उन्हें बीमारी के सामने घुटने टेकने पड़े। आशुतोष ऐसे व्यक्ति नहीं थे कि दुर्भाग्य से हार जाएँ। वह अपनी सबसे प्यारी बेटी को एक हिंदू विधवा के रूप में शेष जिंदगी काटते हुए

नहीं देख सकते थे। पं. ईश्वरचंद्र विद्यासागर की कोशिशों से तब विधवा-विवाह को कानूनी रूप धारण किए थोड़ा ही वक्त हुआ था, लेकिन रूढ़िवादी हिंदुओं, खासकर ब्राह्मणों की तब भी भौहें चढ़ा करती थीं। आशुतोष ने अपनी माँ की सहमति ले ली और हाई कोर्ट के वकील ब्रजेंद्र नाथ कांजीलाल के साथ कमला का पुनर्विवाह कर दिया। उन्हें न केवल अपने साथियों का, बल्कि कलकत्ता के रूढ़िवादी ब्राह्मणों का भी जबरदस्त विरोध झेलना पड़ा था। शुभेंदु की माँ (बंकिमचंद्र की बेटी) ने न केवल अपनी नाबालिग बहू को कानूनी तौर पर उनके हवाले करने के लिए आशुतोष के खिलाफ केस कर दिया, बल्कि कमला को जबरन वापस लेने के लिए मुकर्जी के घर पर हंगामा करने की कोशिश भी की। हालाँकि उनकी दोनों कोशिशें नाकाम रहीं। आशुतोष को अपने पैतृक गाँव जिराट में समाज का विरोध भी झेलना पड़ा। लेकिन उन तमाम विरोधों का मुकाबला करते हुए उन्होंने अपनी बेटी का पुनर्विवाह किया। परंतु कमला का दुर्भाग्य उसके साथ-साथ चल रहा था। नतीजतन हृदयाघात से जल्दी ही उसके दूसरे पति ब्रजेंद्र का भी देहांत हो गया।

ऐसे परिवार में 6 जुलाई, 1901 को श्यामाप्रसाद मुकर्जी का जन्म हुआ। उनका बचपन का नाम बेनी था, लेकिन उन्हें 'भुतू' या 'भूती' भी कहकर बुलाते थे। वह एक बलिष्ठ बालक की तरह बड़े हुए और अपने भाइयों की अपेक्षा ज्यादा काले थे। इस संदर्भ में वह कुछ दु:खी अवश्य रहते थे। बचपन में बैठना सीखने से पहले ही उनकी ख्याति हो गई थी कि अपने पिता की तरह वह भी खूब भुक्खड़ हैं। एक बार जब आशुतोष नहाने जा रहे थे तो उन्होंने बेनी को एक आम को खाने का प्रयास करते देखा, आम उस बालक के हिसाब से बड़ा लग रहा था। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि इतने छोटे बालक को इतना बड़ा आम नहीं देना चाहिए। लेकिन बालक बेनी ने एक छेद के जरिए आम को चूसने का जुगाड़ कर लिया। बाद में 'ओइ-जाइ' चिल्लाते हुए चूसा हुआ आम फेंक दिया तथा एक और आम माँगने लगे।

एक बार सेवक द्वारा बच्चों को गाड़ी में घुमाते हुए वह बुरी तरह घायल हो गए थे। घर में वह तिपहिया साइकिल चलाने के बहुत शौकीन थे। उनके अध्यापक हरिदास कार (बाद में भवानीपुर मित्रा संस्थान, श्यामाप्रसाद स्कूल के मुख्याध्यापक) ने अपने संस्मरणों में बताया कि—

''मुकर्जी परिवार के बच्चों को गलियों में घूमने-फिरने नहीं दिया जाता था। जहाँ भी उन्हें जाना होता था, परिवार की घोड़ागाड़ी से ही जाना पड़ता था। कलकत्ता का हरा-भरा खुला मैदान मुकर्जी निवास से बमुश्किल एक किलोमीटर की दूरी पर था। बच्चों को स्कूल ले जानेवाली घोड़ागाड़ी को सुबह मैदान तक जाने के लिए सर आशुतोष भी इस्तेमाल किया करते थे। वह सुबह 5 बजे उठ जाते थे और ताजा हवा तथा सैर के लिए मैदान तक जाते थे। घर की महिलाएँ भी घोड़ागाड़ी का इस्तेमाल करती थीं और शाम को बच्चों को घुमाने के लिए भी उसका इस्तेमाल होता था।''

मुकर्जी परिवार में चावल मुख्य भोजन था। आमतौर पर वे शाकाहारी थे और खूब दूध पीते थे। ये दोनों ही लक्षण गैर-बंगाली के थे। पुरुषों में आशुतोष और श्यामाप्रसाद, दोनों ही मांस व मछली खाते थे; जबकि अन्य तीनों भाई, जगततारिणी और योगमाया सब शुद्ध शाकाहारी थे। इनमें से कोई मांस, मछली या प्याज तक का सेवन नहीं करते थे। सामान्य तौर पर मछली ही उनका मांसाहारी भोजन था। सर आशुतोष मोरोला और बड़ी मछली का सिर ही पसंद करते थे। उनके

परिसर में गायें भी पाली जाती थीं। ग्वाले उनकी देखभाल करते और दूध दुहते थे। आशुतोष दूध के साथ-साथ 'संदेश' और दूध से बनी दूसरी बंगाली मिठाइयों के बेहद शौकीन थे। मांस अपेक्षाकृत कभी-कभार ही खाया जाता था। लेकिन कालीघाट स्थित काली देवी के मंदिर में माँ को प्रसन्न करने के लिए जिन बकरों की बलि दी जाती थी, उनका मांस भी कभी-कभार घर में लाया जाता था। उस मांस को बिना प्याज के सात्त्विक तरीके से पकाया जाता था। सुबह और दोपहर के नाश्ते में घर में पकाई चीजें ही खाई जाती थीं। बाजार से खरीदी जानेवाली ऐसी खाद्य वस्तुएँ एकदम वर्जित थीं। इसका मुख्य कारण यह था कि आशुतोष की पत्नी और उनकी माँ, दोनों ही न केवल भोजन के मामले में बड़ी परंपरावादी थीं, बल्कि स्वच्छता-शुद्धता को लेकर भी। योगमाया कभी भी कुरसी पर नहीं बैठती थीं। फर्श पर बैठने से पहले भी वह अपनी चटाई बिछाती थीं, कहीं जाती तो उसे वह अपने साथ लेकर ही जाती थीं। वैसे आशुतोष अपने वक्त के मुताबिक रूढ़िवादी नहीं थे, लेकिन अंग्रेजों के कार्यालय और सरकारी भवन में परोसे गए भोजन व चाय तक से भी दूर ही रहते थे।

आशुतोष एक धार्मिक हिंदू ब्राह्मण थे, परंतु अनेक रूढ़ियों से मुक्त भी थे। उन्होंने अपनी धार्मिकता बच्चों पर थोपने या उनके मन में जबरन बिठाने की कोशिश कभी नहीं की। उनकी कोशिश रही कि बच्चे अपने अर्जित विश्वासों के अनुसार ही बड़े हों। सच तो यह है कि उनकी पत्नी योगमाया अपने माता-पिता से रूढ़िवादिता की परंपरा साथ लेकर आई थीं। अत: मुकर्जी परिवार में दो धाराएँ साथ-साथ मौजूद रहीं—लचीलापन और रूढ़िवाद। परिणामस्वरूप धर्म के प्रति बच्चों के रवैए ने विभिन्न मोड़ लिये। आशुतोष सभी हिंदू त्योहारों में पूरे उत्साह के साथ शामिल होते थे और दुर्गा-पूजा के दौरान 'चंडी स्तोत्र' खुद ही पढ़ते थे। सबसे बड़ा बेटा रमाप्रसाद अपनी आस्था और आचार में एक रूढ़िवादी हिंदू की तरह बड़ा हुआ। वह न केवल सख्त व्यक्ति था, बल्कि समझौतावादी भी नहीं था। लेकिन श्यामाप्रसाद बिलकुल अलग थे। हालाँकि वह हृदय से धार्मिक और ईश्वरभीरु थे, लेकिन बंगाल में प्रचलित हिंदू धर्म के कर्मकांडों (बाहरी दिखावों) में उनकी आस्था नहीं थी। आचरण में जातिगत छुआछूत व भेदभाव से वे मुक्त थे। वर्ण व्यवस्था को आधार व्यवसाय माना जाता था, लेकिन उसका स्थान वंश-परंपरा ने ले लिया। ये ऐसे कारक थे, जिन्होंने बड़े स्तर पर हिंदुओं को आपस में ही अलग-थलग कर दिया। अंतत: वे बाहरी आक्रमणों के शिकार बने। आज यही जातीय भेदभाव भारतीय राजनीति का बुनियादी तत्त्व है और खुद को 'धर्मनिरपेक्ष' करार देनेवाले लोग ही इसका इस्तेमाल करते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि एक आदमी, जो जीवन भर पराजय व गुलामी के खिलाफ लड़ता रहा था, उसने हिंदू धर्म को व्यापकता दी।

घर के धार्मिक वातावरण ने सर आशुतोष के लचीले रवैए ने श्यामाप्रसाद में विशेष प्रकार की आस्था पैदा करने में अहम भूमिका निभाई। सन् 1946 में बँगला में उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—

''मैंने कभी भी अपने हृदय और आत्मा से भगवान् की ओर देखना नहीं सीखा। यह मेरी बहुत बड़ी असफलता है। बेशक ईश्वर में मेरा विश्वास है, लेकिन उसे न तो मैं जानता हूँ और न ही जानना चाहता हूँ। यह भी जानना नहीं चाहता कि उनका किस देवी में वास है। मैं किसी

देवी विशेष का भक्त भी नहीं हूँ। लेकिन मैं उसे गलत भी नहीं मानता कि कौन किस देवी की पूजा करता है। यदि कोई देवी में ही ईश्वर का अहसास करता है, तो भगवान् जरूर उसपर हँसेगा। लेकिन यदि देवी ईश्वर की पूजा का एक जरिया मात्र है और उससे व्यक्ति को संतुष्टि मिलती है तो उसे सही मानना चाहिए। महत्त्वपूर्ण यह है कि आराधना हृदय और आत्मा से की जानी चाहिए। सवाल यह है कि भगवान् की ओर कब देखना चाहिए या उसकी पूजा कब करनी चाहिए? दरअसल जब किसी का बेटा बीमार हो, जब कोई संकट में हो, नौकरी छूट जाए, नुकसान हो जाए या संपत्ति को खोने की स्थिति आ गई हो, तभी कोई व्यक्ति ईश्वर को याद करता है। लेकिन हम में से कितने उसकी तब पूजा करते हैं, जब ऐसा करने का कोई कारण न हो? हमें निस्स्वार्थ, बिना किसी हित या कारण के उसकी पूजा करनी चाहिए।''

डायरी का अंग्रेजी में लिखा एक और प्रसंग वर्ष 1939 का है—

''हे प्रभु! मुझे आस्था, ताकत और मन की शांति दो, इच्छा-शक्ति दो, ताकि दूसरों की भलाई के लिए काम कर सकूँ। आशीर्वाद दो कि मैं संपन्नता के दौर में भी तुम्हें याद रखूँ। मैं आपके प्यार में खुद का विलय कर दूँ। अगर मैंने गलतियाँ की हैं तो मुझे माफ कर देना और मुझे उस रास्ते पर चलाइए, जो सिर्फ आपका और सिर्फ आपकी तरफ जाता हो।''

27 जनवरी, 1946। डायरी का एक और पन्ना—

''यदि कोई शारीरिक और मानसिक तौर पर अच्छा न हो तो कुछ भी हासिल करना मुमकिन नहीं है। लिहाजा उसके लिए मैं भगवान् का धन्यवाद करता हूँ कि जो उसने मुझे दिया है और प्रार्थना करता हूँ कि मुझे और शक्ति तथा समर्पण दे, ताकि मैं अपने आप को समर्पित कर सकूँ। अब मुझे महसूस हुआ है कि हरेक की बीमारी और दुःख खुद-ब-खुद खत्म हो जाएँगे, यदि वह व्यक्ति प्रभु में ध्यान लगाएगा। मैं यह कभी सोच भी नहीं सकता था कि मैं इस योग्य हूँ कि कुछ प्राप्त कर सकूँ। इसके पश्चात् भी मैं भगवान् का सही ढंग से आह्वान नहीं कर पा रहा हूँ। मैं समझता हूँ यह शक्ति भी उसी के हाथ में है। इससे पहले इस तरह भगवान् का आह्वान करने की इच्छा कभी नहीं हुई। अब जो एहसास हुआ है, वह भी भगवान् की कृपा है। मुझे विश्वास है कि वह अपनी अनंत कृपा से मुझे सही रास्ता दिखाएगा कि मैं इन कार्यों को कैसे करूँ? मैं धन, यश और गौरव की इच्छा नहीं करता। मुझे वही प्राप्त होगा, जिसके मैं योग्य हूँ और जिसके लिए मैंने मेहनत की है। मैं तो उससे खुद को समर्पित करने का अधिकार माँगता हूँ। जो मेरे प्रियजन और करीबी हैं, उनके लिए कोई अनुचित माँग नहीं करना चाहता। लेकिन यह जरूर चाहता हूँ कि उन्हें खुशी और सुकून मिले। इस दुनिया में रहना ऐसा है जैसे जबरन विश्वास करनेवालों की दुनिया में रहना, क्योंकि यहाँ साथ और झूठ दोनों मौजूद हैं। यदि कोई सत्य को प्राप्त कर लेता है, जैसाकि मैं भाग्यशाली हूँ कि मैंने सत्य को प्राप्त कर लिया था, तो फिर कोई इसे छोड़ना क्यों चाहेगा? मैं पूरी ताकत से यही कोशिश करूँगा कि सच के साथ चिपका रहूँ।''

कई शब्द ऐसे हैं, जो ईसाइयों की प्रार्थना में होते हैं और जो एक ही भगवान् के आह्वान के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। एक ब्राह्मण परिवार में पैदा होने और ब्राह्मणवादी शिक्षा लेने के बावजूद श्यामाप्रसाद ने अपनी प्रार्थना में उन शब्दों का प्रयोग क्यों किया? उत्तर यही हो सकता

है कि उन्हें सर्वव्यापक भगवान् का एहसास हो गया था। श्यामाप्रसाद जिसकी प्रार्थना कर रहे थे, वह जाग्रत् बंगाली हिंदुओं में स्वाभाविक तौर पर प्रचलित था। प्रार्थना की भाषा, जो अब्राहम अपने भगवान् के लिए इस्तेमाल करते थे, वैसी ही लगती है, लेकिन ऐसा नहीं था। सार्वभौमिक भगवान् की अवधारणा उस काल के सामाजिक, धार्मिक नेतृत्व के उन विचारों की उपज थी, जो तब के बंगाल में श्यामा के जन्म से पहले प्रचलित थे। उनमें सबसे प्रख्यात राजा राममोहन राय हैं, जो ब्रह्म समाज के संस्थापक थे। उन्होंने सती प्रथा को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। एक और प्रसिद्ध व्यक्तित्व रामकृष्ण परमहंस थे, जो दक्षिणेश्वर मंदिर के अनपढ़ पुजारी थे। वह खुद को दो भगवानों का अवतार मानते थे। वह श्यामाप्रसाद के जन्म से कुछ साल पहले तक जीवित थे। उन्होंने बहुत ही सरल शब्दों में कहा था—''जितने भी धर्म हैं, वे भगवान् तक पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं।'' स्वामी विवेकानंद भी एक अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व थे, जिन्होंने खुद तो पाश्चात्य शिक्षा हासिल की थी, लेकिन अनपढ़ गुरु के शिष्य थे। उन्होंने गुरु के नाम, उनके उपदेशों और हिंदू धर्म की महानता को दुनिया में फैलाया था। विवेकानंद ने रामकृष्ण मठ और मिशन की स्थापना की। जब उनका देहांत हुआ, तब श्यामाप्रसाद एक साल के थे। लेकिन उन्होंने बाद में नोआखाली नरसंहार के दौरान इसी मिशन के साथ मिलकर काम किया था। उसी दौर में एक और अल्प ज्ञात, लेकिन महान् संत थे स्वामी प्रणवानंद। उन्होंने 'भारत सेवाश्रम संघ' नामक हिंदू धार्मिक और परोपकारी संस्थान की स्थापना की। भारत के बाहर यह 'प्रणव मठ' के नाम से जाना गया। यह संस्थान भी उसी तर्ज पर था, जैसे विवेकानंद के रामकृष्ण मठ और मिशन की स्थापना की गई थी। 'भारत सेवाश्रम संघ' के माध्यम से स्वामी प्रणवानंद ने हिंदुओं को निराशा और असहाय स्थिति में से बाहर निकालने की कोशिश की। उनमें आत्मविश्वास और संघर्ष जगाने का कार्य किया, क्योंकि उसी के माध्यम से वे भविष्य के किसी नरसंहार से बच सकते थे। स्वामी प्रणवानंद उन तीन महापुरुषों में से एक थे, जिनके साथ श्यामाप्रसाद ने निजी तौर पर संवाद स्थापित किया था। वास्तव में वह उनमें से एक थे, जो श्यामा को राजनीति में लाए। यह भी निश्चित है कि अन्य दो संतों के उपदेशों ने भी श्यामा की सोच को प्रभावित किया था।

एक व्यक्ति, जो श्यामा को बेहद प्यार करते थे और जिनका बचपन में उनपर महत्त्वपूर्ण प्रभाव भी था, उनकी दादी जगततारिणी के भाई आधारचंद्र चटर्जी थे। कई पौत्रों में से श्यामा पर उनका बेहद प्यार था और श्यामा भी उनके बिना नहीं रह सकते थे। चूँकि वह बच्चों को खूब कहानियाँ सुनाते थे, लिहाजा परिवार में वह बच्चों के खूब चहेते थे। लेकिन शराब पीने की बुरी लत होने के कारण अंततः एक दिन सर आशुतोष को उन्हें मुकर्जी परिवार में आने से रोकना पड़ा। उस समय जगततारिणी भी जीवित थीं।

दूसरे व्यक्ति, जिन्हें श्यामाप्रसाद बहुत प्यार करते थे, वे थे उनके मामा—माँ के भाई पंचानन भट्टाचार्य। उन दिनों में यह आम प्रचलन था कि जो गरीब रिश्तेदार, दूर के संबंधी भी होते थे, वे कलकत्ता में अपने अमीर रिश्तेदारों के घर में स्थायी रूप से ही रहने लगते थे। मुकर्जी परिवार भी कोई अपवाद नहीं था। पंचानन वहीं रहकर काम करते थे। उनका परिवार कृष्णानगर में था और वह हर शनिवार को परिजनों से मिलने जाया करते थे। तब वह श्यामा को भी अपने साथ

ले जाते थे। अधिकतर बंगाली बच्चों के लिए 'मामार बाड़ी', यानी ननिहाल परंपरागत रूप से मौज-मस्ती और खेल की जगह होती थी। बच्चों को अपने घर के नीरस दैनिक जीवन से भी छुटकारा मिल जाता था। कृष्णानगर का अर्द्ध-ग्रामीण माहौल श्यामा के कलकत्ता वाले माहौल से अलग था, लिहाजा अपने नाना के घर आने से उनकी खुशी का ठिकाना न रहता था। इसके अतिरिक्त, कृष्णानगर में एक विशिष्ट तरह की मिठाई सरभाजा और सरपुरिया—जो धीमी आँच पर दूध को उबालने पर उसके ऊपर मलाई की जो परत बन जाती है, से बनाई जाती थीं। पंचानन उन्हें खाने के बेहद शौकीन थे और श्यामा को भी अत्याधिक पसंद थीं। लिहाजा कृष्णानगर उनके लिए सातवें स्वर्ग के बराबर हो गया था। इसके मिट्टी से मूर्तियाँ बनानेवालों ने भी कृष्णानगर को प्रसिद्ध बना दिया था। लिहाजा कलकत्ता से यहाँ आनेवालों का यह भी एक आकर्षण था। आधारचंद्र की तरह पंचानन को भी बाद में शराब पीने की लत लग गई थी। संभवत: इन्हीं कारणों से श्यामाप्रसाद ने अपनी जिंदगी में कभी भी शराब नहीं पी। हालाँकि वह महात्मा गांधी या मोरारजी देसाई की तरह शराबबंदी के प्रति अत्याधिक उत्साही भी नहीं थे।

मानसिक या आध्यात्मिक किस तरह के व्यक्ति के तौर पर श्यामाप्रसाद बड़े हुए? इस बारे में उन्होंने कई बार लिखा है कि मुख्य रूप से वह न केवल एक अंतर्मुखी व्यक्ति रहे, बल्कि संकीर्ण, परावर्तक और विचारशील व्यक्ति भी थे। वह एक ऐसे भावुक व्यक्ति भी थे कि किसी के भावुक समर्थन की जरूरत महसूस नहीं करते थे। अपनी पत्नी की जल्दी मृत्यु से उन्हें गहरा आघात लगा था, जैसाकि उन्होंने अपनी एक डायरी में लिखा है। लेकिन उन्होंने न तो पुनर्विवाह किया और न ही शोक में डूबे रहे। संभवत: उन्होंने सार्वजनिक जीवन में व्यस्तता इसलिए बढ़ाई, ताकि स्वयं के दु:ख को भुलाया जा सके। लेकिन अंतरंग क्षणों में वह अपनी पत्नी के बारे में संस्मरण सुनाने या लिखने से अपने आप को रोक नहीं सके। एक राजनेता के तौर पर स्वाभाविक रूप से वह असंख्य लोगों को जानते थे, लेकिन उनके परिजनों के अतिरिक्त कोई भी उनका विश्वसनीय और विशेष प्रिय होने का दावा नहीं कर सकता था। सर्वपल्ली राधाकृष्णन और सुरेंद्रनाथ सेन सरीखे कुछ व्यक्ति उनके बेहद करीबी थे, लेकिन ऐसा नहीं था कि उनसे भी वह तमाम मुद्दों पर चर्चा कर लेते थे। यदि उनसे कोई चर्चा की भी तो किसी को भनक नहीं लग पाती थी कि उनके बीच क्या बातचीत हुई। उनके परिवार में भी उनकी भाभी तारा देवी को ही उनका वास्तविक भरोसेमंद कहा जा सकता था। उनके स्वयं के भाई और बच्चे भी बड़े होने के बाद भी वह स्थान प्राप्त नहीं कर सके।

उन्हें बच्चों का साथ और उनके संग खेलना बेहद पसंद था। वह घर में ही अपने मनोरंजन के लिए ताश खेलने और जासूसी उपन्यास पढ़ने के शौकीन थे। हँसाने और चुटकुले सुनाने की उनकी प्रवृत्ति का खुलासा अगले अध्याय में है। इस संदर्भ में वह अपने बड़े भाई रमाप्रसाद से बिलकुल भिन्न थे, जो एक चुपचाप रहनेवाले और धार्मिक व्यक्ति थे।

वह ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक भगवान् में अटूट विश्वास था। वह जब बीमार पड़े थे और सन् 1945-46 में मधुपुर वाले घर में स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे, तब चूँकि उनके पास काफी समय था, उस समय डायरी के लिखे हुए पन्ने उनकी धार्मिकता का खुलासा करते हैं। 'शाक्त पदावली' का एक गीत, जो मुझे पसंद है और मैंने याद किया है, वह है—माँ

काली की ही पूजा प्रबल श्रद्धा और समर्पण के भाव के साथ करनी चाहिए। दिखावे की, आडंबरपूर्ण पूजा पूरी तरह अनावश्यक है, क्योंकि वह घमंडी बना देती है। परंपरागत रूप से भेंट, दीपक जलाना या झाड़फानूस आदि भी जरूरी नहीं हैं। रमाप्रसाद कहते हैं, ''व्यक्ति को अपने दिमाग में सिर्फ समर्पण का दीप जलाना चाहिए और उसे रात-दिन जलाए रखना चाहिए। समर्पण-भावना की ऐसी लौ तमाम बुराइयों को भस्म कर देगी।''

डायरी के एक और पन्ने में उनकी भावनाओं की गहराई का खुलासा होता है—''कुछ रातों से मैं प्रार्थना कर रहा हूँ, अपनी आत्मा को उड़ेल रहा हूँ। मेरी आँखें आँसुओं से भरी हैं, मुझे शरण दो। यदि तुम मुझे ले जाना चाहते हो तो आज ही ले जाओ। मैं पश्चात्ताप की कोई भी टीस तक महसूस नहीं करूँगा। मैं अपनी जिंदगी के दीप की लौ खुशी-खुशी बुझा दूँगा। लेकिन यदि आप चाहते हैं कि मैं कुछ और समय के लिए रहूँ तो मुझे शांति दो, मुझे आप में दोबारा विश्वास जताने की अनुमति दो। मुझे विश्वास करने दो कि आप मेरे हैं, आप बेघरों के शरणदाता हैं, भिखारियों के राजा और मित्रहीनों के मित्र हैं। आप ही खोए हुए यात्री के लिए मार्गदर्शक-प्रकाश हो, अंधे की दृष्टि हो, अज्ञानी की बुद्धि हो और गरीब के मित्र हो। ये विचार मुझे आनंद से भर देते हैं। लेकिन मेरे लिए हमेशा यह संभव नहीं है कि मैं अपने मन को संयम में रख सकूँ और आप में अपने विश्वास से शक्ति ग्रहण कर सकूँ। चिंताएँ लौटकर आती रहती हैं, अशांत और आंदोलित भावनाएँ मेरे हृदय में तबाही मचाती हैं और तब हैरान हो जाता हूँ कि मैं इतना निराश महसूस क्यों करता हूँ। इसीलिए आज मेरी प्रार्थना है—'हे दयावान्, आओ और मुझे अपना बना लो, मुझे राह दिखाओ और मुझे जाग्रत् करो। मुझे एहसास करने दो कि आप में तल्लीन होने की अपेक्षा कोई भी शांति महान् नहीं है। मैं किसी के प्रति गुस्से या कड़वाहट को अपने मन में नहीं रखना चाहता। इस जिंदगी में मैंने किसी से भी जो कुछ हासिल किया है, उसके प्रति आभार! यदि वे व्यक्ति, जो मुझे सांत्वना दे सकते थे, फिलहाल मेरे साथ नहीं हैं, तो उनके प्रति मेरे अंदर कोई ईर्ष्या या जलन नहीं है। ईश्वर सभी को आशीर्वाद दे।' ऐसे विचार मेरे हृदय को लबालब भर देते हैं।''

सांसारिक स्तर पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वह बेहद दयालु और मानवीय इनसान थे। राजनीति में होने के बावजूद वह छोटे-से-छोटे स्तर पर भी नाइनसाफी के खिलाफ किसी भी सीमा तक जाने को तैयार थे। गुणों की ऐसी विरासत उन्होंने अपने महान् पिता से पाई थी। उनका धुर विरोधी भी उनपर स्वार्थी होने का आरोप नहीं लगा सकता था, हालाँकि अधिकतर भारतीय राजनेताओं में स्वार्थ होता है। उन्होंने अपनी डायरी में एक व्यक्ति का उल्लेख किया है—एक सेवानिवृत सरकारी कर्मचारी, जिसे सिर्फ 30-40 रुपए पेंशन मिलती थी। उसकी नौकरी में कुछ खंड आ गए थे, जिसके कारण उसकी पेंशन में कटौती कर ली गई थी। उस व्यक्ति ने उन खंडों की माफी के लिए आवेदन किया था, जिससे उसे 6 रुपए माहवार का लाभ हो सकता था। उनके सचिव ने एक लंबा नोट लिखकर उस व्यक्ति के आवेदन के खिलाफ परामर्श दिया, क्योंकि उससे पूर्व के सभी उदाहरण वैसी माफी के खिलाफ थे। श्यामाप्रसाद ने उस परामर्श को अस्वीकार कर दिया और भारतीय नौकरशाही की व्यवस्था में एक ऊँचे दर्जे का काम किया। उस व्यक्ति के तमाम ब्रेक माफ करा दिए और उसकी थोड़ी सी पेंशन बहाल हो गई। जब उनके

सचिव ने ऐसे निर्णय के बारे में जानना चाहा तो पता चला कि उस सेवानिवृत्त व्यक्ति पर एक बड़े परिवार के पालन-पोषण का भार है। तब उन्होंने फाइल पर लिखा कि विदेशों में ऐसे परिवार का दायित्व विशेषत: पर सरकार उठाती है, लिहाजा बंगाल सरकार को भी अपने पेंशन नियमों में ऐसे संशोधन करने चाहिए, ताकि कुछ हद तक परिवार को मदद मिल सके।

उनके भाई उमाप्रसाद ने एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया है, जो विधानसभा में श्यामाप्रसाद का कट्टर विरोधी था। उमा ने उस व्यक्ति का नाम नहीं लिखा। उमा यह देखकर हैरान थे कि वह व्यक्ति एक अनुरोध के साथ श्यामाप्रसाद से मिलने आया था। उसके साथ कोई अन्य व्यक्ति भी था। श्यामाप्रसाद ने दोनों से मुलाकात की। जब वह व्यक्ति घर से बाहर आ रहा था और उसे लगा कि कोई उसे सुन नहीं रहा है तो वह अपने साथी से बोला, ''देखा, मैं कितनी आसानी से श्यामाप्रसाद से काम करा सकता हूँ!'' उमाप्रसाद लौटकर श्यामा के पास गए और यह बात बताई। श्यामाप्रसाद मुसकराए और बोले, ''क्या मैं नहीं जानता कि यह किस तरह का आदमी है? लेकिन दूसरे व्यक्ति का काम करना अत्यधिक आवश्यक था।'' शायर काजी नजरुल इसलाम की सहायता और मेहमाननवाजी का वर्णन भी उनके इसी स्वभाव की ओर इंगित करता है, जिसकी विस्तृत चर्चा बाद के अध्याय में है।

वास्तव में उनके प्रख्यात पिता की चर्चा करना भी इस समय प्रासंगिक रहेगा। उनके समकालीन धीरेंद्रनाथ सेन की टिप्पणी है—''यह आशुतोष की आदत थी कि उनकी मौजूदगी में सभी लोग घर जैसा महसूस करते; लेकिन उसी वक्त सभी गुस्ताख लोगों को अपनी-अपनी जगह रख दिया करते थे। आशुतोष डाँटते-फटकारते भी थे और प्यार भी करते थे। पर श्यामाप्रसाद ज्यादा ही सहनशील थे—अपने पिता से भी ज्यादा। पिता आशुतोष तब तक अपने दुश्मन को माफ नहीं करते थे, जब तक उसे नीचा नहीं दिखा लेते थे और उसे उसकी औकात महसूस नहीं करा देते थे। लेकिन उससे बिलकुल विपरीत, श्यामा के मन में अपने विरोधियों और आलोचकों के प्रति कोई कड़वाहट नहीं होती थी। उनके भतीजे जस्टिस चित्ततोष मुकर्जी के अनुसार, श्यामाप्रसाद में लोगों को विश्वास दिलाने और दोस्त बनाने की अतुल्य क्षमता थी। दूसरे लोगों ने भी वार्त्तालाप के दौरान उनकी 'मधुर विवेकशीलता' के बारे में बताया। इसके विपरीत, सर आशुतोष अपने ताकतवर व्यक्तित्व से लोगों को आतंकित किया करते थे।

श्यामाप्रसाद अपने यौवनकाल में अच्छी पोशाकें पहनने के शौकीन थे। जिस फोटो में हम उन्हें उनकी पत्नी के साथ देखते हैं, वह 21 वर्ष की आयु का है। फोटो में वह खूब सजे-धजे हैं। मिर्जई और धोती में बने-ठने तथा घनी मूँछों के साथ चौड़ी मुसकान¨। इंग्लैंड के चित्रों में भी वह थ्री पीस सूट में और साइकिल के हैंडल की तरह मरोड़ी गई मूँछों के साथ दिखाई देते हैं। उस दौर के फैशन के मुताबिक वह एक छड़ी भी रखते थे। वह बहुत अच्छी किस्म की होती थी। बाद के वर्षों में वह कपड़ों के प्रति उदासीन होते गए थे, जैसा कि एक आम विधुर व्यक्ति के साथ सामान्यत: होता है।

उनकी भानजी अमिता राय चौधरी, जो बहन अमला और बहनोई प्रमथनाथ बनर्जी की बेटी हैं, याद करते हुए बताती हैं—''श्यामाप्रसाद महिलाओं की वेशभूषा को लेकर परंपरावादी थे। उन्होंने एक बार मुझे बिना बाजु का ब्लाउज पहनने से मना किया था, जबकि उनका स्वयं का

परिवार काफी लचीला था। श्यामाप्रसाद की दो बेटियों में से बड़ी बेटी सविता का पालन-पोषण परंपरागत तरीके से हुआ था।'' अमिता के अनुसार, ''यदि सविता को अवसर मिलता तो वह एक प्रख्यात महिला के तौर पर उभरती और राजनीति में भी जा सकती थी।'' दूसरी ओर, छोटी बेटी आरती के साथ अपेक्षाकृत लचीला और उदार व्यवहार किया गया। छोटी बेटी के प्रति श्यामाप्रसाद खासतौर से चिंतित रहते थे, क्योंकि उसे माँ का प्यार कभी नहीं मिला और वह क्षय रोग से भी पीड़ित थी।

हम इस पुस्तक के माध्यम से जानेंगे कि श्यामाप्रसाद एक व्यक्ति, एक प्रशासक और एक राजनेता की तरह कैसे उभरे। फिलहाल हम एक बार फिर उनके बचपन की ओर लौट चलते हैं, उस स्थान की ओर जिसने उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। एक सामान्य सी जगह—मधुपुर। दक्षिण बिहार (अब झारखंड) में संथाल परगना का एक जिला, जो बंगाल के दक्षिण-पश्चिमी छोर के एक हिस्से की साझी सीमा पर है। एक चित्रात्मक, बेहद सुंदर स्थान, पेड़ों से घिरी और लदी छोटी पहाड़ियाँ, तीव्र वेग से बहती नदियाँ और साल के पेड़ों से ढका घुमावदार गाँव तथा संथाल जाति की जनजातियों का निवास-स्थान। तेज गरमी के दिनों को छोड़कर वर्ष भर यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक रहती है और क्षेत्र के अधिकतर हिस्सों में कुएँ का पानी मिलता है, जिसमें औषधिपरक गुण हैं। इसके अतिरिक्त, कलकत्ता के निकट होने के कारण यह क्षेत्र बंगालियों को खूब आकर्षित करता है। वास्तव में बंगाली बाबुओं (मध्य वर्गीय हिंदू, जिस जमात को भद्रलोक के नाम से जाना जाता है) को उस इलाके में एक मजाकिया नाम से जानते हैं। मधुपुर में खाने-पीने की चीजें कलकत्ता में उनके दामों की तुलना में बहुत सस्ती हैं। लिहाजा वे एक-दूसरे को कहते थे—'बहुत सस्ती, बहुत सस्ती!' इसलिए उन्हें 'डांची बाबू' के नाम से जाना जाता था।

संथाल परगना जिले के मधुपुर में रेलवे का जंक्शन स्टेशन भी है, जो हावड़ा-पटना-मुगलसराय की मेन लाइन पर है। कलकत्ता स्थित तत्कालीन पूर्वी भारतीय रेलवे के तहत हावड़ा से करीब पाँच घंटे की रेलयात्रा की दूरी पर यह स्थान है। मधुपुर से एक सहायक रेल लाइन प्रारंभ होती है, जो पड़ोस के गिरिडीह में कोयला खदान के मजदूरों के लिए बनाई गई है। मधुपुर कस्बे में सर आशुतोष ने साल के पेड़ों से ढकी जमीन का एक भूखंड खरीदा था और सन् 1912 में वहाँ एक दुमंजिला बड़ा सा भवन बनकर तैयार हो गया था। उसका नामकरण स्वर्गीय पिता के नाम पर 'गंगाप्रसाद हाउस' रखा गया। मधुपुर का वह बँगला श्यामाप्रसाद, उनके परिवार और साथियों से जुड़ी कई ऐतिहासिक घटनाओं का साक्षी रहा है। श्यामा ने सन् 1939 और 1945-46 में यहीं स्वास्थ्य-लाभ किया था। प्रख्यात बँगला कवि काजी नजरुल इसलाम और उनकी पत्नी वर्ष 1942 में यहीं पर ठहरे थे।

श्यामाप्रसाद का इस बँगले और मधुपुर से असाधारण लगाव था। अनेक वर्षों और जीवन की निजी त्रासदियों के बाद उन्होंने 'आबोहवा बदलाव' के लिए एक पूरा महीना यहीं गुजारा और दिसंबर 1945 एवं जनवरी 1946 के बीच दिल का दौरा पड़ने के बाद पुन: यहीं स्वास्थ्य-लाभ किया। उस प्रवास के दौरान 16 जनवरी, 1946 को श्यामाप्रसाद ने मधुपुर में बिताए अपने दिनों के संस्मरण सुनाए और उनके बारे में डायरी में बँगला में वह लिखते हैं—''हम कितने खुश थे, जब नया घर बना था! हर चीज नई थी—कमरे, फर्नीचर, लाइटें, बाग और पेड़। मेरी दादी, पिता

और बड़ी बहन अभी जीवित थे।'' उन्होंने बाहुबल्लभ शास्त्री नाम के एक बेहद मोटे ब्राह्मण और भुक्खड़ पेटू के मसखरेपन का वर्णन भी किया है। वह ब्राह्मण हमेशा उनके साथ रहता था। एक बार नींद में वह अपने बिस्तर से नीचे गिर गया, तो हम सब ने सोचा कि भूकंप आ गया! दरअसल 'गंगाप्रसाद हाउस' का निर्माण कार्य पूरा होने से पहले भी मुकर्जी लगातार मधुपुर आया-जाया करते थे। उन दिनों वह अपने मित्र बिजॉय नारायण कुंडू के घर में ठहरा करते थे, जहाँ वह संभावित भूकंप आया करता था। श्यामाप्रसाद 'गृह प्रवेश' के समारोह को याद करते हैं। इसके बाद ही व्यक्ति अपने घर में प्रवेश करता। उस दौरान घर के मालिक ने एक गाय की पूँछ पकड़कर घर में प्रवेश किया था। श्यामाप्रसाद ने वह सबकुछ देखा और लिखा—''मेरी दादी ने वह दायित्व निभाया। ऐसी सीधी-सादी गाय को ढूँढ़ना आसान नहीं था, जो पूँछ पकड़ने पर भाग न जाए या पलटकर हमला न कर दे!''

वह आगे लिखते हैं—''उस घर के साथ यही मेरी शुरुआत थी। करीब 34 सालों में ज़िंदगी के उतार-चढ़ाव के दौरान भी, इसी घर ने मुझे शरण और आराम दिया। उन दिनों हम अकसर इस घर में आया करते थे। गरमियों की छुट्टियों, क्रिसमस के अवकाश और दुर्गा पूजा के दिनों में हम यहाँ आते थे। नए घर का अपना विशेष आकर्षण था। हमने बड़ी तत्परता और देखभाल के साथ बगीचे को बनाया-सजाया था। मेरे पिता ने इधर-उधर से फलदार पेड़ों की सर्वश्रेष्ठ किस्में खरीदी थीं, ताकि उन्हें बगीचे में रोपा जा सके। हमने कई फूलदार पौधे और उनकी कलमें खरीदी थीं। पूरे घर में पानी के पाइप बिछे थे और टोंटियाँ लगी थीं। मुझे याद है कि गरमियों की छुट्टियों में यहाँ आने की उत्सुकता बनी रहती थी। पहले साल मेरी दादी तब जीवित थीं, लेकिन गठिया से पीड़ित थीं, लिहाजा बाग में एक अकंडा झाड़ी बोई गई थी। उन्हें चालता खाना पसंद था। चालता एक खट्टा फल है, जिसका छौंक में इस्तेमाल किया जाता था। दादी के लिए चालता का भी एक पेड़ लगाया गया था। लेकिन पेड़ के फल देने से पूर्व ही उनका निधन हो गया। मेरी माँ तब-तब उन्हें याद करती थीं, जब-जब हम चालता की सब्जी खाते थे। हमारे सभी अध्यापक यहाँ आया करते थे—हरेन बाबू, मुकुंद बाबू, पंडित मशाय, कभी-कभार सतीश बाबू, मुख्याध्यापक और कई दूसरे भी आते थे। गरमियों में पानी बर्फ जितना ठंडा होता था। हम उसे मिट्टी के घड़ों में भरकर रखते थे, ताकि हम दोपहर में ठंडे पानी से स्नान कर सकें। कितने मजेदार थे वे दिन! दोपहर बाद हवा आँधी की तरह चलती थी। हम पढ़ते, आपस में बातें करते और इधर-उधर घूमा करते थे।''

घर की प्रभारी कमला थी—आशुतोष की सबसे बड़ी और बेहद प्यारी बिटिया। लेकिन वह उतनी ही बदकिस्मत थी। आशुतोष उसे 'रानी माँ' कहते थे और उसकी हर बात मानते थे। मुकर्जी परिवार 'डांची बाबू' की बंगाली परंपरा के अनुसार रहा। श्यामाप्रसाद ने कई बार अपनी डायरी में उल्लेख किया है कि खाना कितना सस्ता और पर्याप्त मिला करता था—''गरमियों में एक रुपए में 12 से 16 सेर दूध लिया जा सकता था। पूजा के दिनों में यह महँगा होकर एक रुपए में 8 सेर मिला करता था, क्योंकि इसकी माँग बढ़ जाती थी और कलकत्ता से काफी लोग भी यहाँ आते थे। मधुपुर में भोजन सस्ता और प्रचुर मात्रा में मिलता था। हर सुबह हम मक्खन और मिसरी खाया करते थे। गरमियों, पूजा, क्रिसमस की छुट्टियों में मुकर्जी परिवार कलकत्ता से लोगों

को आमंत्रित करता था, ताकि वे कुछ समय उनके साथ गुजार सकें। बच्चों के अधिकतर अध्यापक मधुपुर आते थे। जब बहुत जरूरी काम के कारण आशुतोष को कलकत्ता में ही रहना पड़ता था और परिवार मधुपुर में होता था, तब भी वह सप्ताह के अंत में पंजाब मेल से यहाँ आते थे और रविवार को शाम की रेलगाड़ी से चले जाते थे।''

उन दिनों मधुपुर के एकांत, स्वच्छ हवा और नए माहौल ने श्यामाप्रसाद को विचारशील बना दिया था। मधुपुर में महीने भर के स्वास्थ्य-लाभ के प्रवास के बाद कलकत्ता लौटने से पहले 27 जनवरी, 1946 को अपनी डायरी में उन्होंने लिखा था—''मैं अपने भविष्य के क्रियाकलापों को तय नहीं कर पा रहा हूँ। मैं राजनीतिक धड़ेबंदी में शामिल नहीं होना चाहता। इसका कोई लाभ नहीं। मैं तमाम विवादों और लड़ाइयों से थक गया हूँ। मैं कुछ ऐसा करना चाहता हूँ, जिससे मुझे शांति मिले। मुझे और ख्याति की अपेक्षा नहीं है, लेकिन कुछ रचनात्मक करने की इच्छा है। मेरे पास इतने संसाधन नहीं हैं कि अपने परिवार के प्रति मैं अपना दायित्व निभाने में सफल हो सकूँ; लेकिन फिर भी इतना पर्याप्त छोड़ दिया है कि मेरे स्वप्नों को एक ठोस आकार मिल सके। मेरी इच्छा एक ऐसा संगठन बनाने की है, जो हर साल कमोबेश ऐसे 20-25 लोगों को प्रशिक्षित कर सके, जो समाज-सेवा को अपना जीवन समर्पित कर सकें। कहाँ हैं ऐसे महान् और उदार कार्यकर्ता, जो राष्ट्र-निर्माण की चुनौती को बहादुरी से स्वीकार कर सकें? राजनीतिक झगड़ों या विवादों से देश का उद्धार नहीं हो सकता। मेरा संगठन संस्कृत के अध्ययन का एक केंद्र होगा; महज एक भाषा के तौर पर नहीं, बल्कि ज्ञान के एक ऐसे व्यापक संसाधन को खँगालने के लिए, जो उसमें भरा है। उस ज्ञान को लोगों तथा विश्व तक फैलाने के लिए संस्कृत का अध्ययन किया जाना चाहिए। हमारी संस्कृति में जो स्थायी मूल्य हैं, वे संस्कृत में ही संरक्षित हैं, जो अब तक भी लोगों तक नहीं पहुँच पाए हैं। अंग्रेज और जर्मन विद्वानों ने बौद्धिकता का दीया जलाने की कोशिश की; लेकिन हम पाश्चात्य शिक्षा को आत्मसात् करने के शौकीन रहे। लिहाजा अपनी ही संस्कृति की प्रशंसा करने में शरमाते रहे। कितना शर्मनाक है! यह देश कभी भी अपनी मौलिक पहचान नहीं बना सकता, यदि वह अपनी ही संस्कृति में अपनी पहचान की तलाश नहीं करेगा।

''मैं कल घर लौट जाऊँगा। ऐसा लगता है मानो मैं अनंत काल के बाद लौट रहा हूँ।''

अमीर बंगालियों में, तब और आज भी, समंदर किनारे किसी रिसॉर्ट पर जाना और उड़ीसा में पुरी की तीर्थयात्रा करना लोकप्रिय रहा है। पुरी भगवान् जगन्नाथ के भव्य मंदिर के कारण प्रसिद्ध है और वर्ष में एक बार जिसकी रथयात्रा विश्व-प्रसिद्ध घटना मानी जाती है। मधुपुर या सिमुलतला, गिरिडीह अथवा करमांतर सरीखे पड़ोसी कस्बे आज बंगालियों में भ्रमण या घुमक्कड़ी की जगह के लिए लोकप्रिय नहीं रहे हैं, लेकिन पुरी आज भी उतना ही लोकप्रिय है, जितना सर आशुतोष के जमाने में था। पुरी इतना करीब नहीं है, जितना संथाल परगना के कस्बे। कोलकाता से रात भर की रेलयात्रा के बराबर है। सर आशुतोष ने पुरी में भी एक मकान बनवाया था—चक्रतीर्थ रोड पर, बी.एन.आर. होटल के उत्तर में। वह भी समंदर किनारे ही था। हालाँकि मधुपुर वाले भवन की तुलना में पुरी का मकान कम लोकप्रिय था और वहाँ जाना भी कम होता था। श्यामाप्रसाद की डायरी या किसी अन्य इतिहासोल्लेख में पुरी के भवन का वर्णन भी कम हुआ है। लेकिन श्यामाप्रसाद ने पुरी के कभी-कभार प्रवास का उल्लेख जरूर किया है। ऐसे ही एक

प्रवास को 'हनीमून' की तरह याद किया गया है। अलबत्ता उन दिनों में असल हनीमून की अवधारणा प्रचलित नहीं थी, लेकिन श्यामाप्रसाद ने पुरी के मकान का वर्णन उतने प्यार और पुरानी बातों को याद करने के तौर पर नहीं किया है, जैसा कि मधुपुर वाले घर के संदर्भ में किया है।

□

2

छात्र एवं संक्षिप्त वैवाहिक जीवन

(1906-1933)

श्यामाप्रसाद ने 5 वर्ष की उम्र में स्कूल जाना शुरू किया। उनके अध्यापक हरिदास कार, जो बाद में मुख्याध्यापक बने, को उनके दाखिले की सही तारीख याद है—23 जुलाई, 1906। उस तारीख को श्यामा को कक्षा दो में दाखिला मिला था। आजकल मध्य वर्गीय परिवारों के बंगाली बच्चे दो साल की उम्र में ही या उससे पहले भी स्कूल जाना शुरू कर देते हैं। लेकिन उन दिनों में 5 साल की उम्र को भी जल्दी माना जाता था। उन्होंने स्कूल जाने की जिद की, क्योंकि बड़े भाई रमाप्रसाद ने स्कूल जाना शुरू कर दिया था। उनका स्कूल 'भवानीपुर मित्र इंस्टीट्यूशन' सेंट्रल कलकत्ता में मेन मित्र इंस्टीट्यूशन की एक शाखा था, लेकिन छोटा स्कूल ज्यादा प्रसिद्ध था। यह स्कूल भवानीपुर के कंसारीपाड़ा के एक भवन में शुरू हुआ था और 77, रुस्सा रोड नॉर्थ से ज्यादा दूर नहीं था। लेकिन बाद में हरीश मुकर्जी रोड पर हरीश पार्क से बेहतर और निकट जगह में स्कूल स्थानांतरित हो गया। यह सड़क बलराम बसु घाट रोड से मिलती थी, जहाँ प्राइमरी स्कूल का भवन आज भी स्थित है। उसे कलकत्ता के सर्वश्रेष्ठ स्कूलों में माना जाता था, क्योंकि हर साल एक या दो छात्र परीक्षा में पहले 10 स्थान प्राप्त करनेवालों में होते थे। बंगाल को उसपर गर्व था। 1970 के दशक तक स्कूल का यही स्तर बना रहा; लेकिन बाद में पश्चिम बंगाल की वाम मोरचा सरकार ने सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों का स्तर, एक खास नीति के तहत, जान-बूझकर गिराना शुरू किया। छोटी कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाना बंद कर दिया गया और बड़ी कक्षाओं में पढ़ाई का स्तर गिरा दिया गया।

श्यामाप्रसाद को स्कूल में वर्ष 1907 से 1910 के बीच पढ़ानेवाले अध्यापक हर्षनाथ बनर्जी को याद है कि वह एक प्रतिभाशाली और बुद्धिमान छात्र थे। अध्यापक बाद में अलीपुर में एक सफल वकील बने। श्यामा ऐसे छात्र थे, जिन्होंने अध्ययन के दौरान कभी यह नहीं दरशाया कि उनके पिता एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं अथवा वह और उनके भाई घोड़ाबग्गी में स्कूल आते हैं। वह अपने सहपाठियों से कभी भी नहीं लड़ते थे। बनर्जी ने श्यामाप्रसाद की एक खास आदत पर गौर किया है कि वह अकसर महापुरुषों की कहानियाँ ऐसी दिलचस्पी के साथ सुना करते थे, जो उस उम्र में असामान्य बात होती थी। बनर्जी याद करते हैं कि उन्होंने जॉर्ज वाशिंगटन और

नेपोलियन बोनापार्ट की कहानियाँ उन्हें सुनाई थीं। दोनों अध्यापकों—हरिदास कार और बनर्जी—ने 1953 में श्यामाप्रसाद की मृत्यु के बाद स्कूल की पत्रिका में अपने ये संस्मरण लिखे थे।

मात्र एक साल छोटे भाई उमाप्रसाद के अनुसार, श्यामाप्रसाद की खेलों में रुचि नहीं थी, हालाँकि वह बाल-सुलभ आनंद प्राप्त करने के शौकीन थे। पढ़ाई के अलावा उनकी रुचि मुख्यत: अध्ययन में थी। चूँकि वह अपने हमउम्र बच्चों की तुलना में लंबे-चौड़े शरीर के थे, लिहाजा अध्ययन की ओर ही उनका झुकाव अधिक था और वह अधिक-से-अधिक ज्ञान आत्मसात् कर लेना चाहते थे। वह अपनी उम्र से बड़े बच्चों के साथ मेलजोल रखते थे। हालाँकि वह उमाप्रसाद से सिर्फ एक साल ही बड़े थे, लेकिन स्कूल में उससे तीन कक्षाएँ आगे थे। लेकिन उनके लिए यह अच्छा नहीं था, क्योंकि तब मैट्रिक की परीक्षा में बैठने की न्यूनतम उम्र 16 वर्ष थी। हालाँकि उन्होंने उसके बाद ही स्कूल की पढ़ाई पूरी की। उसके बाद वह आराम करने के लिए मधुपुर वाले भवन में गए और सब आनंद लिया। चूँकि उसी दौरान परीक्षा से पहले मैट्रिक का प्रश्न-पत्र एक नहीं, दो बार लीक हो गया था, नतीजतन परीक्षा समय से नहीं हो सकी। तब यूनिवर्सिटी ने अधिसूचना जारी की कि देरी से परीक्षा होने के पहले जिन्होंने 16 वर्ष की उम्र पूरी कर ली है, वे परीक्षा में बैठने के पात्र हैं। श्यामा उस वर्ग में आते थे, लिहाजा तुरंत मधुपुर तार भेजकर उन्हें बुलाया गया और परीक्षा में बैठने को कहा गया। हालाँकि उनकी तैयारी अच्छी नहीं थी, इसके बावजूद परीक्षा दी और सन् 1917 में उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी की मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद कॉलेज में उनका दाखिला हो गया। उन्होंने प्रथम श्रेणी के साथ-साथ छात्रवृत्ति भी हासिल की। हालाँकि वह इससे भी बेहतर परिणाम ला सकते थे, यदि उनकी परीक्षा की अच्छी तैयारी होती।

उन दो अध्यापकों के अलावा स्कूल में श्यामाप्रसाद के एक और अध्यापक थे—सतीश चंद्र बसु। वह मुख्याध्यापक होने के साथ-साथ उन्हें अंग्रेजी भी पढ़ाते थे। स्कूल के संस्थापक सचिव विश्वेश्वर मित्रा और मेन स्कूल के मुख्याध्यापक कभी-कभी भवानीपुर स्कूल में आते और पढ़ाया करते थे। उनके अलावा दुलाल चंद्र सरकार, पं. हेमचंद्र विद्यारत्न (मुख्य पंडित), नागेंद्र नाथ मित्र, मुकुंद पाडा राय (बाद में मुख्याध्यापक), कुमुद चंद्र रायचौधरी, आशुतोष घोष, समरजीत दत्ता, पं. पंचानन भट्टाचार्य, काव्यतीर्थ (दूसरे पंडित) आदि भी कभी-कभार स्कूल में आते और पढ़ाते थे। उन दिनों में बच्चों को पीटने या उनको अनुशासन में रखने का आम प्रचलन था। आज की तरह उसे यातना-सुख और बाल-उत्पीड़न नहीं माना जाता था। 'छड़ी को छोड़ो, बच्चे को बिगाड़ो' तब यह कहावत कही जाती थी। उन दिनों सजा देने का तरीका यह था कि बच्चे की दो उँगलियों के बीच पेंसिल को सख्ती से दबाया जाता था, उससे उँगलियों में बहुत दर्द होता था। नागेंद्र नाथ मित्रा इस तरह की सजा के विशेषज्ञ थे। उनकी दूसरी सजा थी—उँगली की गाँठ से सिर पर तेज चोट मारना। आशुतोष घोष पहले स्वतंत्रता सेनानी रहे थे और खुफिया गतिविधियों में भी संलग्न रहे थे। वह छात्रों को उन गतिविधियों के बारे में बताया करते थे। वह कहानी सुनाने में विशेषज्ञ थे। जतेंद्र नाथ मित्रा गणित के अध्यापक थे। वह हर समय 'हरि नाम' की स्तुति गाते रहते थे और छात्रों को भी ऐसा करने की शिक्षा देते थे। प्रियनाथ बसु और महेंद्र मुकर्जी ऐसे अध्यापक थे, जो मुकर्जी परिवार के बच्चों को पढ़ाते थे।

सन् 1917 में मैट्रिक पास करने के बाद श्यामाप्रसाद ने प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया। वह आज की तरह तब भी बंगाल में सर्वश्रेष्ठ डिग्री कॉलेज था। बंगाल में जो शिक्षा सन् 1960 तक जारी रही, वह इस प्रकार थी—पहली से दसवीं कक्षा तक 10 साल स्कूल में, उसके बाद मैट्रिक की परीक्षा, जिसे कलकत्ता यूनिवर्सिटी संचालित करती थी। आजादी के बाद यूनिवर्सिटी का स्थान बोर्ड ऑफ सेकंडरी एजुकेशन ने ले लिया और परीक्षा का नाम बदलकर 'स्कूल फाइनल' कर दिया गया। उसके बाद कॉलेज में इंटरमीडिएट की पढ़ाई (कला, विज्ञान या कॉमर्स में) और उसके बाद दो साल का 'पास' या 'ऑनर्स' पाठ्यक्रम, जिसके बाद स्नातक की डिग्री। तब कला, विज्ञान या कॉमर्स में दो साल का स्नातकोत्तर, यानी मास्टर्स डिग्री की पढ़ाई। श्यामाप्रसाद ने इंटरमीडिएट कला की कक्षा में दाखिला लिया। सन् 1919 में वह परीक्षा में बैठे और प्रथम स्थान प्राप्त किया।

श्यामा की पढ़ने की आदत का दूसरा पक्ष काफी दिलचस्प था। इंटरमीडिएट में पढ़ते हुए ही उन्होंने सर ऑर्थर कानन डायल के समग्र लेखन को पढ़ लिया था। 'शेरलॉक होम्स' के रचनाकार ऑर्थर से श्यामा इतने प्रभावित हुए कि उन्हें उनके हस्ताक्षर युक्त फोटोग्राफ के लिए लिखा। जब कुछ साल बाद वह इंग्लैंड गए तो वहाँ डायल से मिले और 'मृत्यु के बाद जीवन' पर उनके साथ लंबी चर्चा की। डायल उस अवधारणा में विश्वास रखते थे और उसका अध्ययन भी किया था। श्यामा ने बाद में यही चर्चा अपने छोटे भाई उमाप्रसाद के साथ की।

आमतौर पर वह शांत और संयत स्वभाव के थे, लेकिन उत्तेजित करने पर सहसा व्यंग्यपूर्ण जवाब देते हुए अपनी भड़ास निकालते थे। उस भड़ास को भारतीय संसद् में तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के खिलाफ पूर्ण अभिव्यक्ति भी मिली। उमाप्रसाद ने स्मरण करते हुए एक घटना सुनाई थी, जिसमें कुछ बच्चों ने श्यामा के मोटापे का मजाक उड़ाने के लिए उन्हें सीढ़ियों के पास घेर लिया और उनके स्थूल पेट के साथ छेड़छाड़ करने लगे। वे ऐसा ढोंग करने लगे मानो आपस में घनिष्ठता हो। श्यामा ने कुछ ज्यादा ही अंतरंगता दिखाई और उनमें से एक बच्चे की पीठ पर जोरदार मुक्का मारा, फिर दिखावा किया कि मजाक में मारा था। सभी बच्चे वहाँ से हवा हो गए और उन्होंने उस आदत को छोड़ दिया।

श्यामाप्रसाद के घनिष्ठ मित्र एवं प्रख्यात इतिहासकार सुरेंद्रनाथ सेन उनके नटखटपन और मजाक करने की आदत को याद करते हैं। सेन ने कहा था कि वह दूसरों के हस्ताक्षर की नकल करने के अपने हुनर को दिखाने में संकोच नहीं करते थे। हम में से किसी के लिए उसे पहचानना बहुत मुश्किल होता था, लेकिन पेशेवर विशेषज्ञ ऐसी नकल में गलती ढूँढ़ लेते थे। खासतौर पर सर आशुतोष मुकर्जी, जे.आर. बारो और आर.बी. रम्सबोथम आदि के हस्ताक्षरों की नकल में। एक सुबह जब सेन उनसे मिलने गए तो उन्होंने श्यामाप्रसाद को अपने पिता की मेज पर बैठे पाया। गंभीर चेहरे के साथ श्यामा कुछ लोगों से घिरे हुए थे। उनके पास बीच की उम्र का एक व्यक्ति कुरसी पर बैठा था, जिसके हाथ में कागजों का एक बंडल था। श्यामा ने गंभीरता से सेन का परिचय कलकत्ता बार के एक उदीयमान वकील के रूप में कराया और उस व्यक्ति से कहा कि वह अपने कागजात सेन को दिखा दे। वह बूढ़ा सा आदमी कुछ भोला या मूर्ख लग रहा था और श्यामा को ही सर आशुतोष समझ रहा था। वह कोई शिकायत लेकर आया था। श्यामा ने

उस प्रभाव को दूर करने के लिए कुछ नहीं किया। वह व्यक्ति गंभीरतापूर्वक विश्वास कर रहा था, मानो वह कोई भगवान् हो! ब्रिटिश सरकार ने उसके साथ धोखा किया था और वह उच्च न्यायालय में उनके खिलाफ केस डालना चाहता था। हालाँकि वह व्यक्ति कोर्ट से बाहर समझौता करने को भी तैयार था, यदि दूसरा पक्ष उसके तमाम दावों के भुगतान के तौर पर एक लाख रुपए देने को मान जाए। आश्चर्य था कि वह व्यक्ति पड़ोस के एक कस्बे में मिडिल इंग्लिश स्कूल का मुख्याध्यापक था। वह निरीह, पागल सा व्यक्ति हर रविवार को कलकत्ता में प्रभावशाली लोगों की सहायता माँगने आया करता था। शहर के 12 मील के दायरे में रहने के बावजूद वह व्यक्ति नहीं जानता था कि 'बंगाली टाइगर' अब जीवित नहीं थे और उसकी मुलाकात उनके बेटे से हुई है, जिसे मजाक करने में कोई हिचक नहीं थी।

एक और अवसर पर श्यामाप्रसाद और उनका भानजा पूर्णेंदु बनर्जी दोनों ही मधुपुर में थे। पूर्णेंदु उसकी याद करते हुए बताते हैं कि वे दोनों लाल मिर्च की झाड़ी के पास टहल रहे थे। पूर्णेंदु तब एक बालक थे और अपने मामा को परेशान किया करते थे। श्यामाप्रसाद ने झाड़ी से कुछ लाल मिर्चें तोड़ीं और उन्हें अपने मुँह में डाल लिया। उन्होंने ऐसा आभास कराया मानो उन्हें बहुत आनंद मिल रहा हो! पूर्णेंदु ने भी वैसा ही किया और मिर्च मुँह में डाल ली, लेकिन तभी एक चीख के साथ उसे बाहर थूक दिया। उसका मुँह जलने लगा था। घर के अंदर से लोग भागते हुए आए और पूर्णेंदु के जलते मुँह को पानी, चीनी व घी के जरिए ठंडा किया। सर आशुतोष ने श्यामा को डाँटते हुए कहा कि एक छोटे बालक के साथ भविष्य में ऐसा कभी मत करना।

पूर्णेंदु की बहन अमिता राय चौधरी ने संस्मरण सुनाया कि एक बार श्यामाप्रसाद ने 'अप्रैल फूल' के दिन सभी की चाय में बहुत सी चीनी डाल दी। नतीजतन पहली चुस्की लेते ही सभी को चाय थूकनी पड़ी।

मैट्रिक पास करने के बाद श्यामाप्रसाद ने अंग्रेजी में बी.ए. ऑनर्स में दाखिला लिया था और सन् 1921 में बी.ए. (ऑनर्स) की परीक्षा में वह प्रथम रहे। आई.ए. और बी.ए. की दोनों परीक्षाओं में वह बंगाली सूची में अव्वल रहे, लिहाजा उन्हें बंकिमचंद्र स्वर्ण और रजत पदकों से सम्मानित किया गया। उसके बाद अंग्रेजी में एम.ए. करने के बजाय उन्होंने बँगला में स्नातकोत्तर किया। यह विभाग कुछ साल पहले उनके पिता ने सख्त विरोध के बावजूद शुरू किया था। साथ-साथ ही उन्होंने यूनिवर्सिटी के विधि विभाग से लॉ की कक्षा में भी दाखिला ले लिया। दोनों में ही वह प्रथम श्रेणी के साथ उत्तीर्ण रहे। सन् 1923 में एम.ए. और अगले साल बी.एल. (बैचलर ऑफ लॉ) की उपाधियाँ प्राप्त कीं। एम.ए. के दौरान ही उन्होंने 19वीं शताब्दी के प्रख्यात बंगाली अभिनेता और नाटककार गिरीशचंद्र घोष के सामाजिक नाटकों पर मौलिक शोध प्रबंध लिखा। वह लेखक-अभिनेता श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे।

सर आशुतोष का श्यामा को एम.ए. बँगला में दाखिला दिलाना उनके विश्वास और साहस का एक उदाहरण था। उन दिनों अंग्रेजी में एम.ए. करने का फैशन था। लेकिन आशुतोष अपने जीवन में उसपर अमल करने में कभी नहीं घबराए, जिसमें उनका विश्वास होता था कि यही ठीक है।

श्यामाप्रसाद इंटरमीडिएट, बी.ए. और एम.ए. में लगातार प्रथम रहे, जब उनके पिता कुलपति

थे। वह इतने अधिकार-संपन्न थे कि उन्हें ही यूनिवर्सिटी का पर्याय माना जाता था। लिहाजा सर आशुतोष पर भाई-भतीजावाद के आरोप लगे और उनके बारे में अफवाहें फैलने लगीं। इस संदर्भ में उनके एक समकालीन का नाम इस जीवनीकार ने भी सुना कि उसका नाम वाजिब जगह से हटा दिया गया था, ताकि श्यामाप्रसाद प्रथम रह सकें! वह समकालीन बाद में आई.सी.एस. बना। श्यामा के साथ-साथ प्रमथनाथ बनर्जी, उस परिवार के दामाद, के कारण भी सर आशुतोष पर भाई-भतीजावाद के आरोप लगे। लेकिन कभी भी कोई सामने नहीं आया, जिसने इतनी गंभीरता से आरोप लगाए हों कि औपचारिक जाँच हो सकती। दरअसल प्रतिष्ठापूर्ण पदों पर आसीन लोगों के खिलाफ ऐसी अफवाहें फैलाना दुर्भाग्यपूर्ण होता था। ऐसा ईश्वरचंद्र विद्यासागर और रवींद्रनाथ टैगोर सरीखी महान् विभूतियों के संदर्भ में भी हुआ। किसी भी कीमत पर श्यामाप्रसाद की शैक्षिक श्रेष्ठता पर किसी ने कभी भी सवाल नहीं उठाए।

जब श्यामा प्रेसीडेंसी कॉलेज में थे तो वे दिन काफी तनाव भरे थे, क्योंकि विश्व बहुत तेजी के साथ बदल रहा था। वे रूसी क्रांति के दिन थे, जिसमें बहुत से मध्यवर्गीय बंगाली एक नई विश्व व्यवस्था का सपना साकार होता देख रहे थे। सन् 1914 से जारी प्रथम विश्व युद्ध समाप्ति की ओर था। वे रूस में जार के तख्तापलट और हत्या, लेनिन की नई आर्थिक नीति, जर्मनी में कैसर के शासन के स्थान पर वीमर रिपब्लिक की स्थापना, यूरोप और मध्य-पूर्व में ऑटोमन तथा ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्यों की समाप्ति, खिलाफत आंदोलन और उसके बाद में कमाल अतातुर्क के तुर्की के आधुनिकीकरण और लीग ऑफ नेशंस की स्थापना के दिन थे। भारत के संदर्भ में, अमृतसर के जलियाँवाला बाग में ब्रिटिश कर्नल रीगनॉल्ड डायर ने 1516 निहत्थे लोगों का कायरतापूर्ण संहार किया था। वे लोग एक शांतिपूर्ण जुलूस में एकत्र हुए थे। इसके विरोध में टैगोर ने अपनी 'नाइटहुड' उपाधि अंग्रेजों को लौटा दी थी। रोलेट ऐक्ट-1919 का भी विरोध किया गया, जिसके तहत सरकार बिना मुकदमा चलाए किसी भी भारतीय को गिरफ्तार कर सकती थी। सन् 1919 में ही मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार लागू किए गए और उस दौर में इसने खास भूमिका निभाई, जिसके तहत भारतीयों को कम महत्त्व के सरकारी विभागों में कुछ अधिकार और शक्तियाँ दी गईं। तब तक उस गुजराती बैरिस्टर के बारे में नहीं सुना गया था, जो दक्षिण अफ्रीका में वकालत कर रहा था और मोहनदास करमचंद गांधी नामक वह व्यक्ति भारत लौट आया था। वह कांग्रेस में शामिल हो गया और अपनी असामान्य राजनीति के साथ अपनी मौजूदगी का अहसास कराने लगा। बंगाल में भी बहुत सी गतिविधियाँ हुईं, जब अवतींद्रनाथ मुकर्जी (बाघ या टाइगर जतिन के नाम से लोकप्रिय) और नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य सरीखे दो बंगाली हिंदू क्रांतिकारी शंघाई में जर्मन दूत से मिले। उन्होंने दो समुद्री जहाज भरकर हथियारों के आयात की योजना बनाई और उन्हें सुंदरबन के राईमंगल तथा उड़ीसा के बालासोर में उतारना तय किया। यह योजना सफल नहीं हो सकी। जतींद्रनाथ मुकर्जी को बालासोर में पुलिस के साथ मुठभेड़ में मार दिया गया। भट्टाचार्य विदेश भाग गए और नाम बदलकर मानवेंद्र नाथ राय (एम.एन. राय के नाम से चर्चित) रख लिया। वह रूसी क्रांति के दौरान और बाद में लेनिन के सहयोगी भी बने। राजनीति के प्रति रुचि रखनेवाले श्यामाप्रसाद क्या इनमें से किसी से प्रभावित थे?

स्पष्ट तौर पर कदापि नहीं। यदि होते तो वह अपने शैक्षिक कॅरियर में इतने अच्छे परिणाम

प्राप्त नहीं कर सकते थे और शायद इतनी जल्दी विवाह के लिए भी सहमत नहीं होते, क्योंकि सन् 1922 में एम.ए. के दौरान ही उनका विवाह हो गया था। अधिकतर बंगाली क्रांतिकारी आजीवन कुँवारे रहे या विवाह की उम्र के बाद भी वैवाहिक बंधन में बँधने से बचते रहे। उस समय मध्यवर्गीय बंगालियों में लड़के की शादी 20 साल की उम्र के आसपास कर दी जाती थी। दरअसल तब तक उन्होंने राजनीति के प्रति रुझान भी नहीं दिखाया था। उस समय की राजनीतिक गतिविधियों के बारे में वह क्या सोचते थे, उसका कोई रिकॉर्ड या संस्मरण नहीं है। राजनीति में कॅरियर बनाना भी उनका लक्ष्य नहीं था। संभवत: उनके दिमाग में कुछ और ही खाका था। अपने पिता के पदचिह्नों पर चलते हुए वह एक शिक्षाविद् बनना चाहते थे। कुछ समय के लिए वह बने भी। लेकिन वह उच्च कोटि के वकील नहीं बन सके। बहरहाल उनका जीवन-दर्शन संस्कृत की इस उक्ति में निहित था—छात्रानां अध्ययनं तप:, यानी एक विद्यार्थी के लिए अध्ययन ही पूजा है।

एक और महत्त्वपूर्ण पहलू उनके दिमाग में था। बाद के वर्षों में यह पहलू बार-बार अभिव्यक्त हुआ था। जब श्यामा ने करीब 18 साल बाद सन् 1939 में पूरी तरह राजनीति में प्रवेश किया, तो 1929 से वह बंगाल विधानसभा के सदस्य थे। रजिस्टर्ड ग्रेजुएट्स उनका चुनाव क्षेत्र था, लेकिन तब तक वह न तो हिंदुओं की राजनीतिक विचारधारा और न ही बंगाली क्रांतिकारियों की हिंसक राजनीति में अपना योगदान दे पाए थे। मार्क्सवाद, एक्सिस के समर्थन में भी, ब्रिटिश-विरोधी सुभाषचंद्र बोस की 'दुश्मन का दुश्मन मेरा दोस्त है' की नीति पर आधारित सैन्यवाद को भी वह अपना योगदान न दे पाए थे। 12 अगस्त, 1942 को वायसरॉय लिनलिथगो को लिखे पत्र में उन्होंने अपना रुख स्पष्ट किया—ईमानदारी से कोई भी भारत का कल्याण नहीं चाहता है। वे यह नहीं चाहते कि एक्सिस ताकतें युद्ध में जीत जाएँ, क्योंकि उनकी जीत विश्व स्वतंत्रता और खासतौर पर भारत की मुक्ति के लिए खतरा है। प्रगतिशील लोकतांत्रिक गठबंधन की कैबिनेट में वित्त मंत्री के पद से इस्तीफा देते हुए नवंबर 1942 में उन्होंने कहा था, ''किसी भी विदेशी हमलावर के प्रति भारतीय जनता में सहानुभूति नहीं हो सकती। हम मास्टर्स का बदलाव नहीं चाहते।''

श्यामाप्रसाद के बुनियादी विश्वास, विचारधारा और राजनीतिक तरीके बिलकुल अलग, बुनियादी और निर्णायक तौर पर दक्षिणपंथी, भारत-केंद्रित व संवैधानिक थे। वह दिल से संवैधानिक राजनेता थे और एक क्रांतिकारी के विरोधी थे। मधुपुर में उनके चिंतन-मनन से स्पष्ट है कि भारत के समृद्ध अतीत से उनका गहरा लगाव था। उन्होंने मार्क्स, मिल या वेब की अपेक्षा भारतीय परंपराओं से अपनी वैचारिक खुराक लेना पसंद किया। हालाँकि यह गैर-बंगाली लक्षण लग सकता है, लेकिन उनकी विद्रोही या हिंसक अथवा केंद्र के बजाय, सामाजिक-लोकतांत्रिक राजनीति में कोई रुचि नहीं थी। रूसी क्रांति के साथ ही बंगाली राजनीति में वामपंथी रुझान शुरू हो चुका था और 1920 में ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी, लेकिन श्यामाप्रसाद की उनमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। 'अग्नियुग' के शुरुआती हिंसक क्रांतिकारियों में अरविंद घोष (आध्यात्मिकता की ओर मुड़ने से पहले), खुदीराम बोस, बाघा जतिन, सूर्यसेन, कन्हाईलाल दत्त, बिनॉय-बादल-दिनेश की तिकड़ी और अन्य सभी हिंदू थे और भगवद्गीता की

शपथ लेते थे। 1930 के दशक तक उनमें से कुछ साम्यवाद की ओर मुड़ गए थे या बीच का मार्ग अपनाते हुए कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में रह रहे थे। उनमें से कोई भी श्यामा से आगे नहीं था। न तो वर्ग विशेष का मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत और न ही उनके आंदोलनात्मक व क्रांतिकारी तरीके तथा सोवियत लाइन का अंधानुकरण कमोबेश श्यामाप्रसाद को आकर्षित नहीं कर पाए थे।

गांधीवादी राजनीति के शांतिवाद और एक गाल पर थप्पड़ मारने पर दूसरा गाल भी पेश करने के दर्शन के कारण श्यामाप्रसाद की उसके प्रति भी रुचि पैदा नहीं हो पाई। कांग्रेस के ज्यादातर नेता गांधी की राजनीति का पालन कर रहे थे। बेशक कइयों का उसमें विश्वास भी नहीं था। मुसलिमों के तुष्टीकरण की कांग्रेस नीति, जिसे गांधी ने खूब प्रचारित किया और खिलाफत आंदोलन के दौरान पार्टी ने इस नीति को अंदरूनी तौर पर अपनाया, के प्रति भी श्यामाप्रसाद की अरुचि थी। नतीजतन मलाबार और कोहट (पाकिस्तान) में जो हिंदू-विरोधी नरसंहार हुआ था, उसपर कांग्रेस की प्रतिक्रिया नहीं हुई। श्यामाप्रसाद की अरुचि उन हालात की वजह से नहीं, बाद में बढ़ी। वह अरुचि उनकी डायरी में खुलकर सामने आई—''वार के खिलाफ पलटवार होना चाहिए, क्योंकि हिंसा के खिलाफ अहिंसा की अंदरूनी नीति किसी भी समाज को बरबाद कर देती है और उसे बिखेर देती है।''

उनका विश्वास था कि संविधान के माध्यम से जो भी ताकत दी गई है, उसे ग्रहण करना चाहिए, लेकिन जहाँ तक मुमकिन हो। जब तक पूरे अधिकार न मिलें तब तक किसी भी ताकत को इनकार कर देना चाहिए। उनके मुताबिक, यह न्यायसंगत था, यदि भरोसा हो कि आखिर में जीत उन्हीं की होगी। यह विचार डायरी में कई जगह बार-बार लिखा गया था और घटनाओं ने उन्हें सही साबित किया था। 5 जनवरी, 1946 को, जो उन्होंने डायरी में दर्ज किया था, उसके मुताबिक भारत में मार्ले-मिंटो, मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड और भारत सरकार ऐक्ट-1935 के विभिन्न सुधारों के दौरान बंगाल कभी भी ऐसे मंत्रियों के प्रभाव में नहीं था, जो वाकई जनता की राय के प्रति जिम्मेदार थे। यानी बंगाल में जो मंत्री थे, जनता में उनकी कोई हैसियत नहीं थी। सी.आर. दास के दिनों में यही पुरजोर माँग थी कि 'डायरची मुरदाबाद' और कांग्रेस सोचती थी कि उसकी यही उपलब्धि होगी कि संविधान और सुधार कारगर साबित न हों। उस दौरान असहयोग का रवैया था और यह वांछित या जरूरी नहीं समझा गया था कि जनप्रतिनिधि किसी ओहदे को धारण करें। नतीजतन तीसरे दर्जे के लोग पदों को सँभाल रहे थे। वे तमाम तरह के भ्रष्टाचार और साँठ-गाँठ में लिप्त थे। एक और विनाशकारी नतीजा यह निकला कि हिंदुओं ने जान-बूझकर साम्राज्ञी की सरकार से अपने को अलग रखा और अधिकतर मुसलिमों की मदद से ही सरकार चलती रही।

हम बाद में देखेंगे कि श्यामाप्रसाद का जुड़ाव संसदीय और संवैधानिक राजनीति से था और वह 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान उनके स्वभाव से स्पष्ट होता है। वह आंदोलन पूरी तरह अहिंसक नहीं था। सुभाषचंद्र बोस की राजनीति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया से भी उनकी सोच स्पष्ट होती थी। आंदोलन के साथ पूरी सहानुभूति रखते हुए श्यामाप्रसाद वायसरॉय को कहते थे कि सरकार को जो संभावित खतरा है, उससे निपटने के लिए दमन का रास्ता नहीं अपनाना चाहिए। वह दमन के बारे में अपनी सोच बताने में डरते नहीं थे। उन्होंने आंदोलन में

कभी हिस्सा नहीं लिया और न ही आंदोलन को समर्थन देने के लिए अपनी पार्टी 'हिंदू महासभा' पर कभी दबाव डाला। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे हैं, जब वह सरकार के खिलाफ सड़कों पर उतर आए। 1945 का ही एक उदाहरण है, जब एक लड़का कलकत्ता में गोलीबारी के दौरान मारा गया तथा 1953 में जम्मू व कश्मीर में रावी पुल पर गिरफ्तारी देना। उन दोनों विरोध-प्रदर्शनों में हिस्सा लिया, जो कि हुकूमत के खिलाफ थे। लेकिन ये अपवाद के तौर पर देखे जाते हैं।

जहाँ तक बंगाल के दूसरे महान् सपूत नेताजी सुभाषचंद्र बोस और उनकी राजनीति का सवाल था, यह स्पष्ट है कि दोनों के विचार बिलकुल भिन्न थे। उनका काम करने का तरीका भी अलग था, लेकिन उद्‌देश्य एक था। दोनों ही भारत को ब्रिटिश राज से मुक्त कराना और उसे एक मजबूत स्वस्थ देश बनाना चाहते थे। श्यामाप्रसाद के सुभाषचंद्र बोस के एक्सिस समर्थक विरोध का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। दोनों ने इस मुद्‌दे पर कई बार संवाद किया, आपस में कुछ मतभेद भी थे और वे मतभेद 1940 के कलकत्ता नगरपालिका चुनाव के दौरान देखे गए थे। अध्याय 4 में उनका खुलासा किया गया है। हालाँकि वह संवाद थोड़े वक्त के लिए ही हो पाया था, क्योंकि श्यामाप्रसाद सन् 1939 में राजनीति में खुलकर आ चुके थे और सुभाषचंद्र बोस जनवरी 1941 में भारत छोड़कर जर्मनी चले गए थे। लेकिन दोनों के बीच कुछ ऐसा समानांतर था, जो देखते ही पता चल जाता था। दोनों ही एक मील की दूरी पर भवानीपुर के रहनेवाले थे। वह कलकत्ता के दक्षिण का एक उपशहर था। 38/2, एलगिन रोड पर बोस का और 77, आशुतोष मुकर्जी रोड पर श्यामा का घर था। दोनों ही बड़े, प्रख्यात और संपन्न परिवारों से थे। सुभाष और उनके भाई-बहनों की संख्या 14 थी, जबकि श्यामा 7 भाई-बहन थे। सुभाष बोस के पिता जानकीनाथ बोस कटक में प्रख्यात वकील थे। श्यामाप्रसाद के पिता सर आशुतोष थे। दोनों ही लगभग हमउम्र थे। सुभाष का जन्म 1897 में हुआ और श्यामा का 1901 में। दोनों की मृत्यु या गायब हो जाना रहस्यात्मक रहे, लेकिन श्यामाप्रसाद की मृत्यु पर चिल्ल-पों और हंगामा सुभाष की मृत्यु की तुलना में कम हुआ। सरकारी पक्ष के मुताबिक, सुभाष हवाई दुर्घटना में मरे, जब ताइहोकू (ताइपे) फॉरमोसा (अब ताइवान) से जहाज उड़ा था। इस दावे को लाखों लोग नहीं मानते। दरअसल कुछ सबूत बताते हैं कि सोवियत संघ ने उन्हें कैदी बना लिया था और कैद के दौरान ही उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन उनके साक्ष्य न कभी जनता के सामने आए और न ही जाँच आयोग के सामने पेश किए गए। कुछ लोगों का विश्वास है कि सुभाष अब भी जीवित हैं। यदि वह जीवित होते तो आज उनकी उम्र 110 साल से भी ज्यादा होगी। श्यामाप्रसाद की भी कश्मीर में कैद के दौरान ही रहस्यात्मक मौत हुई। इस पर एक पूरा अध्याय इस पुस्तक में दिया गया है।

श्यामाप्रसाद के बड़े भाई रमाप्रसाद का विवाह 1920 में हुआ था। उनकी पत्नी तारा देवी श्यामा के जीवन में मार्गदर्शक रही थीं। श्यामाप्रसाद खुद को सार्वजनिक जीवन में नहीं लगा सकते थे, यदि उनकी कर्तव्यशील और स्नेही भाभी, उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद, बिन माँ के उनके बच्चों को न सँभालतीं। भाभी तारा देवी तमाम पारिवारिक और सार्वजनिक मामलों में भी श्यामाप्रसाद की भरोसेमंद थीं। कश्मीर में कैद के दौरान अपने आखिरी दिनों में श्यामा ने उन्हें कुछ पत्र लिखे थे। एक परंपरागत, बंगाली हिंदू परिवार में भाभी और देवर के संबंध बहुत मधुर

होते हैं। उन दिनों भाभी देवर को 'ठाकुरपो' (ससुर का पुत्र) संबोधित करती थी। ये संबंध पूरी तरह 'प्लाटोनिक दोस्ती' के होते थे। तारा और श्यामा के संबंध हर संदर्भ में ऐसे ही थे। तारा देवी श्यामा को 'मेजोठाकुरपो'(ससुर का दूसरा पुत्र) के नाम से संबोधित करती थीं। अपने पत्रों में श्यामाप्रसाद उन्हें 'भाई' (प्रिय मित्र, भाई नहीं) भाभी' के नाम से संबोधित करते थे और 'तोमार मेजोठाकुरपो' के नाम से हस्ताक्षर करते थे।

सन् 1922 में खुद श्यामाप्रसाद के विवाह की घंटियाँ बजने लगी थीं, जबकि वह एम.ए. कक्षा में थे। उनकी पत्नी सुधा चक्रवर्ती थीं—बेनी माधव चक्रवर्ती की बेटी और बिहारी लाल चक्रवर्ती की पौत्री। सुधा के दादा 19वीं शताब्दी के एक महत्त्वपूर्ण बंगाली कवि थे, जो मुजफ्फरपुर, उत्तरी बिहार में बस गए थे। बिहारी लाल के एक और बेटे शरत कुमार चक्रवर्ती की शादी रवींद्रनाथ टैगोर की सबसे बड़ी बेटी माधुरी लता के साथ हुई थी। लेकिन क्षय रोग के कारण जल्दी ही उनकी मृत्यु हो गई। श्यामाप्रसाद की शादी 16 अप्रैल को नीमतला के एक मकान में हुई थी। दूल्हे और बारात को भवानीपुर से आने के लिए वधू पक्ष ने विशेष तौर पर 'ट्राम कार' बुक कराई थी। पिता सर आशुतोष बारात के साथ उस ट्राम कार पर सवार हुए थे। वह एकमात्र मौका था, जब वह किसी सार्वजनिक वाहन पर चढ़े थे। ठीक दो साल बाद 15 अप्रैल, 1924 को श्यामाप्रसाद के बड़े बेटे और सर आशुतोष के पहले पौत्र अनुतोष (संतू) का जन्म हुआ।

श्यामाप्रसाद ने अपनी पढ़ाई के दौरान कभी पत्रकार या स्तंभकार बनने की सोची थी और सर आशुतोष को भी बताया था। हमेशा हरेक पेशे के लिए हौसला बढ़ानेवाले पिता आशुतोष ने सलाह के लिए श्यामा को तब के एक सम्मानित पत्रकार और लोकप्रिय साप्ताहिक अखबार 'कैपिटल' के संपादक पैट लोवेट के पास भेजा। दोनों में बातचीत हुई और लोवेट ने श्यामाप्रसाद को शुभकामनाएँ देते हुए एक बहुत आत्मीय पत्र सर आशुतोष को लिखा—"एक सुंदर नौजवान ने तुरंत मेरी सहानुभूति प्राप्त कर ली। उसमें पत्रकारिता का एक योग्य गुण है, जिसे मैं प्रोत्साहित करूँगा।" बाद में सन् 1944 में श्यामाप्रसाद ने 'नेशनलिस्ट' नामक एक अंग्रेजी दैनिक और बँगला में 'हिंदुस्तान' की स्थापना की। हालाँकि वे उनकी राजनीति के मुखपत्र बनकर रह गए और स्वतंत्र पत्रकारिता के अखबार साबित नहीं हुए।

एम.ए. करते ही श्यामा और उनके बड़े भाई रमाप्रसाद ने घर से ही बँगला में एक मासिक पत्रिका 'बंगबानी' की भी शुरुआत की थी। संपादकों की युवावस्था अनुभवी न होने के बावजूद पत्रिका तुरंत चर्चित हो गई। रवींद्रनाथ टैगोर की कई कविताएँ और गद्य रचनाएँ पहली बार उस पत्रिका में छपीं, मसलन उनका लोकप्रिय गीत 'तोमार बीनाए गान छीलोगो।' पत्रिका का प्रकाशन करीब छह साल जारी रहा। उस दौरान रवींद्रनाथ टैगोर की कुछ और रचनाएँ भी उसमें छपीं। पत्रिका में लिखनेवाले अन्य प्रमुख बंगाली साहित्यकारों में ज्योतिरींद्र नाथ टैगोर (रवींद्र के बड़े भाई), अचिंत्य कुमार सेनगुप्ता, कुमुद रंजन मल्लिक, सुरेंद्रनाथ सेन, कवि शेखर कालिदास रे, चपला बाला बसु, नरेंद्र देव आदि थे। उस दौर के प्रमुख और विवादास्पद अर्थशास्त्री एवं प्रोफेसर विनॉय कुमार सरकार ने हिंदू राष्ट्र के गठन पर एक लेख लिखा था। लेकिन सबसे दिलचस्प यह था कि बँगला के अमर उपन्यासकार शरतचंद्र चटर्जी (लोकप्रिय फिल्म 'देवदास' के लेखक) के अति विवादास्पद उपन्यास 'पाथेर दबी' को धारावाहिक रूप से पत्रिका में छापा गया। उपन्यास

एकदम ब्रिटिश-विरोधी था और पुस्तक के रूप में छपते ही सरकार ने उसे अवैध करार देते हुए उसपर प्रतिबंध लगा दिया। लेकिन यह पता नहीं चल पाया कि सरकार ने धारावाहिक के तौर पर अनुमति क्यों दे दी थी? शायद इसलिए कि उसपर पाबंदी लगाने में कानूनी मुश्किलें थीं। 'बंगबानी' का प्रकाशन सन् 1928 में बंद हो गया। तब तक मुकर्जी भाई दूसरे कामों में बहुत व्यस्त हो गए थे और एक साहित्यिक पत्रिका को संपादित करने का समय उनके पास नहीं था।

सन् 1924 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बैचलर ऑफ लॉ (बी.एल.) की परीक्षा पास करने के बाद श्यामाप्रसाद उच्च न्यायालय में एक वकील की प्रैक्टिस करने के लिए पात्र हो गए थे। हालाँकि तभी उन्होंने सोचा कि इससे वह संतुष्ट नहीं हो पाएँगे। अत: बैरिस्टर बनने के लिए इंग्लैंड चले गए। सर आशुतोष अपने पुत्रों और दामादों के इंग्लैंड जाने से खुश नहीं थे, क्योंकि उन दिनों में वह सफल भारतीयों का स्थान माना जाता था। इंडियन सिविल सर्विस में बैठनेवाले या बैरिस्टर बननेवाले इंग्लैंड ही जाया करते थे।

इस स्तर पर तब के भारत में वकीलों की अलग-अलग जमात के बीच मतभेदों पर स्पष्टीकरण देना उचित होगा। वकीलों में पेचीदी जातीय व्यवस्था थी, जो आजादी के बाद भी करीब वर्ष 1960 तक जारी रही। जिस व्यक्ति को लंदन में 'इन्स ऑफ कोर्ट' के द्वारा बैरिस्टर बनाया जाता था, उसे हाई कोर्ट की कथित 'इंग्लिश बार' का सदस्य बनाया जाता था। वह भारत में किसी भी कोर्ट में वकालत कर सकता था। लंदन में चार 'इन्स ऑफ कोर्ट' थीं—ग्रेज इन, लिंकन इन, इनर टेंपल और मिडिल टेंगल। इस श्रेणी के बैरिस्टरों में स्कॉटलैंड की 'फैकल्टी ऑफ एडवोकेट्स' के सदस्य भी शामिल थे, जो कहीं भी वकालत कर सकते थे। ये बैरिस्टर एक सख्त और परंपरागत आचार-संहिता से बँधे थे और 'सॉलिसीटर्स' या 'अटॉर्नीस' जमात के वकीलों के जरिए ही वे कोई ब्रीफ स्वीकार कर सकते थे। सीधे मुअक्किल से कभी स्वीकार नहीं कर सकते थे, यह एक दोहरी व्यवस्था थी, जिसमें बैरिस्टर पैरवी करते थे और सॉलिसीटर्स एक्टिंग करते थे। उस दौर में भारतीय राजनीति के कई चर्चित व्यक्ति, जैसे—मोहनदास करमचंद गांधी, जवाहरलाल नेहरू, मुहम्मद अली जिन्ना आदि बैरिस्टर थे; लेकिन उनमें से नेहरू सरीखे कइयों ने कभी भी अदालत में वकालत नहीं की। कहना न होगा कि इस तरह इंग्लैंड जाना, एक इन में भरती होना और फिर बैरिस्टर बनना काफी खर्चीला था। अत्यंत संपन्न परिवारों के बच्चे ही बैरिस्टर बनने का खर्च वहन कर सकते थे। हालाँकि भारतीय यूनिवर्सिटी से बैचलर ऑफ लॉ (बी.एल., बाद में एल-एल.बी.) करना खर्चीला नहीं था। यह परीक्षा पास करनेवाले भी हाई कोर्ट में वकालत करने के पात्र होते थे, जिसके लिए उन्हें 'एडवोकेट' कहा जाता था। हालाँकि उन्हें भी कथित 'इंडियन बार' की सदस्यता लेनी पड़ती थी और अपील पक्ष की ही पैरवी कर सकते थे, जो अपीलें जिला कोर्ट से ली जाती थीं। वे मौलिक रूप (ऑरिजिनल साइड) से केस नहीं ले सकते थे, जो प्रेसीडेंसी टाउन ऑफ कलकत्ता में ही मूल रूप से पैदा होते थे। सिर्फ कलकत्ता, बंबई और मद्रास के उच्च न्यायालयों में ही 'ऑरिजिनल साइड' के केस होते थे, शेष अदालतों में अपील संबंधी केस होते थे। जो भारतीय कानून स्नातक जिला अदालतों में वकालत करते थे, उन्हें 'वकील' कहा जाता था। वकीलों की निचली जमात भी होती थी, जिन्हें 'मुख्तार' कहा जाता था। उन्हें आपराधिक प्रैक्टिस से जुड़े कानून की कुछ शाखाओं का अध्ययन करना पड़ता था। वे

मजिस्ट्रेट कोर्ट में ही वकालत कर सकते थे। अब एडवोकेट्स ऐक्ट, 1960 के जरिए ये तमाम पेचीदा विभेद सरकारी तौर पर समाप्त कर दिए गए हैं और अब सभी वकीलों को 'एटवोकेट' कहा जाता है। वरिष्ठ एडवोकेट और अन्य एडवोकेटों में अंतर अब भी है। हालाँकि कलकत्ता हाई कोर्ट में आज भी इन 'दो बारों' के बीच गैर-सरकारी भेद हैं। दोनों के लिए अलग-अलग बैठने के कमरे और पुस्तकालय हैं। श्यामाप्रसाद वकीलों की सबसे ऊँची जमात बैरिस्टर में शामिल होना चाहते थे।

सन् 1920 और बाद के कुछ वर्ष मुकर्जी परिवार के लिए अच्छे नहीं रहे। एक के बाद एक परिवार में कई असमय मौतें हुईं। 1923 में आशुतोष की प्यारी संतान सबसे बड़ी बेटी कमला का देहांत हुआ। उस बदनसीब की उम्र मात्र 28 साल थी। जनवरी 1923 में क्रिसमस की छुट्टियाँ मनाकर परिवार मधुपुर से कलकत्ता लौट रहा था। श्यामाप्रसाद की छोटी बहन कमला (बुरा) को बुखार था। अचानक ही बीच रास्ते में, आसनसोल के आसपास, कमला को पेट में तेज दर्द होने लगा। दर्द बढ़ता ही गया। उसे कुछ समय से आँत में रुक-रुककर दर्द होता था। रेलगाड़ी में आते हुए शायद आँतों की झिल्ली की सूजन ज्यादा गंभीर हो गई; लेकिन उस समय कोई उचित इलाज संभव नहीं था। कलकत्ता पहुँचने के बाद वह ज्यादा वक्त जिंदा नहीं रह पाई। 5 जनवरी को अपनी मृत्यु से पहले उसने कहा कि 'दरवाजे खोल दो, क्योंकि वह जाना चाहती है।' आशुतोष के पाँव छूते हुए वह होश में थी। उसने कहा था, 'मैंने जिंदगी भर आपको दु:ख दिया। मैं आपको खुश नहीं कर सकी।' यह कहने के कुछ देर बाद ही वह चल बसी। उस साल से मुकर्जी परिवार में दुर्गा पूजा नहीं मनाई जाती। उस मौत ने श्यामाप्रसाद को गहराई से प्रभावित किया। उन्होंने अपनी बँगला डायरी में, जो 1945 में मधुपुर में लिखी थी, प्रत्येक मौत का मार्मिक भाषा में खुलासा किया है। सिर्फ एक हिंदू जानता है कि एक औरत का विधवा होना कितना दुर्भाग्यपूर्ण है—खुद औरत और उसके माता-पिता के लिए। कमला दो बार विधवा हुई थी। दोनों बार शादी के एक साल के भीतर। उसका दुर्भाग्य हर समय पिता आशुतोष को यातना देता था और उसकी मौत ने उन्हें मानसिक तौर पर ध्वस्त कर दिया था। उनके परिजनों ने रात में भी अकसर उन्हें जागते हुए देखा था, घर के गलियारे में चक्कर काटते हुए देखा था। वह लंबे समय तक इस गम को भुला नहीं पाए।

उस परिवार के मुखिया खुद सर आशुतोष थे। अगले ही वर्ष 1924 में 60 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गई। और 1933 में श्यामाप्रसाद की प्रिय पत्नी सिर्फ 11 साल के दांपत्य जीवन के बाद 24 साल की उम्र में ही चल बसीं।

सर आशुतोष जनवरी 1924 में कलकत्ता हाई कोर्ट के जज के पद से रिटायर हुए थे और पुन: बार में शामिल हुए थे। लेकिन कानूनन वह उसी हाई कोर्ट में वकालत नहीं कर सकते थे। उन्होंने डुमराँव (बिहार की एक प्रमुख इस्टेट) केस में ब्रीफ स्वीकार कर लिया और पटना हाई कोर्ट के सामने पैरवी करने को पटना जाना था। उस समय परिवार मधुपुर में था, लेकिन कमला की मौत के बाद उस स्थान का आकर्षण खत्म हो चुका था। और फिर आशुतोष का सबसे छोटा बेटा बामाप्रसाद (पोचू) गंभीर रूप से बीमार हो गया था, लेकिन किसी तरह वह बच गया। कुछ समय के लिए वे पुरी गए और फिर कलकत्ता लौट आए। सर आशुतोष ने श्यामाप्रसाद को

यूनिवर्सिटी के लिए प्रशिक्षित कर ही लिया था और उन्हें कला फैकल्टी में यूनिवर्सिटी सीनेट का फेलो बना दिया था। उन्हें विश्वविद्यालयों के सम्मेलन के लिए शिमला जाना था। उनके जानेवाले दिन और उससे पहले भी सर. आशुतोष ने श्यामाप्रसाद के साथ बालकनी में बैठकर यूनिवर्सिटी मामलों पर लंबी बातचीत की। आशुतोष ने श्यामाप्रसाद से अपनी अपेक्षाएँ भी जताईं। फिर दोनों रेलवे स्टेशन चले गए। आशुतोष ऐसी बातें भी करते रहे, जो श्यामाप्रसाद के लिए विशेष भी नहीं थीं। बहरहाल श्यामाप्रसाद शिमला के लिए रवाना हो गए और उसके कुछ देर बाद आशुतोष पटना चले गए। वह आखिरी वक्त था, जब बेटे ने अपने पिता को देखा था। शिमला में ही उन्हें तार मिला और उन्हें तुरंत पटना पहुँचने को कहा गया था। स्टेशन पर वह सर हसन इमाम और अन्य से मिले। हसन कमजोर और उदास लग रहे थे और इतना ही बोले, ''मेरे बच्चे, वे बहुत गंभीर रूप से बीमार हैं।''

श्यामाप्रसाद तुरंत मिलने गए, लेकिन वे अपने मृत पिता से ही मिल सके। अगले दिन उनका पार्थिव शरीर एक विशेष रेलगाड़ी से हावड़ा ले जाया गया। योगमाया, आशुतोष की विधवा पत्नी, झाझा में रेलगाड़ी में सवार हुईं। दु:ख और पीड़ा के साथ वह उनकी बगल में ही बैठी थीं। हावड़ा स्टेशन पर उन्हें देखने के लिए भारी भीड़ जमा हो गई थी। वह एक महान् व्यक्ति का अंत था।

श्यामाप्रसाद का वैवाहिक जीवन मात्र 11 साल का था। उनके दांपत्य संबंधों के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है। सामान्यत: कहा जाता है कि वे दोनों आपस में खुश थे। हालाँकि एक लंबे वक्त के लिए दोनों अलग-अलग रहे, जब श्यामाप्रसाद सन् 1926 और 1927 के बीच बैरिस्टर बनने इंग्लैंड गए थे। उस दौर में उच्च वर्ग के बंगाली परिवारों में यह सामान्य बात थी। जब तक कोई विलायत का चक्कर नहीं काट लेता था, तब तक उसे योग्य या खास नहीं माना जाता था। भारतीयों के लिए तब इंग्लैंड ही सबकुछ था। सन् 1945 में मधुपुर में स्वास्थ्य-लाभ के दौरान उन्होंने जो बंगाली डायरी लिखी थी, उसमें विवरण दिया है कि वर्ष 1922-23 में मधुपुर में क्रिसमस की छुट्टियों के दौरान वह और सुधा एक खास कमरे में सोते थे और वे कुछ दिन उन्होंने स्वर्गिक आनंद में बिताए थे। मधुपुर से लौटते हुए ही कमला बहुत बीमार पड़ गई थीं। उसी डायरी में उन्होंने पुरी प्रवास का ब्योरा लिखा है। उसी साल अक्तूबर 1923 में पूजा की छुट्टियों के दौरान वे पुरी गए थे, जब उनके बड़े भाई शोकाकुल माँ को तीर्थयात्रा पर ले गए थे। उसी दौर में श्यामाप्रसाद ने पहली बार पत्नी के साथ अंतरंगता महसूस की। बेशक वह शारीरिक अंतरंगता नहीं थी। वे पुरी के तट पर काफी दूर तक टहलते रहते। वे एक साथ वहाँ ठहरे और कलकत्ता से दूर सुखद जिंदगी का आनंद लिया। उन्होंने डायरी में यह भी खुलासा किया कि उसी दौरान उनकी पहली संतान अनुतोष (संतू) गर्भ में आया। इन दो खुलासों से ही उनके वैवाहिक जीवन की कुछ जानकारी मिलती है। 1940 के दशक के विक्टोरियन बंगाल में आज भी किसी से इससे ज्यादा लिखने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

श्यामाप्रसाद की पत्नी सुधा देवी के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती। उनका फोटो भी अब धुँधला पड़ गया है। वह एक सुंदर स्त्री थीं—गोरा रंग, गोल चेहरा, मांसल गाल और आमतौर पर बंगाली उच्च वर्ग की स्त्रियों जैसे गोल नैन-नक्श। उनकी बड़ी बेटी सविता को अस्पष्ट रूप से याद है, क्योंकि जब सुधा का देहांत हुआ था, तो बेटी की उम्र सिर्फ सात वर्ष थी। श्यामाप्रसाद

ने भी कई साल बाद डायरी लिखी थी, लेकिन कहा जा सकता है कि उनका दांपत्य जीवन खुशहाल था और पत्नी पति के प्रति पूरी तरह समर्पित थीं। अपनी पत्नी के कारण ही श्यामाप्रसाद अपने सार्वजनिक दायित्व निर्बाध रूप से निभा पाए। बेशक घर की जरूरतें प्रभावित हुईं। सुधा ने श्यामाप्रसाद के पाँच बच्चों को जन्म दिया, जिनमें से आखिरी, चार महीने का बेटा, कंठ रोग (डिफ्थीरिया) से मर गया था। उसके बाद पत्नी का दिल ऐसा टूटा कि वह दोहरे निमोनिया की शिकार हो गईं। तब तक एंटीबायोटिक की खोज नहीं हुई थी और निमोनिया का कोई इलाज भी नहीं था। सुधा के पिता पास में ही टाउनशेंड रोडवाले मकान में उन्हें ले गए और वहीं उन्होंने आखिरी साँस ली। एक दिन बच्चों को, जिनमें सबसे बड़ी बेटी नौ साल की थी, बताया गया—तुम्हारी माँ तुम्हें छोड़कर चली गई है। बच्चे तब उसका अर्थ नहीं समझ पाए थे। वे सभी जल्दी से अपने नाना के घर गए, जहाँ उनकी माँ चिरनिद्रा में सोई थी।

तब एक पुरुष द्वारा अपनी पत्नी की मौत का सार्वजनिक शोक मनाने का चलन नहीं था। फिर भी श्यामाप्रसाद ने अपनी पत्नी की जलती चिता की बगल में खड़े रहकर यह टिप्पणी की थी—''कितना भयानक सर्वनाश है!'' उनके भाई उमाप्रसाद ने श्यामा की डायरी और उनकी मृत्यु पर लिखी अपनी बँगला पुस्तक में उस हृदय-विदारक दृश्य को बड़ी मार्मिक भाषा में वर्णित किया है।

काफी समय बाद, 4 जनवरी, 1946 को उन्होंने अपनी डायरी में प्रिय पत्नी का संस्मरण लिखा था, जो 13 साल पहले उन्हें छोड़कर चली गई थी—''मैं उसे बहुत गहराई से प्यार करता था और उसपर अटूट विश्वास भी करता था। उसे जो भी कहना होता था, वह उसकी बिना हिचक मुझ पर बौछार कर देती थी। मैं उस आनंद और प्रसन्नता को शब्दों में बयान नहीं कर सकता, जो उसके साथ बिताए 11 वर्षों के दौरान मैंने महसूस की थी। वह बाहरी दुनिया से बहुत ज्यादा परिचित नहीं थी और मैं यूनिवर्सिटी के मामलों में इतना तल्लीन था कि किसी और चीज के लिए वक्त ही नहीं था। मैं अब भी सुधा को खोने के दु:ख से उबर नहीं पाया हूँ। उस नुकसान ने मुझे शारीरिक की बजाय भावनात्मक रूप से ज्यादा प्रभावित किया है। भावनात्मक तौर पर मैं इतना आश्रित हो गया हूँ कि जब तक कोई मेरे साथ खड़ा होकर मुझे ताकत नहीं देता, तब तक मैं स्थिरता महसूस नहीं कर पाता। मैंने पुनर्विवाह की सोची ही नहीं। सिर्फ इसलिए नहीं कि मैं सुधा से गहरा प्यार करता था, बल्कि इसलिए कि मैं अपने बच्चों के कल्याण की सोचता था। अपनी माँ की जगह किसी अजनबी को देखकर न केवल उनकी भावनाएँ आहत होतीं, बल्कि दूसरे व्यक्ति की मौजूदगी से पेचीदगियाँ भी पैदा होतीं। मैं कभी भी शारीरिक सुखों के लिए आतुर नहीं हुआ, लिहाजा मुझे उनकी याद भी नहीं आती; लेकिन मुझे एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी, जो मुझे समझ सकता और मेरे भले की कामना करता। एक ऐसा व्यक्ति, जो मुझे प्रेरित करता, मुझसे सहानुभूति जताता और मेरी भीतरी भावनाओं का सम्मान करता।''

श्यामाप्रसाद ने एक निजी डायरी में चार महीने के बेटे की मृत्यु के बाद सुधा की असहनीय व्यथा का भी वर्णन किया है। उनकी भतीजी के पास वह डायरी आज तक सुरक्षित है। इस जीवनी को लिखने में भतीजी का सहयोग और समर्थन तो मिला है, लेकिन उस भतीजी ने परिवार की निजता के मद्देनजर उस डायरी में लिखी सामग्री का खुलासा करने से इनकार कर दिया।

सुधा की मौत के बाद योगमाया ने श्यामाप्रसाद को दोबारा विवाह करने के लिए कहा। उन्होंने कहा कि बच्चों की देखभाल के लिए किसी की जरूरत है। श्यामा ने सीधा इनकार कर दिया और कहा कि एक सौतेली माँ संभवत: बच्चों की अच्छी देखभाल नहीं कर सकेगी। तब उनके बड़े भाई की पत्नी तारा देवी बीच में आईं और बोलीं कि वह बच्चों की देखभाल करेंगी। श्यामाप्रसाद की बड़ी बेटी सविता याद करती हैं कि उसके बाद तारा देवी से जब भी पूछा जाता था कि उनके कितने बच्चे हैं, तो वह हमेशा जवाब दिया करती थीं—आठ। यानी उनके अपने चार और श्यामाप्रसाद के भी चार बच्चे। श्यामा के बच्चों को शायद ही कभी अपनी माँ की याद आई होगी।

श्यामाप्रसाद ने अपनी डायरी में भी लिखा है कि उनके दो बेटों और दो बेटियों का पालन-पोषण भाभी तारा देवी ने अपने बच्चों की तरह किया था। उसी डायरी में उन्होंने अपनी भाभी का आभार भी जताया है। उन्होंने लिखा है—"भाभी ने मेरे बच्चों को भी छाती से लगाया और उन्हें खूब प्यार दिया। मुझे विश्वास है कि मेरे बच्चों ने भी समझा है कि वे अपनी ताई के प्रति कितने आभारी हैं। जब त्रासदी हुई थी, भाभी ने स्वेच्छा से मेरे बच्चों का दायित्व सँभाल लिया था और मैं उनका आभारी हूँ। उस भयावह रात में मेरी पाँच साल की बेटी हासी अपनी माँ के पार्थिव शरीर के पास जाकर रोई थी और यह चिल्लाते हुए अपनी ताई से लिपट गई थी—'ताई, आओ, घर चलें।' उसके थोड़े समय बाद ही जब संतु (अनुतोष, उनका सबसे बड़ा बेटा) को टायफाइड का दौरा पड़ा तो भाभी ने माँ की तरह देखभाल की। हैरानी है कि संतू मौत के जबड़ों से वापस आया था और ठीक भी हो गया था। तब से सालोसाल मैंने भाभी के दुर्लभ स्नेह में ताकत महसूस की।"

श्यामाप्रसाद बहुत प्यारे पिता थे और अपने बिन माँ के बच्चों पर खूब प्यार जताते थे। बच्चे भी प्यार से उन्हें बाबा के बजाय बापी कहते थे। लेकिन उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए वे 'आप' कहते थे, आज की तरह 'तुम' नहीं। सविता या बुआ, सबसे बड़ी बेटी, के साथ वर्ष 2010 में जब साक्षात्कार किया गया, तब उन्हें ऐसा कोई अवसर याद नहीं था, जब श्यामाप्रसाद ने उन्हें पीटा हो या उनपर चिल्लाए हों। उस समय यह असामान्य माना जाता था, क्योंकि तब कहा जाता था—'डंडे को छोड़ो, बच्चे को बिगाड़ो।' सविता एक चुलबुली व शोख लड़की की तरह बड़ी हुई थी और अपने भाइयों तथा चचेरे भाइयों के साथ क्रिकेट खेला करती थी। एक बार वह नीचे गिर गई और उसकी टाँग इतनी बुरी तरह जख्मी हो गई कि कई टाँके लगवाने पड़े। जब डॉक्टर टाँके लगा रहा था तो वह दर्द से चिल्ला रही थी। उस दौरान श्यामाप्रसाद ने एक बहुत बड़ी गुड़िया लाने का उससे वायदा किया था। बड़ी बहन होने के नाते वह अपने छोटे भाई-बहन के लिए माँ की छाया सरीखी थी। ओंटू, सबसे छोटा भाई, जो उससे बहुत जुड़ा हुआ था, तब बहुत रोता था जब उसे अपने पति के घर जाने के लिए अपने पिता का घर छोड़ना पड़ता था। अनुतोष (संतु) और देवतोष (ओंटु) स्वभाव से मिलनसार थे, लेकिन आरती (हासी) शरमीली, गुमसुम और अंतर्मुखी थी।

श्यामाप्रसाद बच्चों को बताया करते थे कि वे जो भी गलती करें, उसे उन्हें बताया जाना चाहिए, उनसे छिपाना नहीं चाहिए। वह अत्यंत व्यस्त रहते थे और बच्चों के लिए बहुत कम

समय ही निकाल पाते थे; लेकिन उस थोड़े समय में भी वह उनपर अपने प्यार की बौछार कर देते थे। वह उनकी माँ के बारे में उनसे बतियाते थे कि वह कैसी थीं। सविता और अनुतोष को कुछ अस्पष्ट सा याद है और आरती, देवतोष को कुछ भी याद नहीं है। श्यामाप्रसाद बच्चों को बताते थे कि उनकी माँ स्वर्ग में गई हैं, बच्चे उन्हें देख नहीं सकते, लेकिन उन्हें याद रहना चाहिए कि वह स्वर्ग से हर समय उन्हें देख रही हैं। और यदि संतू ने अपनी पढ़ाई पर ध्यान नहीं दिया तो वह चाबियों के गुच्छे से उसपर प्रहार करेंगी।

श्यामाप्रसाद के दोनों बेटे और दोनों बेटियाँ प्रौढ़ आयु तक जिए। वर्ष 2011 में बेटों और बड़ी बेटी की मृत्यु हो गई, लेकिन सबसे छोटी बेटी अब भी जीवित है। लेकिन किसी भी बच्चे ने राजनीति या शैक्षिक क्षेत्र में थोड़ी सी भी अभिरुचि नहीं दिखाई। हालाँकि उनकी भतीजियों—अमिता और सबसे बड़ी सविता—ने कुछ वायदे किए थे। कुछ और ब्योरे तथा बाद की पीढ़ियों के बारे में उपसंहार में बताया गया है।

सर आशुतोष अपने बच्चों को विदेश भेजने के खिलाफ थे। लेकिन यह संदेहास्पद है, क्योंकि श्यामाप्रसाद उनके जीवित रहते बार की पढ़ाई करने इंग्लैंड जा सकते थे, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद तो कोई समस्या नहीं थी। अत: सन् 1925 में श्यामाप्रसाद इंग्लैंड गए, जब उनकी शादी को सिर्फ तीन साल ही हुए थे। बेटा संतू (अनुतोष) एक साल का था। पत्नी, बच्चे और पूरे परिवार को छोड़कर श्यामाप्रसाद इंग्लैंड चले गए। वह समय पर इंग्लैंड पहुँच गए और लंदन में 112, गॉवर स्ट्रीट में रहते हुए लिंकन इन्स को जॉइन कर लिया। उस घर में उनके साथ इतिहासकार सुरेंद्रनाथ सेन एवं जतींद्र मोहन मजूमदार एवं एक पुराने मित्र भी रहते थे।

सेन ने उस साथ और उनके साथ गुजारे वक्त को याद करते हुए एक संक्षिप्त लेख में लिखा था—''यहाँ यह बताना जरूरी है कि श्यामाप्रसाद के इंग्लैंड आने का उद्देश्य कानून में विशेष योग्यता हासिल करना नहीं था, ब्रिटिश और फ्रेंच विश्वविद्यालयों के बारे में जानना उनकी प्राथमिकता थी। अत: वह बार की परीक्षा जितनी भी जल्दी हो सके, पास करने को चिंतित थे। वह अपना ज्यादा वक्त शिक्षा की पश्चिमी प्रणाली को जानने में लगाते थे। लंदन पहुँचने के कुछ ही हफ्ते-समझने बाद उन्होंने बार की प्राथमिक परीक्षा दी। परीक्षा में वह कुछ अच्छा नहीं कर पाए। उन हालात में अच्छे अंकों से पास होना मुमकिन नहीं था, इसलिए एक विषय को छोड़कर बाकी में पास अंक ही मिले थे। आम हालात में ऐसी कोशिश को संतोषजनक कहा जा सकता है। लेकिन आलोचकों को श्यामाप्रसाद की असफलता की आलोचना करने का मौका मिल गया। स्वार्थी सोच के उन लोगों को, जो उनके परिवार से नफरत करते थे, कहने का मौका मिला। एक दीक्षांत समारोह में उसे बयाँ करने का मौका मिला।'' सेन जिसकी तरफ इशारा कर रहे थे, वह सर जदुनाथ सरकार ने दीक्षांत समारोह के अपने संबोधन में जरूर बोला होगा। सर जदुनाथ भी प्रख्यात इतिहासकार थे, लेकिन आशुतोष के कट्टर विरोधी थे। स्वाभाविक तौर पर वे श्यामा, सेन व राधाकृष्णन और उन तमाम लोगों के खिलाफ थे, जो सर आशुतोष के करीब थे। इस दुश्मनी के बारे में एक और इतिहासकार एस. गोपाल ने भी लिखा है। गोपाल राधाकृष्णन के बेटे और जीवनीकार हैं।

श्यामाप्रसाद सन् 1927 में बैरिस्टर एट लॉ की डिग्री लेकर भारत लौट आए। जिस तरह

का उनका विद्यार्थी जीवन भारत में था, उसी तरह इंग्लैंड में भी उन्होंने पढ़ाई पूरी की। उन्होंने बेकार की गतिविधियों में हिस्सा नहीं लिया, जिस तरह दूसरे भारतीय छात्र करते थे— हाइड पार्क में गप्पें मारना, कुछ बोलना-चालना, इंडियन लीग का कार्यकर्ता बनकर कम्युनिस्ट सोच में ढलना या अंग्रेज महिलाओं के साथ आशिकी करना। श्यामाप्रसाद ने बार की पढ़ाई के अलावा जो महत्त्वपूर्ण काम किया, वह था—1926 में लंदन में ब्रिटिश राजशाही विश्वविद्यालयों के सम्मेलन में कलकत्ता यूनिवर्सिटी का प्रतिनिधित्व। उस समय उन्होंने अपनी मूँछें भी बढ़ा ली थीं।

हालाँकि सेन याद करते हुए लिखते हैं—''श्यामा का कुछ असामाजिक गतिविधियों की ओर ध्यान चला गया था। वह प्लानसेट थियोसोफिकल आंदोलन में सर ऑर्थर कानन डायल के साथ लगे रहते थे, जिनके वह लंबे समय से प्रशंसक थे। सेन की उन गतिविधियों में दिलचस्पी नहीं थी, फिर भी वह श्यामाप्रसाद के साथ चले जाते थे। एक और व्यक्ति, जो श्यामाप्रसाद के साथ बड़े उत्साह के साथ रहता था, उसका नाम जी.एस. दत्त था। दत्त की दिलचस्पी मरने के बाद की जिंदगी में थी और वह अकसर सर ऑर्थर कानन के बनाए उस केंद्र पर जाता रहता था, जो मनोविज्ञानी अध्ययन के लिए बनाया गया था। उस केंद्र की एक खूबी यह थी कि वहाँ आत्मा की फोटोग्राफी पर विचार होता था। जी.एस. दत्त अपनी दिवंगत पत्नी का फोटो देखने को उत्सुक रहता था और श्यामाप्रसाद भी उसी तरह अपने पिता का फोटो देखना चाहते थे। श्यामाप्रसाद की पहली बैठक सफल रही और असफल भी। असफल इसलिए कि वह पिता का फोटो नहीं देख सके, लेकिन कामयाबी यह रही कि बड़ी बहन कमला जैसी फोटो दिखाई गई। सेन का यह मानना है कि वह कोशिश संतोषजनक थी। सर आशुतोष का फोटो लंदन शहर में हासिल करना कोई मुश्किल काम नहीं था; लेकिन कमला का चित्र दिखाना यकीनन मुश्किल काम था। दत्त सेन और श्यामाप्रसाद अकसर आपस में ऐसी गोष्ठियाँ किया करते थे, जिनमें मृतक की आत्मा से संबंध स्थापित करने की कोशिश की जाती थी। अंततः सेन कहते हैं, ''मैं उन तमाम अनुभवों का वर्णन नहीं कर सकूँगा। लेकिन एक रात एक चेतावनी मुझे मिली, जिससे ऐसा लगा कि कोई संकट सिर पर मँडरा रहा है, जो यूनिवर्सिटी पर गिर सकता है। और वह खबर थी—जदुनाथ सरकार की यूनिवर्सिटी के कुलपति पद पर नियुक्ति!''

श्यामाप्रसाद इंग्लैंड में एक साल के प्रवास के दौरान पूरी तरह निष्ठावान रहे और पत्नी की मृत्यु के बाद ब्रह्मचारी रहे। उनके सबसे कट्टर विरोधी भी उनके साथ किसी महिला का नाम नहीं जोड़ सके। यह एक हिंदू पुरुष के लिए आश्चर्यजनक नहीं था—ब्रह्मचारी रहने की जरूरत, ब्रह्मचर्य का पालन, अलगाव से लेकर एक मुश्किल काम के पूरा होने तक या हिंदू मानस में सँजोए हुए सपने को साकार करने तक के विभिन्न हालात में ब्रह्मचर्य का पालन करना कोई हैरत की बात नहीं है। दरअसल, उनके समकालीन प्रख्यात सुभाषचंद्र बोस के संदर्भ में उनके कुछ प्रशंसक अब भी विश्वास नहीं करते कि उन्होंने अपनी ऑस्ट्रियन सचिव एमिली स्केनकल से शादी की थी, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि स्वतंत्रता हासिल करने तक बोस ब्रह्मचर्य नहीं तोड़ सकते थे।

मित्रता की दृष्टि से इंग्लैंड में श्यामाप्रसाद का प्रवास उल्लेखनीय रहा। उन्होंने कुछ विशिष्ट शख्सियतों के साथ मित्रता की। उनमें सबसे प्रमुख थे—सर्वपल्ली राधाकृष्णन, एक महान् दार्शनिक
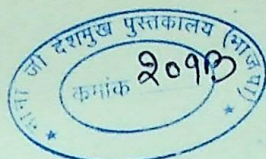
और स्वतंत्र भारत के दूसरे राष्ट्रपति। ऐसा नहीं है कि श्यामाप्रसाद और राधाकृष्णन एक-दूसरे को पहले से नहीं जानते थे। दरअसल, इंग्लैंड जाने से पहले राधाकृष्णन भी कलकत्ता निवासी थे और कलकत्ता यूनिवर्सिटी के मानसिक एवं नैतिक विज्ञान में जॉर्ज वी. पीठ के प्रोफेसर भी थे। सर आशुतोष ने ही उस पीठ में उनकी नियुक्ति की थी, क्योंकि सर आशुतोष उस पद पर 'भारत के सर्वश्रेष्ठ आदमी' को रखना चाहते थे। राधाकृष्णन की जीवनी में उनके पुत्र एवं लेखक सर्वपल्ली गोपाल ने लिखा है—''हालाँकि श्यामाप्रसाद उम्र में बहुत छोटे थे, लेकिन वे बहुधा मिला करते थे। दरअसल अपने सार्वजनिक दायित्वों के कारण श्यामाप्रसाद गंभीरता से वकालत नहीं कर पाते थे; लेकिन काफी बाद में वह भी उन वकीलों में से एक थे, जो मानहानि के एक केस में राधाकृष्णन के लिए पेश हुए। वह केस राधाकृष्णन ने तत्कालीन साहित्यिक पत्रिका 'प्रवासी' और 'मॉडर्न रिव्यू' के संपादक रामानंद चटर्जी के खिलाफ किया था।'' गोपाल के अनुसार, ''राधाकृष्णन को यूनिवर्सिटी के कुलपति सर जदुनाथ सरकार के हाथों भी बहुत कुछ झेलना पड़ा था, क्योंकि वह मुकर्जी परिवार के मित्रों को अपना शत्रु मानते थे।''

राधाकृष्णन कभी भी सक्रिय राजनीति में नहीं रहे, लेकिन वह परिपक्व राजनीतिक विचार जरूर रखते थे। गोपाल ने उल्लेख किया है—''गांधी को छोड़कर उनकी श्यामाप्रसाद के प्रति काफी सहानुभूति थी। हालाँकि श्यामा 'हिंदू महासभा' में शामिल हो चुके थे। राधाकृष्णन की श्यामाप्रसाद से सहानुभूति राजगोपालाचारी की अपेक्षा ज्यादा थी। राजगोपालाचारी जिन्ना से समझौता करने की कोशिश में राष्ट्र-हितों को भी कुरबान करने को तैयार थे।'' उनकी दोस्ती सामाजिक मेल-मिलाप तक भी बढ़ी। राधाकृष्णन अकसर मुकर्जी परिवार से मिलने जाते थे और खुद 77 नंबर के लंबे गलियारे में घर के दूसरे बच्चों के साथ खेला करते थे।

रोजमर्रा की जिंदगी में धर्म की भूमिका को लेकर राधाकृष्णन और श्यामाप्रसाद के विचारों में साम्य था, जबकि राधाकृष्णन और जवाहरलाल नेहरू के बीच इस मुद्दे पर भिन्नता थी। 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में नेहरू ने लिखा है—''भारत को अपने ज्यादातर अतीत से अलग होना चाहिए और वर्तमान पर उसे हावी होने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। हमारी जिंदगियाँ अतीत के बोझ तले दबी हैं, लिहाजा भारत को अपनी धार्मिकता को कम करना चाहिए और विज्ञान की तरफ मुड़ना चाहिए।'' दूसरी ओर, राधाकृष्णन ने अपने एक लेख 'विवेकानंद ऐंड यंग इंडिया', जो कि रामकृष्ण मिशन की पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' में छपा था, में लिखा है—''आपका सामाजिक कार्यक्रम कुछ भी हो, आप आर्थिक और राजनीतिक संसार में कुछ भी क्रांति ला सकते हों, जब तक आपको धर्म की ओजस्वी प्रेरणा नहीं मिलती तब तक आप अपने काम में सफल नहीं हो सकते। यहाँ तक कि आप अतिवादी सोच के भी हों, खुद से सवाल करें कि क्या आप मानव को महज एक राजनीतिक या सामाजिक प्राणी ही बना देना चाहते हैं अथवा आप मनुष्यों को कुछ भीतरी पवित्रता देंगे, जिसे कोई भी बाहरी छू नहीं सकता?'' यह बिलकुल श्यामाप्रसाद की धार्मिकता जैसी ही सोच थी, जिसका पिछले अध्याय में वर्णन किया जा चुका है।

'डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के शैक्षिक भाषणों' के संकलन की भूमिका में राधाकृष्णन ने लिखा था—''उनका धर्म संकीर्ण प्रकार का नहीं था। सहानुभूति से वह कैथोलिक थे और उनकी सोच व्यापक थी। देशभक्ति मातृभूमि के प्रति प्यार ही नहीं, यह उन आदर्शों का सम्मान करना

भी है, जिनके जरिए हम जीवित और समर्थित हैं। उस आदमी में आध्यात्मिक आयाम थे, जिनका कई तरह से विकास हो सकता है। हमें इन तमाम आयामों और अवस्थाओं का सम्मान करना चाहिए। यही भारतीय परंपरा है और उसके कुछ बुनियादी एवं अत्यंत महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। श्यामाप्रसाद की आध्यात्मिकता भारतीय है, मात्र हिंदू नहीं। श्यामाप्रसाद इन महान् आदर्शों के प्रबल पक्षधर थे।''

अप्रैल 1943 में श्यामाप्रसाद की बड़ी बेटी सविता विवाह के बाद अपने पति के साथ जमशेदपुर के लिए रवाना होने वाली थी। उसका परिवार विदाई देने हावड़ा स्टेशन तक आया था। शादी के बाद अपने माता-पिता का घर छोड़ते हुए आम भारतीय महिला की तरह सविता भी फूट-फूटकर रो रही थी। राधाकृष्णन भी स्टेशन तक गए थे। अपने प्रिय मित्र श्यामाप्रसाद को व्यथित और रोते हुए देखकर उन्होंने खड़गपुर तक जाना तय किया। उस रेल लाइन पर जमशेदपुर के आधे रास्ते तक खड़गपुर पड़ता है। वहाँ राधाकृष्णन को कुछ काम भी था और उन्होंने बाप-बेटी को यह कहकर सांत्वना दी कि वह सविता के साथ खड़गपुर तक जाएँगे। वह बिना किसी निमंत्रण के सविता से मिलने कई बार जमशेदपुर गए। मुकर्जी परिवार से उनका ऐसा लगाव था।

जब वह भारत के उपराष्ट्रपति बन गए और श्यामाप्रसाद की मृत्यु के कुछ दिनों बाद भी सविता ने उन्हें छोटी बहन आरती (हासी) के लिए कोई व्यावसायिक प्रशिक्षण का सुझाव देने या उसका बंदोबस्त करने के लिए कहा। आरती ने क्षयरोग की गंभीर बीमारी से ठीक होने के बाद इंटरमीडिएट की परीक्षा पास की थी। राधाकृष्णन ने तुरंत उसे दिल्ली में लाइब्रेरियन के एक कोर्स में दाखिला दिलवा दिया। उसके बाद विदेश मंत्रालय में आरती की लाइब्रेरियन के पद पर नियुक्ति भी हो गई। यह दैवयोग से होनेवाला संयोग ही साबित हुआ, क्योंकि आरती दिल्ली में जिस बिल्डिंग के एक छोटे से फ्लैट में रहती थी, वहीं दूसरे फ्लैट में परेश भट्टाचार्य नामक एक सिविल इंजीनियर भी रहता था। वे मिले, प्यार हुआ और फिर उन्होंने शादी कर ली। उनका विवाह समारोह दिल्ली में ही हुआ। राधाकृष्णन ही उसमें शामिल नहीं हुए, बल्कि कई कैबिनेट मंत्री और अन्य प्रतिष्ठित लोग भी आए। बाद में दोनों अमेरिका चले गए। आरती अब भी न्यूयॉर्क शहर के क्वींस एरिया में अपने बेटे संदीप के साथ रहती हैं।

लेकिन श्यामाप्रसाद का मधुपुर और 'गंगाप्रसाद हाउस' के प्रति लगाव सालोसाल अपरिवर्तित ही रहा। यह लगाव शायद इसलिए रहा, क्योंकि उन्होंने अपने बचपन और यौवन के सबसे अच्छे दिन वहीं गुजारे थे। मधुपुर पहुँचते ही वह एकदम आनंद और खुशी से भर उठते थे। अंग्रेजी में लिखी अपनी डायरी में 27 जनवरी, 1946 को उन्होंने आखिरी बार मार्मिक भाषा में उल्लेख किया है—''अलविदा मधुपुर! मैंने यहाँ घर में एक माह गुजारा है। मुझे उसके लिए आभार व्यक्त करने दो मधुपुर, जो यहाँ ठहरकर मैंने हासिल किया है।''

□

3

विश्वविद्यालय के चौदह वर्ष

(1924-38)

श्यामाप्रसाद ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में काम करना वैसे ही शुरू किया जैसे एक बतख पानी में आसानी से तैर सकती है। जीनियस सर आशुतोष ने अपने पहले बेटे को उच्च न्यायालय में और दूसरे बेटे को यूनिवर्सिटी में उत्तराधिकारी के रूप में चुना था। यह दिलचस्प है कि उन्होंने दोनों बेटों को दोहरे दायित्व निभाने के लिए तैयार किया था। रमाप्रसाद विश्वविद्यालय सिंडिकेट के सदस्य भी थे, जबकि श्यामाप्रसाद ने भारत और इंग्लैंड में कानून की पढ़ाई की और बैरिस्टर बने। सर आशुतोष को (और स्वयं श्यामाप्रसाद को भी) आभास नहीं था कि उनका द्वितीय पुत्र बिलकुल अलग तरह के नेतृत्व के लिए खुद को तैयार कर चुका है। यदि उन्हें जानकारी होती तो वह खुश ही होते। उन्होंने श्यामाप्रसाद को गढ़ा, प्रशिक्षित किया और उन्हें इस प्रकार तैयार किया कि वह यूनिवर्सिटी में उनका स्थान ले सकें। सर आशुतोष ने कलकत्ता विश्वविद्यालय को एक महान् संस्थान बना दिया था। यह उनकी अंतर्दृष्टि थी कि श्यामाप्रसाद उस दायित्व के लिए सर्वथा योग्य थे। 'कैपिटल' के संपादक पैट लोवेट को लिखे पत्र में उन्होंने अपने बेटे के बारे में कहा था—''मैं एक आदमी तैयार कर रहा हूँ।''

भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे पुरानी कलकत्ता यूनिवर्सिटी की स्थापना सन् 1857 में हुई थी। यह एकमात्र यूनिवर्सिटी है, जिसने चार नोबेल पुरस्कार विजेता पैदा किए हैं—रोनाल्ड रॉस, रवींद्रनाथ टैगोर, चंद्रशेखर वेंकटरमन और अमर्त्य सेन। यह दुनिया की पहली 500 यूनिवर्सिटियों में शामिल रही है। यूनिवर्सिटी को ऐसी ऊँचाइयों तक ले जाने का श्रेय काफी हद तक सर आशुतोष मुकर्जी के प्रयासों को है। यह अलग विषय है कि पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्ट शासन के दौरान यह यूनिवर्सिटी क्षुद्र राजनीति का शिकार बन गई। यहाँ तक कि कुलपति डॉ. संतोष भट्टाचार्य को काम पर आने की अनुमति नहीं दी गई थी, क्योंकि कम्युनिस्टों से जुड़ा कर्मचारी संघ उनके खिलाफ था।

यह ऐसी यूनिवर्सिटी थी और अब भी है, जिससे दूर-दराज की जगहों में चल रहे कई स्नातक कॉलेज संबद्ध हैं। स्नातकोत्तर कॉलेजों को यूनिवर्सिटी के 'घटक कॉलेज' कहा जाता है

और वे सभी कलकत्ता शहर में ही स्थित हैं। जब यूनिवर्सिटी स्थापित हुई, तब उसके अधिकार-क्षेत्र में उत्तरी भारत का ज्यादातर इलाका था। कलकत्ता से हजार मील दूर स्थित नवाब जस्सा सिंह अहलूवालिया राजकीय कॉलेज, कपूरथला, पंजाब इस विश्वविद्यालय से संबद्ध होनेवाला पहला महाविद्यालय था। बाद में बर्मा पर ब्रिटिशों की विजय के साथ ही विश्वविद्यालय का नियंत्रण-विस्तार उस देश में भी फैल गया। साल-दर-साल में कई और विश्वविद्यालयों की स्थापना के कारण इसकी संबद्धता का क्षेत्र घट गया और अब यह पश्चिम बंगाल के एक हिस्से तक ही सीमित है। यूनिवर्सिटी को परीक्षाएँ आयोजित करने और छात्रों को डिग्रियाँ देने का अधिकार है। श्यामाप्रसाद के समय में यूनिवर्सिटी मैट्रिक की परीक्षा भी आयोजित किया करती थी।

सामान्यत: यूनिवर्सिटी एक स्वायत्त संस्था होती है, हालाँकि राज्य सरकार का अलग तरह का नियंत्रण भी रहता है। बीते सालों में कानूनी नियंत्रण कम हुआ है। लेकिन राज्य में कम्युनिस्टों के 34 साल (1977-2011) के शासन के दौरान सत्तारूढ़ दल का वास्तविक नियंत्रण हो गया है। श्यामाप्रसाद के समय में कानूनी और वास्तविक नियंत्रण के बीच थोड़ा सा अंतर होता था। सामान्यत: यूनिवर्सिटी का मुखिया कुलाधिपति होता था और यह व्यवस्था अब भी है। इस पद पर राज्य के राज्यपाल 'पदेन' होते हैं। हालाँकि कुलाधिपति का काम कुलपति की नियुक्ति और दीक्षांत समारोह की अध्यक्षता तक ही सीमित है। कुलपति ही कुछ सदस्यों की संस्था—सिंडिकेट—की सहायता से प्रभावी तौर पर यूनिवर्सिटी का संचालन करता है। सिंडिकेट यूनिवर्सिटी की 'सीनेट' के प्रति जिम्मेदार होती है। इस अपेक्षाकृत बड़ी संस्था में शैक्षिक और गैर-शैक्षिक जगत् के लोग होते हैं।

श्यामाप्रसाद को अपने पिता के साथ बिताए अंतिम दिन अच्छी तरह याद हैं। वे हावड़ा स्टेशन तक एक ही वाहन में गए थे। उनके पिता उच्च न्यायालय में एक केस के सिलसिले में पटना के लिए रवाना हो गए थे और बेटा शिमला में एक यूनिवर्सिटी सम्मेलन में भाग लेने के लिए जा रहा था। श्यामाप्रसाद तब भी यूनिवर्सिटी सीनेट के सदस्य थे। वह याद करते हैं कि एक दिन पहले पिता और पुत्र दूसरी मंजिल की बालकनी में खड़े थे। सर आशुतोष ने उन्हें यूनिवर्सिटी को लेकर विस्तार से निर्देश दिए थे। जब उन्होंने हावड़ा स्टेशन पर एक-दूसरे से विदाई ली तो वह आखिरी साबित हुई। सर आशुतोष यूनिवर्सिटी के मुद्दों पर आखिरी क्षण तक विस्तार से बोलते रहे थे।

सर आशुतोष की मृत्यु के बाद ही श्यामाप्रसाद यूनिवर्सिटी सिंडिकेट के लिए चुने गए। इस प्रकार मात्र 23 साल की उम्र में वह शिक्षा के क्षेत्र में भारत में अत्यंत शक्तिशाली पद पर पदासीन हुए। यह सच है कि उन्हें अपने पिता के उत्तराधिकार का लाभ मिला, जैसा कि नेहरू-गांधी परिवार ने कई साल बाद भारत के आजाद होने पर हासिल किया था। ऐसे पदों पर वंशानुगत उत्तराधिकार से नियुक्ति तय नहीं होनी चाहिए। यह दलील दी जा सकती है कि यह निष्पक्ष नहीं है। लेकिन जिस तरह श्यामाप्रसाद ने उस पद पर कार्य किया, उससे ऐसी दलीलें बहुत हद तक भोथरी साबित हुईं। उन्हें यूनिवर्सिटी के मामलों में अच्छी तरह निर्देश व प्रशिक्षण दिया गया था और वह पूरी ताकत व उत्साह के साथ काम में इतना डूब गए थे कि आचार्य प्रफुल्ल चंद्र रे (सर पी.सी. रे के नाम से भी चर्चित, लेकिन उन्हें यह नाम पसं७९द नहीं था) को उन्हें एक साल में

ही पत्र लिखना पड़ा—''तुम यूनिवर्सिटी में वाकई 'बाप का बेटा' के रूप में उभरे हो। कोई भी इतना कठिन परिश्रम करने को तैयार नहीं है और वह भी निस्स्वार्थ भाव से, जैसा कि अब तुम कर रहे हो।''

श्यामा ने आचार्य रे के साथ 40 साल छोटा होने के बावजूद अत्यंत घनिष्ठता विकसित कर ली थी। घनिष्ठता इतनी कि यूनिवर्सिटी के कार्यों में वह उन्हें अपना स्नेहभाजन मानते थे। आचार्य ने सन् 1922 में उम्र के 60 साल पूरे किए और उनकी सेवानिवृत्ति होनी थी। लेकिन सर आशुतोष उनकी उपयोगिता जानते थे, लिहाजा एक विशेष प्रस्ताव के जरिए उनका कार्यकाल 5 साल बढ़ा दिया था। जब तक वह कार्यकाल समाप्त होता, सर आशुतोष का देहांत हो चुका था। लेकिन यूनिवर्सिटी ने उनका कार्यकाल 10 साल और बढ़ा दिया। यानी कुल 15 वर्षों का सेवा-विस्तार। लेकिन इन 15 वर्षों में आचार्य ने वेतन के तौर पर कोई भी राशि स्वीकार नहीं की, बल्कि समग्र राशि यूनिवर्सिटी को ही दान कर दी।

यहाँ तक कि सन् 1937 में 75 साल की उम्र के बावजूद यूनिवर्सिटी ने उनकी सेवा-मुक्ति से इनकार कर दिया। तब तक श्यामाप्रसाद यूनिवर्सिटी के कुलपति बन चुके थे। तब आचार्य को 'सम्माननीय प्रोफेसर' नियुक्त कर दिया गया। उन्होंने संस्थान से सिर्फ एक अनुग्रह लिया कि उन्हें यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस के एक छोटे से शयनकक्ष में रहने की अनुमति दी गई। प्रयोगशाला के उपकरणों, छात्रों और शोधकर्ताओं द्वारा वह घिरे रहते थे। सभी छात्र उन्हें अपने पिता के समान मानते थे।

श्यामाप्रसाद अपनी युवावस्था को बाधा नहीं मानते थे और अपने से कई साल बड़े लोगों के साथ मेल-जोल स्थापित करने में उन्हें कोई समस्या नहीं होती थी। बेशक भारतीय समाज में उम्र के लिहाज से सफेद बालों को अत्यंत सम्मान के साथ देखा जाता है। उनके भाई उमाप्रसाद ने उनके बारे में लिखा है कि उनमें आधिकारिक स्थिति में भी समानता के साथ बड़ों के प्रति सम्मान व्यक्त करने की गजब की क्षमता थी। सन् 1926 में कैंब्रिज यूनिवर्सिटी ने लंदन में ब्रिटिश साम्राज्य की 'यूनिवर्सिटी कांग्रेस' आयोजित की थी। श्यामाप्रसाद चाहते थे कि उस कांग्रेस में आचार्य प्रफुल्ल चंद्र रे ही यूनिवर्सिटी का प्रतिनिधित्व करें, लेकिन आचार्य अपनी उम्र और सेहत के कारण अनिच्छुक थे। लेकिन श्यामाप्रसाद के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने लिखा—''बहुत अच्छा, मैं आपके विवेक पर यह निर्णय छोड़ता हूँ। यदि आप सोचते हैं कि मेरा जाना अच्छा होगा तो मैं इसके लिए तैयार हूँ।'' जब वह कांग्रेस होनी थी, उसी वक्त श्यामाप्रसाद बैरिस्टर बनने के लिए पढ़ाई करने लंदन पहुँचे। वह भी कांग्रेस के प्रतिनिधियों के बीच शामिल थे। यूनिवर्सिटी के मामलों में संबद्ध होने से लेकर श्यामाप्रसाद को आचार्य का उदारतापूर्वक सहयोग हमेशा मिलता रहा। एक बुजुर्ग व्यक्ति एक युवा की योग्यता से बहुत प्रभावित था।

अपने पिता के प्रशिक्षु काल में और बाद में सिंडिकेट सदस्य के रूप में काम करने के शुरुआती वर्षों में श्यामाप्रसाद सोचते रहे थे कि उन्हें शिक्षा में से क्या चाहिए, शिक्षा के क्षेत्र में वह क्या बुनियादी बदलाव ला सकते हैं। इंग्लैंड में बैरिस्टर की पढ़ाई के दौरान ही उन्होंने कुछ तय कर लिया था। जैसा कि उनके मित्र डॉ. सुरेंद्रनाथ सेन ने गौर किया था कि उनका प्रमुख लक्ष्य कानून के क्षेत्र में महारत हासिल करना नहीं था, बल्कि ब्रिटेन में यूनिवर्सिटी की कार्य-प्रणाली

का अध्ययन करना था। उनका इरादा शिक्षा के क्षेत्र में बुनियादी बदलाव लाना था और काफी हद तक उसमें वह सफल भी रहे।

श्यामाप्रसाद की एक महान् उपलब्धि यह थी कि उन्होंने रवींद्रनाथ टैगोर को यूनिवर्सिटी की कार्य-प्रणाली में अंतरंगता से शामिल किया। वस्तुत: यह काफी विलंब से हुआ, जब श्यामाप्रसाद कुलपति बने। टैगोर तब 73 साल के हो चुके थे। उनकी सेहत भी अच्छी नहीं थी। उसके अलावा उन्होंने पूरी दुनिया में यात्रा करने का कार्यक्रम बना लिया था। उन्होंने सन् 1930 में यूरोप और अमेरिका की यात्रा की। सन् 1932 में विमान से पर्सिया (अब ईरान) और 1933 में सीलोन (अब श्रीलंका) गए। इस कारण वह श्यामाप्रसाद के निर्णय का तत्काल जवाब नहीं दे पाए, लेकिन उन्होंने बाद में जवाब अवश्य दिया। हालाँकि उससे पहले सर आशुतोष ने यूनिवर्सिटी के आधार पर अपने जीवन-काल में ही न केवल कविवर के साथ गहरे संबंध बनाए, बल्कि उनके परिवार के साथ भी। टैगोर परिवार के कई सदस्य अपने-अपने क्षेत्र में बेहद प्रतिभाशाली थे। वह टैगोर को यूनिवर्सिटी में लेक्चर देने के लिए अकसर आमंत्रित करते रहते थे। उन्होंने टैगोर को कई पदकों और सम्मानों से विभूषित किया था। उन्होंने कविवर को यूनिवर्सिटी की खैरा वसीयत के प्रबंधन बोर्ड में भी नियुक्त किया। उन्होंने प्रख्यात कलाकार एवं टैगोर के भतीजे अवनींद्रनाथ टैगोर को फाइन आर्ट्स के 'वागेश्वरी प्रोफेसर' के पद पर नियुक्त किया। उन्होंने कविवर के दामाद नगेंद्रनाथ गांगुली को कृषि विज्ञान की खैरा पीठ में नियुक्त किया। निजी स्तर पर भी टैगोर मुकर्जी परिवार के संपर्क में थे। रामा और श्यामाप्रसाद दोनों भाइयों ने 'बंगबानी' नामक जो पत्रिका शुरू की थी, उसमें भी टैगोर के कई गीत प्रकाशित हुए थे। कई मुद्दों पर कविवर और सर आशुतोष के विचार समान थे।

सर आशुतोष के कुलपति पद पर दूसरे कार्यकाल (1921-23) के दौरान गांधीजी ने असहयोग आंदोलन का आह्वान किया था, उसने छात्रों के दिल को छुआ और उनमें से कइयों ने पढ़ाई ही छोड़ दी और आंदोलन में कूद पड़े। दरअसल कइयों का विश्वास था कि सिर्फ चरखा कातने से ही उन्हें 'स्वराज' मिल जाएगा और छह महीने में ही संपूर्ण स्वतंत्रता भी! सर आशुतोष इस तरह की अवधारणा के पूरी तरह खिलाफ थे। उन्होंने छात्रों से कहा कि वे उस आह्वान को नजरअंदाज कर दें और अपनी पढ़ाई में लग जाएँ। नतीजतन उस दौर में वह छात्रों में लोकप्रिय नहीं रह सके। हालाँकि टैगोर उनके विचारों के समर्थन में दृढ़तापूर्वक उनके साथ खड़े थे। दरअसल 14 अगस्त, 1924 को सर आशुतोष की मृत्यु के बाद की शोकसभा के दौरान कुछ छात्रों ने हुल्लड़ मचाया। सभा की अध्यक्षता करते हुए कविवर वहाँ से चले गए थे।

सर आशुतोष की मृत्यु के बाद प्रशासन का रूप-रंग ही बदल गया और उसके साथ ही उसका रवैया भी बदल गया। यूनिवर्सिटी का नया प्रशासन 'श्रेष्ठता की पूजा' की सर आशुतोष की परंपरा को जारी रखने के मूड में नहीं था। लिहाजा वह सुविख्यात प्रोफेसरों को आमंत्रित करने या यूनिवर्सिटी में उनके लेक्चर पर पैसा खर्च करना नहीं चाहता था। आशुतोष की मृत्यु के थोड़े दिन बाद ही टैगोर ने यूनिवर्सिटी से अनुरोध किया कि नॉर्वे के प्राच्यवेत्ता डॉ. स्टेन कोनो और रूस से पलायन करनेवाले भाषा-विज्ञानी डॉ. एल. बोगदानोव को यूनिवर्सिटी में जगह दे दी जाए, जो कि पहले 'विश्व भारती' के साथ थे। लेकिन धन की गंभीर कमी का बहाना बनाकर उन्हें

नहीं रखा गया। सिंडिकेट ने उनके दोनों अनुरोधों को अनसुना कर दिया। इसी तरह जापानी कवि योन नोगुची को आमंत्रित करने के प्रोफेसर जेम्स कसिंस के अनुरोध को भी ठुकरा दिया गया। श्यामाप्रसाद उस समय काफी छोटे थे और सिंडिकेट में बिलकुल नया चेहरा भी, जो उस स्तर पर फैसलों को प्रभावित कर पाते। उसके अलावा 1925-27 के दौरान वह बैरिस्टर की पढ़ाई के लिए इंग्लैंड में थे। लेकिन जब उन्होंने कुलपति का दायित्व सँभाला या उससे पहले यूनिवर्सिटी के संचालन में भूमिका निभाई, तो एक नए दौर को प्रवेश दिलाने का काम किया।

उसी दौरान श्यामाप्रसाद ने यूनिवर्सिटी चुनाव क्षेत्र से कांग्रेस के टिकट पर बंगाल विधान परिषद् का चुनाव लड़ना तय किया। उन्होंने सरकार की शिक्षा नीति को प्रभावित करने और शिक्षा से जुड़ी सरकार की गतिविधियों पर निगरानी रखने के लिए ऐसा विचार किया था। अपेक्षा के अनुसार वह चुनाव जीत गए और सबसे युवा विधायक बने। हालाँकि उसी साल कांग्रेस ने तमाम परिषदों का बहिष्कार करने का आह्वान किया। ऐसा वह संपूर्ण आजादी हासिल करने के उद्देश्य से कर रही थी। श्यामाप्रसाद राजनीति के लिए ही विधान परिषद् में नहीं थे, बल्कि उनका लक्ष्य शिक्षा का विकास था। वह कांग्रेस के रवैए से पूरी तरह असहमत थे; लेकिन वह पार्टी टिकट पर चुनाव जीते थे, लिहाजा उन्होंने इस्तीफा दे दिया और पुनः एक निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़े और जीते। उसके बाद परिषद् या विधानसभा का सदस्य रहते हुए उन्होंने तब भी शिक्षा के सरोकार का समर्थन जारी रखा, जब वह राजनीति में गहरे पैठ चुके थे।

सर आशुतोष के दूसरी बार कुलपति बनने के बाद वकील एवं स्वतंत्रता सेनानी भूपेंद्रनाथ बोस ने उस पद को सँभाला। बोस सन् 1914 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष भी थे। बोस के बाद विलियम इवार्ट ग्रीव्स, सर जदुनाथ सरकार और डब्ल्यू.एस. अरक्वाहार्ट कुलपति बने। इनमें से किसी में भी सर आशुतोष की दृष्टि, ऊर्जा और साहस का एक अंश भी मौजूद नहीं था। सर जदुनाथ सरकार प्रख्यात इतिहासकार थे; लेकिन कहा जाता है कि सर आशुतोष से उनकी घोर शत्रुता थी और उन्होंने आशुतोष के पुत्र श्यामाप्रसाद व उनके मित्र सर्वपल्ली राधाकृष्णन के साथ बड़े संकीर्ण तरीके से शत्रुता का निर्वाह किया।

अरक्वाहार्ट के बाद डॉ. हसन सोहरावर्दी कुलपति बने। वह सर्जन थे और पूर्वी भारतीय रेल में मेडिकल अफसर के तौर पर लंबे समय से काम कर रहे थे। उससे पहले सोहरावर्दी का शिक्षा से कोई लेना-देना नहीं था और उनकी नियुक्ति मुसलिमों को मनाने की ब्रिटिश सरकार की एक साजिश थी। दरअसल कुलपति के पद पर नियुक्त किए जानेवाले वह पहले मुसलमान थे। उस पद पर वह सन् 1930 से 1934 तक रहे। उनके कार्यकाल की एक उल्लेखनीय घटना यह थी कि 1932 में उन्होंने अपने चचेरे भाई हसन शहीद सोहरावर्दी को तुलनात्मक कला का वागेश्वरी प्रोफेसर पद प्रदान किया था। सामान्यतः उन्हें प्रोफेसर सोहरावर्दी कहा जाता है, ताकि भ्रम न रहे। वह बंगाल के प्रधानमंत्री (1945-47) हुसैन शहीद सोहरावर्दी के बड़े भाई थे। हुसैन अकाल के दौरान खाद्य आपूर्ति मंत्री थे और असंख्य हत्याओं के षड्यंत्रकर्ता या जिम्मेदार भी थे। अध्याय 8 में इसके बारे में पढ़ा जा सकता है। हालाँकि प्रो. सोहरावर्दी अपने कुख्यात भाई से बिलकुल अलग किस्म के व्यक्ति थे। वह प्रख्यात कला-पारखी थे। उन्होंने ऑक्सफोर्ड, रूस व फ्रांस में पढ़ाई की थी। वह तब सेंट पीटर्सबर्ग यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी पढ़ा रहे थे, जब रूसी क्रांति का

विस्फोट हुआ था। उसके बाद उन्होंने 'विश्वभारती' में ईरानी आर्ट पर शोध किया। वह टैगोर के आमंत्रण पर आए थे और वहाँ उन्होंने निजाम प्रोफेसर के तौर पर काम किया। वह स्पष्ट रूप से एक सुपात्र उम्मीदवार थे, लेकिन कुछ कारणों से नियुक्ति को लेकर विवाद पैदा हो गया था। एक तो वह भारतीय कला से कथित तौर पर अनभिज्ञ थे, दूसरे वह कुलपति के संबंधी थे और उस नाते उन्हें कुछ विशेष लाभ दिए गए थे। हालाँकि श्यामाप्रसाद और टैगोर ने उनकी नियुक्ति पर मुहर लगाई थी और उस पद के अंतिम धारक कलाकार अवनींद्रनाथ टैगोर ने भी उनकी नियुक्ति पर सहमति जताई थी। वे चयन मंडल में भी थे। दिलचस्प बात यह है कि श्यामाप्रसाद के बड़े भाई रमाप्रसाद और सर मन्मथनाथ मुकर्जी, जो बाद में 'हिंदू महासभा' में उनके साथी बने, ने उस नियुक्ति का विरोध किया था। श्यामाप्रसाद ने सोचा था कि एक मुसलिम की नियुक्ति के जरिए यूनिवर्सिटी एक नए चरण में प्रवेश कर रही थी और दुनिया में सबको यह संदेश दे रही थी कि वह बयान सरासर गलत था कि यह यूनिवर्सिटी एक खास वर्ग तक ही सीमित है। बंगाल की वह यूनिवर्सिटी भारत की यूनिवर्सिटी थी। प्रो. सोहरावर्दी बहुत गरिमामय और संयत स्वभाव के इनसान थे। वह अनाप-शनाप खर्च करनेवाले, रोमानी और हरेक को पूरी तरह स्वार्थी माननेवाले अपने छोटे भाई के बिलकुल उलट थे। विभाजन के बाद वह पाकिस्तान चले गए और कुछ समय के लिए देश की सरकार के राजनयिक के तौर पर काम किया। बाद के वर्षों में उन्होंने लिखना शुरू किया और कराची में अविवाहित ही उनका निधन हुआ। दिलचस्प बात यह है कि सर जेड.आर. जहीद सोहरावर्दी, जो पहले हाई कोर्ट के जज थे और प्रो. हसन और हुसैन सोहरावर्दी के पिता तथा कुलपति हसन के चाचा, ने यूनिवर्सिटी में आर्ट फैकल्टी के डीन पद पर कार्य किया।

उसी चरण में श्यामाप्रसाद को निजी जीवन में कई त्रासदियाँ झेलनी पड़ीं। उनके पाँचवें बच्चे की चार माह की उम्र में ही कंठ रोग से मृत्यु हो गई। विवाह के 11 साल बाद उनकी प्रिय पत्नी, सुधा देवी का भी निमोनिया से निधन हुआ। विधुर जीवन ने अधिकतर व्यक्तियों को अत्यंत गहरे प्रभावित किया है और श्यामाप्रसाद भी कोई अपवाद नहीं थे। बाहरी तौर पर उन्होंने बहुत कम अपने दु:ख को प्रकट किया था। वह यूनिवर्सिटी के कामों में अपने को व्यस्त रखते थे, लेकिन भीतर से वह हिल गए थे। मधुपुर में स्वास्थ्य लाभ के दौरान (1945-46) लिखी गई डायरी इसके बारे में खुलासा करती है। वह स्वभाव से हमेशा अंतर्मुखी रहे और पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने अपना सबसे अंतरंग विश्वस्त खो दिया था। सिर्फ एक व्यक्ति बचा था, जिसे वह भरोसे में लेकर सबकुछ बता सकते थे। वह थीं उनकी भाभी तारा देवी। भाभी ने ही उनके मातृहीन बच्चों को माँ का प्यार दिया था और देखभाल कर उन्हें बड़ा किया था। पत्नी की मौत के बाद श्यामाप्रसाद भी अपनी शक्ल-शूरत और पहनावे को लेकर लापरवाह हो गए थे। युवावस्था के श्यामाप्रसाद के फोटोग्राफ में मिरजई पहने हुए हाथ में छड़ी या इंग्लैंड प्रवास के दौरान थ्री पीस सूट पहने और साइकिल के हैंडल की तरह मरोड़ी गई मूँछें हैं, लेकिन बाद के वर्षों के फोटोग्राफ इससे बिलकुल उलट हैं—उस दौर के बंगालियों की अत्यंत साधारण वेशभूषा बंद गले का कुरता और चुन्नटदार धोती, जो जमीन से कुछ ऊपर होती थी। वह सर्दियों में ही पैंट और बंद गले का कोट पहनते थे, दोनों ही उन्हें अच्छे नहीं लगते थे।

कविवर टैगोर ने उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद बँगला में एक भावुक शोक-संदेश उन्हें भेजा था। उस गीतात्मक संदेश में टैगोर ने कहा था—"मैं जानता हूँ कि तुम्हारा मन बहुत मजबूत है और वक्त गुजरने के साथ तुम इस शोक से भी पार पा लोगे। मृत्यु ही जीवन का अंतिम और चरम अनुभव है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम परित्याग का वह संदेश प्राप्त करो, जो इस और उस संसार के बीच पुल की तरह काम करता है।" सिर्फ टैगोर ही ऐसी भावना के साथ मौत के बारे में लिख सकते थे, जिन्होंने अपने कई प्रियजनों की असामयिक मृत्यु का असहनीय दुःख झेला था—भाभी कादंबरी, पत्नी मृणालिनी, दो बेटियाँ—माधुरी लता और रेणुका, उनका सबसे प्यारा बच्चा छोटा बेटा शामी। टैगोर मौत के मायने जानते थे।

उस समय तक श्यामाप्रसाद यूनिवर्सिटी के कामों में ज्यादा व्यस्त हो गए थे। चूँकि कुलपति सोहरावर्दी शैक्षिक प्रशासन के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे और श्यामा के सामने यह स्वीकार कर बेहतर निर्णय के लिए काम उन्हें सौंप देते थे। श्यामाप्रसाद ने हमेशा अपना उदारतापूर्वक सहयोग उन्हें दिया। उस समय तक श्यामाप्रसाद ने खुद को पूरी तरह यूनिवर्सिटी प्रशासन में झोंक दिया था और किसी को कोई शक नहीं था कि यूनिवर्सिटी कौन चला रहा है। लिहाजा यह कोई आश्चर्य नहीं था, जब सन् 1934 में श्यामाप्रसाद ने कुलपति का कार्यभार सँभाला। उस पद पर नियुक्त होनेवाले वह सबसे कम उम्र के व्यक्ति थे। वह बंगाल के गवर्नर सर जॉन एंडरसन द्वारा एक बार नहीं, दो बार कुलपति नियुक्त किए गए। उनकी नियुक्ति के बाद सीनेट की पहली बैठक में उनके पूर्ववर्ती कुलपति हसन सोहरावर्दी ने उनकी खूबसूरत प्रशंसा करते हुए कहा, "कोई नहीं जानता कि मैंने कुलपति रहते हुए इनकी कितनी मदद ली थी। यदि आपका सहयोग नहीं मिलता तो मैं भारी मुसीबत में होता। आपकी मेहनत और यूनिवर्सिटी के पुनर्गठन में आपके परिश्रम को पहचाना गया है, मान्यता दी गई है और उसे पुरस्कृत किया गया है।"

हसन के चाचा सर जेड.आर. जहीद सोहरावर्दी ने भी कहा, "हम आपको बधाई देते हैं कि इतनी छोटी उम्र में ही आप इस संस्थान के प्रमुख बने हैं; लेकिन आपसे ज्यादा हम यूनिवर्सिटी को बधाई देते हैं। आपके यशस्वी पिता की मृत्यु के बाद शोकसभा में मुझे ही यह कहने का गौरव मिला था कि जब भी कलकत्ता यूनिवर्सिटी को बनाने का उल्लेख होगा, कुलपति के तौर पर सर आशुतोष के बारे में हर आदमी सोचेगा। आपके प्रख्यात पिता का साथी होने के कारण मुझे भी उस महान् व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता के महत्त्व को जानने का अवसर मिला था और तब से मैंने पाया है कि उनके बेटे को वह महानता विरासत में मिली है और निस्संदेह वह उसके योग्य है। आपकी योग्यता के बारे में मेरी बहुत ऊँची राय है।" फारसी के प्रख्यात विद्वान् और कलकत्ता यूनिवर्सिटी में ईरान सोसाइटी के संस्थापक डॉ. एम. इशाक, जो सीनेट के सदस्य भी थे, ने जियोलॉजिकल गार्डेंस में उनके सम्मान में एक पार्टी दी थी।

कई अर्थों में उस दौर में भारत की कलकत्ता यूनिवर्सिटी के कुलपति पद ने 33 साल की उम्र में ही श्यामाप्रसाद को दुर्लभ ऊँचाइयों पर पहुँचा दिया। उस दौर में पदानुक्रम ब्रिटिशों की एक विशिष्टता रही है। श्यामा उस समय के सर्वप्रमुख 'नॉन ऑफिशियल' लोगों में एक बन गए। एक खास वर्ग को 'नॉन ऑफिशियल' कहा जाता था, जिन्हें गवर्नर के साथ सीधे बात करने का अधिकार था। चूँकि गवर्नर ही यूनिवर्सिटी का कुलाधिपति होता था, उस लिहाज से वह ही

कुलपति का बॉस होता था। आज यह मानना मुश्किल है, अपेक्षाकृत समतावादी आधुनिक समय में, कि उस समय 33 वर्षीय एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा के क्या मायने थे, जब एक ओर सफेद बालों को और दूसरी ओर ब्रिटिश खून को अधिमान दिया जाता था। फिर भी वह श्यामाप्रसाद को उस पद ने और भी विनम्र बना दिया था। युवा आयु की तमाम ऊर्जा और अनथक प्रयासों से उन्होंने यूनिवर्सिटी को बेहतर से और बेहतर बनाया। उनसे पहलेवाले कुलपति सप्ताह में किसी भी दिन कुछ घंटे यूनिवर्सिटी में बिताते थे, लेकिन श्यामाप्रसाद पूरा दिन यूनिवर्सिटी में बैठते थे और रविवार समेत सभी दिन यूनिवर्सिटी के कामों के लिए लोगों से अपने घर पर भी मिलते थे।

शिक्षा के क्षेत्र में श्यामाप्रसाद की उपलब्धियाँ ज्यादातर उनके कुलपति कार्यकाल (1934-38) के दौरान ही रहीं और उनमें से कुछेक में बुनियादी बदलाव किए। वह उपनिवेशवादी थॉमस बॉबिंगटन मैकाले की उस योजना के आलोचक थे, जिस पर देश की व्यवस्था टिकी थी, उन्होंने उसे सुधारने की योजना बनाई। मैकाले ने उपनिवेशवाद के उन दिनों में भी तिरस्कार के साथ वर्ष 1835 में 'मिनट ऑन इंडियन एजुकेशन' में लिखा था—''इंडिया और अरब के पूरे राष्ट्रीय साहित्य के लिए एक अच्छी यूरोपीय लाइब्रेरी का एक खाना ही काफी है। निश्चित तौर पर मैं किसी प्राच्यवेत्ता से नहीं मिला, जिसने कहा हो कि अरब और संस्कृत के काव्य की तुलना महान् यूरोपीय देशों की कविता से की जा सकती है। मैं विश्वास करता हूँ कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संस्कृत भाषा में लिखी पुस्तकों से संकलित की गई तमाम ऐतिहासिक सूचनाएँ कम मूल्यवान् हैं। इंग्लैंड में शुरुआती स्कूलों में अधिकतर जो संक्षिप्त रूप इस्तेमाल किए जाते हैं, उनकी तुलना में भी वे किताबें महत्त्वहीन हैं। अंततः हमें एक वर्ग पैदा करने की सर्वश्रेष्ठ कोशिशें करनी चाहिए, ताकि वे हमारे और उन लाखों लोगों के बीच दुभाषिए का काम कर सकें, जिन पर हम शासन कर रहे हैं। लोगों की एक ऐसी जमात, जिसका खून और रंग भारतीय हो, लेकिन रुचि, राय, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज…!'' दूसरे शब्दों में, शिक्षा-पद्धति ऐसी बनाई गई थी, जो अंग्रेजी पढ़े हुए भारतीयों का एक वर्ग पैदा कर सके। जिसका विस्तार तथाकथित ब्राउन साहेब, इंडियन बैरिस्टर, लोक-सेवक और कॉलेज प्रोफेसर से लेकर देश के किसी वीरान कोने में एक ब्रिटिश जूट व्यापारी के दफ्तर में निचले दर्जे का क्लर्क तक हो सके। यह जमात खुद को उनकी तुलना में श्रेष्ठ मानेगी, जो अंग्रेजी नहीं जानते और धीरे-धीरे विदेशी भाषा में निपुणता यहाँ के समाज में आदर-सम्मान का आधार बन जाएगी। अफसोस है कि यह स्थिति आज भी प्रचलन में है।

श्यामाप्रसाद ने इस बारे में क्या कहा? 12 फरवरी, 1933 को ऑल बंगाल यूनिवर्सिटी ऐंड कॉलेज टीचर्स कॉन्फ्रेंस में, कुलपति बनने से सिर्फ आठ महीने पहले, उन्होंने कहा, ''जिन छात्रों को हम शिक्षा के द्वारा तैयार कर रहे हैं, उनमें जीवन-संघर्ष की क्षमता नहीं है। हमें यह लक्ष्य ध्यान में रखना होगा कि जो शिक्षा हम उन्हें दें, उसके द्वारा वे एक पेशे या व्यापार के जरिए आजीविका कमाने लायक बनने चाहिए। लेकिन फिलहाल जो शिक्षा-पद्धति है, वह इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए अत्यधिक उपयुक्त नहीं है।''

फिर दोबारा 1935 में नागपुर में ऑल इंडिया एजुकेशनल कॉन्फ्रेंस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, ''शैक्षिक संस्थानों को सक्षम क्लर्क और कम तनख्वाहवाला स्टाफ पैदा करनेवाली

फैक्टरी के तौर पर देखना अनुचित है। हमें ऐसे छात्र निकालने पड़ेंगे, जो हमारे स्व-शासित संस्थानों को नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम हों, जैसे—नगर निगम, क्षेत्रीय एवं केंद्रीय विधायी सदन। वे वित्तीय, वाणिज्यिक और औद्योगिक क्षेत्रों के विभिन्न कार्यों को निर्देशित कर सकें। आज के भारत को ऐसे लोगों की बहुत जरूरत है, जो सेवा-भावना से सराबोर हों और उनकी दृष्टि नई, साहसिक व लचीली भी हो। यह भी तुम्हारे लिए है कि युवा छात्रों के दिमाग में न केवल ज्ञान, सत्य और आदर-सम्मान की भावना के लिए जुनून हो, बल्कि अपनी मातृभूमि के प्रति प्यार भी बढ़े, अपने मन में यह सब सँजोए रखें। वही असली देशभक्ति है, जो एक व्यक्ति को देश की भलाई के लिए सबकुछ बलिदान करने को प्रेरित और उत्तेजित करती है।''

उपर्युक्त बातें मैकाले के मंसूबों के बिलकुल विपरीत हैं। सर आशुतोष ने शिक्षा के संदर्भ में जो घोषित किया था, वे वाक्य उससे सामंजस्य बिठाते लगते हैं। उन्होंने कहा था, ''पहले आजादी, दूसरे स्थान पर भी आजादी और हमेशा आजादी।''

दरअसल, मैकाले की शिक्षा पद्धति परिणाम भी दिखे। अंग्रेजी में पढ़ाई करनेवाले छात्र न केवल ब्रिटिश साम्राज्य का यश और गौरव पढ़ रहे थे, पैक्स ब्रिटेनिका और किपलिंग द्वारा वर्णित 'व्हाइट मैन्स बर्डन' भी पढ़ाया जा रहा था, बल्कि फ्रांस और अमेरिका की क्रांतियों के बारे में भी जान रहे थे। आयरिश देशभक्त इमेट, पारनेल और मक्सवीनी सरीखों के बारे में पढ़ाया जा रहा था, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़े। सूर्यसेन (मास्टर दा के नाम से चर्चित), प्रीतिलता ओहदेदार और अन्य, जिन्होंने 1930 में चिटगाँव शस्त्रागार पर एक साहसिक धावा बोला था, ने खुद को आयरिश क्रांतिकारियों पर मॉडल समझा और अपनी इंडियन रिपब्लिकन आर्मी बनाई, लेकिन वह अलग कहानी है। परंतु शिक्षा के क्षेत्र में कोई भी इतना जागरूक नहीं था, जितना श्यामाप्रसाद ने व्यवस्था में सुधार की जरूरत को महसूस किया था।

श्यामाप्रसाद किसी भी तरह के टकराव में, आखिरी उपाय के अलावा, विश्वास नहीं रखते थे। लिहाजा उनके मन में शिक्षा का मैकालेकरण न करने का स्पष्ट विचार था; लेकिन उन्होंने कभी भी एक शब्द नहीं बोला और सारा काम चुपचाप, व्यवस्थित व संवैधानिक तरीकों से करते रहे। ऐसा करना उनकी शैली भी थी। उन्होंने ये तमाम कार्य कुलपति कार्यकाल के दौरान किए।

उन्होंने अपने कार्यकाल में जो सबसे रंगारंग कार्यक्रम शुरू किया, वह था 24 जनवरी को यूनिवर्सिटी का स्थापना दिवस मनाना। श्यामाप्रसाद से पहले यूनिवर्सिटी में ऐसे समारोह की कोई परंपरा नहीं थी। शायद उन्होंने इस कार्यक्रम के जरिए यूनिवर्सिटी की नीरस और एकरस जिंदगी में कुछ उल्लास और जुलूस के जरिए नवीनता लाने की जरूरत को महसूस किया होगा। इस मकसद के लिए उन्होंने यूनिवर्सिटी की मुहर और प्रतीक-चिह्न को भी बदल दिया। ऐसा प्रतीक-चिह्न बनवाया, जिसे झंडे के बीचोबीच गहरे नीले रंग में रखा गया। उससे पहले यूनिवर्सिटी का प्रतीक चिह्न ब्रिटिश इंडिया की मुहर ही होती थी। उसके बाद 'तीनों हाथियों द्वारा पकड़ी गई एक पुस्तक' को प्रतीक-चिह्न बनाया गया, जिसकी परिधि में शब्द लिखे गए—'एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग'। श्यामाप्रसाद ने उसे पूरी तरह बदल दिया और एक पूर्ण खिलते कमल को प्रतीक-चिह्न बनवाया। उसके बीच में बंगाली अक्षरों में 'श्री' लिखवाया। 'श्री' संस्कृत का एक शब्द है, जो कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी मिलता है। उसका एक अर्थ यह भी है—'शाश्वत सौंदर्य।'

स्थापना दिवस समारोहों के दौरान सर्दियों की सुहावनी धूप में यूनिवर्सिटी से संबद्ध कॉलेजों के करीब 3,000 लड़के व लड़कियाँ अपने कॉलेजों का प्रतीक और वरदी पहने बैंड के साथ एक रंगारंग जुलूस निकालते थे। उस जुलूस का गीत खुद कविवर टैगोर ने लिखा था—'चोलो जाइ, चोलो जाइ।' आगे लड़के होते थे, जिनके हाथ में श्यामाप्रसाद का डिजाइन किया हुआ यूनिवर्सिटी ध्वज होता था। जुलूस सुबह 7.30 बजे प्रेसीडेंसी कॉलेज से शुरू होता था, जहाँ कुलपति और सीनेट के सदस्य एक मंच पर मौजूद होते थे और वे छात्रों की सलामी लेते थे। उस मौके पर छात्रों द्वारा जिम्नास्टिक आदि का प्रदर्शन किया जाता था। कुलपति वहाँ उपस्थित जन-समूह को संबोधित करते थे। अपने पहले संबोधन में श्यामाप्रसाद ने स्पष्ट कर दिया कि वह छात्रों से क्या बनने की अपेक्षा करते हैं और उसके लिए उनकी योजना क्या है। उन्होंने कहा, ''वह छात्रों को सशक्त, आत्मनिर्भर, मेहनती और निर्भीक युवा के रूप में विकसित करना चाहते हैं, जो अपनी राष्ट्रीय संस्कृति पर गर्व महसूस करें; लेकिन जिनका दृष्टिकोण संकीर्ण न हो और जो शांति व खुशी को प्रोत्साहित करने को चिंतित हों, उदात्त आदर्शवाद से सराबोर हों। लेकिन वे वर्ग-घृणा या विचारहीन भावनाओं से प्रभावित न हों। मैं ऐसे व्यक्ति बनाना चाहता हूँ, जो नए बंगाल के योग्य नेता बनेंगे। वे शिक्षण और स्वतंत्रता की मशाल अपनी प्रिय मातृभूमि के चिरस्थायी गौरव तक लेकर जाएँगे!'' बेशक उन्होंने अपने संबोधन में लड़कों और पुरुषों तक ही बात सीमित रखी, क्योंकि ऐसा आम प्रचलन में था। हालाँकि वहाँ मौजूद लड़कियों की संख्या बहुत कम रही होगी।

बाद में श्यामाप्रसाद को यूनिवर्सिटी प्रतीक-चिह्न को लेकर भारी मुसीबत का सामना करना पड़ा। बंगाल प्रदेश में बहुसंख्यक और सियासी ताकत रखनेवाले मुसलमानों ने यह कहकर आपत्ति उठाई कि 'श्री' और कमल दोनों ही हिंदू प्रतीक हैं और उनसे मूर्ति-पूजा की गंध आती है, जिससे मुसलिमों की धार्मिक भावनाएँ आहत होती हैं। कुछेक ने यूनिवर्सिटी तक का बहिष्कार किया और कुछ इसलामिक यूनिवर्सिटी की माँग तक करने लगे। सन् 1937 का दीक्षांत समारोह इस संदर्भ में युगांतरकारी था, जिसमें कवि रवींद्रनाथ टैगोर ने बंगाली में संबोधित किया। ऐसा तब तक नहीं किया गया था। लेकिन उस समारोह में कोई भी मुसलिम छात्र मौजूद नहीं था। कैबिनेट के मुसलिम मंत्री फजलुल हक, हुसैन सोहरावर्दी, नजीमुद्दीन और अजीजुल हक भी समारोह से दूर ही रहे। अंतत: श्यामाप्रसाद को समझौता करने पर बाध्य होना पड़ा। उन्होंने 'श्री' हटा दिया और उसकी जगह प्रतीक के केंद्र में सूर्य और कमल की कली बनवा दी। संपूर्ण खिलता कमल बरकरार रहा और वह मोटो भी यथावत् रहा—'एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग'। बाद में कमल की कली भी हटा दी गई और उसकी जगह कमल के पराग कणों की सेज बनवाई गई।

दरअसल यूनिवर्सिटी का सबसे महत्त्वपूर्ण समारोह दीक्षांत का ही होता है, जिसमें यूनिवर्सिटी छात्रों को उपाधियाँ प्रदान करती है। सन् 1936 के दूसरे दीक्षांत समारोह के संबोधन में श्यामाप्रसाद ने यूनिवर्सिटी के लिए अपने लक्ष्यों की स्पष्ट घोषणा की। टिप्पणीकार और शोधार्थी डॉ. दिनेश चंद्र सिन्हा ने उनकी शैक्षिक उपलब्धियों पर काम किया था, जिन्होंने उन घोषणाओं को 'शिक्षा का पंचशील' करार दिया। उन्होंने कहा था, ''हमारा आदर्श है कि निचले से लेकर उच्चतम दर्जे तक शिक्षा की व्यापक सुविधाएँ उपलब्ध कराएँ, ताकि अपने शैक्षिक उद्देश्य को साँचे में ढाला जा सके, ताकि अपने युवाओं के भीतर छिपे सर्वश्रेष्ठ गुणों को बाहर निकाला जा सके, ताकि

उन्हें बौद्धिक और भौतिक तौर पर प्रशिक्षित किया जा सके, ताकि वे गाँवों, कस्बों और शहरों में राष्ट्रीय गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में अपनी सेवाएँ दे सकें। हमारा आदर्श है कि एक सुरक्षित, तार्किक और लचीली शिक्षा के लिए व्यापक प्रावधान करें, ताकि सांस्कृतिक, व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण के बीच एक सही संयोजन हो सके। यह याद रखा जाना चाहिए कि कोई भी देश अपने युवाओं को महज मशीन निर्मित उत्पाद में ढालकर कभी भी महानता हासिल नहीं कर सकता।

''हमारा आदर्श है कि अध्यापकों को भी पर्याप्त सुविधाएँ और विशेषाधिकार उपलब्ध कराए जाएँ, ताकि वे खुद को शिक्षण, चरित्र, आजादी और सम्मान के योग्य बना सकें। वे सिर्फ मशालधारक और ज्ञान के व्याख्याकार एवं विचार के नए राज्यों के विजेता ही न हों, बल्कि पुरुष और महिला, नेता और कामगार, सच्चाई और बहादुरी, ईमानदारी और देशभक्ति के निर्माता भी हों। हमारा आदर्श है कि शिक्षा को हमारी संस्कृति और सभ्यता के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों से जोड़ा जाए, जहाँ जरूरी हो तो पश्चिमी हुनर और ज्ञान से भी मजबूती ग्रहण की जाए। हमारा आदर्श है कि अपने विश्वविद्यालयों और शैक्षिक संस्थानों को मुक्ति, स्वस्थ मस्तिष्क और प्रगतिशील विचारों के घर बनाएँ। सरकार और जनता उदारतापूर्वक सहयोग करें। जहाँ अध्यापक और छात्र मिल सकें और समरसता तथा आपसी समझदारी के माहौल में काम कर सकें। जहाँ जाति, लिंग, संप्रदाय या धार्मिक अथवा राजनीतिक आस्था-विश्वास के आधार पर किसी को कोई कष्ट न हो।

''युवाओं के गौरव में मेरा बहुत अधिक विश्वास है और बंगाल के छात्रों के नाम पर मैं सत्ताधारियों को कहता हूँ कि उन्हें जीने, जीवन का आनंद लेने का एक मौका और उन्हें अपने स्वास्थ्य एवं चरित्र के विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएँ दी जाएँ, ताकि आनेवाले दिनों में वे हमारी मातृभूमि के हितों को प्रोत्साहित करने में बहुत काम के आदमी साबित हो सकें। सरकार को तमाम दर्जे की शिक्षा में पर्याप्त और उदारतापूर्वक खर्च करना चाहिए। जितना अतीत में खर्च किया गया था, उससे भी ज्यादा अब किया जाना चाहिए। जितना भी संभव हो, शिक्षा सस्ती होनी चाहिए और उच्च स्तर पर इसकी गुणवत्ता भी कायम रखी जानी चाहिए। अपने पिछले दानकर्ताओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए हमें इस पर जोर देना चाहिए कि हमारे विश्वविद्यालयों को निजी दानकर्ताओं को भी अधिक व्यापक स्तर पर उतना प्रेरित करना चाहिए जितना अब तक किया है।''

सन् 1936 में नागपुर यूनिवर्सिटी के दीक्षांत समारोह में आमंत्रित किए जाने पर अपने संबोधन में श्यामाप्रसाद ने अपनी आवाज बुलंद की और शिक्षा की स्वतंत्रता के पक्ष में कुछ ज्यादा सख्ती से बोले। सिर्फ यही नहीं, उन्होंने शिक्षा को आजादी की साध से जोड़ दिया। उन्होंने कहा, ''सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख यह है कि भारत के प्रतिभाशाली व्यक्तियों की संगत में शिक्षा-पद्धति तब तक हासिल नहीं की जा सकती, जब तक भारत को वह राजनीतिक दर्जा प्राप्त न हो, जिसमें उसे अपनी राष्ट्रीय जरूरतों को तय करने की आजादी हो और वे उन्हें कितनी अच्छी तरह से संतुष्ट हो सकते हैं।''

यह संदेहास्पद है कि भारत में किसी ने भी, खासतौर पर भारतीयों के बीच ही, शिक्षा के

क्षेत्र में सुधार की पहल की हो। बेशक सर आशुतोष और श्यामाप्रसाद, पिता-पुत्र दोनों ने ही, उस शैक्षिक ढाँचे में बुनियादी सुधार किए, जो मैकाले ने देश पर थोपा था। श्यामाप्रसाद ने अपने भाषणों के जरिए ऐसे सुधारों पर अपने विचार रखे। पहले, प्राचीन भारत के गौरव और विरासत पर खुद गर्व करना और छात्रों को नसीहत देना कि उस गौरव को प्रभावी ढंग से महसूस करें। इसने मैकाले की उस थ्योरी को बेकार साबित कर दिया, जिसमें मैकाले ने कहा था कि भारत का संपूर्ण राष्ट्रीय साहित्य यूरोप की एक बेहतर लाइब्रेरी के एक ही शेल्फ के योग्य है। इसके बावजूद उनका रवैया उग्र राष्ट्रवादी या सिद्धांतवादी का नहीं था। वह छात्रों से अपनी संस्कृति पर गर्व करने को कहते थे, लेकिन यह भी चाहते थे कि छात्रों का दृष्टिकोण संकीर्ण न हो। लिहाजा भारतीय और पश्चिमी मूल्यों के बीच उचित संतुलन की जरूरत पर बल देते थे। आज के मानकों के आधार पर ऐसी सोच मूर्खतापूर्ण लग सकती है, लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में उनसे पहले कुछ ही लोग इस स्वर में बोले होंगे। अंततः उन्होंने एक दक्षिणपंथी व्यक्ति के तौर पर अपने बुनियादी विश्वासों को दोहराया। एक संविधानविद् और तब के फैशनपरस्त मार्क्सवादी क्रांतिकारियों के घोर विरोधी के तौर पर उन्होंने छात्रों से कहा था, ''वर्ग-छाया या विचारहीन भावनाओं से प्रभावित न हों, उनकी ओर न झुकें।'' उनके जीवन के राजनीतिक चरण में 'भारत छोड़ो आंदोलन' की ओर एक संतुलित रवैए के मद्देनजर, उनके ये विश्वास और विचार अभिव्यक्त हुए। (अध्याय 5 देखें)

श्यामाप्रसाद ने कुलपति पद पर चार वर्षों के दौरान कई कदम उठाए, जो उनकी मूल विचारधारा और अनथक परिश्रम के साक्षी थे। आज ये कोशिशें सामान्य लगती हैं, लेकिन युद्ध-पूर्व के ब्रिटिश दौर में इनमें से कुछ तो किसी क्रांति से कम नहीं थीं।

श्यामाप्रसाद ने अध्यापन और परीक्षा के संदर्भ में मैट्रिक तक पढ़ाने का माध्यम मातृभाषा को ही रखा। मैकाले ने अपने कार्य-विवरण में बड़ी सख्त भाषा में लिखा था कि अंग्रेजी के अलावा स्थानीय लोगों के बीच किसी भी तरह की शिक्षा के लिए कोई अन्य शिक्षा का वाहन नहीं हो सकता। उन्होंने बहस की कि कैसे और क्यों अंग्रेजी को ही संस्कृत और अरबी की तुलना में प्राथमिकता दी गई। मैकाले ने यह उल्लेख तक नहीं किया कि आधुनिक भारतीय भाषाओं पर भी विचार किया जाए। इसने श्यामाप्रसाद को आहत किया कि इस शरारतपूर्ण कार्य को रद्द करना चाहिए और उन्होंने किया।

बँगला में वर्तनी का मानकीकरण दूसरा काम था, जो श्यामाप्रसाद ने किया। हालाँकि इसमें वह पूरी तरह सफल नहीं हो सके। बँगला वर्तनी आज भी अनियत और अस्थिर है। 'जिनिश' (अर्थात् थिंग—वस्तु) सरीखे रोजमर्रा के शब्द तीन विभिन्न तरीकों में लिखे जाते हैं। अंग्रेजी का शब्द-भंडार बँगला से बहुत बड़ा है, लेकिन उसकी वर्तनी मानकीकृत है। सिर्फ ब्रिटिश और अमेरिकी प्रयोग में कुछ द्विभाजन हैं। श्यामाप्रसाद ने बँगला की वर्तनी का मानकीकरण करने की बहुत कोशिशें कीं। इसके लिए एक उपसमिति गठित की गई, जिसने अक्षरों के लिए 200 बँगला व्यक्तियों के विचार लिये। यह काम भी उनकी उत्कंठा व लालसा का साक्षी बना कि वह भाषा को वैज्ञानिक आधार देना चाहते थे। इस संदर्भ में भी वह अपने पिता के पदचिह्नों पर चल रहे थे। सर आशुतोष ने करीब दो दशक पहले एम.ए. के स्तर पर बँगला विषय की शुरुआत की थी

और श्यामाप्रसाद उसके पहले छात्रों में से थे। उपसमिति के अपना काम करने के बाद कविवर टैगोर और उपन्यासकार शरतचंद्र चटर्जी सरीखे बंगाल के शीर्ष साहित्यकारों ने उस वर्तनी को अपनी सहमति दी, जिसकी कमेटी ने अनुशंसा की थी।

दुर्भाग्यवश, 1930 के दशक में इतना कठोर परिश्रम करने के बावजूद बँगला वर्तनी में आज भी अराजकता मौजूद है। कमोबेश पश्चिम बंगाल में ही··· । बँगलादेश ने इस संदर्भ में महान् सफलता हासिल की है। जिस तरह ब्रिटिश और अमेरिकी अंग्रेजी के बीच भी अराजकता मौजूद है, उसी तरह भारतीय बँगला और बँगलादेशी बँगला में कई शब्द अलग-अलग लिखे जाते हैं।

सरकारी, वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली को बँगला में गढ़ना और संकलित करना वाकई भाषा की दीर्घकालीन उपयोगी सेवा थी। श्यामाप्रसाद ने एक रसायन-विज्ञानी और उत्कृष्ट साहित्यकार राजशेखर बोस को नियुक्त किया। संभवतः इस क्षेत्र के वह सबसे योग्य व्यक्ति थे। उन्हें कमेटी का अध्यक्ष बनाया गया। टैगोर भी उस काम में शामिल थे। उस कमेटी की मेहनत का ही नतीजा है कि आज बँगला में भी वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध हैं।

प्राचीन सभ्यताओं की मानव-निर्मित वस्तुओं के संरक्षण और शोध के लिए आशुतोष म्यूजियम स्थापित करना और बिहारी लाल मित्रा कोश में से महिलाओं के लिए घरेलू विज्ञान का पाठ्यक्रम शुरू करना—श्यामाप्रसाद की दो अन्य उपलब्धियाँ थीं। उन्होंने सामाजिक कल्याण में शिक्षा की भी शुरुआत की। बाद में व्यापार प्रबंधन भी उसमें जोड़ा गया और इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल वेलफेयर ऐंड बिजनेस मैनेजमेंट स्थापित किया। बाद में उन्होंने यूनिवर्सिटी में सूचना और रोजगार बोर्ड की भी स्थापना की, ताकि रोजगारों के अवसरों की जानकारी छात्रों को मिल सके। उन्होंने अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी शुरू किए।

यूनिवर्सिटी ट्रेनिंग कोर्स को नए सिरे से बनाना और उसे सशक्त करना, ताकि छात्र सैन्य अध्ययन को भी ग्रहण कर सकें और सेना में अपना कॅरियर बना सकें। यह श्यामाप्रसाद की एक और महान् उपलब्धि थी। यह उनका प्रिय विषय था, जिसके जरिए बंगाली लड़कों में अनुशासन, साहस और कार्य करने के तरीके की भावना भरने की संभावना उन्होंने देखी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के शुरुआती वर्षों के दौरान जब वह फजलुल हक की प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक गठबंधन सरकार में (1941-42, अध्याय 5 देखें) वित्त मंत्री थे, तब उन्होंने गवर्नर और वायसराय से अनुनय-विनय की थी कि मातृभूमि की रक्षा के लिए सैन्य प्रशिक्षण देते हुए बंगाली लड़कों की एक कोर बनाई जाए। चूँकि हरबर्ट गवर्नर थे, लिहाजा उनका उत्तर नकारात्मक रहा।

श्यामाप्रसाद ने कई अन्य प्रमुख कदम उठाए, जिनका विशेष उल्लेख जरूरी है—

- छात्रों के स्वास्थ्य की देखभाल के लिए छात्र कल्याण बोर्ड की स्थापना।
- जनता की सामान्य शिक्षा के लिए साहित्यिक और वैज्ञानिक रुचि के विभिन्न विषयों पर पुस्तिकाएँ छापना।
- पुस्तकालय और वाचनालय की सीमाओं का विस्तार। उन्होंने आशुतोष भवन में एक अतिरिक्त तल बनवाया और दीवारों पर ऐसे भित्ति चित्रों से लाइब्रेरी को सजाया, जिनमें भारत का विकास और बंगाल का योगदान चित्रित था।
- ढाकुरिया लेक्स (अब रवींद्र सरोवर) पर यूनिवर्सिटी नौकायन क्लब, एथलेटिक क्लब

और जिम्नेजियम की स्थापना।

- कलकत्ता मैदान में यूनिवर्सिटी एथलेटिक गतिविधियों के लिए एक अलग क्षेत्र बनाना।
- एप्लायड फिजिक्स (भौतिक विज्ञान) में संचार इंजीनियरिंग का एक विशेष पेपर शुरू किया, जो बाद में रेडियो फिजिक्स और इलेक्ट्रॉनिक्स के नाम से एक अलग विभाग बना।
- चीनी व तिब्बती भाषाओं और संस्कृति में शोध सुविधाओं की शुरुआत करना।
- भूगोल को मैट्रिक से मास्टर डिग्री तक एक विषय के तौर पर शुरू किया।
- कृषि विज्ञान में पाठ्यक्रम शुरू किया।
- मैट्रिक परीक्षा में बैठने की आयु-सीमा को हटाया।
- इसलामिक इतिहास और संस्कृति में पाठ्यक्रम शुरू किया।
- बँगला भाषा में पी-एच.डी. शोध-प्रबंध को अनुमति दी।

यूनिवर्सिटी में श्यामाप्रसाद की शानदार पारियों के बीच एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना हुई—नोबेल पुरस्कार विजेता भौतिक विज्ञानी सर सी.वी. रमन का बाहर जाना। हालाँकि उस समय श्यामाप्रसाद नहीं, हसन सोहरावर्दी यूनिवर्सिटी के कुलपति थे, लेकिन हर कोई जानता था कि यूनिवर्सिटी कौन चला रहा था?

एक शानदार शैक्षिक कॅरियर के बाद रमन सहायक महालेखा परीक्षक के तौर पर इंडियन वित्त विभाग में चले गए थे; लेकिन भौतिक विज्ञान में उन्होंने अध्ययन जारी रखा, जो कि उनका पहला प्यार था। सर आशुतोष, जो हर समय प्रतिभा की खोज में लगे रहते थे, ने उस व्यक्ति की शानदार प्रतिभा को देखा और यूनिवर्सिटी से जुड़ने का आमंत्रण दिया। सन् 1917 में रमन ने अपनी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और कलकत्ता यूनिवर्सिटी में फिजिक्स के पालित प्रोफेसर के नए सृजित पद को सँभाल लिया। उसी समय उन्होंने भारतीय कृषि विज्ञान परिषद्, कलकत्ता में अपना शोध कार्य भी जारी रखा। वहाँ वह मानद सचिव भी बन गए। यह वैज्ञानिक शोध को प्रोत्साहित करने के लिए एक निजी संस्थान था, जिसकी स्थापना डॉ. महेंद्र लाल सरकार ने की थी। सरकार 19वीं शताब्दी के बंगाल नवजागरण की उपज थे। रमन उस दौर को अपने कॅरियर का 'स्वर्णकाल' कहते रहे हैं। उस संस्थान और यूनिवर्सिटी में कई प्रतिभाशाली छात्र उनके इर्द-गिर्द जमा हो जाते थे। 28 फरवरी, 1928 को प्रकाश के बिखराव के अपने प्रयोग के जरिए उन्होंने 'रमन प्रभाव' का आविष्कार किया। तुरंत ही यह स्पष्ट हो गया कि वह आविष्कार महत्त्वपूर्ण था। उसने प्रकाश के मात्रा संबंधी मूलभूत चारित्रिक गुण का भी प्रमाण दिया। रमन पेक्ट्रॉस्कोपी इसी प्रक्रिया पर आधारित है।

अर्नेस्ट रदरफोर्ड ने सन् 1929 में रॉयल सोसाइटी के अपने अध्यक्षीय संबोधन में इसका उल्लेख किया था। कलकत्ता यूनिवर्सिटी ने रमन के यूरोप प्रवास के लिए अनुदान स्वीकृत कर दिया, ताकि वह महाद्वीप के प्रमुख वैज्ञानिकों से परिचित हो सकें और उन्हें अपने आविष्कार से अवगत करा सकें। रमन को सन् 1930 का नोबेल पुरस्कार जीतने का इतना भरोसा था कि उन्होंने जुलाई में ही टिकट बुक करा लिये थे, जबकि पुरस्कार की घोषणा नवंबर में होनी थी। वह हर रोज पुरस्कार की घोषणा के मद्देनजर अखबारों को छानते और खबर न पाकर अखबार को फेंक देते थे। अंततः उन्होंने 1930 में भौतिक विज्ञान में 'प्रकाश के बिखराव' और 'रमन प्रभाव' सरीखे

अपने शोध कार्यों के लिए नोबेल पुरस्कार जीता। विज्ञान में यह पुरस्कार जीतनेवाले वह पहले एशियाई और अश्वेत थे।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी ने उन्हें ढेरों सम्मान दिए। यहाँ तक कि दूर-दराज की ग्लासगो यूनिवर्सिटी ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि से सम्मानित किया। लेकिन सन् 1933 तक उन्होंने कलकत्ता छोड़कर बंगलौर जाने का मन बना लिया। संभवत: बंगाल में राजनीतिक गड़बड़ियों के कारण उन्होंने यह फैसला लिया होगा! हालाँकि 'पालित प्रोफेसर' के पद से इस्तीफा देने के बजाय उन्होंने 14 महीनों के 'अवैतनिक अवकाश' के लिए आवेदन किया। श्यामाप्रसाद ने खुद उनके अनुरोध को यह देखते हुए स्वीकृति दे दी थी कि बेशक वह प्रस्ताव असाधारण था, लेकिन वह प्रस्ताव भी जिस प्रोफेसर से जुड़ा था, यूनिवर्सिटी में उसका स्थान भी असाधारण था। रमन की छुट्टी मंजूर हो गई और वह बंगलौर चले गए, लेकिन भारतीय कृषि विज्ञान परिषद् के मानद सचिव का पद उन्होंने बरकरार रखा, उसके लिए परिषद् के संविधान में संशोधन किया गया।

रमन के इस कदम के कारण उनके और कलकत्ता स्थित समकक्ष व्यक्तियों के बीच कुछ कटुता पैदा हो गई। उनमें से कई यूनिवर्सिटी से भी जुड़े थे। उनका आरोप था कि अब रमन बंगलौर से रिमोट कंट्रोल के जरिए परिषद् को चलाएँगे। उसी दौरान यूनिवर्सिटी के साथ भी उन्हें समस्याएँ झेलनी पड़ीं, जब उनपर आरोप लगे कि जो वैज्ञानिक सामग्री और उपकरण विश्वासपूर्वक उन्हें सौंपे गए थे, उन्हें परिषद् की प्रयोगशालाओं में भेज दिया गया है और इसके लिए उन्होंने कोई अनुमति भी नहीं ली। हालाँकि लिखित रूप में कोई आरोप नहीं लगाया गया। नतीजतन रमन को कई बार कलकत्ता से अपनी रवानगी स्थगित करनी पड़ी। सिंडिकेट बैठकों में इस मुद्दे पर गरमागरम बहसें हुईं और श्यामाप्रसाद उनके व्यवहार पर आलोचनात्मक रूप से बोले। यहाँ तक कि इस्तीफा देने के बाद भी सिंडिकेट सदस्यों में आपसी मतभेद थे कि उसे किस तारीख से प्रभावी माना जाए। अंतत: उनके प्रभावी व्यक्तित्व के चलते यूनिवर्सिटी ने तमाम आरोपों को निरस्त करने का निश्चय किया; लेकिन तब तक उनके अपने पूर्व साथियों के बीच संबंधों में खटास आ चुकी थी। यूनिवर्सिटी ने उन्हें एक महान् विदाई भी नहीं दी, जबकि ऐसा किया जाना चाहिए था। सिर्फ एक प्रस्ताव पारित कर विज्ञान में उनकी उपलब्धियों की सांकेतिक प्रशंसा कर दी गई। रमन ने उसके बाद कलकत्ता में कभी भी अपने पाँव नहीं रखे।

यह एक प्रख्यात और प्रतिभाशाली वैज्ञानिक की शानदार पारी का असंतोषजनक अंत था। वह देश, यूनिवर्सिटी और खुद के लिए महानतम सम्मान लेकर आए। सर आशुतोष, जिन्होंने यूनिवर्सिटी में आने के लिए उन्हें मनाया था, आज उनकी दुर्गति पर दु:खी जरूर होते।

श्यामाप्रसाद और महान् कवि टैगोर की समीपता का खुलासा इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है, लेकिन श्यामाप्रसाद ने उसे एक और नया आयाम दिया। चूँकि मुकर्जी भाइयों की साहित्यिक पत्रिका 'बंगबानी' में टैगोर की रचनाएँ छपती थीं, लिहाजा समीपता निजी स्तर की थी। आशुतोष के बाद के काल में यूनिवर्सिटी ने प्रोफेसर स्टेन कोनाऊ और एल. बोगडानोव की नियुक्ति के टैगोर के अनुरोध को खारिज कर दिया था, लेकिन हसन सोहरावर्दी के कुलपति बनने के बाद श्यामाप्रसाद कविवर के अनुरोध पर डॉ. अन्ना सेलिग को यूनिवर्सिटी में आमंत्रित करने में सफल रहे। डॉ. सेलिग जर्मनी की इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी सर्विस के कार्यकारी सचिव थे और

यूनिवर्सिटी ने कुछ खास विषयों पर लेक्चर देने के लिए उन्हें रीडर पद की पेशकश की थी। सेलिग पहले ही 'विश्व भारती' में ऐसे ही भाषणों की श्रृंखला समाप्त कर चुकी थीं। दरअसल तब जर्मनी में नाजियों द्वारा यहूदियों का उत्पीड़न शुरू हो चुका था। कई यहूदी जर्मन विश्वविद्यालयों में शीर्ष पदों पर थे। इस स्थिति का लाभ लिया गया। जस्टिस चित्ततोष के मुताबिक, यहाँ तक कि आइंस्टाइन ने भी कलकत्ता आने पर विचार किया था।

टैगोर और यूनिवर्सिटी के बीच संपर्क व तालमेल बढ़ाने के लिए सन् 1932 में श्यामाप्रसाद ने यूनिवर्सिटी सीनेट से एक प्रस्ताव पारित कराया। उसके तहत स्नातकोत्तर स्तर पर बँगला भाषा और साहित्य पर कुछ भाषणों के लिए कविवर को आमंत्रित किया जाना था। उसके लिए कविवर को प्रोफेसर का दर्जा दिया जाना था, लेकिन यूनिवर्सिटी के सामान्य नियम उनपर लागू नहीं होते थे। उस दौर में ब्राह्म समाज और बंगिया साहित्य परिषद् में कुछ ऐसे समूह थे, जो यह नहीं चाहते थे कि टैगोर यूनिवर्सिटी और श्यामाप्रसाद के इतना करीब जाएँ। वे टैगोर के पास गए और उन्हें समझाने की कोशिश की कि यह पेशकश स्वीकार करना उनके लिए गरिमापूर्ण नहीं होगा। हालाँकि, श्यामाप्रसाद ने उनके खिलाफ तर्क दिए और अंततः 71 वर्षीय कवि ने अपने से 40 वर्ष छोटे व्यक्ति की बात सुनी। उस भीड़ की अनसुनी कर दी, जिसने विश्वास के स्तर पर कहा था कि कविवर में श्यामाप्रसाद के अस्तित्व ने जन्म ले लिया है।

उसके बाद कविवर ने यूनिवर्सिटी में सक्रिय रुचि लेना शुरू कर दिया और लगातार श्यामाप्रसाद के संपर्क में रहने लगे। सन् 1934 में उन्होंने यूनिवर्सिटी में उस कोष में से एक अंतरराष्ट्रीय क्लब की स्थापना की, जो विश्व शांति को प्रोत्साहित करने के लिए अमेरिकी परोपकारी व्यक्ति एंड्रयू कारनेगी ने दान दिया था। उस अवसर पर यूनिवर्सिटी की सांस्कृतिक परिषद् ने कविवर का अभिनंदन किया। इस अवसर पर टैगोर ने मानवीय मूल्यों पर भाषण दिया। 29 जून, 1935 को सर आशुतोष के जन्मदिन के मौके पर एक स्मारक के तौर पर सर आशुतोष अंडरग्रेजुएट कॉलेज, एक सभागार और एक पुस्तकालय की स्थापना दक्षिण कलकत्ता में हजरा पार्क (अब जतिनदास पार्क) के आगे की गई। इस मौके के लिए टैगोर ने विशेष तौर पर लिखी अपनी कविता भेजी।

प्रदेश के शिक्षा मंत्री तब अजीजुल हक थे, जो नादिया जिले के शांतिपुर के एक ख्यात मुसलिम नेता थे। वह भी टैगोर का खूब सम्मान करते थे। श्यामाप्रसाद के बाद सन् 1938 में वह कुलपति पद पर बैठे। कविवर को शैक्षिक गतिविधियों में शामिल रखने का सूत्र उन्होंने श्यामाप्रसाद से ही लिया था। उनके प्रयासों से प्रादेशिक सरकार के तहत 'शिक्षा सप्ताह' नामक योजना शुरू की गई। 8 फरवरी, 1936 को योजना की शुरुआत के मौके पर टैगोर ने उद्घाटन-संबोधन दिया। उस संबोधन में उन्होंने प्रस्ताव रखा कि लोकप्रिय शिक्षा के लिए पुस्तकें छापी जाएँ। चूँकि प्रदेश सरकार से उस योजना को ज्यादा समर्थन नहीं मिला, नतीजतन कुछ ही पुस्तकें छापी गईं। एक ऐसी ही पुस्तक खुद टैगोर ने लिखी थी।

सन् 1936 में कुलपति के रूप में श्यामाप्रसाद ने कविवर को यूनिवर्सिटी के वार्षिक दीक्षांत समारोह में संबोधन का अनुरोध करते हुए पत्र लिखा। यह अभूतपूर्व था, क्योंकि तब तक किसी 'बाहरी व्यक्ति' को दीक्षांत संबोधन के लिए आमंत्रित नहीं किया गया था। कविवर ने इनकार कर दिया, क्योंकि उस समय वह किसी प्रवास पर थे। आगामी वर्ष श्यामाप्रसाद ने वही अनुरोध

एक बार फिर किया। उस वक्त तक टैगोर की सेहत कुछ हद तक बिगड़ चुकी थी। श्यामाप्रसाद यह देखकर सावधान थे, लिहाजा उन्होंने कहा कि संबोधन लंबा नहीं होना चाहिए। उस पर कविवर का जवाब बड़ा दिलचस्प था और उसने एक नया अध्याय ही खोल दिया।

उन्होंने अंग्रेजी में श्यामाप्रसाद को लिखा—''लेकिन मैं एक शर्त पर ही दीक्षांत संबोधन देना स्वीकार करूँगा। तुम मेरे जीवन की महान् इच्छा को जानते हो कि हमारी भाषा को कड़ाई और स्थिरता के साथ यूनिवर्सिटी में शिक्षण के माध्यम के तौर पर स्थापित किया जाए। यदि तुम मुझ सरीखे बाहरी से दीक्षांत संबोधन के जरिए परंपरा तोड़ रहे हो, तो तुम्हें एक और परंपरा तोड़नी होगी और मुझे बँगला में संबोधित करने की अनुमति देनी पड़ेगी।''

यूनिवर्सिटी ने यह अनुरोध स्वीकार कर लिया तथा टैगोर ने बँगला में ही भाषण दिया। उस समय यह कल्पनातीत था। न केवल अतिविशिष्ट आगंतुकों में कई ऐसे थे, जो बँग्ला नहीं समझते थे, बल्कि यह एक सामान्य भावना भी थी कि 'किसी महत्त्वपूर्ण' काम को अंग्रेजी में ही किया जाना चाहिए। मैकाले के उत्तराधिकारियों को याद करें, जिन्होंने उसके सिद्धांत का पालन करते हुए सफलतापूर्वक एक ऐसी जमात पैदा कर दी थी, जिसका खून और रंग तो भारतीय था, लेकिन रुचि, सोच, मत और बौद्धिकता में अंग्रेजियत थी।

बँगाल के गवर्नर एवं यूनिवर्सिटी के कुलाधिपति सर जॉन एंडरसन भी समारोह में उपस्थित थे। जाहिर है कि श्यामाप्रसाद के आग्रह पर उन्होंने भी सहमति दे दी थी कि कविवर बँगला में ही संबोधित करें। संबोधन का अंग्रेजी अनुवाद पहले ही छापा और बाँटा जा चुका था। हालाँकि कोई भी मुसलिम छात्र और मुसलिम मंत्री मौजूद नहीं था। वह वर्ष 1937 का दौर था और बंगाल में मुसलिम लीग के नेतृत्ववाली सरकार आ चुकी थी। यूनिवर्सिटी प्रतीक चिह्न पर 'श्री' और कमल अंकित करनेवाला विवाद प्रचंड रूप धारण कर चुका था। मुसलिम लीग सरकार ने देखा कि चारों ओर सांप्रदायिक जहर फैलाने का यह एक अच्छा अवसर था। सिर्फ यही नहीं, लीग सरकार को कविवर की कुछ रचनाओं को 'मूर्ति पूजा संबंधी' और 'मुसलिम-विरोधी' करार देने में भी संदेह नहीं था। कहना चाहिए कि टैगोर के गीत 'आमार सोनार बाँग्ला' को बँगलादेश के राष्ट्रगान के तौर पर ग्रहण करने से बंगाली मुसलिमों की भीड़ ने टैगोर पर अपनी स्थिति को उलट दिया। लेकिन टैगोर ही दुनिया के ऐसे एकमात्र कवि हैं, जिनके गीतों को दो देशों—भारत और बँगलादेश—का राष्ट्रगान बनाया गया। हालाँकि पश्चिम बंगाल के मुसलिम कवि काजी नजरुल इसलाम, जिन्हें श्यामाप्रसाद ने गरीबी और मौत के शिकंजे से बचाया था (अध्याय 5 देखें), का भी दोनों देशों में समान रूप से आदर किया जाता है।

श्यामाप्रसाद और कविवर टैगोर के बीच आखिरी मुलाकात अगस्त 1940 में हुई, जब ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी ने शांति निकेतन में आयोजित एक विशेष दीक्षांत समारोह में कविवर टैगोर को डी.लिट्. की मानद उपाधि से सम्मानित करना तय किया। इसकी भी एक पृष्ठभूमि है। सन् 1913 में नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने के बाद ब्रिटिश सरकार ने 1915 में टैगोर को 'नाइटहुड' की उपाधि दी थी। लेकिन खुद कवि ने 'नाइटहुड' से सम्मानित होने से इनकार कर दिया था। सन् 1919 में अमृतसर के जलियाँवाला बाग में जनरल डायर द्वारा की गई निर्मम हत्याओं के बाद उन्होंने उस उपाधि का परित्याग कर दिया था। ब्रिटिश सरकार हैरान-परेशान थी, लेकिन एशिया

और उनके अपने साम्राज्य के एकमात्र नोबेल पुरस्कार विजेता के खिलाफ कुछ नहीं कर सकते थे। हालाँकि उसके बाद जापान से अर्जेंटीना तक फैले संपूर्ण विश्व ने उन्हें विविध सम्मानों से अलंकृत किया। लेकिन ब्रिटिश ऐसा कुछ करने से बाज आए। अंततः सर्वपल्ली राधाकृष्णन के आग्रह पर ऑक्सफोर्ड ने ऐसा किया।

जसीमुद्दीन एक और प्रख्यात कवि थे, जिनकी श्यामाप्रसाद ने मदद की। वह पूर्वी बंगाल के एक गरीब, खेतिहर और ग्रामीण परिवार के मुसलिम थे। बाद में जसीमुद्दीन पहले के पूर्वी पाकिस्तान के सबसे विख्यात कवि बने। उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी के तत्कालीन हिंदी प्रोफेसर विष्णुकांत शास्त्री को बताया था, जब बँगलादेश-मुक्ति के बाद शास्त्रीजी उनसे मिलने गए थे कि किस तरह स्कॉलरशिप को लेकर 'बराबरी' की स्थिति पैदा हो गई थी। एक स्कॉलरशिप, दो दावेदार और उनके अंक भी समान थे। एक हिंदू और दूसरा मुसलमान था। कुलपति श्यामाप्रसाद ने मुसलिम छात्र के पक्ष में फैसला दिया। वह कोई और छात्र नहीं, खुद जसीमुद्दीन ही थे।

सन् 1938 के अंतिम दीक्षांत समारोह को संबोधित करते हुए श्यामाप्रसाद ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति की रूपरेखा का खुलासा किया था और अपनी दृष्टि का ब्योरा दिया था। उनका मानना था कि उनकी संकल्पना की समग्र शिक्षा नीति, प्राथमिक से उच्चतम स्तर तक, शैक्षिक व्यवस्था को सुधार सकती है। प्राथमिक शिक्षा उस निरक्षरता को समाप्त करने के लिए जरूरी थी, जो लोगों पर अंधकार की परत से कम नहीं थी। निरक्षरता खत्म होने से लोगों को दूरदृष्टि मिलेगी, अपने भीतरी मूल्यों को धीरे-धीरे समझेंगे और अंततः अपने दिलों में राष्ट्रवाद की ज्योति जलाएँगे। सेकेंडरी या उच्चतर माध्यमिक शिक्षा छात्रों को उच्च शिक्षा के लिए तैयार करेगी और साथ ही विभिन्न उत्पादक, लाभदायक और बौद्धिक पेशों के लिए उन्हें सफल बनाएगी। अंततः कॉलेज और यूनिवर्सिटी शिक्षा से वह प्रक्रिया पूरी होगी, जो सेकेंडरी से शुरू हुई थी। वह शिक्षा मानविकी, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विभिन्न क्षेत्रों का उच्च स्तरीय ज्ञान प्रदान करेगी। श्यामाप्रसाद शिक्षा के पाठ्यक्रम को इस तरह बदलना चाहते थे, प्रशिक्षण और परीक्षा की व्यवस्था को इस तरह पुनर्गठित करना चाहते थे, ताकि युवा महज सूचना और थ्योरी के मशीनी रिकॉर्डर की तरह न उभरें, वे शुष्क विशेषज्ञ ही न हों, बल्कि उनकी सुप्त शक्ति और क्षमता जाग्रत् हो सके, जिससे उनका आलोचनात्मक विश्लेषण सशक्त हो जाए और व्यापक सोच की उनकी क्षमता और जीवन की समस्याओं पर ज्ञान का क्रियान्वयन पूरी तरह से विकसित हो जाए। अपने संबोधन में उन्होंने भारतीय भाषाओं के प्रयोग पर भी बल दिया कि शिक्षण और अध्ययन अपनी ही भाषाओं के जरिए हो।

श्यामाप्रसाद के कुलपति पद छोड़ने के बाद यूनिवर्सिटी ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि से सम्मानित कर उनके प्रति अपना आभार व्यक्त किया। 'डॉक्टर' उपसर्ग उनपर सटीक रहा और धीरे-धीरे वह 'डॉक्टर मुकर्जी' के नाम से जाने गए। सिर्फ बंगाल में ही उन्हें 'श्यामाप्रसाद' से जाना जाता था और कभी-कभार सम्मानजनक प्रत्यय 'बाबू' जोड़कर 'श्यामाप्रसाद बाबू', 'श्यामा बाबू' कहा जाता था। परंतु इस पुस्तक में उन्हें 'डॉ. मुकर्जी' ही कहा जाएगा।

डॉ. मुकर्जी के बाद कुलपति पद पर अजीजुल हक बैठे, जिनका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। वह जिला अदालत में एक वकील थे, जिनका शिक्षा से कोई सरोकार नहीं था।

लेकिन फजलुल हक के नेतृत्ववाली मुसलिम लीग-कृषक प्रजा पार्टी की सरकार में उन्हें शिक्षा मंत्री नियुक्त किया गया। वह बाद में बंगाल विधानसभा में स्पीकर भी बने। वर्ष 1930-34 के दौरान कुलपति बननेवाले डॉ. हसन सोहरावर्दी से उनकी तुलना यहाँ सटीक रहेगी। दोनों की नियुक्ति मुसलिम होने के कारण की गई थी। दोनों का ही शिक्षा से कोई लेना-देना नहीं था। लेकिन खुलेपन के कारण सोहरावर्दी की सोच कुछ व्यापक थी और वह उन मुद्दों को श्यामाप्रसाद पर छोड़ देते थे, जिनके बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं होती थी। नतीजतन यूनिवर्सिटी का कामकाज अच्छी तरह चला। श्यामाप्रसाद के कुलपति बनने पर सोहरावर्दी ने श्यामाप्रसाद की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अजीजुल उस तरह की शख्सियत नहीं थे, हालाँकि वह घोर कट्टरपंथी भी नहीं थे। यूनिवर्सिटी में उनकी असलियत सामने आ गई। न तो उनमें योग्यता थी और न ही कुछ ठोस करने की इच्छा थी। उन्हें तो मुसलिम लीग के एजेंडे की देखभाल करने के लिए नियुक्त किया गया था और उन्होंने वही करने की कोशिश की। डॉ. मुकर्जी ने 23 जनवरी, 1939 को अपनी डायरी में अंग्रेजी में लिखा था—''यह आश्चर्यजनक है कि वह काम और यूनिवर्सिटी की जरूरतों के प्रति कितने उदासीन हैं—सिर्फ मुसलिमों के सरोकार को छोड़कर!''

अजीजुल हक को कुलपति का प्रभार सौंपने के बाद भी डॉ. मुकर्जी सीनेट और सिंडिकेट के सबसे प्रभावशाली सदस्य थे। सन् 1947 तक वह पोस्ट ग्रेजुएट काउंसिल ऑफ आर्ट्स के सदस्य के रूप में यूनिवर्सिटी की सेवा करते रहे और उसके बाद नई दिल्ली चले गए।

डॉ. मुकर्जी के जीवन के उस चरण में अत्यंत राजनीतिक महत्त्व की दो ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनका उस दौर की चर्चा में उल्लेख करना अनिवार्य है। हालाँकि उन्होंने डॉ. मुकर्जी के अंदर के शिक्षाविद् को किसी भी तरह प्रभावित नहीं किया, लेकिन उनके जीवन और कार्य पर इसका गंभीर प्रभाव पड़ा, जब सन् 1939 में उन्होंने राजनीति में कदम रखा। पहली घटना थी—1932 का सांप्रदायिक अवार्ड और दूसरी घटना थी—ब्रिटिश भारत का नया संविधान, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट-1935। अत: उन दोनों घटनाओं के संदर्भ देने जरूरी हैं।

जब दो गोलमेज सम्मेलन के बाद सांप्रदायिक मुद्दे का संवैधानिक समाधान निकालने में भारतीय नेतृत्व नाक़ाम रहा तो तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैक्डोनॉल्ड ने 16 अगस्त, 1932 को समस्या के समाधान के लिए अपना फॉर्मूला घोषित किया। उन्होंने कहा कि वह न केवल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हैं, बल्कि भारतीयों के मित्र भी हैं। लिहाजा उस नाते अपने दोस्तों की समस्या सुलझाना चाहते हैं। अवार्ड के मुताबिक, भारतीय मुसलमानों को ही न केवल 'अलग मतदाता मंडल' का अधिकार दिया गया, बल्कि देश के तमाम अल्पसंख्यक समुदायों को भी यह अधिकार मिला। अवार्ड के तहत अछूतों को भी अल्पसंख्यक घोषित किया गया। इस प्रकार हिंदुओं के दलित-शोषित वर्ग को कुछ विशेष सीटें दी गईं, जो कि उन इलाकों में विशेष दलित वर्ग के मतदाताओं द्वारा भरी जाएँगी, जहाँ ऐसे वोटर रहते हैं। सांप्रदायिक अवार्ड के तहत मुसलिम अल्पसंख्यक इलाकों में कुछ संशोधनों के साथ अतिरिक्त प्रतिनिधित्व का सिद्धांत बनाए रखा गया। यह सिद्धांत बंगाल और असम में रहनेवाले यूरोपीय लोगों, पंजाब के सिखों और उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र, सिंध और उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र के हिंदुओं पर भी लागू होता था।

हालाँकि मुसलिम लीग ने अनिच्छा से उस अवार्ड को कबूल किया। नवंबर 1933 में

आयोजित अपने सालाना सत्र में ऑल इंडिया मुसलिम लीग ने एक प्रस्ताव पारित किया, जो इस तरह था—"हालाँकि यह फैसला मुसलमानों की माँगों को बहुत कम पूरा करता है, फिर भी मुसलिमों ने देश के हित में इसे मंजूर किया। उनकी तमाम माँगें कबूल कर ली जाएँगी, उस अधिकार को आरक्षित रखते हुए हमने फैसला कबूल किया है।" दूसरी तरफ, कांग्रेस ने एक अजीब नीति अपनाई, जिसके मायने थे कि वे अवार्ड को न तो स्वीकार और न ही खारिज करते हैं। एक राष्ट्रीय पार्टी के द्वारा ऐसा करने से बाद में कांग्रेस को अंतहीन मुसीबतें झेलनी पड़ीं। एक पूर्व कम्युनिस्ट टिप्पणीकार ने उस अवार्ड को 'भारत को तोड़ने-फोड़ने का निबंध' करार दिया था। वास्तव में वह ऐसा ही था।

डॉ. मुकर्जी के राजनीतिक जीवन में उस अवार्ड के जिस पहलू ने उन्हें प्रभावित किया, वह मुसलिमों के 'अलग मतदाता मंडल' का मुद्दा नहीं था। दरअसल उन यूरोपीयों को असमान प्रतिनिधित्व दिया गया था, जो देश से निकाले गए ब्रिटिश थे। भारत में किसी भी समय उनकी कुल संख्या 10,000 से अधिक कभी नहीं रही। बंगाल में संभवत: वे 2,000 से भी कम थे। हालाँकि यह संख्या भी बड़ी थी, क्योंकि उद्योगों की स्थापना, पटसन और चाय की खेती के कारण उस क्षेत्र में व्यापार की गतिविधियाँ थीं। फिर भी 242 सदस्यों की बंगाल विधानसभा में उनकी 25 सीटें आरक्षित थीं। अध्याय 5 और 6 में हम स्पष्ट करेंगे कि बंगाल के तत्कालीन गवर्नर जॉन आर्थर हरबर्ट ने उस क्षेत्र में इस समूह की सहायता के साथ क्या शरारत की थी।

सांप्रदायिक अवार्ड ने गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 के लिए रास्ता तैयार किया, जिसने मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के 'डायरची दौर' का उन्मूलन किया। यह ऐक्ट क्षेत्रों को ज्यादा स्वायत्तता देने और प्रशासन में भारतीयों की ज्यादा भागीदारी दिलानेवाला साबित हुआ। हालाँकि बंगाल के संदर्भ में यह अवार्ड 'हिंदुओं का राजनीतिक बधियाकरण' साबित हुआ, जो अंतत: डॉ. मुकर्जी को शिक्षा के क्षेत्र से राजनीति में लाया। आगामी अध्याय का विषय यही है।

□

4

राजनीति में प्रवेश

(1939-1941)

डॉ. मुकर्जी के राजनीतिक जीवन की शुरुआत छोटे स्तर पर हुई। उन्होंने सन् 1929 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी चुनाव क्षेत्र से कांग्रेस उम्मीदवार के रूप में बंगाल विधान परिषद् में प्रवेश किया। असल में वह कोई राजनीतिक प्रयास नहीं था, क्योंकि विधान परिषद् में जाने के पीछे उनका इरादा था कि विधायिका में यूनिवर्सिटी के हितों के पहरुए के तौर पर काम कर सकें। जब 1930 में कांग्रेस ने परिषदों के बहिष्कार का आह्वान किया तो डॉ. मुकर्जी ने एक अनुशासित राजनेता की तरह उसका पालन किया और विधान परिषद् की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। वह जानते थे कि वे जब भी चाहेंगे, विधान परिषद् में लौट सकते हैं। उन्होंने ऐसा ही किया भी और यूनिवर्सिटी चुनाव क्षेत्र से ही एक निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में पुन: निर्वाचित हुए।

डॉ. मुकर्जी का राजनीति में आगमन का मुख्य कारण वास्तव में बंगाल की मुसलिम लीग-कृषक प्रजा पार्टी की गठबंधन सरकार द्वारा अल्पसंख्यक बंगाली हिंदुओं के साथ किए जा रहे सांप्रदायिक व्यवहार में निहित था। वह नाम की गठबंधन सरकार थी, क्योंकि तमाम बड़े फैसले मुसलिम लीग ही लेती थी और कृषक प्रजा पार्टी (मुख्यमंत्री और हिंदू मंत्रियों समेत) उनका चुपचाप अनुसरण करती थी। हमेशा की तरह बंगाली हिंदुओं द्वारा समर्थित होने के बावजूद कांग्रेस ने उनके मुद्दों को इस डर के कारण नहीं उठाया कि कहीं वह मुसलिम वोटों से हाथ न धो बैठे। डॉ. मुकर्जी से विचार किया गया। वह तटस्थ खड़े रहकर परिस्थितियों को प्रतिदिन बिगड़ते हुए देखते नहीं रह सकते। आज जो लोग डॉ. मुकर्जी पर आरोप लगाते हैं कि उन्होंने 'सर्व समावेशी राजनीति' नहीं की, वास्तव में वे उस दौर की राजनीतिक हकीकत को ही नहीं जानते। इसलिए डॉ. मुकर्जी के जीवन के उस दौर का अध्ययन करने के लिए उस समय की राजनैतिक पारिस्थितियों पर विमर्श करना जरूरी है।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 को 1937 में लागू किया गया और उसी साल डॉ. मुकर्जी बंगाल विधानसभा के लिए एक बार फिर चुने गए। तब उन्हें क्षेत्रीय स्वायत्तता की कार्य-प्रणाली को निकट से देखने और उसका अध्ययन करने का अवसर मिला। चूँकि तब भी उनकी आत्मा शैक्षिक कार्यों में ही बसती थी, लिहाजा डॉ. मुकर्जी राजनीति के प्रति आकर्षित नहीं थे।

उन्होंने सोचा कि देश की सेवा करने का उनके लिए सबसे अच्छा रास्ता शिक्षा के जरिए ही होगा। फिर भी, उनके राजनीति में आने का मुख्य कारक रहा—गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 के बाद की राजनीतिक स्थितियाँ। बंगाल के अल्पसंख्यक हिंदू (करीब 47 फीसदी) पहले ही रेम्जे मैक्डोनॉल्ड सरकार के 'सांप्रदायिक अवार्ड, 1932' के नीचे कुचले जा चुके थे। राजनीतिक दृष्टि से हिंदुओं को नपुंसक बना दिया गया था। अवार्ड के प्रति कांग्रेस की प्रतिक्रिया अवचनबद्ध वाली थी—न तो अवार्ड का समर्थन किया और न ही उसे खारिज किया। यह देखना मुश्किल था कि भारत की सबसे प्रमुख पार्टी ब्रिटिश प्रधानमंत्री की एक महत्त्वपूर्ण घोषणा पर अपनी स्थिति का खुलासा करने से इनकार कर सकती थी। अंतत: वह कांग्रेस के लिए एक गंभीर गलती साबित हुई। 1935 के अधिनियम में बंगाल के बहुसंख्यक मुसलिम समुदाय को विशेष सुरक्षा देने के लिए 'बदले की भावना के साथ' एक अलग मतदाता समूह उपलब्ध कराया गया।

बहुत बाद में लिखी अपनी डायरी (1944) में डॉ. मुकर्जी ने हिंदू की व्यथा के कुछ चकाचौंध पैदा करनेवाले उदाहरणों को दर्ज किया था—''सेवाओं के संदर्भ में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का अनुपात, हिंदुओं की छवि को दूषित करना, हिंदुओं के संदर्भ में बेहतर योग्यता का दमन और शैक्षिक व अन्य तकनीकी सेवाओं में मुसलिमों को प्राथमिकता देने का व्यवहार; खासतौर से हिंदुओं को खतरे में डालने, सांप्रदायिक दंगों को बढ़ावा देने और हिंदू महिलाओं पर हमलों के मद्देनजर कानून पारित करना।''

कुछ ऐसी ही भावनाएँ नीरद सी. चौधरी ने भी अभिव्यक्त की थीं, जिन्होंने डॉ. मुकर्जी से अलग रास्ता अपनाया था। 'ऑटोबायोग्राफी ऑफ एन अननॉन इंडियन' और 'द कॉण्टिनेंट ऑफ सिरसे' सरीखी चर्चित पुस्तकों के लेखक ने आत्मकथा 'दाई हैंड, ग्रेट अनार्क' के दूसरे हिस्से में लिखा था—''मुझे राजनीतिक स्थिति के साथ आरंभ करने दें। पूरी तरह से ये लक्षण स्पष्ट थे कि गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 के द्वारा बंगाल पर जो संविधान थोपा गया, उसके अंतर्गत बंगाली हिंदुओं की राजनीतिक शक्ति को सीमित कर दिया गया।...सिर्फ मुसलमानों के लिए धर्मार्थ को छोड़कर, जो मुमकिन नहीं था। उन्हें स्थायी तौर पर संवैधानिक रूप से अल्पसंख्यक में तब्दील कर दिया गया, सत्ता में आने के लिए उनके पास पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं था, हालाँकि विधायक चुनने के लिए मताधिकार दिया गया था।'' उस समय नीरद सी. चौधरी क्षेत्रीय कांग्रेस अथवा नेताजी सुभाषचंद्र बोस के बड़े भाई शरतचंद्र बोस के सचिव थे। उन्हें राजनीतिक घटनाक्रम को करीब से देखने का मौका मिला था।

मुसलिम लीग-कृषक प्रजा पार्टी गठबंधन सत्ता में आया, जिसने मुसलमानों के संप्रदायीकरण का रास्ता तैयार किया। वह भी कांग्रेस की एक और 'हिमालयी गलती' थी। वर्ष 1937 के चुनावों के बाद कांग्रेस बंगाल में सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी थी; लेकिन अबुल काशिम फजलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी के सहयोग के बिना सरकार नहीं बन सकती थी। डॉ. मुकर्जी ने तब हक के बारे में लिखा था—''फजलुल हक प्यारा और भावुक व्यक्ति है; लेकिन सत्ता के लिए मर रहा है।'' हक के नजदीकी सियासी सहायक अबुल मंसूर अहमद ने अपने संस्मरणों में हक को 'स्टंट मास्टर' करार दिया था और टिप्पणी की थी कि वह अंग्रेजी और बँगला दोनों भाषाओं का धाराप्रवाह वक्ता था, लेकिन भाषणों में वह बेवकूफी भरी बातें भी बोल जाता था। नजीमुद्दीन

की मुसलिम लीग को समर्थन देने का अनिच्छुक होते हुए हक ने बंगाल में गठबंधन सरकार बनाने के लिए कांग्रेस से विनती की। लेकिन वह खुद मुख्यमंत्री बनना चाहता था। डॉ. मुकर्जी खेद जताते हुए कहते हैं—'यदि यह हो जाता तो बंगाल कभी भी लीग और ब्रिटिश साजिश के तले न जाता।' लेकिन कांग्रेस आलाकमान ने फजलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी के साथ गठबंधन सरकार बनाने की प्रादेशिक नेतृत्व को इजाजत न देकर गलती की। नतीजतन कृषक पार्टी को ना चाहते हुए भी मुसलिम लीग के साथ जाना पड़ा। वास्तव में यह राजनैतिक मूर्खता ही थी, क्योंकि कारण स्पष्ट नहीं थे। यह किसी सिद्धांत पर आधारित नहीं थी, क्योंकि पड़ोसी राज्य असम में साझा सरकार बनाने की कांग्रेस ने अनुमति दे दी थी। कांग्रेस का यह एकमात्र निर्णय लाखों बंगाली हिंदुओं की मुसीबतों का कारण कहा जा सकता है। विशेषकर पूर्वी बंगाल के लोगों के लिए, जिन्हें कुछ वर्षों के पश्चात् शरणार्थी बनना पड़ा। फजलुल हक को कुंठा के साथ टिप्पणी करनी पड़ी—"तुमने मुझे भेड़ियों के आगे फेंक दिया।"

हक और नजीमुद्दीन के बीच समझौता हुआ।...हक मुख्यमंत्री बने और नजीमुद्दीन को गृह मंत्रालय मिला। दलाली का काम हिंदू उद्योगपति नलिनी रंजन सरकार ने किया, जो वित्त मंत्री बने। बंगाल कांग्रेस के प्रमुख सदस्य नलिनी रंजन की बीमा और रीयल एस्टेट में बहुत दिलचस्पी थी। डॉ. मुकर्जी ने उन्हें 'सत्ता का चालाक दलाल और पाला बदलने के राजनीतिक खेल का मास्टर' कहा था। वह रंगीन तबीयत के आदमी थे और बाद में एक नजदीकी रिश्तेदार के साथ 'संपर्क' की कई कहानियों में उनका नाम आया। लेकिन कोई भी हिंदू मंत्री और न ही समझदार और उदार हक, सरकारी नीतियाँ बनाने तथा उन्हें लागू करने के लिए लीग के कट्टरपंथियों पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सके। प्रदेश में लीगवालों का धर्मांध और कट्टर जोश बेलगाम रहा। फजलुल हक को उस तरह नाचना पड़ा, जिस तरह लीग के चालाक नेता—सोहरावर्दी, शहाबुद्दीन और नजीमुद्दीन—उन्हें नचाना चाहते थे। हक को आवरण की तरह इस्तेमाल करते हुए लीग ने प्रभावी ढंग से और निष्ठुर होकर हिंदुओं को उनके अधिकारों से वंचित करने का अभियान जारी रखा। लीग नेताओं की सोच थी कि ऐसा करके ही वे इसलामी ढाँचा खड़ा कर सकते हैं।

विधायी और प्रशासनिक कदम भी सांप्रदायिक हक-लीग सरकार ने ऐसे उठाए, जो ज़ानबूझकर हिंदुओं के अधिकारों को कम करते थे। लीग-प्रजा गठबंधन सरकार ने विधानसभा के जरिए वे ही विधेयक या प्रस्ताव पारित कराए, जो हिंदू विशेषाधिकारों की कीमत पर मुसलमानों के विभिन्न हितों को प्रोत्साहित करते थे; लेकिन विपक्षी दल के रूप में कांग्रेस शक्तिहीन थी और सरकार के उस भीषण विधायी आक्रमण का विरोध नहीं कर सकती थी। सितंबर 1937 में सरकार ने बंगाली काश्तकारी (संशोधन) बिल पेश किया, जो काश्तकार से किराया वसूलने के जमींदारों के अधिकारों को गंभीर रूप से कम करता था। लॉर्ड कार्नवालिस के सन् 1800 के 'स्थायी समझौते', जिसे 'सूर्यास्त कानून' भी कहा गया, के तहत जमींदारों को अपनी जागीर के स्थायित्व की अनुमति थी; लेकिन एक शर्त थी कि एक तय तारीख को सूर्यास्त तक बकाया राजस्व कलेक्टर के दफ्तर में जमा करना होता था। ऐसा करने में नाकाम रहने पर उनकी जागीर की नीलामी करने का प्रावधान था। वह राजस्व जमींदार अपने मातहत काम करनेवाले काश्तकारों से इकट्ठा करते थे। चूँकि ज्यादातर जमींदार 'भद्रलोक' हिंदू थे और काश्तकार (रैयत) मुसलिम

थे, लिहाजा उस बिल को हिंदुओं के वर्चस्व को जानबूझकर एक चुनौती के रूप में देखा गया। उसके बाद सन् 1939 में कैबिनेट ने एक बिल पर चर्चा की, जिसके तहत कृषि उत्पादों के लिए सरकारी बाजार स्थापित किए जाएँ और जिन्हें मुसलिमों का जबरदस्त समर्थन हो, ताकि जमींदारी के स्थानीय बाजारों को तोड़ा जा सके। ऐसे बाजार ही जमींदारों के राजस्व के महत्त्वपूर्ण स्रोत थे। सरकार ने बंगाल खेतिहर कर्जदार कानून, 1935 को भी तुरंत प्रभाव से लागू करने के लिए कदम उठाए। 3,000 गाँवों में कर्ज भुगतान बोर्ड स्थापित किए गए। नतीजतन कर्जदारों, जो कि ज्यादातर मुसलिम थे, को अपने कर्ज के संदर्भ में बेईमानी करने को बढ़ावा मिला। कांग्रेस ने उन कानूनों और बिलों का विरोध करने में संकोच किया, जो साफतौर पर हिंदू-विरोधी और राष्ट्र-विरोधी थे। कांग्रेस सोचती रही कि कहीं ऐसा न हो कि उसे 'सांप्रदायिक' करार दे दिया जाए और उसका छोटा सा मुसलिम जनाधार भी समाप्त हो जाए। हालाँकि एक अत्यधिक हिंदू निर्वाचक मंडल का प्रतिनिधित्व करते हुए भी कांग्रेस हिंदू अधिकारों की हिफाजत करने का अपना दायित्व निभाने में नाकाम रही। नतीजतन हिंदुओं को बहुत मुसीबतों और अन्याय का सामना करना पड़ा। हिंदू मंदिरों को प्रदूषित करना और देवी-देवताओं की मूर्तियों को अपवित्र करना, हिंदू महिलाओं पर हमले और सांप्रदायिक दंगों को बढ़ावा देना आदि सामाजिक व धार्मिक जगहों पर ऐसी मुसीबतों के कुछ उदाहरण हैं। हिंदुओं की छवि को दूषित करने के लिए तरह-तरह के मामले विभिन्न जगहों से रिपोर्ट किए गए। खासकर वर्ष 1936-37 और 1939 में पबना जिले के सिराजगंज उपमंडल से ऐसे केस दर्ज किए गए। भारत सरकार को भेजी गई बंगाल सरकार की एक अधिकृत रपट 'वर्ष 1938 के दौरान प्रेसीडेंसी ऑफ बंगाल की राजनीतिक घटनाएँ' में स्पष्ट है कि वे हमले, रोषपूर्ण आघात मुसलिम लीग के नेताओं द्वारा बड़े जन-समूहों को दिए गए लापरवाह और गैर-जिम्मेदाराना भाषणों के नतीजे थे। वे सांप्रदायिकता के नाम पर कांग्रेस और हिंदुओं के विरोध को उकसाते थे और हिंसा को भड़काते थे। दफ्तरी भाषा में 'लापरवाह और गैर-जिम्मेदाराना' का अर्थ कुछ और नहीं, 'उग्र और कट्टर सांप्रदायिक' है।

हक की सांप्रदायिक सरकार ने अन्य तरीकों से भी हिंदुओं को आहत किया था। सरकारी सेवाओं में रोजगार के लिए मेरिट और योग्यता को नजरअंदाज किया गया। सांप्रदायिक ऑफर पर पक्षपात के माध्यम से हिंदुओं के लिए सरकारी नौकरी के दरवाजे बंद कर दिए गए थे। ऐसी दुष्टता और बदमाशी, जिसका लक्ष्य हिंदू हितों की काट-छाँट करना था। बंगाल के विभिन्न हिस्सों में, हिंदू औरतों के सम्मान और हिंदू प्रतीकों के धर्म पर आक्रामक हमलों के असंख्य मामले इन बातों के साक्षी थे। स्थानीय प्रशासन के ऊपर दवाब बनाकर उनके अधिकारों को सीमित कर दिया जाता था, परिणामस्वरूप वे हिंदुओं को कोई भी सुरक्षा देने में नाकाम रहते थे। सन् 1938 में फजलुल हक सरकार ने पुलिस भरती के नियमों को बदल दिया, ताकि बंगाली कांस्टेबलों की सूची तैयार करते हुए पुलिस अधीक्षक (एस.पी.) को यह ध्यान रहे कि भरती होनेवालों में मुसलिम 50 फीसदी से कम न हों। उसी साल वायसराय मायो और लेफ्टिनेंट गवर्नरों फुलर एवं हारे की मुसलमानों को प्राथमिकता देनेवाली रोजगार नीति को लागू करते हुए हक सरकार ने यह बिल पारित किया कि 60 फीसदी सरकारी नियुक्तियाँ मुसलिमों के लिए आरक्षित होंगी। बर्द्धमान के महाराजा के नेतृत्व में डॉ. मुकर्जी समेत कुछ हिंदू नेताओं ने, जो तब तक किसी राजनीतिक दल के प्रतिनिधि नहीं थे,

तत्कालीन कार्यवाहक गवर्नर सर जॉन रीड से मुलाकात की और सरकारी सेवाओं में उस सांप्रदायिक अनुपात का मुद्दा उठाया। उनका अनुरोध वायसराय और सेक्रेटरी ऑफ स्टेट तक पहुँचाया गया; लेकिन एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में उनका बचाव नहीं किया गया। उनकी बिल की व्याख्या को दरकिनार कर दिया गया। अगले साल सरकार ने तय किया कि सीधी भर्तियों के तमाम मामलों में मुसलिमों के लिए आरक्षण 50 फीसदी होगा। पदोन्नति के मामलों में आरक्षण अतिरिक्त होगा और प्रत्यक्ष भर्तियों में वह 50 फीसदी से अधिक होगा। सन् 1940 में 'सांप्रदायिक अनुपात अधिकारी' के तौर पर एक विशेष अधिकारी को इस फैसले को लागू करने के लिए नियुक्त किया गया। प्रदेश से और यहाँ तक कि राज्य से बाहर के मुसलिमों की भरती की नीति लागू की गई, ताकि 50 फीसदी मुसलिम कोटा भरा जा सके। यह नीति तब लागू करना तय की गई, जब न्यूनतम योग्यतावाले बंगाली मुसलिम उपलब्ध न हों। यह नीति क्लर्क से लेकर कार्यकारी, न्यायिक और शिक्षक के पदों के लिए लागू की गई। सांप्रदायिक आधार पर सरकारी नौकरियों में भरती के विषैले प्रभाव साफ दिखाई दिए, क्योंकि कम योग्यतावाले मुसलमानों को खपाने के लिए योग्य हिंदुओं को पूरी तरह दरकिनार कर दिया गया। वर्ष 1939 में सरकार ने स्थानीय निकायों को कहा कि उन व्यक्तियों की नियुक्ति का प्रस्ताव राज्य सरकार के पास न भेजें, जो सरकार की नीति के सक्रिय विरोधी माने जाते हैं। इस प्रकार स्थानीय बोर्डों की नामांकित सीटों को सरकारी समर्थकों से भरा गया, जिसके कारण स्थानीय निकायों में मुसलिम सदस्यों की संख्या तेजी से बढ़ी और इनका नियंत्रण हिंदुओं के हाथों से बाहर चला गया।

चूँकि स्थानीय निकायों पर नियंत्रण के लिए होड़ लग गई थी, लिहाजा हिंदू व मुसलिमों के बीच तनाव अधिक उग्र और तीखा हो गया था। मुसलिम लीग सरकार ने ढाका यूनिवर्सिटी को अपने नियंत्रण में ले लिया, जो कि मुसलमानों में उच्च शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए स्थापित की गई थी। वर्ष 1938 में बंगाल विधानसभा के स्पीकर अजीजुल हक को उस कलकत्ता यूनिवर्सिटी का कुलपति नियुक्त किया गया, जहाँ हिंदू मजबूती से काबिज थे। हालाँकि मुसलिम लीग स्कूल से यूनिवर्सिटी तक समूची शिक्षा व्यवस्था को अपने नियंत्रण में लाना चाहती थी, लेकिन शैक्षिक संस्थानों पर अपना नियंत्रण खोना उन 'भद्रलोक हिंदुओं' के लिए भी असहनीय था, जो बंगाल की बौद्धिक और सांस्कृतिक विरासत, 19वीं शताब्दी के बंगाल नवजागरण समेत, के लिए व्यापक जिम्मेदार माने जाते थे।

डॉ. मुकर्जी ने सन् 1944 में मधुपुर में लिखी डायरी में दर्ज किया था कि 1939 का वर्ष सांप्रदायिक हक सरकार के हाथों हिंदू दमन का वर्ष रहा। हिंदुओं के वैध अधिकारों को कुचलने की सुनियोजित गतिविधियाँ लगातार जारी रहीं। ''कांग्रेस ने असहाय बनाकर हिंदुओं के हितों के साथ धोखा किया। पार्टी की स्थिति अत्यधिक निराशाजनक और दिशाहीनता की हो गई। विधान सभा में दो काले विधेयक आए—कलकत्ता नगरपालिका बिल और सेकेंडरी शिक्षा स्कूल। विनायक दामोदर सावरकर का मार्च 1939 में 'हिंदू महासभा' की नई विचारधारा के साथ बंगाल में आना और विधानसभा में कलकत्ता नगरपालिका बिल का पेश किया जाना—दोनों घटनाएँ एक साथ हुईं। उस बिल में मुसलिमों के अलग मतदाता समूह और सीटें बढ़ाने का प्रावधान था तथा चालाकी से हिंदुओं का प्रतिनिधित्व कम करके कलकत्ता कॉर्पोरेशन पर मुसलिम लीग का नियंत्रण

थोपने के मंसूबे थे। कलकत्ता में हिंदुओं की आबादी, मतदान की ताकत के कारण पहले ही निर्वाचक मंडल में उनका वर्चस्व था। लीग कॉर्पोरेशन में उन्हें एक स्थायी अल्पसंख्यक बना देना चाहती थी। मोटे तौर पर कलकत्ता की आबादी में 70 फीसदी हिंदू थे, लेकिन बिल के जरिए सरकार उनका प्रतिनिधित्व करीब 46 फीसदी तक घटाना चाहती थी। इतना ही नहीं, हिंदू सीटों को हिंदुओं और अनुसूचित जातियों के बीच बाँट दिया था। 'कलकत्ता म्यूनिसिपल गजट' के एक संपादकीय में कहा गया—''राष्ट्र को संप्रदायवाद का विषैला घूँट पीना पड़ा है⋯।'' विधानसभा में बहस के दौरान डॉ. मुकर्जी ने दलील दी—''इस बिल को बाहर फेंक दिया जाए, यह हक सरकार की सांप्रदायिक नीतियों की पराकाष्ठा है। गत दो वर्षों से बंगाल के हिंदुओं को निष्ठुरता से बाँटा, कमजोर किया और कुचला जा रहा है। हिंदू तो भारत की प्रगति और आजादी की लड़ाई के मुख्य योद्धा और पथ-प्रदर्शक रहे हैं।''

जैसी आशंका थी, कैबिनेट में हिंदू मंत्रियों—नलिनी रंजन सरकार और सर बिजॉयप्रसाद सिंह राय—ने डॉ. मुकर्जी और अन्यों के दबाव के बावजूद विधानसभा में बिल की आलोचना एवं विरोध करने से इनकार कर दिया। सरकार से सिर्फ यह कहने को सहमत हुए कि हिंदुओं को तीन और सीटें दी जाएँ। उनका सुझाव था कि इससे हिंदुओं में असंतोष कम हो सकता है। राष्ट्रवादी अखबार 'एडवांस' ने सरकार के बारे में लिखा था—''वह एक विशिष्ट प्रकार की बौद्धिकता थी, जो अंत:करण की आवाज में भी समझौता करने को तैयार रहती थी। उनका जो भी लक्ष्य होता था, उस कठिन परिस्थिति में भी ढलने की खासियत उनमें थी।''

सन् 1940 में जब हक सरकार ने सेकेंडरी शिक्षा बिल पेश किया और हिंदुओं के नियंत्रण वाली कलकत्ता यूनिवर्सिटी से सेकेंडरी शिक्षा का नियंत्रण अपने हाथ में लेने का उस बिल में प्रावधान किया तथा उसे एक ऐसे नामांकित सेकेंडरी शिक्षा बोर्ड को देने की व्यवस्था की, जिसमें मुसलिमों का ज्यादा प्रतिनिधित्व था। राजनीतिक पक्ष से अलग उस प्रस्ताव के यूनिवर्सिटी के लिए गंभीर वित्तीय परिणाम थे। यूनिवर्सिटी के लिए मैट्रिक परीक्षा की फीस राजस्व का महत्त्वपूर्ण स्रोत थी और उससे वंचित होने का मतलब था कि यूनिवर्सिटी के कई कार्यों को कम करना।

डॉ. मुकर्जी को इन बिलों के कारण अपने शैक्षिक एकांतवास से बाहर आना पड़ा, यह कहा जा सकता है। बिल इस प्रकार से तैयार किए गए थे कि उच्च शिक्षा और नगरपालिका-राजनीति पर हड़पने की हद तक, मुसलमानों का नियंत्रण हो जाए। डॉ. मुकर्जी के अपने शब्दों में, ''उच्च शिक्षा को पार्टी हितों और सांप्रदायिक राजनीति के खेलने की चीज बना दिया गया।'' उन्होंने महसूस किया कि एक शिक्षाविद् के तौर पर वह अपना दायित्व एवं सक्रिय राजनीति, दोनों का संतुलन नहीं बना सकेंगे। कुलपति पद से सेवानिवृत्त होने के बाद वह राजनीति में प्रवेश करने के लिए मुक्त थे। राजनीति की माँग थी कि किसी ऐसी सक्रिय राजनीतिक पार्टी से जुड़ा जाए, जिसके माध्य से वह विधानसभा के बाहर जनमत का निर्माण कर सकें। समाज में सहानुभूति और समर्थन तो कांग्रेस के साथ ही था वह पार्टी देश का सबसे ताकतवर राजनीतिक संगठन था। कांग्रेस के साथ डॉ. मुकर्जी तब से जुड़े हुए थे, जब उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था और अधिकारी हिंदुओं का समर्थन अब भी उन्हें प्राप्त था। लेकिन कांग्रेस की नीतियों से उनका पूरी तरह मोहभंग हो चुका था। कांग्रेस ने महत्त्वपूर्ण राष्ट्र-हितों की कीमत पर भी मुसलिम लीग से समझौते की नीति अपना रखी

थी। कांग्रेस ने हिंदू हितों के साथ खुलेआम धोखा किया था।

उसी दौरान डॉ. मुकर्जी और उस मुद्दे के संदर्भ में बंगाल के लोगों ने एक अच्छा दोस्त और शुभचिंतक खो दिया। बंगाल के सज्जन गवर्नर लॉर्ड ब्रेबोर्न का फरवरी 1939 में असामयिक निधन हो गया। लॉर्ड ब्रेबोर्न, जो पाँचवें बैरन ब्रेबोर्न थे, को वर्ष 1937 में गवर्नर नियुक्त किया गया था। सर जॉन एंडरसन के निरंकुश शासन के बाद ब्रेबोर्न की नियुक्ति हुई। यूनिवर्सिटी के प्रबंधन के दौरान आपसी सम्मान के स्तर पर उन दोनों की दोस्ती बढ़ी। उसी के चलते उनके मरने के बाद बेहद भावुक भाषण दिया विधानसभा में।

लॉर्ड ब्रेबोर्न के उत्तराधिकारी के तौर पर ब्रिटिश सरकार ने सर जॉन आर्थर हरबर्ट को चुना। हालाँकि बीच में थोड़े वक्त के लिए सर जॉन रीड ने कार्यवाहक गवर्नर का काम किया। शरत और सुभाषचंद्र बोस के जीवनीकार लियोनार्ड ए. गोर्डन ने हरबर्ट और उनकी नियुक्ति का वर्णन इस तरह किया—''बंगाल के गवर्नर लॉर्ड ब्रेबोर्न की 23 फरवरी, 1939 को अकस्मात् और अप्रत्याशित मृत्यु के बाद ब्रिटिश सरकार ने सर जॉन हरबर्ट को चुना। 44 वर्षीय नए गवर्नर वेल्स के कंजरवेटिव सांसद और सज्जन पृष्ठभूमि के थे। उनका विवाह लेडी मेरी फॉक्स स्ट्रैंजवेज से हुआ था, जो इर्ल ऑफ इल्चेस्टर की बेटी थीं। भारत के वायसराय रहे जेटलैंड के मार्क्विस, भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट और बंगाल के पूर्व गवर्नर लॉर्ड हेलीफैक्स के साथ बात करने के बाद हरबर्ट सितंबर 1939 में भारत पहुँचे। कई आई.सी.एस. अधिकारियों के अनुसार, जिन्होंने उनके मातहत काम किया और उनमें एक उनके निजी सचिव रहे, अधिकारी ने कहा, ''हरबर्ट में उस पद के लिए आवश्यक योग्यता नहीं थी।''

सन् 1939 के मध्य में यह साफ हो गया था कि कांग्रेस बंगाल में हिंदुओं के मुद्दों को नहीं उठाएगी। हक-लीग सरकार के दमन के बावजूद कांग्रेस ने विरोध नहीं किया था। डॉ. मुकर्जी ने सुभाष और शरत बोस के साथ बंगाल के राजनीतिक हालात पर लंबी चर्चा की और उनसे अनुरोध किया कि वे हिंदुओं के मुद्दे उठाएँ। वे सांप्रदायिक आधार पर ऐसा न करें, अपितु दमन और अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए ऐसा करें। यदि बोस बंधु मान लेते तो डॉ. मुकर्जी को अलग राजनीतिक पार्टी बनाने की जरूरत नहीं होती। लेकिन बोस बंधु ऐसा करने के अनिच्छुक थे। पहली वजह यह थी कि वे समझते थे कि ऐसा करने से मुसलिम और भड़केंगे। दूसरा कारण था कि उनकी छवि गैर-सांप्रदायिक की थी। यदि वे हिंदू सरोकारों का समर्थन करते तो उससे उनकी वह छवि नष्ट हो सकती थी।

बहुत दुःख की बात है कि आज संपूर्ण भारत में (संभवतः पश्चिम बंगाल से ज्यादा कहीं भी नहीं) 'धर्मनिरपेक्ष छवि' और 'गैर-सांप्रदायिकता' की सनक सवार है। राजनेताओं पर किसी के बेटे को एक अदद क्लर्क से उद्योगपति और बहुलखपति बनाने के आरोप लगते हैं। पशुओं के चारे में भी घोटाला करके अरबों रुपए डकारे जाते हैं और फिर भी ऐसे नेता धर्मनिरपेक्षता व संप्रदायवाद के विरोधी होने के दावे करते हैं। धर्मनिरपेक्षवाद बुनियादी तौर पर 'वाम-नेहरूवादी सोच' की उपज है, जिसने खुद को एक नारे में ढाल लिया है—'एक मुसलिम गलती नहीं कर सकता।' लिहाजा सन् 1937-40 और 1942-47 के दौरान बंगाल की मुसलिम लीग सरकार की सांप्रदायिक गतिविधियों और पहले के पूर्वी पाकिस्तान में वर्ष 1950, 1964 और 1971 के हिंदू-

विरोधी नरसंहारों और बँगलादेश में वर्ष 1992 और 2001 के हिंदू-विरोधी कत्लेआमों का आज के पश्चिम बंगाल के इतिहास की पुस्तकों में कोई उल्लेख नहीं है।

उसी दौरान जबलपुर के पास त्रिपुरी में सन् 1939 का कांग्रेस अधिवेशन हुआ। सुभाषचंद्र बोस, गांधीजी के उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया को हराकर दोबारा पार्टी के अध्यक्ष चुने गए। लेकिन सुभाष कांग्रेस को अपने साथ ले चलने में नाकाम रहे। गांधी की राजनीति और कांग्रेस की दाम-वाम एकता के संदर्भ में सुभाष को यह नाकामी झेलनी पड़ी। गांधीजी ने बताया— ''पट्टाभि की हार मेरी अपनी हार है।'' और सुभाष के लिए उन्होंने कहा, ''हमें अलग-अलग नावों में चलना होगा।'' यहाँ तक कि जवाहरलाल नेहरू, जिन्हें सुभाष वामपंथी मानते थे, ने भी उन्हें छोड़ दिया और गांधीजी से मिल गए। सुभाषचंद्र बोस ने गांधीजी के विरोध को शांत कराने की कोशिश की और कांग्रेस कार्यसमिति के 15 में से 13 सदस्यों ने इस आधार पर इस्तीफे दे दिए कि बोस की सार्वजनिक आलोचना उन सबकी है। कांग्रेस सत्र (8-12 मार्च) में गांधीवादी नेताओं ने पुरानी कार्यसमिति और गांधीजी की नीतियों में ही विश्वास जताया और बोस को कहा कि गांधीजी की इच्छाओं के मुताबिक वह अपनी नई कार्यकारिणी नामांकित कर लें। सुभाष नई कार्यसमिति गठित करने में नाकाम रहे। अंतत: उनके पास 29 अप्रैल को कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में इस्तीफा देने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। कट्टर गांधीवादी और वामपंथी राजेंद्र प्रसाद को उनका उत्तराधिकारी चुना गया।

इस तरह अध्यक्ष पद छोड़ने के बाद सुभाष ने गांधी को चुनौती दी और कांग्रेस के अंदर ही अपनी विरोधी पार्टी 'फॉरवर्ड ब्लॉक' की शुरुआत की। उन्होंने उसी बैनर तले वामपंथियों को एकजुट करने के लिए देश का दौरा किया। जिन वामपंथियों के समर्थन से सुभाष कांग्रेस अध्यक्ष चुने गए थे, उनमें समाजवादी, कम्युनिस्ट, अतिवादी मानववादी (एम.एन. राय के अनुगामी), किसान सभावादी (स्वामी सहजानंद सरस्वती और प्रोफेसर एन.जी. रंगा के अनुगामी) आदि शामिल थे। वे एक ही छतरी के तले आने को तैयार नहीं थे। सुभाष ने 'लेफ्ट कंसोलिडेशन कमेटी' के जरिए इन समूहों को इकट्ठा करने की कोशिश की, लेकिन वह भी कारगर नहीं रही।

डॉ. मुकर्जी कांग्रेस के भीतर के इस संघर्ष को दूर से ही देख रहे थे। वह जानते थे कि बंगाल में न तो फॉरवर्ड ब्लॉक और न ही 'खादी समूह' प्रदेश के हिंदुओं की मदद के लिए आवाज उठाएँगे। लिहाजा उन्होंने बंगाल में एक ऐसे संगठन की जरूरत महसूस की, जो उनके प्रयासों को समर्थन दे सके और एक गाइड सरीखा काम करे। मराठी स्वतंत्रता सेनानी और लोकमान्य तिलक के करीबी विनायक दामोदर सावरकर में उन्होंने ऐसी खूबियों को महसूस किया। वह बंबई की कांग्रेस सरकार द्वारा रत्नागिरि में नजरबंदी शिविर से उसी दौरान मुक्त हुए ही थे और बंगाल में हिंदू महासभा के आंदोलन को पुनर्गठित करने के लिए कलकत्ता आए थे। हिंदू महासभा एक सामाजिक-राजनीतिक संगठन था, जो हिंदुओं के कल्याण और विकास को समर्पित था। वह मुख्यत: महाराष्ट्र में ही केंद्रित था। हिंदुओं के कल्याण को समर्पित दूसरा अखिल भारतीय संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (रा.स्व. संघ) था, डॉ. मुकर्जी जिसके अंतरंग संपर्क में काफी बाद में आए। रा.स्व. संघ की स्थापना भी एक और मराठी डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने वर्ष 1925 में की थी और हिंदू महासभा से उनका कोई सीधा संबंध नहीं था। रा.स्व.

संघ समाजोत्थान के लिए काम करता था।

मुसलिम लीग के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाने के कारण कांग्रेस राष्ट्रवाद की श्रेष्ठ भावना से गिर चुकी थी। लिहाजा वीर सावरकर ने कुछ ही महीनों में हिंदू महासभा में नई जान फूँकते हुए उसे राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं भावनाओं का ऐसा मंच बना दिया, जो हिंदुत्व, राष्ट्रभक्ति और प्राचीन संस्कृति के श्रेष्ठ आदर्शों पर आधारित था। दिसंबर 1938 में नागपुर में आयोजित अखिल भारतीय हिंदू महासभा के 20वें सत्र में अपने अध्यक्षीय संबोधन में सावरकर ने हिंदू समाज का आह्वान किया कि वे कांग्रेस का बहिष्कार करें। न तो कांग्रेस को एक भी दमड़ी दें और न ही कांग्रेस को वोट दें और उस हिंदू-राष्ट्रवादी को ही वोट देना सुनिश्चित करें, जो कांग्रेस की हिंदू विरोधी नीति का जवाब दे सकें और कांग्रेस के 'असहनीय दोगलेपन' का इलाज कर सकें। मार्च 1939 में खुद सावरकर ने महासभा के जाति एकत्रीकरण कार्यक्रम को बंगाल में औपचारिक तौर पर पुनः शुरू किया। उसके जरिए जातीय एकता को पार्टी कितना महत्त्व देती है, यह स्पष्ट किया गया। इतना ही नहीं, वह बंगाल में एक सचेत हिंदू राजनीतिक समुदाय पैदा करने के व्यापक अभियान का एक हिस्सा भी था।

उसी दौरान एक और महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व, एक तेज-तर्रार हिंदू भिक्षुक, ने बंगाल की राजनीति में प्रवेश किया और काफी हद तक वह ही डॉ. मुकर्जी को सामूहिक राजनीति में लाने में सहायक साबित हुए। वह महापुरुष थे—स्वामी प्रणवानंद। पूर्वी बंगाल में फरीदपुर जिले के बजितपुर गाँव के रहनेवाले स्वामीजी को पहले 'विनोद साधू' के नाम से जाना जाता था। उन्होंने 'भारत सेवाश्रम संघ' (भारत के बाहर 'प्रणव मठ' के नाम से विख्यात) की स्थापना की। यह संगठन पश्चिम बंगाल में स्थित दो सबसे बड़े अन्य हिंदूवादी संगठनों—स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित रामकृष्ण मठ और मिशन, जो पूरी तरह राजनीति से दूर थे, के विपरीत 'भारत सेवाश्रम संघ' और उसके संस्थापक हमेशा हिंदू एकत्रीकरण और सशक्तीकरण में सक्रिय रहे। इसके लिए स्वामी प्रणवानंद ने पूरे बंगाल, खासतौर पर मुसलिम बहुल पूर्वी बंगाल में 'हिंदू मिलन मंदिर' स्थापना का कार्यक्रम शुरू किया। वे हिंदुओं, चाहे किसी भी जाति के हों, को एकत्र करने के मंच के रूप में इस्तेमाल किए गए। यह गौरतलब है कि उसी दौरान रा.स्व. संघ, हालाँकि गैर-राजनीतिक संगठन था, भी डॉ. हेडगेवार और बाद में गुरुजी गोलवलकर के नेतृत्व में भारत में यही काम कर रहा था।

दिसंबर 1939 में कलकत्ता के देशबंधु पार्क में एक विशाल हिंदू सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसकी अध्यक्षता डॉ. मुकर्जी ने की। इसमें स्वामी प्रणवानंद ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वे प्रमुख बंगाली हिंदू नेता और अन्य विशिष्ट लोग भी सम्मेलन में मौजूद थे, जो हिंदुओं पर ज्यादतियों और हक-मुसलिम लीग सरकार की हिंदू-विरोधी एवं सांप्रदायिक नीतियों के खिलाफ सक्रिय रहे थे। उनमें शामिल थे—सर मन्मथनाथ मुकर्जी, कलकत्ता उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त जज एवं वायसराय की कार्यकारी परिषद् में सदस्य, कानून; सर नीलरतन सरकार, एक प्रख्यात डॉक्टर; सर यू.एन. ब्रह्मचारी, मेडिकल शोधार्थी, जिन्होंने यूरिया स्टिबैमिन, जो कालाजार जैसे घातक रोग का पहला इलाज था; बिजॉय चंद्रा (बी.सी.) चटर्जी, एक बैरिस्टर; हीरेंद्र नाथ दत्ता, एक दार्शनिक; दिनेश चंद्र सेन, एक सम्मानित साहित्यिक शख्सियत; हेमेंद्रप्रसाद

घोष, एक पत्रकार एवं आलोचक; कुमार प्रमथनाथ राय, एक जमींदार एवं परोपकारी; रामानंद चटर्जी, बंगाली साहित्यिक पत्रिका 'प्रवासी' के संपादक; एस.एन. बनर्जी, मृणाल कांति घोष, जतींद्रनाथ राय चौधरी, सनत कुमार रायचौधरी, निशीथ चंद्र सेन और कई अन्य। गैर-हाजिर रहनेवाले प्रमुख नेताओं में बोस बंधु थे और हक-मुसलिम लीग सरकार के मंत्री नलिनी रंजन सरकार तथा सर बिजॉयप्रसाद सिंह राय। यह अपनी तरह का पहला सम्मेलन था, जिसमें बंगाली हिंदुओं ने, जो तब तक कथित 'धर्मनिरपेक्ष' कांग्रेस नेतृत्व में सक्रिय थे, उन खतरों की ओर जनता का ध्यान दिलाया, जो हिंदू समुदाय आक्रामक मुसलिम संप्रदायवाद से झेल रहा था।

वीर सावरकर अगस्त/सितंबर 1939 में फिर बंगाल आए और डॉ. मुकर्जी को उनके निकट संपर्क में लाया गया। डॉ. मुकर्जी ने सितंबर 1939 में बंगाल के विभिन्न भागों का दौरा किया। वह बंगाली हिंदुओं की असहाय अवस्था देखकर बहुत क्षुब्ध हुए, जिन्हें कांग्रेस जाग्रत् करने और बचाने में नाकाम रही थी। पूर्वी बंगाल का दौरा करते हुए उन्होंने महसूस किया कि हिंदुओं की स्थिति कितनी निराशाजनक हो गई है और किस तरह सांप्रदायिक आक्रामकता का विरोध करने की भावना मर रही है। इस तरह डॉ. मुकर्जी कुछ अन्य के साथ सावरकर के उस प्रभाव में आए, जो धीरे-धीरे जड़ पकड़ रहा था। निर्मल चंद्र चटर्जी, कलकत्ता उच्च न्यायालय के एक प्रख्यात बैरिस्टर और कलकत्ता में वीर सावरकर के मेजबान, ने डॉ. मुकर्जी समेत शहर के प्रमुख लोगों को उनसे मिलने के लिए आमंत्रित किया। प्रसंगवश निर्मल चटर्जी सी.पी.एम. के पूर्व नेता और पूर्व लोकसभा अध्यक्ष (2004-2009 के दौरान) सोमनाथ चटर्जी के पिता थे। भारतीय राजनीतिक हालात के सावरकर के विश्लेषण से डॉ. मुकर्जी अत्यंत प्रभावित हुए और लीग की राष्ट्र-विरोधी नीतियों तथा कांग्रेस की 'कायरतापूर्ण निष्क्रियता' पर निगरानी रखने के लिए उनके राष्ट्रवाद के संदेश ने भी उन्हें प्रभावित किया था। लिहाजा निर्मल चटर्जी ने हिंदू महासभा में शामिल होने के लिए डॉ. मुकर्जी से आग्रह किया। ऐसा आग्रह एस.एन. बनर्जी, आशुतोष लाहिड़ी और अन्य ने भी किया। इस प्रकार, तत्कालीन हालात डॉ. मुकर्जी को हिंदू महासभा की ओर ले आए, जिन्होंने भद्रलोक को चिंतित करनेवाले मुद्दों को उठाया। कई लोग तो इस हद तक निराश हो चुके थे कि बोस बंधुओं की कांग्रेस का कोई प्रभावी इलाज है या नहीं। डॉ. मुकर्जी के हिंदू महासभा में प्रवेश और उसके कार्यकारी अध्यक्ष के पद तक पहुँचने के साथ ही सक्रिय राजनीति की शुरुआत हुई।

गांधीजी ने राजनीति में उनके प्रवेश का स्वागत किया। गांधी डॉ. मुकर्जी के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित थे और उन्हें बताया था, ''मालवीयजी (पं. मदन मोहन मालवीय) के बाद हिंदुओं का नेतृत्व करने के लिए किसी की जरूरत थी।··· पटेल हिंदू सोच के साथ कांग्रेसी हैं और तुम हिंदू सभावादी होते हुए कांग्रेसी सोच के हो।'' डॉ. मुकर्जी ने व्यंग्य में कहा था, ''लेकिन आप मुझे सांप्रदायिक करार देंगे।'' गांधीजी का उत्तर था, ''शिव की तरह, जिन्होंने समुद्र-मंथन के बाद विषपान किया था, कोई तो ऐसा होना चाहिए, जो भारतीय राजनीति का विषपान कर सके। ऐसे व्यक्ति तुम हो सकते हो।'' वास्तव में गांधीजी ने उपरोक्त शब्दों में डॉ. मुकर्जी की योग्यताओं की प्रशंसा की। यह उनकी ही जिद थी कि नेहरू ने वर्ष 1947 में पहली भारतीय कैबिनेट में डॉ. मुकर्जी को उद्योग मंत्री के रूप में शामिल किया था।

उस समय बंगाल में दो हिंदू सभाएँ थीं। एक की निष्ठा अखिल भारतीय संगठन में थी और दूसरी बी.सी. चटर्जी के नेतृत्व में थी। सर मन्मथनाथ मुकर्जी, डॉ. मुकर्जी, एन.के. बसु (मेमन सिंह के महाराजा), एस.एन. बनर्जी, एन.सी. चटर्जी एवं कई अन्य आगे आए और विमर्श किया कि हिंदू उद्‌देश्य को कैसे मजबूत किया जाए। अंततः दोनों सभाओं के बीच एक समझौता हुआ और वे सर मन्मथनाथ मुकर्जी की अध्यक्षता में एकाकार हो गईं। बंगाल हिंदू महासभा के पुनर्गठन के कुछ देर बाद ही महासभा का 21वाँ अखिल भारतीय सत्र दिसंबर 1939 में कलकत्ता में आयोजित हुआ। सर मन्मथनाथ स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। बी.सी. चटर्जी महासचिव थे और डॉ. मुकर्जी ने उसमें प्रमुख भूमिका निभाई थी। महासभा के शुरुआती सम्मेलन के लिए ही समाज के संपन्न वर्ग ने एक बहुत बड़ी राशि 10,000 रुपए एकत्र किए। जुगल किशोर बिरला, जी.डी. बिरला के बड़े भाई, जिनके परिवार ने अतीत में कांग्रेस के कई महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए आर्थिक जिम्मेदारी ली थी, ने महासभा के लिए सबसे अधिक दान दिया। सुभाषचंद्र बोस की कांग्रेस के लिए चंदा इकट्‌ठा करने में मदद करनेवाली 'खेतान ऐंड कंपनी' ने भी उदारतापूर्वक दान दिया। वंशीधर जालान, बद्रीदास गोयनका और राधाकिशन कनोरिया भी दानियों की सूची में थे।

27 दिसंबर, 1939 को वीर सावरकर ने देशबंधु पार्क में भगवा झंडा फहराते हुए कलकत्ता में महासभा सम्मेलन आरंभ किया। नलिनी रंजन सरकार एक चालाक, लेकिन सिद्धांतहीन राजनेता थे, जिन्होंने हक-मुसलिम लीग गठबंधन की रचना की थी, उन्होंने दिसंबर 1939 में ही बंगाल सरकार से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने एक बार फिर अपने सामान्य व परस्पर विरोधी भावों को व्यक्त किया और दावा किया कि महासभा के नेता कुछ समय से उन्हें 'मनाने' की कोशिशें कर रहे थे। औपचारिक तौर पर महासभा के साथ खुद को न जोड़ते हुए भी सरकार ने एक दिन के लिए सम्मेलन में भाग लिया, मंच पर बैठे और अच्छा स्वागत कराया। कलकत्ता में ही स्थित वायसराय ने लंदन को सूचित किया, "हिंदू महासभा धीरे-धीरे उभर रही है और पर्याप्त शक्ति के साथ एक राजनीतिक बल बनने की ओर बढ़ रही है। उसने असामान्य रूप से एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया है, जिसमें अनेक प्रस्ताव पारित हुए हैं, जो काफी सांप्रदायिक और कांग्रेस के निंदापरक हैं। मैं हैरान नहीं हूँ, जैसाकि हालात लग रहे हैं, कि महासभा कांग्रेस को सशक्त चुनौती देने में सफल न हो जाए।"

इस स्थिति ने डॉ. मुकर्जी के कॅरियर में नए दायित्व की पूर्व सूचना भी दी। वह अपने 'शैक्षिक एकांतवास' से बाहर आए और एक सक्रिय राजनेता बन गए। हालाँकि उन्होंने अपना काफी समय यूनिवर्सिटी मामलों में देना भी जारी रखा।

डॉ. मुकर्जी को कुछ अड़चनें झेलनी पड़ीं, जब उन्होंने हिंदू महासभा की शुरुआत की। ब्रिटिश किसी भी तरह के राष्ट्रवादी हिंदू एकत्रीकरण को पसंद नहीं करते थे। उन्हें और उनके सहायकों को भी उन धर्मांध व कट्‌टर तत्त्वों का घोर विरोध झेलना पड़ा, जो मुसलिम लीग के बैनर तले धीरे-धीरे ताकत हासिल कर रहे थे। उन्हें हिंदू समुदाय के भीतर तीन तत्त्वों के विरोध का भी सामना करना पड़ा, जिनमें एक कांग्रेस भी थी। डॉ. मुकर्जी की डायरी में दर्ज है—"सुभाषचंद्र बोस ने एक बार मुझे दोस्ती की भावना के साथ ही चेतावनी दी थी कि यदि हम बंगाल में ही एक प्रतिस्पर्धी राजनीतिक संगठन पैदा करने की ओर बढ़ रहे हैं तो वह उसे देख

लेंगे। यदि जरूरत पड़ी तो जबरन उसे जन्म लेने से पहले ही तोड़ दिया जाएगा। इसे मैं अत्यंत गलत और अतार्किक रवैया मानता हूँ।'' दूसरा तत्त्व कम्युनिस्ट पार्टी थी, जिसने निर्लज्ज होकर मुसलिम लीग का समर्थन किया, लेकिन हिंदू महासभा को 'सांप्रदायिक और प्रतिक्रियावादी' बताया।

कम्युनिस्ट पार्टी के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतवादी और कुख्यात 'अधिकारी थीसिस' के लेखक गंगाधर अधिकारी ने घोषणा की थी, ''जिस इलाके में मुसलिम आस्था और सोच के लोग एक इकाई के तौर पर रहते हों तो वे एक राष्ट्रीयता को बनाते हैं। निश्चित तौर पर उन्हें एक स्वायत्त राज्य की स्थापना का अधिकार है।'' तीसरा तत्त्व अनुसूचित जातियों का एक तबका था, जिसने 'पूना समझौते' के जरिए विधानसभा में 30 सीटें हासिल कर ली थीं, लेकिन जो एक अलग, हिंदुओं से वैर रखनेवाले राजनीतिक अस्तित्व की माँग कर रहे थे। लड़ाकू स्वभाव के लोगों, जो जोश और उत्साह जाग्रत् करने लायक हों, के अभाव ने बंगाल के विभिन्न हिस्सों में हिंदू सभा को संगठित करने में उनकी मुश्किलें और बढ़ा दीं। यह कांग्रेस की स्थिति से उलट था, जिसने अपने लंबे काल में कई बहादुर और निस्स्वार्थ कार्यकर्ताओं की निष्ठा हासिल की थी। लेकिन हिंदू महासभा जानती थी कि उसने जो करने का प्रस्ताव रखा है, वह बंगाली हिंदुओं के बहुमत के दिलों के बेहद करीब है। वे जल्दी ही आगे बढ़ने में सक्षम होंगे। सभी ने महसूस किया था कि कुछ गलतियाँ भी की गई हैं, लेकिन पराजयवाद की भावना के कारण वे नहीं जानते थे कि क्या करें?

डॉ. मुकर्जी ने व्यापक रूप से बंगाल का दौरा किया और महासभा के पक्ष में सार्वजनिक अभिमत को आंदोलित करने के लिए बहुत कोशिशें कीं। महासभा की सोच थी कि हिंदू संगठित हों और अपने क्षुद्र मतभेदों को भुला दें। धीरे-धीरे हिंदुओं द्वारा महसूस की गई परेशानी और व्याकुलता भी दूर हो गई, क्योंकि वे खुद को हिंदू नहीं कह पाते थे, ताकि उन्हें सांप्रदायिक करार न दिया जाए। डॉ. मुकर्जी ने बंगाल हिंदू महासभा में उत्साह भरते हुए उसे एक गतिशील संगठन बना दिया। उसने हिंदू बुद्धिजीवियों को आकर्षित करना शुरू किया और बंगाल की राजनीति में उसे एक ताकत के रूप में देखा जाने लगा। डॉ. मुकर्जी की बोल्ड, लेकिन तार्किक आधार पर महासभा की विचारधारा को प्रस्तुत करने तथा कांग्रेस की तुष्टीकरण की नीति और हिंदुओं की कीमत पर मुसलिम लीग के साथ समझौता करने पर बोले गए तीखे हमले ने बंगाल और भारत में एक आंदोलन खड़ा कर दिया।

डॉ. मुकर्जी को वर्ष 1940 के शुरू में अखिल भारतीय हिंदू महासभा का कार्यकारी अध्यक्ष नियुक्त किया गया, क्योंकि वीर सावरकर का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। इस तरह भारत का दौरा करते हुए और विशाल सभाओं को संबोधित करते हुए डॉ. मुकर्जी को महासभा के आदर्शों को प्रस्तुत करने का एक बड़ा मंच मिला। बलराज मधोक, जो उस समय लाहौर में स्नातक की पढ़ाई कर रहे थे, ने वर्ष 1940 की सर्दियों में एक खचाखच भरे हॉल में डॉ. मुकर्जी का भाषण सुना। उन्होंने पूरी ताकत के साथ सिलसिलेवार और विश्वसनीय तरीके से महासभा के उद्देश्यों व आदर्शों को पेश किया और कांग्रेस के साथ मतभेदों का भी खुलासा किया। नतीजतन उन्होंने उपस्थित श्रोताओं को सोचने पर मजबूर कर दिया। लाहौर में अपने संक्षिप्त प्रवास के दौरान

उन्होंने रा.स्व. संघ की एक रैली को भी संबोधित किया और कहा, ''मैं देख रहा हूँ कि यह संगठन बादलों से घिरे भारतीय आकाश, यानी धुँधले माहौल में, चाँदी सरीखी चमकती एक रेखा, यानी उम्मीद की एक किरण की तरह है।'' यह रा.स्व. संघ की प्रशंसा थी, जो बाद के वर्षों में उन्हें खींचकर रा.स्व. संघ के करीब लाती रही। उनके तूफानी दौरे ने मानो देश को अपने काबू में कर लिया था। हर जगह यह महसूस किया गया कि भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर एक जाज्वल्यमान सितारे का उदय हो रहा है। उनकी शख्सियत ने महासभा को एक नया दर्जा व सम्मान दिया और धीरे-धीरे वह भी राष्ट्रीय शख्सियत के रूप में उभरे। उसके पीछे उनके राजनीतिक साहस, संगठनात्मक कौशल और भाषण-कला का योगदान था। एक इतिहासकार ने टिप्पणी की है—''बंगाल के हिंदुओं ने पहली और आखिरी बार अपना ऐसा प्रवक्ता पाया, जिसे राजनीतिक उपयुक्तता या निजी हितों की परवाह नहीं थी।'' वर्ष 1940 और 1941 में बंगाल विधानसभा के बाहर हिंदू महासभा ने आगे आनेवाले खतरों के प्रति जनता को पूरी तरह सचेत किया। वह प्रदर्शन डॉ. मुकर्जी के नेतृत्व में किया गया था और हिंदुओं को एकजुट करने का अभियान जारी था।

इसी दौरान, कांग्रेस में गांधी के खिलाफ सुभाषचंद्र बोस के विद्रोह ने पार्टी के अंदर के टकराव को उजागर किया। इससे प्रदेश में हिंदू महासभा को प्रमुखता मिलने में मदद मिली। सुभाष का दोबारा कांग्रेस अध्यक्ष चुना जाना और उसके तुरंत बाद उनके इस्तीफे ने बंगाल कांग्रेस को दो-फाड़ कर दिया। हालाँकि सुभाष की 'फॉरवर्ड ब्लॉक' पार्टी पूरे भारत में अपना ज्यादा प्रभाव नहीं डाल सकी। यह पार्टी बंगाल के दो भाइयों तक ही सीमित रही और प्रदेश में 'असल कांग्रेस' के तौर पर काम करती रही। दूसरा धड़ा 'खादी' था, जिसके नेता किरण शंकर राय थे। वह पूर्वी बंगाल के एक हिंदू जमींदार थे। लेकिन 'छाया कांग्रेस' और अधिकृत कांग्रेस दोनों ही पार्टियाँ खुले तौर पर हिंदुओं के उद्देश्यों के साथ खड़े होने में संकोच करती थीं।

सुभाषचंद्र बोस, जो एक महान् नेता थे, बंगाल में पहले से भी अधिक लोकप्रिय हो गए। एक क्षेत्रीय नायक बने, कांग्रेस द्वारा जिसके साथ बुरा बरताव किया गया। गांधी और उनके अनुगामी नेताओं की अनिच्छा के बावजूद सुभाष कांग्रेस अध्यक्ष बने, जिससे उनकी गरिमा और भी बढ़ गई। इससे भी वह लोकप्रिय हुए कि वह गांधी की 'उदार नीतियों' से लड़ रहे थे। हालाँकि गांधी ने उन्हें कांग्रेस से बाहर करना तय कर लिया था। 11 अगस्त, 1939 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बोस को बंगाल क्षेत्र कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद से हटा दिया और तीन साल तक उन्हें कांग्रेस के किसी भी पद को ग्रहण करने के अयोग्य घोषित कर दिया। बाद में पार्टी आलाकमान ने एक तदर्थ कार्यकारी समिति नियुक्त की, जो प्रदेश में सुभाषचंद्र बोस की पकड़ के कारण कोई ताकत या प्रतिष्ठा हासिल नहीं कर सकी। विधानसभा में भी अनुशासित कांग्रेस पार्टी अंततः दो समूहों में विभाजित हो गई—एक समूह शरतचंद्र बोस के नेतृत्व में, हालाँकि उन्होंने औपचारिक तौर पर कांग्रेस नहीं छोड़ी थी और फॉरवर्ड ब्लॉक में शामिल हो गए थे। दूसरा समूह किरण शंकर राय का था, जो अधिकृत कांग्रेस पार्टी का प्रतिनिधित्व करता था। जो विधायक सुभाष के वफादार थे, उन्होंने इस हद तक आलाकमान के आदेश की अवज्ञा की कि विधानसभा की सदस्यता से इस्तीफा देने से इनकार कर दिया और एक अलग विधायक दल

का गठन कर लिया। वर्ष 1940 के मध्य तक कांग्रेस नेतृत्व ने सुभाष के वफादारों की बंगाल कांग्रेस कमेटी से पीछा छुड़ाया और उसे एक 'सत्याग्रह कमेटी' में तब्दील कर दिया। बोस बंधुओं के ज्यादातर समर्थकों, जिन्होंने आलाकमान के खिलाफ उनके विद्रोह की प्रशंसा की थी, ने प्रदेश में 'समानांतर कांग्रेस' का गठन कर लिया और आलाकमान की अनुमति के बिना ही कार्य जारी रखा। डॉ. मुकर्जी की डायरी में लिखा है—''इन हालात में बंगाल हिंदू महासभा आगे बढ़ रही थी। हमारे दोनों ही धड़ों से मित्रतापूर्ण संबंध थे और एक संयुक्त मोरचा बनाए रखने की भी कोशिश की गई, जब भी उसकी जरूरत पड़े।''

हिंदू महासभा वर्ष 1939 के अंत तक राजनीतिक परिदृश्य में नाटकीय परिवर्तन के कारण अधिक ताकत हासिल कर रही थी। 3 सितंबर, 1939 को विश्व युद्ध छिड़ने के बाद कांग्रेस ने एक अजीब नीति अपनाई। वह तय नहीं कर पाई कि सरकार का समर्थन करे या विरोध। कांग्रेस ने मैक्डोनॉल्ड के सांप्रदायिक अवार्ड, 1932 के साथ भी ऐसा ही किया था। नतीजतन पार्टी और देश का बहुत नुकसान हुआ था। फासीवाद के घोषित विरोध और चीन समर्थक नीति ने कांग्रेस को जर्मनी का विरोधी बना दिया। गांधी लॉर्ड लिनलिथगो के पास गए और वेस्टमिंस्टर के ईसाई मठ पर बम विस्फोट पर अपना शोक जताया—''यदि संपत्ति-विध्वंस के ऐसे काम हुए तो भारत अपनी आजादी के साथ क्या करेगा?'' गांधी ने कहा था।

हालाँकि युद्ध के लिए विभिन्न दलों का समर्थन हासिल करने में लिनलिथगो के प्रयास नाकाम रहे और कांग्रेस ने 29-30 अक्तूबर, 1940 को प्रदेशों से अपनी सरकारें वापस ले लीं। उसपर जिन्ना पहले से अधिक आक्रामक हो गए और मुसलिमों को पूरे भारत में 'मुक्ति दिवस' मनाने को कहा। उन्होंने हिंदू कांग्रेस के हाथों मुसलिमों के दमन की झूठी कहानियाँ व्यापक तौर पर वितरित कीं, जबकि मुसलिम लीग सरकारों द्वारा हिंदुओं के दमन का कभी भी प्रचार नहीं किया गया। मुसलिम अल्पसंख्यकों का कांग्रेस सरकारों के खिलाफ मतभेद जिन्ना के असंतोष से ही शुरू हुआ, क्योंकि उत्तर प्रदेश में गठबंधन से नेहरू ने इनकार कर दिया था। वे मतभेद भय की पराकाष्ठा तक पहुँचे कि कांग्रेस आलाकमान पूरी तरह संघीय ढाँचे के सिद्धांत को नजरअंदाज करेगा। लेकिन इसके बावजूद तब पाकिस्तान या भारत के विभाजन की कोई बात नहीं थी।

हालाँकि 24 मार्च, 1940 को मुसलिम लीग ने लाहौर में पाकिस्तान पर प्रस्ताव पारित किया। दुर्भाग्यवश, वह प्रस्ताव उस फजलुल हक ने पेश किया था, जो बंगाल के गैर-सांप्रदायिक मुसलिम नेता थे और सर आशुतोष के जूनियर थे। वह उसी दौरान लीग में शामिल हुए थे और उसके कुछ देर बाद ही उसे छोड़ भी दिया था। लीग ने पहली बार माँग की थी कि भारत को विभाजित किया जाए। चूँकि मुसलिम एक अलग राष्ट्र हैं, लिहाजा भारत में उनकी अपनी अलग 'मादरे वतन' (मातृभूमि) होनी चाहिए, जहाँ इसलाम का हरा और सितारेवाला झंडा अपनी गरिमा के साथ फहराएगा। यही पाकिस्तान की माँग थी। सभी जिम्मेदार नेता, खासतौर पर कांग्रेस से जुड़े, उस विचार पर हँसे कि यह महज एक स्टंट है। दरअसल, कुछ मुसलिम नेताओं ने पाकिस्तान के मुद्दे को बहुत गंभीरता से लिया। यहाँ तक कि जिन्ना ने उसे 'सौदेबाजी' के तौर पर लिया होगा, जिससे कांग्रेस को मिलनेवाली संभावित ब्रिटिश संवैधानिक रियायतों को रोकने में मदद मिल सकेगी। हालाँकि बहुत जल्दी वह विचार फैल गया और पूरे भारत में कट्टरपंथी,

धर्मांध मुसलिमों ने उसे हवा दी। जिन प्रदेशों में लीग सत्ता में थी, वहाँ उसे अफसरों का भी पूरा समर्थन मिला और मुसलिम एकत्रीकरण पूरी शिद्दत से जारी रहा। जिन प्रदेशों में कांग्रेस मुख्यमंत्रियों ने इस्तीफे दिए थे, वहाँ अधिकारी लीग के साथ मिल गए, ताकि हिंदुओं को उनके कानूनी अधिकारों से वंचित किया जा सके। इस तरह हिंदू दृष्टिकोण व्यावहारिक तौर पर इसे समर्थन न देने का था। लेकिन कांग्रेस ने पाकिस्तान की ऐसी योजना के खिलाफ एक शब्द भी नहीं बोला। अकेली महासभा ने ही इस योजना के खिलाफ प्रदर्शन किया और सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लियोपोल्ड आमेरी को पाकिस्तान प्रस्ताव (दिसंबर 1940) से अपने हाथ खींचने को बाध्य किया। इस तरह लीग की हरकतों और हिंदुओं के हक के लिए खड़ी होने की कांग्रेस की नाकामी के कारण हिंदू महासभा लगातार अपना प्रभाव बढ़ी रही थी।

कांग्रेस ने जनगणना-1931 का बहिष्कार करने की गलती की थी, लिहाजा जनसंख्या के आँकड़े भरोसेमंद नहीं थे। डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में लिखा है—''हालाँकि जनगणना के आँकड़ों पर हमारा राजनीतिक भाग्य टिका था और इस तरह हमें जो नुकसान हुआ, उसकी गिनती नहीं की जा सकती।'' महासभा चाहती थी कि हिंदू एकता पैदा होनी चाहिए और जाति संबंधी पूर्वग्रह समाप्त होने चाहिए। महासभा के जाति एकत्रीकरण कार्यक्रम के रूप में डॉ. मुकर्जी ने वर्ष 1939 के आखिर में पूर्वी बंगाल के टिप्पराह में चाँदपुर का दौरा किया, ताकि स्थानीय मंदिर तमाम हिंदू जातियों के लिए खुल सकें। सन् 1940 में महासभा ने बंगाल में एक सुनियोजित प्रदर्शन आयोजित किया, जनगणना-1941 के लिए काम प्रारंभ होते ही दोनों समुदायों के बीच अविश्वास और भी बढ़ा। महासभा अनुसूचित जातियों में खुद को हिंदू जातियों से बाहर का मानने के बढ़ते हुए रुझान को रोकना चाहती थी। अनुसूचित जातियों के एक तबके ने महासभा की उस घोषणा का कड़वाहट के साथ विरोध किया कि अनुसूचित जातियों को जनगणना रिकॉर्ड में खुद को सिर्फ 'हिंदू' ही दर्ज कराना चाहिए। अंततः पूरे बंगाल में अनुसूचित जातियों को हिंदू के तौर पर दर्ज किया गया। महासभा ने कोशिश की कि बंगाल के विभिन्न हिस्सों में बसे संथाल, वनवासी लोग हिंदू ही गिने जाएँ। इससे मुसलिम लीग भड़की और उसने पैसे का इस्तेमाल किया, ताकि कुछ संथाल अपने धर्म को 'आदिवासी' के रूप में दर्ज कराएँ। वर्ष 1941 के आरंभ में डॉ. मुकर्जी ने विशेषकर बाँकुरा में इस अभियान में निजी दिलचस्पी ली। महासभा के प्रचार अभियान की बहुत बड़ी तैयारी थी, लिहाजा सभी हिंदुओं ने जनगणना में सक्रिय रुचि ली और जहाँ तक संभव था, उन्हें एकजुट किया गया। मुख्यमंत्री हक ने डॉ. मुकर्जी की इन गतिविधियों को 'बंगाल के मुसलिमों को अल्पसंख्यक में परिवर्तित करने की खतरनाक व नुकसानदायक रूपरेखा' करार दिया, उसने हिंदुओं के खिलाफ कड़वाहट भरा प्रचार जारी रखा। कलकत्ता के टाउन हॉल में एक बड़ी विरोध-सभा हुई, जिसकी अध्यक्षता वायसराय की कार्यकारी परिषद् में कानून सदस्य रहे सर एन.एन. सरकार ने की और उन्होंने हक की बरखास्तगी की माँग की।

डॉ. मुकर्जी को सरस्वती मंदिर, यानी शैक्षिक संसार, छोड़ना पड़ा था और बंगाली हिंदुओं को उनकी दयनीय दुर्दशा से बचाने के लिए वह राजनीति में आ चुके थे। मुसलिम लीग और ब्रिटिश शासन की साँठ-गाँठ से हिंदुओं को अपमानित और उत्पीड़ित किया जा रहा था। नतीजतन हिंदू दुर्दशा झेल रहे थे। बंगाल में डॉ. मुकर्जी को दोहरा काम करना था। उन्हें अपनी और कांग्रेस

नेतृत्व की स्थिति को स्थापित करना था। कांग्रेस हिंदुओं को अपना एक 'आज्ञाकारी झुंड' मानती थी, जिसे कभी भी इच्छानुसार निचोड़ा जा सकता था। डॉ. मुकर्जी को मुसलिम लीग की चुनौती भी स्वीकार करनी थी। उस समय बंगाल में कांग्रेस के मुख्य व्यक्तित्व सुभाषचंद्र बोस थे, जिन्होंने त्रिपुरी कांग्रेस में गांधी का विरोध किया था। नतीजतन उन्हें कांग्रेस अध्यक्षता छोड़नी पड़ी, लेकिन उससे बंगाल में वह 'नायक' बन गए। वह बंगाल, खासतौर पर कलकत्ता को अपना गढ़ बनाए रखना चाहते थे, ताकि कांग्रेस आलाकमान को अपनी ताकत दिखा सकें। लिहाजा मार्च 1940 में होने वाले निगम चुनावों को वह जीतना चाहते थे। कांग्रेस के अधिकृत नेता सुभाष के खिलाफ चुनाव लड़ने को तैयार नहीं थे। दूसरी ओर, बंगाल हिंदू महासभा कलकत्ता निगम में एक सशक्त हिंदू सभा चाहती थी, लिहाजा उसने चुनाव लड़ना तय किया।

बंगाली हिंदुओं की निष्ठा जीतने की कोशिश में दो दिग्गज एक-दूसरे के खिलाफ थे। महासभा सुभाषचंद्र बोस के साथ काम करने को तैयार थी और साझा तौर पर चुनाव लड़ना चाहती थी। सिर्फ शर्त यह थी कि दोनों बाद में निगम में भी एक टीम के रूप में काम करें। सुभाष इस पर प्रारंभ में सहमत नहीं थे, लेकिन शीघ्र ही हालात ने उन्हें सोचने पर बाध्य किया कि हिंदू महासभा, मुसलिम लीग और कांग्रेस में अगर तीन-तरफा मुकाबला होगा। तो लीग बहुमत हासिल कर सकती है। तब डॉ. मुकर्जी और बोस में सहमति हुई कि हिंदू महासभा और सुभाष की कांग्रेस को आपस में समन्वय कर चुनाव लड़ना चाहिए। एक चयन बोर्ड गठित किया गया, जिसमें सुभाष, शरत बोस और राजेंद्र चंद्र देब सुभाष कांग्रेस के प्रतिनिधि तथा डॉ. मुकर्जी, एस.एन. बनर्जी और सनत कुमार रायचौधरी हिंदू सभा के प्रतिनिधि थे।

तब सीटों का दुर्भाग्यपूर्ण खेल शुरू हुआ। चुनाव क्षेत्र चुन लिये गए और उम्मीदवारों को भी तय कर लिया गया। लेकिन दो चुनाव क्षेत्रों पर दोनों समूहों में सहमति नहीं बन सकी कि किसे उम्मीदवार बनाया जाए। सुभाष की निगाह में दो उम्मीदवार थे। सुधीर रायचौधरी को समर्थन देना तय किया गया। बेशक वह एक योग्य व्यक्ति थे, लेकिन अव्वल दर्जे के साजिशकर्ता भी थे। अलबत्ता सुभाष उन्हें अच्छा जरूर मानते थे। उन्हें बेलिया घाट के विधु भूषण सरकार के विरोध में खड़ा करना तय किया गया, जिससे वह नफरत करते थे। महासभा चाहती थी कि या तो दोनों को ही उम्मीदवार न बनाया जाए अथवा दोनों को चुनाव लड़ने की अनुमति दी जाए। उन्होंने यहाँ तक पेशकश की कि उन दोनों वार्डों के लिए उन्हें अपने उम्मीदवार खड़े करने की जरूरत नहीं। डॉ. मुकर्जी ने बोस से अनुरोध किया कि वह अपने पसंदीदा उम्मीदवार के चयन को लेकर जिद न करें। हालाँकि सुभाष अड़े रहे और उन्होंने डॉ. मुकर्जी को बता दिया कि वह किसी अन्य उम्मीदवार को स्वीकार नहीं करेंगे, बेशक समझौता नाकाम हो जाए और हर सीट पर चुनाव लड़ना पड़े। सुभाष ने यहाँ तक कह दिया कि बेशक मुसलिम लीग जीत जाए। अंततः एक रात को लंबी और गरमागरम बहस के बाद शरत बोस ने साझा मोरचा तोड़ दिया।

उसके बाद खुद डॉ. मुकर्जी पर कुछ कांग्रेसियों व महिलाओं ने हमला किया और अपशब्द कहे, जब वह एक सभा को संबोधित कर रहे थे। डॉ. मुकर्जी घायल हो गए। इसकी सार्वजनिक आलोचना हुई। इस घटना ने ऐसे राजनेता के तौर पर डॉ. मुकर्जी की जीवटता को साबित कर दिया, जिसे अपनी सुरक्षा की चिंता नहीं थी। उनके विरोधियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा। चुनावों

में महासभा की भारी जीत हुई और करीब 50 फीसदी सीटें जीतकर उसने जबरदस्त प्रतिष्ठा हासिल की। महासभा के साझा मित्रों के जरिए अतीत को भूलने और निकाय की सेवा के लिए साझा मंच तैयार करने के लिए बातचीत फिर शुरू हुई। सुभाष के कारण एक बार फिर बातचीत टूट गई। वह खुद नगरपालिका के सदस्य बनना चाहते थे और डॉ. मुकर्जी को भी ऐसा करने को कहा था। डॉ. मुकर्जी ने सुभाष को समझाने की कोशिश की कि सुभाष सरीखे कद्दावर नेता के लिए हर जगह सत्ता कब्जाने की कोशिश एक भारी गलती होगी। उन्होंने कहा कि काम को योग्य सदस्यों के बीच बाँट देना चाहिए। अपनी पसंद और नापसंद के मालिक बोस ने अंततः महासभा के साथ संबंध तोड़ लिये।

उसी दौरान डॉ. मुकर्जी ने मुसलिम लीग पार्टी के साथ काम करने की पेशकश से इनकार कर दिया था। उनका मानना था कि धुर विरोधी दलों के बीच कुछ संकीर्ण लाभ के लिए समझौता कभी भी काम नहीं कर सकता। महासभा का सोचना था कि एक तरफ मुसलिम लीग सरकार से मुक्ति पाने का संघर्ष और उसी समय निगम में साझा सत्ता व संरक्षण के लिए लीग के साथ काम करना पार्टी के लिए घातक होगा और जनता में उसके पूरी तरह गलत संदेश जाएँगे। हालाँकि इन सवालों पर सुभाष के भिन्न विचार थे। निगम पर अपना नियंत्रण कायम रखने के लिए उन्होंने मुसलिम लीग की शर्तें मान लीं और लीग का मेयर बनवा दिया। वह एक सिंधी मुसलिम व्यापारी था, जिसका नाम ए.आर. सिद्दीकी था। सुभाष महासभा के साथ ऐसा करने में नाकाम रहे थे। एक तरफ उन्होंने मुसलिम लीग सरकार के खिलाफ युद्ध छेड़ रखा था और दूसरी तरफ वह लीग के हार्दिक और प्रिय सहयोगी थे। निगम में भी लीग की ही सत्ता थी। हालाँकि महासभा ने लीग के साथ सुभाष के गठबंधन का पूरी तरह लाभ उठाया और अधिकृत कांग्रेस ग्रुप के परोक्ष समर्थन से उस पर खुले हमले किए। कांग्रेस जानती थी कि हिंदू महासभा ही खुले तौर पर सुभाष से लड़ने में सक्षम है, जिसे पार्टी अपना बड़ा दुश्मन मानती थी। उस समय के मीडिया (तब अखबारों तक ही सीमित) में अंग्रेजी दैनिक 'अमृत बाजार पत्रिका' और बँगला 'युगांतर' महासभा के समर्थक थे, जबकि बेहद प्रभावशाली अंग्रेजी अखबार 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' और बँगला 'आनंद बाजार पत्रिका' सुभाष और शरत बोस के नियंत्रण में थे।

धीरे-धीरे इस लड़ाई ने कड़वी रंगत धारण कर ली। कलकत्ता टाउन हॉल में एक जनसभा प्रसिद्ध पत्रकार एवं प्रमुख बँगला पत्रिका 'प्रवासी' के संपादक रामानंद चटर्जी की अध्यक्षता में होनी थी। लेकिन सुभाष के समर्थकों ने उसे नहीं होने दिया। श्रीमती हेमप्रभा मजूमदार, श्रीमती लीला राय और अन्य ने जनसभा में बाधा डाली और हंगामा किया। नतीजतन निर्मलचंद्र चटर्जी और अन्य कई लोग घायल हुए। उसके बाद सुभाष और उनके लोगों ने सिर्फ 3 वोट से चुनाव हारे महासभा के प्रमुख नेता बिजॉय चंद्र चटर्जी की भावनाओं से खेलने की कोशिश की। उन्हें महासभा से अलग कर बोस-लीग गठबंधन का सदस्य बनाया, ताकि वह भी नगरपालिका सदस्य बन सकें। सभा को अनुशासनात्मक काररवाई कर चटर्जी को पार्टी से निकालना पड़ा। निगम के भीतर हालाँकि हिंदू महासभा पार्टी अल्पमत में थी, उसके बावजूद एन.सी. चटर्जी के नेतृत्व में महत्त्वपूर्ण ताकत का कुशलता से इस्तेमाल किया गया। उसी दौरान महासभा सदस्य आशुतोष लाहिड़ी ने बोस समूह के सदस्य को मध्य-1941 के एक चुनाव में तब हराया, जब ढाका दंगों

के बाद सभा को बेहद प्रमुखता हासिल हुई थी। डॉ. मुकर्जी की डायरी के अनुसार, ''सुभाष इतना बेनकाब हो गए थे कि लीग के साथ उनके अदूरदर्शी गठबंधन के कारण उनकी सार्वजनिक आलोचना हुई और जल्द ही वह जनता की राय में नीचे गिर गए थे।''

हालाँकि भारत की स्वतंत्रता के इतिहास में बंगाल के दो महान् नेताओं के बीच संघर्ष व प्रतिरोध के ऐसे कुछ मामले और नगरपालिका राजनीति में भी टकराव के किस्से महज गुमराह करने वाले लगते हैं। सुभाष के वीरतापूर्ण संघर्ष की प्रशंसा करने में डॉ. मुकर्जी किसी से भी कम नहीं थे। कांग्रेस अध्यक्ष के लिए महान् मोहनदास गांधी के खिलाफ उनका चुनौतीपूर्ण विरोध, उनका बचकर जर्मनी चले जाना, जर्मनी से जापान तक, दुश्मन के समंदर के जरिए दो पनडुब्बियों में उनकी जोखिम भरी लंबी समुद्री यात्रा, इंडियन नेशनल आर्मी को संगठित करना, दक्षिण-पूर्व एशिया में उनका संघर्ष और अंतत: रहस्यात्मक स्थितियों में उनके गायब होने तक के तमाम संघर्षों के प्रशंसक रहे हैं डॉ. मुकर्जी। भारत की आजादी के लिए, एक योद्धा के तौर पर, सुभाष की नायक की भूमिका को भावुक श्रद्धांजलि देते हुए डॉ. मुकर्जी ने 21 अक्तूबर, 1944 को अपनी डायरी में दर्ज किया था—''आज यह स्वीकार करना चाहिए कि सुभाषचंद्र बोस जैसे भी हैं, वह अपने समय के सर्वप्रमुख भारतीयों में से एक हैं, जिनके लिए कोई भी साधन और तरीका गलत नहीं था। उन्होंने अनुभव किया कि देश की आजादी पाने के लिए वह इसी तरह ताकत हासिल कर सकते हैं। निर्वासन में एक राष्ट्रीय नायक, जो देश की आजादी के उद्देश्य के लिए लड़ रहा था, उसने इस तरह अपने अनेक देशवासियों का आह्वान किया, बेशक उनमें से अनेक सुभाष के साथ हमेशा सहमत नहीं थे।''

मधुपुर में अपने स्टेनोग्राफर बृदवरन को लिखाते हुए 5 जनवरी, 1946 को उन्होंने कहा था—''उस दौरान सुभाष ने जो भूमिका निभाई थी, उससे भारतीयों में व्यापक तौर पर जागृति आई। उन्होंने संपूर्ण भारत को चौंका दिया था। उन्होंने बर्मा और दक्षिण एशिया के अन्य हिस्सों में आजाद हिंद फौज (इंडियन नेशनल आर्मी) का गठन किया। भारत के लोगों को उसकी भी जानकारी मिल चुकी थी। प्रत्येक देशवासी ने महसूस किया कि साहस, राष्ट्रभक्ति और संगठन का कितना आश्चर्यजनक कार्य रहा होगा वह! एक समय में पं. जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की थी कि यदि जापान की मदद से सुभाषचंद्र बोस भारत लौट आएँ तो वह अपने हाथ में तलवार लेकर उनके साथ अकेले ही लड़ेंगे (यदि जरूरी हुआ)। हालाँकि उसी दौर में जब उन्होंने महसूस किया कि आजाद हिंद फौज का गठन करने में सुभाष ने विस्मयकारी भूमिका निभाई थी, तो नेहरू धीरे-धीरे बदले और आई.एन.ए. की गतिविधियों की सराहना करना शुरू किया। सवाल उठता है कि यह बदलाव धारणा के रूप में था अथवा राजनीतिक उपयुक्तता के कारण?

त्रिपुरी कांग्रेस में सुभाष के अध्यक्ष चुने जाने का गांधी द्वारा विरोध और अंतत: कांग्रेस से बाहर होने के संदर्भ में डॉ. मुकर्जी ने 2 फरवरी, 1939 को अपनी डायरी में लिखा था—''सुभाष बोस के चुनाव पर गांधी के बयान को सावधानी से पढ़ें। मैं अभिव्यक्ति के ऐसे लहजे और विषय-वस्तु पर अपनी निराशा छिपा नहीं सका। वह सुभाष की जीत पर इतना अपसेट क्यों थे?...और फिर सुभाष के घोषणा-पत्र को 'पांडित्य के सात स्तंभों' (वल्लभभाई ऐंड कंपनी) के खिलाफ करार देने की गांधी की शिकायत अन्यायपूर्ण और निकम्मी थी। लेकिन इन आदरणीय

सज्जन पुरुषों का घोषणा-पत्र क्या था और सुभाष की पीठ पीछे उन्होंने क्या कहा था? गांधी समेत उन लोगों ने तय किया था कि सुभाष को दोबारा चुनना फिजूल है। इससे भी ज्यादा यह तय किया गया था कि उनका चुनाव भारत के हितों के लिए नुकसानदायक होगा!''

शरत और सुभाष बोस के जीवनीकार लियोनार्ड गोर्डन ने भी गौर किया था कि वस्तुत: डॉ. मुकर्जी ही बोस बंधुओं के पारिवारिक मित्र थे। हालाँकि कई राजनीतिक मुद्दों पर उनमें मतभेद थे। वह उन्हें जेल से बाहर लाने के लिए लड़े। जब बोस बंधु जेल में थे तो उन्होंने उनके स्वास्थ्य को लेकर सरकार पर दबाव बनाया।

हालाँकि मुसलिम लीग द्वारा पेश की गई समस्या अलग किस्म की थी। ब्रिटिश नौकरशाही की साँठ-गाँठ के साथ बंगाल की लीग-प्रजा पार्टी सरकार प्रदेश का इसलामीकरण करने की योजनाबद्ध कोशिश कर रही थी। उसके कार्यक्रम में दो मुख्य मुद्दे थे। एक, प्रशासन का इसलामीकरण और शैक्षिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में हिंदू वर्चस्व को धीरे-धीरे क्षीण करना। इस तरह यूनिवर्सिटी और सेकेंडरी शिक्षा पर उनके नियंत्रण से उन्हें वंचित करना। दूसरा, खासकर पूर्वी बंगाल में सांप्रदायिक दंगे कराना, ताकि हिंदुओं को अपने घरों से भागने को मजबूर किया जा सके और अंतत: वे इसलाम कबूल कर लें।

डॉ. मुकर्जी ने लीग की इन साजिशों और विधेयक के जरिए ऐसा करने की योजना को विफल कर दिया। जब लीग को कलकत्ता यूनिवर्सिटी पर कब्जा करना बेहद मुश्किल लगा तो उन्होंने उसे सेकेंडरी शिक्षा से वंचित कर उसे कमजोर करने का प्रस्ताव रखा। सन् 1857 से ही सेकेंडरी शिक्षा कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अधिकार-क्षेत्र में थी। वर्ष 1940 के आरंभ में मुख्यमंत्री हक ने विधानसभा में सेकेंडरी शिक्षा बिल पेश किया, जिसमें कलकत्ता यूनिवर्सिटी से सेकेंडरी शिक्षा का नियंत्रण लेने का प्रावधान था। चूँकि यूनिवर्सिटी में हिंदू मजबूत स्थिति में थे, लिहाजा बिल में शिक्षा को नामांकित मुसलिम-बहुल सेकेंडरी शिक्षा बोर्ड को सौंपने का प्रावधान किया गया।

मुसलिम लीग द्वारा इस बिल को अपनाना ही अपने आप में एक बड़ा कारण था, जिसने डॉ. मुकर्जी को अपने 'शैक्षिक एकांतवास' से बाहर आने को बाध्य किया। उन्होंने विधानसभा के भीतर और बाहर इस बिल के विरोध का नेतृत्व किया। महासभा ने महीनों तक बिल के खिलाफ लगातार अभियान जारी रखा। उसी दौरान डॉ. मुकर्जी ने कांग्रेस को अपने पक्ष में लाने की कोशिशें भी जारी रखीं। अंतत: शरतचंद्र बोस और राय हरेंद्रनाथ चौधरी समेत अधिकतर कांग्रेसियों ने डॉ. मुकर्जी के विचारों को स्वीकार कर लिया। बंगाल विधानसभा में अगस्त 1940 से सितंबर 1941 तक सेकेंडरी शिक्षा बिल पर गर्मागरम बहस हुई। 28 अगस्त, 1940 को बिल पर बोलते हुए डॉ. मुकर्जी ने विपक्ष के आधार पर कहा कि सेकेंडरी शिक्षा को तकनीकी, कृषि, औद्योगिक और वाणिज्यिक रास्तों पर निर्दिष्ट किया जाना चाहिए। वह शिक्षा की ऐसी व्यवस्था चाहते थे, जो बंगाल के मुसलिमों को अपने विश्वासों के मुताबिक, खुद को विकसित करने लायक बना सके। इसी तरह वह हिंदुओं के लिए भी चाहते थे। मार्च 1941 में अधिकृत कांग्रेस पार्टी ने, बिल के विरोध में विधानसभा से बहिर्गमन किया। 8 सितंबर, 1941 को डॉ. मुकर्जी बिल को सेलेक्ट कमेटी को भेजने के प्रस्ताव का समर्थन करते खड़े हुए। उन्होंने उन कारणों का खुलासा किया कि सरकार को बिल पर आगे काम क्यों नहीं करना चाहिए। इस तरह बिल को

सदन में ही रोकने और एक सम्मानजनक समझौते की तमाम कोशिशों को नाकाम करने में उन्होंने अंतत: संतोष अनुभव किया।

डॉ. मुकर्जी ने सेकेंडरी शिक्षा बिल का संवैधानिक तरीकों से सफलतापूर्वक विरोध किया। एक बार फिर उन्होंने एक संवैधानिक और संसदीय राजनेता के गुण दिखाए। डॉ. मुकर्जी यह समझ चुके थे कि सड़कों पर हिंदू भद्रलोक लीग के कुली-अनपढ़ लोगों से मुकाबला नहीं कर सकेंगे। विशेषकर जब पूरा ब्रिटिश प्रशासन उनकी तरफ हो। डॉ. मुकर्जी के इस विशिष्ट गुण को आजाद भारत की संसद् में भी तब अभिव्यक्ति मिली, जब उन्होंने पाकिस्तान के समक्ष पं. नेहरू की घुटने टेक नीति का प्रबल विरोध किया। डॉ. मुकर्जी ने नेहरू की इस मुद्दे पर सशक्त आलोचना की कि लियाकत अली खान के आश्वासनों पर विश्वास कर उन्होंने पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों के हितों को दाँव पर लगा दिया।

बाद में जब वर्ष 1943 में एक अंतराल के बाद लीग सत्ता में आई और नजीमुद्दीन मुख्यमंत्री बने, तो एक बार फिर यह मुद्दा पुनर्जीवित हुआ और उस पर पुन: बहस हुई। डॉ. मुकर्जी और मुख्यमंत्री नजीमुद्दीन की जुलाई 1944 में हुई बैठक से भी कोई नतीजा नहीं निकल सका। उन्होंने सेकेंडरी शिक्षा बिल में संभावित बदलावों पर भी बातचीत की थी। आजादी के बाद 1950 के दशक में पश्चिम बंगाल में कलकत्ता यूनिवर्सिटी से सेकेंडरी शिक्षा को अलग करके उसे वेस्ट बंगाल बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजुकेशन को सौंप दिया गया। मैट्रिक की परीक्षा का दोबारा नामकरण किया गया—'स्कूल फाइनल'। 1956 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के गठन के बाद विश्वविद्यालय के उस आर्थिक नुकसान की भरपाई की गई, जो परीक्षाओं के शुल्क से वंचित होने के कारण हुए थे।

डॉ. मुकर्जी मुसलमानों के पक्ष में सियासत को सांप्रदायिक रंग देने की लीग की अन्य योजनाओं को भी कमजोर करने में कामयाब रहे। सन् 1940-41 में हिंदुओं के दमन के, खासकर नोआखाली के मुद्दे पर, गंभीर आरोप लगाए गए थे। उनके मुताबिक 22 मार्च, 1941 को गवर्नर सर जॉन हरबर्ट ने पार्टी नेताओं का सम्मेलन बुलाया, ताकि विचार किया जा सके कि सांप्रदायिक संबंधों को किस तरह सुधारा जाए। महासभा ने जोर देकर कहा कि जब तक अकेली पार्टी की सांप्रदायिक सरकार बरकरार रहेगी, तब तक असली कारण को छुआ तक नहीं जा सकता। एक गठबंधन सरकार, जिसे हिंदू-मुसलिम के एक बड़े तबके का विश्वास हासिल हो, तो ही दोनों समुदायों के बीच अच्छी भावनाओं को प्रेरित करने में मददगार साबित हो सकती है।

अभी गवर्नमेंट हाउस में बैठक चल ही रही थी कि ढाका में दंगे शुरू हो गए। पूरा ढाका शहर आग की लपटों में घिर गया था। शहर में कमोबेश हिंदू उस हमले का विरोध करने को तैयार थे। सात महीनों से ज्यादा चलनेवाले ये सांप्रदायिक दंगे पूर्व नियोजित थे अथवा सेकेंडरी शिक्षा बिल पर महासभा के विरोध-प्रदर्शनों से उनका कोई संबंध था, यह आज तक भी स्पष्ट नहीं हुआ है। प्रेस को डिफेंस ऑफ इंडिया कानूनों के तहत दंगों के बारे में कोई भी खबर छापने से रोक दिया गया। लेकिन जैसे ही डॉ. मुकर्जी को इस बाबत जानकारी मिली, उन्होंने ढाका जाना तय कर लिया। उसे निजी साहस का असाधारण काम माना गया। वह पहले हिंदू और गैर-आधिकारिक व्यक्ति थे, जो बाहर से वहाँ पहुँचे थे। गवर्नर ने पहले यह सुझाव दिया कि मुसलिम मंत्री, जिनके

खिलाफ दंगे भड़काने के आरोप थे, ढाका न जाएँ और डॉ. मुकर्जी को भी नहीं जाना चाहिए। हालात को स्थानीय अधिकारियों के जिम्मे छोड़ दिया जाए। हालाँकि ढाका के नवाब फजलुल हक और शहाबुद्दीन एक विशेष विमान से ढाका गए। ब्रिटिश मुख्य सचिव से अनुमति लेने के बाद डॉ. मुकर्जी ने गवर्नर से अनुरोध किया कि विमान में एक सीट उन्हें भी दी जाए। लेकिन डॉ. मुकर्जी के हवाई अड्डे पहुँचने से पहले ही विमान उड़ चुका था। वह ऐसी तरकीबों से हार मानने वाले नहीं थे। उन्होंने छोटे विमान में सफर करने का जोखिम उठाया, जिसे उनका दोस्त लोहिया चला रहा था। उस दौर में ऐसे छोटे विमान से सफर करना खतरनाक हो सकता था। बहरहाल, ढाका में उतरने से पहले उन्होंने ऊपर से देखा—सारा शहर जल रहा था। पहले आयुक्त (कमिश्नर) ब्लेयर ने डॉ. मुकर्जी को सुरक्षा कारणों से ढाका में घुसने से मना कर दिया, फिर उनका मानना था कि यदि डॉ. मुकर्जी शहर में दाखिल हुए और वहाँ रहे तो मुसलिम बेकाबू हो सकते हैं। लेकिन जब डॉ. मुकर्जी ने ब्लेयर को यह बताया कि गवर्नर को उनके आने का पता है, लिहाजा उन्हें रोकने का कोई मतलब नहीं, तब कमिश्नर ने उन्हें इजाजत दे दी। वह सीधा नवाब ढाका के महल में गए, जो बंगाल मुसलिम लीग के मुखिया भी थे। उस महल में दंगे की योजना बनाई जा रही थी और वहीं से वे आयोजित किए जा रहे थे। डॉ. मुकर्जी चार-पाँच दिन तक कुलपति आर.सी. मजूमदार के घर ठहरे। हालाँकि शहर में हिंदुओं को मारा-पीटा नहीं जा रहा था, लेकिन ग्रामीण इलाकों में उनकी स्थिति दयनीय थी। डॉ. मुकर्जी ने ग्रामीण इलाकों का दौरा किया, ताकि कष्ट झेल रहे हिंदू भाइयों में विश्वास पैदा किया जा सके और दंगे के संदर्भ में लीग की साजिशों को बेनकाब किया जा सके।

अप्रैल के शुरू में ढाका जिले के नारायणगंज उपमंडल के ग्रामीण इलाकों में हिंदुओं का नरसंहार हुआ। नतीजतन करीब 3,000 लोग पलायन करके भारत के त्रिपुरा राज्य में चले गए। सरकार को हालात काबू करने में कई दिन लग गए। महासभा ने कलकत्ता से राहत दल भेजे। कुछ सप्ताह बाद डॉ. मुकर्जी खुद अगरतला पहुँचे, ताकि महाराजा की उदारता का धन्यवाद कर सकें। कलकत्ता वापसी के बाद वह चाहते थे कि ढाका में जो हो रहा है, उसकी जानकारी जनता को हो। चूँकि 'डिफेंस ऑफ इंडिया' कानून के तहत खबर छापने की प्रेस पर पाबंदी थी, लिहाजा एक ही रास्ता था कि इस मुद्दे को विधानसभा में उठाया जाए! डॉ. मुकर्जी ने कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद को तार भेजा कि वह उनके काम रोको प्रस्ताव पर कांग्रेस विधायकों के समर्थन के लिए कहें। जब मौलाना ने कुछ करने से इनकार कर दिया, तब डॉ. मुकर्जी ने गांधी को लिखा। गांधी ने आजाद को निर्देश दिए कि डॉ. मुकर्जी के प्रस्ताव को समर्थन देने के लिए विधायकों को तार करें। इस तरह डॉ. मुकर्जी देश को बता पाए कि मुसलमान ढाका में हिंदुओं के साथ क्या सुलूक कर रहे थे। विधानसभा में उनके खुलासे से सरकार को शांति बहाल करने और दोषियों को सजा देने के लिए विवश होना पड़ा। इन दंगों और अशांति ने कुछ हद तक हिंदुओं की आँखें खोल दीं और महासभा के काम की सराहना हुई।

दंगों के बाद के तनाव में, कांग्रेस की कीमत पर, महासभा की जमीन और पुख्ता हुई। उस समय घटनास्थल का आकलन यह था—"दुर्भाग्यवश ढाका के दंगों और सांप्रदायिक तनाव की वजह से बंगाल कांग्रेस की स्थिति कमजोर हो गई और महासभा का जनाधार बढ़ गया।"

शुरुआत में करीब हर आदमी ने स्वेच्छा से महासभा राहत कोष में दान दिया; लेकिन कांग्रेस कोष में एक दमड़ी भी दान देने को लोग इच्छुक नहीं थे, क्योंकि वे जानते थे कि कांग्रेस हिंदुओं और मुसलिम, दोनों को राहत पहुँचाने का काम करेगी। चूँकि भद्रलोक हिंदू चाहते थे कि मुसलिमों के खिलाफ सख्त रवैया अपनाया जाए तो बंगाल कांग्रेस ने महासभा के मुकाबले में यह तय किया कि अपने कोष को उन हिंदू शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए खर्च करेगी, जिन्होंने ढाका दंगों के बाद भागकर त्रिपुरा में पनाह ली थी। 'सांप्रदायिक़ राहत' की यह नीति, जो कांग्रेस ने ढाका में अपनाई थी, उसे आलाकमान की मंजूरी थी। इसी तरह के कई अन्य दबावों ने बंगाल कांग्रेस को महासभा के साथ काम करने को मजबूर किया और दंगों की जाँच कमेटी के सामने हिंदुओं के केस रखने को भी विवश किया।

जबकि कांग्रेस संगठनात्मक रूप से मजबूत थी कि ग्रामीण इलाकों में दंगों के सबूत पेश कर सकती थी, लेकिन कांग्रेस ने जब बोस समूह को पार्टी से निकालकर संगठन पर कब्जा किया तो देखा कि बंगाल कांग्रेस का कोष बिलकुल खाली हो चुका था। दूसरी ओर, महासभा संगठनात्मक दृष्टि से कलकत्ता से अलग मोफुस्सिल जैसे इलाकों में कमजोर थी, लेकिन बीते कुछ सालों में वह एक मजबूत संगठन बन गई थी। दोनों संगठनों ने साझा तौर पर काम किया। महासभा कांग्रेस के संगठनात्मक ढाँचे पर आश्रित थी, ताकि जहाँ हिंदू ज्यादा मारे गए थे, वहाँ से सबूत इकट्ठा किए जा सकें। लेकिन संयुक्त रूप से केस पेश नहीं किए गए, क्योंकि उसकी भारी कीमत चुकानी पड़ती। इस तरह दोनों में करीबी सहयोग स्थापित हो गया, जो ढाका दंगों की जाँच कमेटी के बाद तब भी जारी रहा, जब भी हिंदुओं के हितों की रक्षा के लिए जरूरी होता था। जहाँ हिंदू-हितों की बात होती, वहाँ पर दोनों दलों की राजनीति और नीतियों में बहुत कम अंतर था। जैसाकि गवर्नर हरबर्ट ने मार्च 1942 में गौर किया था—''कांग्रेस महासभा नेतृत्व का ज्यादा-से-ज्यादा पालन कर रही थी।''

उस दौरान हिंदू महासभा लगातार अपनी असरदार गतिविधियों के कारण प्रतिष्ठा और प्रभाव हासिल कर रही थी। सन् 1940 में सरकार ने स्पष्ट घोषणा की थी कि कांग्रेस और लीग की तरह अखिल भारतीय राजनीति में महासभा को भी बराबर की पार्टी का दर्जा दिया जाए। यह महासभा आंदोलन के इतिहास की एक सर्वश्रेष्ठ घटना है। वर्ष 1940 के दौरान चुनावों में महासभा को एक गौरवशाली सफलता मिली, जब कलकत्ता निगम के चुनावों में बंगाल हिंदू महासभा ने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। उसकी वजह से कांग्रेस को बहुमत नहीं मिल पाया। सिंध में हिंदू महासभा ने कांग्रेस को पूरी तरह पराजित किया और स्पष्ट बहुमत हासिल किया। कांग्रेस पाकिस्तान योजना के खिलाफ एक शब्द भी नहीं बोली, जबकि महासभा ने मुखर विरोध किया। आखिर में, अखिल भारतीय हिंदू महासभा ने अपने 22वें सत्र में, जो वर्ष 1940 में मदुरा में आयोजित हुआ, एक प्रस्ताव पारित किया कि यदि जनता को सीधा सत्ता-हस्तांतरण नहीं किया तो प्रत्यक्ष काररवाई की जाएगी। इसके मुकाबले में कांग्रेस, जो ऐसी माँग कर ही रही थी, संघर्ष शुरू करने को तैयार नहीं थी।

डॉ. मुकर्जी, जो इसी विश्वास के साथ महासभा में शामिल हुए थे कि वह देश की आजादी के लिए हुकूमत से टकराने में संकोच नहीं करेगी, ने पार्टी के इस रुख का स्वागत किया। लेकिन

वर्ष 1941 के मध्य में हिंदू महासभा की अखिल भारतीय कमेटी ने कलकत्ता में एक विशेष सत्र बुलाया और मदुरा में जो फैसला लिया गया था, उसे स्थगित रखने का निर्णय लिया। डॉ. मुकर्जी के अनुसार—''मदुरा के फैसले को वापस लेना महासभा की प्रतिष्ठा के लिए एक जबरदस्त धक्का था। लोग यह सोचने पर मजबूर हो गए थे कि हम सिर्फ बड़ी बातें कर सकते हैं और जरूरत पड़ने पर मैदान छोड़कर भाग जाते हैं। इस घटना से मेरे मन पर बहुत निराशाजनक प्रभाव पड़ा।''

फिर भी, ऐसी निराशाओं से डॉ. मुकर्जी का संघर्ष के लिए उत्साह कम नहीं हुआ। उन्होंने पंजाब का दौरा किया और हिंदुओं में एक नई जागृति देखी। प्रभावशाली नेताओं ने महासभा के उद्‌देश्यों को व्यापक स्तर पर प्रचारित किया। उनमें डॉ. बी.एस. मुंजे, सर मन्मथनाथ, डॉ. मुकर्जी और एल.बी. भोपटकर शामिल थे।

इस तरह डॉ. मुकर्जी के राजनीति में प्रवेश ने हिंदू महासभा के आंदोलन में बंगाल और शेष भारत में एक नई ऊर्जा का संचार किया। इतना ही नहीं, कांग्रेस, जो हिंदुओं के हितों की बात उठाने में डरती थी, ताकि वह सांप्रदायिक न कहलाए, भी सताए हुए बंगाली हिंदुओं के हितों को उठाने के लिए मजबूर हो गई।

□

5

बंगाल के वित्त मंत्री और अगस्त क्रांति

(1941-42)

सन् 1941 तक अबुल कासिम फजलुल हक मुख्यमंत्री के रूप में तीन साल से ज्यादा सत्ता में रहे, लेकिन वह न तो खुश थे और न ही सहज। डॉ. मुकर्जी ने उनकी स्थिति के बारे में अपनी डायरी में लिखा था—''वर्ष 1941 के आखिरी हिस्से में हक को पता चला कि उनकी स्थिति कितनी खतरनाक है! वह एक प्यारा व्यक्तित्व था, जैसाकि सामान्य व्यक्ति उनके बारे में सोच सकता है। वास्तव में वह अपने संगी-साथियों में खूब घुले मिले थे। दोस्तों और शिष्यों की टोली ऐसी थी कि उनकी मदद से लोगों और देश के लिए वह बहुत अच्छे काम कर सकते थे। पर बुरे लोगों की संगत उन्हें नरक की ओर धकेल सकती थी। जैसाकि एक बार मैंने उन्हें कहा था कि वह बहुत काम के आदमी हैं।''

दरअसल हक को अपनी इच्छा के विपरीत उन लोगों के हाथों में खेले, जो उनके दोस्त होने का नाटक करते थे, लेकिन उनके पक्के दुश्मन थे। कृषक प्रजा पार्टी बुनियादी तौर पर किसानों की पार्टी थी, जो बहुधा मुसलिम थे, लेकिन उनका इसलाम से कोई लेना-देना नहीं था। मुसलिम लीग वास्तव में पूर्णत: मुसलिम पार्टी थी। जमात के बड़े जमींदार उसे चलाते थे। वास्तव में यह पूरी तरह उनका दोष नहीं था, उन्हें तो ऐसी अवांछनीय स्थिति में धकेल दिया गया था। यह बिलकुल सच है, जैसाकि डॉ. मुकर्जी का कहना था कि वह सत्ता के लिए अत्यधिक तड़प रहे थे; अंतत: उन्हें लीग की गोद में धकेल दिया गया। सन् 1937 में बंगाल में कांग्रेस की गैरजिम्मेदार हठ ने उनके साथ गठबंधन से इनकार कर दिया था। लिहाजा मुख्यमंत्री बनने के लिए उन्होंने अपनी पार्टी को धोखा दिया और लीग के बैनर तले नजीमुद्दीन और सोहरावर्दी के साथ हाथ मिला लिया। कैबिनेट में भी लीग के ज्यादातर मंत्री बनाकर उन्होंने अपनी स्थिति कमजोर कर ली। कृषक प्रजा पार्टी का एक ही मंत्री बना। सन् 1938 में उस इकलौते प्रतिनिधि को भी हटा दिया गया, जब प्रजा के 36 में से 34 सदस्यों ने हक को छोड़ दिया। दिसंबर 1939 में हक की स्थिति और भी कमजोर हो गई, जब नलिनी रंजन सरकार ने इस्तीफा दे दिया, जो बेहद चालाक और तिकड़मी राजनीतिक था। वह हक का निजी सलाहकार भी था। लीग के दिग्गजों ने, जो

हक को पसंद नहीं करते थे, उन्हें एक कठपुतली की तरह इस्तेमाल किया। इस तरह उन्होंने इसलाम के रक्षक के रूप में अपनी तथा लीग की छवि को स्थापित किया। यहाँ तक कि मार्च 1940 के लीग के लाहौर सत्र में पाकिस्तान का प्रस्ताव भी उन्हीं के द्वारा पेश कराया गया। हक को उन तमाम हिंदू-विरोधी गलत कामों के लिए बाध्य या उत्प्रेरित किया गया, जो सांप्रदायिक लीगवालों की साजिशों के जरिए सरकार ने किए थे।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि कांग्रेस ने एक और राजनीतिक गलती की थी कि हिंदुओं को वर्ष 1931 की जनगणना का बहिष्कार करने का आह्वान किया था। नतीजतन जनगणना अविश्वसनीय रही और लीग ने उसका फायदा उठाया। महासभा ने 1940 में सकारात्मक रुख अपनाया और उसके सुनियोजित प्रदर्शन ने हिंदुओं को जनगणना में सक्रिय रुचि लेने को तैयार किया। डॉ. मुकर्जी ने 6 दिसंबर, 1945 को अपनी डायरी में यह दर्ज किया है (जब वह बरकपुर के चुनावी दौरे के बाद कलकत्ता में बीमार पड़े थे—अध्याय 8 देखें)—''हम अनुसूचित जाति के लोगों में बढ़ते रुझान पर ध्यान देना चाहते थे, जो खुद को हिंदुओं से बाहर मानते थे। हिंदू जाति से उनका वैर-भाव धीरे-धीरे राजनीतिक आधार पर पोषित हो रहा था, हिंदू जातियाँ अनुसूचित जातियों की प्रगति आदि की दुश्मन थीं। हम चाहते थे कि जातीय पूर्वग्रह समाप्त होने चाहिए। लिहाजा हमने ऐलान किया कि जनगणना रिटर्न में हमें अपनी जाति के बजाय 'हिंदू' दर्ज कराना चाहिए। अनुसूचित जाति के एक तबके ने इसका बड़ी कड़वाहट के साथ विरोध किया। हम जनगणना में हिंदुओं की सक्रिय रुचि पैदा करने में न सफल ही नहीं रहे, बल्कि उन्हें एकजुट करने में भी कामयाब रहे।'' लीगवालों के उकसाने पर मुख्यमंत्री हक ने जनगणना ऑपरेशन के महासभा के काम में पाया कि बंगाल के मुसलिमों को अल्पसंख्यक के तौर पर घटाने की यह एक हानिकारक साजिश है और इसके खिलाफ एक कड़वाहट भरा प्रचार भी जारी रखा। उन्होंने एक जमात के तौर पर हिंदुओं के साथ दुर्व्यवहार किया और अपने भाषणों में आक्रामकता के साथ-साथ गैर-जिम्मेदारी भी बरती। कलकत्ता के टाउन हॉल में एक बड़ी विरोध सभा हुई, जिसकी अध्यक्षता सर नृपेंद्र नाथ सरकार ने की और हक की बरखास्तगी की माँग की गई।

जबकि हक नियमित रूप से हिंदू-विरोधी उद्‌गार व्यक्त कर रहे थे और साथ-ही-साथ सरकार व विधायिका में अपने मुसलिम साथियों के साथ बड़ा बेचैन वक्त गुजार रहे थे। मुसलिम लीग साथियों के मतभेद के चलते बहुत ज्यादा तनाव में थी।

उसी दौरान डॉ. मुकर्जी अपने साथियों को साथ लेकर सरकार के पतन की कोशिश करते रहे, जो कि तमाम मुसीबतों का कारण थी। उसी समय मुसलिम लीग के दिग्गज—नजीमुद्दीन और सोहरावर्दी—हक को बाहर करने की साजिश रचते रहे। वे हरबर्ट और यूरोपीय समूह के समर्थन से प्रशासन पर कब्जा करना चाहते थे। अत: अगस्त 1941 में सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पेश किया गया। स्पीकर अजीजुल हक बीमार पड़ गए और उपाध्यक्ष अशरफ को उस दिन सदन की अध्यक्षता करने भेजा। अशरफ ने प्रस्ताव पेश करने की अनुमति दिए बिना ही सदन की कार्यवाही स्थगित कर दी। सदन में खूब हंगामा हुआ। सेकेंडरी शिक्षा बिल पर भी विचार किया जाना था। बाद में सदन की कार्यवाही शुरू की गई और इस तरह सरकार को बचाया गया।

जैसे ही हक को पता चला कि उनके अपने साथी और कार्यकर्ता ही उनकी पीठ में छुरा घोंपने जा रहे थे तो उन्होंने सरकार से बाहर आने की कवायद शुरू की। लेकिन वह किसी भी तरह मुख्यमंत्री बने रहना चाहते थे। मुसलिम लीग के भागीदारों के साथ उनके मतभेदों ने उन्हें और उनकी कैबिनेट को टूटने के कगार पर ला खड़ा किया था। लेकिन वह किसी भी कीमत पर सत्ता चाहते थे और उसके लिए कमोबेश उन्हें कुछ ऐसे हिंदू सदस्यों के समर्थन की जरूरत थी, जो सरकार बनवा सकते थे। मुसलिम लीग को सरकार से बाहर करने के लिए कांग्रेस को हक का समर्थन करना चाहिए था। ऐसा कदम पूरे बंगाल तो क्या, देश की राजनीति को बदल सकता था। लेकिन अधिकृत कांग्रेस ने ऐसा नहीं किया। एक बार फिर यह डर उसे सताता रहा कि कहीं उसे एक हिंदू दल करार न दे दिया जाए।

दूसरी ओर, डॉ. मुकर्जी ने सोचा कि बंगाल के व्यापक हितों में यह अनिवार्य है कि लीग को सत्ता से बाहर करने के लिए हक से दोस्ती की जाए और उन्हें सशक्त बनाया जाए। साथ-ही-साथ विधायिका में तमाम गैर-कांग्रेसी हिंदू ताकतों को एकजुट किया जाए। डॉ. मुकर्जी ने डायरी में दर्ज किया था कि शरत बोस तब एक कांग्रेस के बागी नेता थे और अपने समूह के 'मास्टर' थे। लिहाजा वह अपना स्वतंत्र निर्णय ले सकते थे और उन्हें केंद्रीय नेताओं के निर्देश की परवाह नहीं थी। मुख्यत: उन्हीं के प्रयासों के जरिए हक ने अपनी ही सरकार को तोड़ने का फैसला लिया। शायद दोनों ही कारण थे—डॉ. मुकर्जी अंतत: लीग समर्थित सरकार मिटाने में सफल हुए।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि अगस्त 1941 में जब सेकेंडरी शिक्षा बिल पर विचार किया जाना था, तो अविश्वास प्रस्ताव पेश करने की अनुमति नहीं दी गई थी। लिहाजा सरकार बची रही। नवंबर में सरकार के लिए पुन: कठिनाइयाँ प्रारंभ हुईं। मंत्री एक-दूसरे की निष्ठा पर संदेह करते थे। नजीमुद्दीन और सोहरावर्दी, जो अपने लिए बहुमत हासिल करना चाहते थे, वे हक को विश्वास प्रस्ताव को पुन: विधान सभा में लाने का एक और मौका नहीं देना चाहते थे। एक तरह से वे 'बैल को उसके सींगों द्वारा पकड़ना' चाहते थे। हक पर दगाबाजी का आरोप लगाते हुए लीग के मंत्रियों ने इस्तीफे दे दिए। यह अफवाह थी कि गवर्नर सर जॉन हरबर्ट ने आश्वासन दिया था कि नजीमुद्दीन को सरकार बनाने को कहा जाएगा। गवर्नर को सभी की राय जानने के लिए पार्टी नेताओं को बुलाना पड़ा।

उसी दौरान विधायकों के एक निश्चित बहुमत, करीब 127 सदस्यों ने हस्ताक्षर कर हक को समर्थन देने की घोषणा कर दी। किरण शंकर राय के नेतृत्ववाली अधिकृत कांग्रेस भी लीग के पक्ष में नहीं थी। लीग-विरोधी विधायकों ने हरबर्ट पर दवाब बना लिया। चाहे उनका व्यक्तिगत निर्णय हो अथवा आई.सी.एस. अफसरों की सलाह, हरबर्ट ने विधायकों के बहुमत की इच्छा को स्वीकार कर और अंतत: हक को सरकार बनाने का निमंत्रण दिया।

7 दिसंबर को हक ने अपनी टीम के साथ गठबंधन सरकार का इस्तीफा गवर्नर को दे दिया। जिन 127 विधायकों ने हक को समर्थन देने की घोषणा की थी, उनमें ढाका के नवाब भी एक थे। तब तक वह लीग के साथ थे। उन्हें पार्टी का नेता नहीं चुना गया था। लिहाजा उनके भी लीग से मतभेद थे। डॉ. मुकर्जी ने उन्हें 'एक मिलनसार, बिलकुल गैर-सांप्रदायिक और मूलत: अत्यंत उदार' बताया। लेकिन वह भरोसेमंद नहीं थे, अपितु सिद्धांतहीन भी थे। वह तुरंत कूदकर डॉ.

मुकर्जी की ओर आ गए। मुसलिम लीगवाले भौंचक्के रह गए। इस्पहानी ने फजलुल हक को 'बूढ़ी लोमड़ी' कहा और 'बरिसल की काली भेड़' भी कहा। जिन्ना ने हक और नवाब दोनों को ही लीग से बरखास्त कर दिया और कहा कि दोनों को निकाल बाहर किया गया है। गवर्नर हरबर्ट हक की नई कैबिनेट के गठन को ज्यादा देर तक स्थगित नहीं रख सकते थे। अजीजुल हक के नेतृत्व में संक्षिप्त विचार के बाद 10 दिसंबर को उन्होंने सरकार बनाने के लिए हक को आमंत्रित किया और हक ने वह आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

यह तय था कि शरत बोस भी कैबिनेट के प्रमुख सदस्य होंगे। हालाँकि हरबर्ट इस पक्ष में नहीं थे और डॉ. मुकर्जी को बताया कि बोस को बाहर ही रखा जाना चाहिए। मंत्रियों के पहले समूह में हक, ढाका नवाब और डॉ. मुकर्जी ही होने चाहिए। उसी दौरान 7 दिसंबर को जापान ने पर्ल हार्बर पर बम गिराया और 8 दिसंबर को मित्र राष्ट्रों ने जापान के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया। 11 दिसंबर को अचानक बम सरीखी खबर सामने आई कि शरत बोस को गिरफ्तार कर लिया गया। यह भारत सरकार के आदेशों पर रेगुलेशन के तहत किया गया। उनपर जापान के साथ संबंध होने का संदेह था। प्रोग्रेसिव गठबंधन सरकार ने 12 दिसंबर को शपथ ली। डॉ. मुकर्जी वित्त मंत्री बने। वह अपनी पार्टी के अकेले प्रतिनिधि थे। उपेंद्रनाथ बर्मन अनुसूचित जाति से इकलौते मंत्री थे। वह राजवंशी समुदाय के थे। अनुसूचित जाति के दूसरे मंत्री के नाम पर समझौता नहीं हो सका था। वह नाम शूद्र समुदाय से लिया जाना था। बोस समूह के दो प्रतिनिधि मंत्री थे—संतोष बोस और प्रमथ बनर्जी। मुसलिम नाम आपसी सहमति से चुने गए, लेकिन डॉ. मुकर्जी को यह पता नहीं चल पाया कि अब्दुल करीम के चयन के पीछे असली कारण क्या था? हालाँकि उनके बारे में कहा गया, 'एक अच्छा आदमी, लेकिन उनका कोई विशेष दावा नहीं था।' सरकार के मंत्रियों से संबंधित सूचनाएँ भी अखबारों के माध्यम से बाहर आने लगी थीं।

फजलुल हक को शुरुआत में अपनी पार्टी के साथियों से ही काफी विरोध झेलना पड़ा कि डॉ. मुकर्जी को कैबिनेट में क्यों शामिल किया गया? यह विरोध डॉ. मुकर्जी की हिंदू समर्थक छवि के कारण किया गया। तब डॉ. मुकर्जी द्वारा हक की कड़ी आलोचना के कारण भी विरोध हुआ, जब हक मुसलिम लीग की हिंदू-विरोधी नीतियों को आँख मूँदकर लागू कर रहे थे। इस विरोध के जवाब में हक ने अपने एक सबसे करीबी सहयोगी अबुल मंसूर अहमद को बताया, ''सुनो अबुल, तुम डॉ. मुकर्जी को नहीं जानते। मैं जानता हूँ। वह सर आशुतोष के पुत्र हैं। इसका कोई मतलब नहीं है कि वह हिंदू महासभा के हैं। तुम्हें ऐसा लचीला और हिंदुओं के बीच मुसलमानों का इतना बड़ा शुभचिंतक व्यक्ति नहीं मिलेगा। यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास है तो उन पर भी भरोसा रखो।''

अबुल मंसूर अहमद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि एक बार सरकार में डॉ. मुकर्जी से मेल-मिलाप और बातचीत के जरिए उन्हें जाना तो मैंने एक-एक शब्द को सत्य पाया, जो हक ने कहा था। यही नहीं, उन्हें याद है कि हक ने ऐसा सार्वजनिक बयान दिया था कि डॉ. मुकर्जी ने बंगाल के मुसलिमों की देखभाल करने का दायित्व खुद अपने ऊपर ले लिया था। डॉ. मुकर्जी ने हिंदू बंगाल के संदर्भ में भी ऐसा ही किया। ऐसे बयान को स्टंट बताते हुए अहमद ने खुद टिप्पणी की थी कि डॉ. मुकर्जी ऐसा करने में सक्षम थे, क्योंकि वह पूरी तरह सांप्रदायिक पूर्वग्रह

से मुक्त थे। कांग्रेसी नेताओं की तुलना में वह इससे भी ज्यादा लचीले थे। इसके अलावा वह एक सर्वश्रेष्ठ वक्ता भी थे और अपने भाषणों से लोगों को आंदोलित कर सकते थे। अहमद कहते हैं कि उन्होंने डॉ. मुकर्जी को कुछ समय तक देखने के बाद ऐसा महसूस किया। एक हिंदू सभाई नेता होने के बावजूद उनके लिए मुसलिमों के प्रति भी लचीला होना संभव था। इसी प्रभाव के चलते अहमद ने अपनी लोकप्रिय (मुसलिमों में) पत्रिका 'नवाजुग' में एक संपादकीय लिखा और डॉ. मुकर्जी को कहा कि वह पूरे बंगाल की राजनीतिक यात्रा शुरू करें तथा अपने ही जिले मैमनसिंह से यह दौरा शुरू करें। उन्होंने कहा कि वह यह सुनिश्चित करेंगे कि उनकी सभाओं में कोई गड़बड़ न हो। लेकिन डॉ. मुकर्जी को यह सुनिश्चित करना पड़ेगा कि उन्होंने मुसलमानों का भरोसा जीत लिया है। अहमद ने आगे यह पाया कि वह विश्वस्त थे कि डॉ. मुकर्जी ऐसा कर सकते थे।

इन हालात में ही हक की दूसरी सरकार बनी। मुख्यधारा की राजनीति में प्रवेश करने के दो वर्षों के भीतर ही डॉ. मुकर्जी ऐसी पार्टी का हिस्सा थे, जिसे व्यावहारिक तौर पर प्रदेश में कोई समर्थन हासिल नहीं था, लेकिन वह बंगाल प्रेसीडेंसी के वित्त मंत्री बन गए। ऐसे ज्यादा लोग नहीं थे, जो उनसे तुलना कर सकते थे।

लीग सरकार को हटाए जाने से जनता में, खासकर हिंदुओं में, गहरी राहत महसूस की गई थी। सन् 1937 और 1941 के बीच लीग सरकार ने हिंदुओं को बहुत आहत किया था और संपूर्ण बंगाल की वास्तविक प्रगति थम गई थी। पहली बार सरकार अपने अस्तित्व के लिए हिंदू और मुसलिम के चुने हुए सदस्यों के साझा समर्थन पर आश्रित थी। सरकार को एंग्लो इंडियन और भारतीय ईसाइयों का भी समर्थन प्राप्त था। सर नजीमुद्दीन के नेतृत्व में लीग पार्टी के घटक यूरोपीय विधायक थे, जो प्रदेश में एक सशक्त हिंदू-मुसलिम गठबंधन को पसंद नहीं करते थे।

ऐसे नाजुक वक्त में बंगाल सरकार में डॉ. मुकर्जी के प्रवेश ने उनकी जिंदगी में एक नया और बेहद महत्त्वपूर्ण अध्याय शुरू किया। बंगाल तब तक उन्हें एक ऐसे शिक्षाविद् के रूप में जानता था, जिन्हें मजबूरी में राजनीति में आना पड़ा था। हिंदू महासभा के साथ उनके जुड़ाव पर कई कांग्रेसी राष्ट्रवादियों की भौंहें चढ़ी थीं। हक के साथ हाथ मिलाने में उन्होंने डॉ. मुकर्जी की बुद्धि पर संदेह किया और कुछ के इससे भी ज्यादा कठोर विचार थे। लेकिन एक मंत्री के तौर पर डॉ. मुकर्जी ने ब्रिटिश सरकार और सहानुभूतिहीन नौकरशाही के खिलाफ जो लड़ाई शुरू की, उससे न केवल उनके आलोचक खामोश हो गए, बल्कि एक व्यावहारिक और दूरदर्शी राजनेता के तौर पर उनका कद भी ऊँचा हुआ। एक सक्षम प्रशासक और सबसे ऊपर एक धुर राष्ट्रवादी के रूप में भी उनकी प्रशंसा हुई।

गठबंधन सरकार की स्थिति प्रारंभिक काल में आसान और सहज थी। पर डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया कि 'एक कठिन और ऊबड़-खाबड़ रास्ता उनके सामने है और जो बाधाओं से भरा हुआ है।' उन्हें संदेह था कि क्या वे कोई ठोस काम कर पाएँगे। शरत बोस की गैर-मौजूदगी वाकई खलनेवाली थी, क्योंकि उनसे सरकार को प्रतिष्ठा और ताकत मिल सकती थी। डॉ. मुकर्जी का कहना था—"लेकिन इसके बावजूद हमारी एकता नहीं टूटी और हम प्रदेश की खोई हुई स्थिति को बहाल करने को संकल्पबद्ध थे।" ब्रिटिश सरकार असहज थी, क्योंकि मंत्री

कलकत्ता की प्रेसीडेंसी जेल में बोस से निःसंकोच मिल रहे थे। भारत सरकार की मदद से हरबर्ट ने बोस को दक्षिण भारत के एक छोटे से राज्य कुर्ग के मरकारा में स्थानांतरित कर दिया। उसके ठीक बाद बोस ने अपनी पार्टी के मंत्रियों को इस्तीफा देने का निर्देश दिया। बोस की पार्टी के समर्थन के बिना सरकार एक दिन भी बची न रह सकती थी। ढाका के नवाब और संतोष बोस मरकारा गए और बोस को मनाया कि फिलहाल वह अपना फैसला स्थगित कर दें। डॉ. मुकर्जी खुद वायसराय और सर रेजीनॉल्ड मैक्सवेल से मिलने दिल्ली गए, ताकि बोस को रिहा कराया जा सके या उनका ट्रायल और उन्हें कलकत्ता स्थानांतरित किया जाए। लेकिन वायसराय और मैक्सवेल दोनों ही अड़े रहे। नतीजतन कुछ भी नहीं किया जा सका।

सरकार की दुसरी चुनौती यह थी कि गवर्नर के नेतृत्ववाली नौकरशाही सरकार के प्रति सहानुभूति नहीं रखती थी। गवर्नर मुसलिम लीग के खुले समर्थक थे और लीग की सरकार बनवाने में नाकाम रहने पर दुःखी थे। उनकी मुख्य शिकायत यह थी कि सरकार 'यूरोपीय समूह' के समर्थन के बिना भी काम कर रही है। लिहाजा वह समूह चीजों को उस तरह प्रभावित नहीं कर सकता था, जिस तरह हक के नेतृत्ववाली लीग सरकार के दौरान उसने किया था। इसके अलावा, ब्रिटिश बुनियादी तौर पर हिंदू और मुसलिम के बीच किसी भी तरह के सहयोग से नफरत करते थे। लिहाजा वे गठबंधन सरकार का पतन चाहते थे। जनता का कल्याण करनेवाले आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर सरकार को हरबर्ट का बहुत कम सहयोग मिलता था। गवर्नर का विधायकों पर यह निरंतर दबाव रहता था कि फजलुल हक को छोड़ दो और लीग के साथ मिल जाओ। 'डिफेंस ऑफ इंडिया रूल्स' ने गवर्नर की स्थिति, जिसकी सभी सचिवों और जिला अधिकारियों तक सीधी पहुँच थी, को सरकार की तुलना में अत्यधिक ताकतवर बना दिया था। निर्वाचित सरकार की शक्तियों को बहुत सीमित कर दिया गया था और सिर पर मँडरा रहे जापानी हमले के खिलाफ प्रदेश की सुरक्षा से जुड़े महत्त्वपूर्ण सवालों पर सरकार की आवाज बहुत मद्धिम थी। जिस समय बंगाल संकटग्रस्त था यह दुर्भाग्य था कि तब बंगाल में अदूरदर्शी, प्रतिक्रियावादी, सहानुभूतिहीन और गैर-जवाबदेह ब्रिटिश आई.सी.एस. अफसर कार्यरत थे। उनकी यही सोच थी कि सिर्फ शक्ति से दबाकर ही देश को शासित किया जा सकता है और वे ऐसा प्रशासन चाहते थे, जो सांप्रदायिक लपटों को हवा देता हो तथा वह क्लाइव स्ट्रीट की इच्छा के प्रति पूर्णतः समर्पित हो। डॉ. मुकर्जी ने गृहमंत्री हक से आदेश पारित कराए, जिन्हें वे न्यायोचित और विवेकपूर्ण मानते थे। लेकिन नियमित रस्साकशी में सचिवों की तिकड़म उन्हें पछाड़ देती थी या गवर्नर उन आदेशों पर वीटो कर देते थे। हरबर्ट ने डॉ. मुकर्जी पर आरोप लगाया कि वह गृह विभाग के मामलों में दखलंदाजी कर रहे हैं, जो उनका अपना मंत्रालय नहीं है। हक और डॉ. मुकर्जी दोनों ने जवाब दिया कि सामूहिक जिम्मेदारी के आधार पर इकट्ठा काम करना पूरी तरह से संवैधानिक है।

वास्तव में सरकार में ऐसे मंत्रिमंडल की संरचना ही नहीं थी, जैसी युद्ध और आंतरिक उपद्रवों व उथल-पुथल से ग्रस्त बंगाल की सेवा करने के लिए अपेक्षित थी। जहाँ तक प्रशासनिक योग्यता और अनुभव का सवाल था, हक और डॉ. मुकर्जी को छोड़कर कोई भी औसत दर्जे से ऊपर नहीं उठ सका था। सरकार में हिंदू पक्ष मुसलिम पक्ष की तुलना में ज्यादा ताकतवर था। हिंदू मंत्रियों—संतोष बोस, प्रमथ बनर्जी और डॉ. मुकर्जी—के अलावा अनुसूचित जाति के मंत्री

उपेंद्रनाथ बर्मन भी भरोसे के आदमी थे, जिन्होंने चीजों को सावधानी और यथार्थ के साथ करने के लिए कड़ी मेहनत की। मुसलिमों में निस्संदेह हक बहुत उत्कृष्ट थे। हक की दूसरी सरकार के दौरान उन्होंने स्थितियों को पूरी तरह पलट दिया। वह सांप्रदायिक सौहार्द को प्रोत्साहित करने और जन सामान्य की भलाई व कल्याण के लिए चिंतित थे। हालाँकि उनकी कई कमजोरियाँ भी थीं। उनकी योग्यता निस्संदेह थी, लेकिन उन पर हमेशा भरोसा नहीं किया जा सकता था और हर पल सतर्क रहना जरूरी था। किसी भी चीज पर गंभीरता से अपना दिमाग लगा सकें, यह उनके लिए थोड़ा मुश्किल था। शम्सुद्दीन अहमद हालाँकि सतही थे, लेकिन चालाक और बुद्धिमान भी थे। ढाका के नवाब, हालाँकि एक अच्छे और गैर-सांप्रदायिक व्यक्ति थे, लेकिन उनमें ऐसे चारित्रिक गुणों का अभाव था, जो उन्हें आम लोगों के बीच एक अच्छा नेता बना सकते। यदि वह ज्यादा संतुलित और बेदाग होते तो कमोबेश पूर्वी बंगाल के मुसलिमों के नेता बन सकते थे। हाशिम अली औसत योग्यता के व्यक्ति थे और निश्चित सीमाओं के परे नहीं जा सकते थे, लेकिन उन्होंने कड़ी मेहनत की। अब्दुल करीम एक हँसमुख, पूरी तरह ईमानदार और अच्छी भावना के आदमी थे, लेकिन वृद्ध थे। वास्तव में डॉ. मुकर्जी ही सरकार में एकमात्र सशक्त व्यक्तित्व थे।

एक शिक्षाविद् और बंगाल के बौद्धिक वर्ग के नेता के नाते डॉ. मुकर्जी के रुतबे ने गवर्नर को बाध्य किया कि वह उनका सम्मान करें। गवर्नर पहले उनके विरोधी थे। हक न केवल डॉ. मुकर्जी की काबिलियत का अत्यंत सम्मान करते थे, बल्कि वह उनके पिता सर आशुतोष के लिए भी आदर-सम्मान रखते थे, जिनसे उन्होंने कानून का प्रशिक्षण लिया था। लिहाजा वह उन्हें 'गुरुभाई' (एक ही गुरु या अध्यापक के शिष्य) की तरह देखते थे। नतीजतन, सरकार में बहुत जल्दी डॉ. मुकर्जी को मार्गदर्शक के रूप में देखा जाने लगा। खुद सरकार ने ही 'श्यामा-हक' कैबिनेट का उपनाम रख लिया। गठबंधन दल में अधिकृत कांग्रेस पार्टी (तथाकथित 'खादी समूह') के बिना ही 150 से ज्यादा सदस्य थे। लिहाजा सदन में पर्याप्त बहुमत था। किसी मुद्दे पर कैसे भी मतभेद रहे हों, लेकिन वे एक 'ठोस संयुक्त मोरचे' की तरह थे, जब भी गवर्नर से सामना होता था तो प्रशासन और कैबिनेट की बैठकों में भी वे एकजुट रहते थे। डॉ. मुकर्जी का दावा था कि यह सरकार ब्रिटिश शासन की शुरुआत से ही पहली सरकार थी, जिसे लोगों का ठोस समर्थन हासिल था। उसमें मुसलिमों का भी एक महत्त्वपूर्ण वर्ग शामिल था, जो फजलुल हक के नेतृत्व के पीछे चलने को तैयार था।

हालाँकि यह दावा आंशिक रूप से सत्य था। बेशक लीग ही मुसलिम समुदाय में सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ताकत थी। दूसरी ओर, हक भी वस्तुत: एक असल जनाधारवाले नेता थे; लेकिन उसी समय उनमें अपने विश्वासों के प्रति साहस की कमी भी थी। लिहाजा वह अपनी पार्टी के बैनर तले मुसलिमों को संगठित करने में नाकाम रहे। हिंदू मंत्रियों के संदर्भ में डॉ. मुकर्जी के अलावा कोई अन्य मंत्री अपने समुदाय पर न्यूनतम प्रभाव का भी दावा नहीं कर सकता था। इसके अलावा कांग्रेस का 'खादी समूह', जिसका हिंदुओं के बीच कुछ जनाधार था, डॉ. मुकर्जी के प्रति बहुत सहयोगपूर्ण नहीं था और कभी-कभी सरकार के प्रति शरारतें करता रहता था।

मंत्री बनने के कुछ दिनों के भीतर ही एक और महत्त्वपूर्ण घटना वर्ष 1941 में हुई, जिसने

डॉ. मुकर्जी की निर्भीक भावना और अपने विश्वासों के प्रति साहस पूरी दुनिया को दिखाया। हिंदू महासभा का 23वाँ वार्षिक अधिवेशन वीर सावरकर की अध्यक्षता में बिहार के भागलपुर में दिसंबर के अंत तक आयोजित होना तय हुआ था। वर्ष 1939 में कांग्रेस सरकार के इस्तीफे के बाद से बिहार में गवर्नर शासन था। बिहार के गवर्नर सर थॉमस स्टीवर्ट ने 19 मई से मुसीबतें पैदा करनी शुरू कर दीं। दिसंबर के आखिर में मुसलिमों का ईद का त्योहार भी पड़ता था और बिहार में भागलपुर सांप्रदायिक दृष्टि से शायद सबसे अधिक अशांत क्षेत्र था। लिहाजा बिहार सरकार उस वक्त महासभा अधिवेशन के लिए अनुमति देने को तैयार नहीं थी। गंभीर सांप्रदायिक गड़बड़ी के जोखिम के अलावा सरकार ने एक और पहलू पर विचार किया कि भागलपुर की नेपाल से निकटता और नेपाल के प्रति हिंदू महासभा का ज्ञात रवैया जिन्ना के पाकिस्तान आंदोलन का करारा जवाब साबित हो सकता था। महासभा अधिवेशन की तारीख कुछ और दिन आगे बढ़ाने को तैयार थी, ताकि अधिवेशन और मुसलिम त्योहार एक-दूसरे से न टकराएँ। लेकिन इस बात को कमजोरी और गलत समझा गया। 26 सितंबर को सरकार ने एक अधिसूचना जारी की और महासभा के अखिल भारतीय सम्मेलन को 1 दिसंबर, 1941 और 10 जनवरी, 1942 के बीच भागलपुर में आयोजित करने से रोक दिया। 3 अक्तूबर को अध्यक्ष सावरकर ने बिहार के गवर्नर से अनुरोध किया कि 1 जनवरी, 1942 से आगे की किसी भी तारीख को महासभा अधिवेशन की अनुमति दी जाए; लेकिन बिहार सरकार ने सबसे पहली संभावित तारीख 5 जनवरी बताई, जिस दिन अधिवेशन शुरू हो सकता था। 11 अक्तूबर, 1941 को नई दिल्ली में हिंदू महासभा की अखिल भारतीय कार्यसमिति की बैठक में तमाम तथ्यों पर विचार किया गया और प्रस्ताव पारित किया गया कि अधिवेशन 24 से 27 दिसंबर, ईद से तीन दिन पहले, भागलपुर में ही आयोजित किया जाएगा। ऐसा फैसला प्रतिबंध के बावजूद किया गया और उसी के मुताबिक तमाम बंदोबस्त के लिए आदेश दे दिए गए।

तब सावरकर ने वायसराय से मिलकर उनके हस्तक्षेप के लिए भी अनुरोध किया, ताकि भागलपुर अधिवेशन की अनुमति महासभा को मिल सके। वायसराय ने जवाब दिया कि इस विषय में बिहार के गवर्नर को निर्णय लेना था। लिहाजा वह गवर्नर के विवेक में हस्तक्षेप करने को तैयार नहीं हैं। बिहार नेताओं के एक प्रतिनिधिमंडल ने कलकत्ता में 19 नवंबर को सावरकर और डॉ. मुकर्जी से मुलाकात की, जब सावरकर ने उम्मीद जताई थी कि सरकार आखिरी वक्त पर प्रतिबंध उठा सकती है। उसी दौरान दरभंगा के महाराजा सर कामेश्वर सिंह, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् के एक सदस्य, ने यह सुझाव देते हुए उस विवाद को सुलझाने की कोशिश की कि अधिवेशन दरभंगा में कर लिया जाए, जहाँ सांप्रदायिक हालात भागलपुर की तुलना में कम गंभीर हैं। हालाँकि भागलपुर की अपेक्षा दरभंगा नेपाल के ज्यादा नजदीक था। महाराजा सर कामेश्वर सिंह ने गवर्नर और वायसराय को 29 नवंबर को यह प्रस्ताव भेज दिया और दोनों सहमत भी हो गए। लेकिन महासभा कार्यसमिति ने उस प्रस्ताव को खारिज कर दिया। 5 दिसंबर को अपने कार्यकारी अध्यक्ष डॉ. मुकर्जी को भागलपुर से जुड़े अभियान की योजना के बारे में लिखते हुए अध्यक्ष सावरकर ने कहा कि वह बंगाल की गठबंधन सरकार में शामिल हो जाएँ और उस दफ्तर से वह सबकुछ करें, जो वह कर सकते हैं। कलकत्ता में रहें और प्रतिबंध का उल्लंघन करने की

कोई भी कोशिश न करें तथा खुद को इस आंदोलन में शामिल कर लें। भागलपुर में नागरिक अवज्ञा आंदोलन के संदर्भ में कार्य-योजना को लेकर विस्तृत निर्देश 10 दिसंबर को भेजे गए। भागलपुर में 14 दिसंबर को पूर्ण हड़ताल थी, जिस दिन अखिल भारतीय 'भागलपुर दिवस' मनाया गया और उस दिन प्रतिबंध के खिलाफ एक बड़ी सार्वजनिक विरोध जनसभा थी।

23 दिसंबर, 1941 को बंगाल के वित्त मंत्री डॉ. मुकर्जी वायसराय से मिले और अधिवेशन के समय में कटौती की संभावना और समझौते के तौर पर अधिवेशन के कुछ निश्चित ब्योरों का सुझाव दिया। लेकिन स्टीवर्ट डॉ. मुकर्जी के समाधान के विपरीत थे। उनका मानना था कि इस तरह महासभा नाममात्र की रियायतें देगी, क्योंकि अध्यक्षीय भाषण तो पहले ही जारी किया जा चुका था। लिहाजा महासभा ने समझौते का कोई समय ही नहीं छोड़ा था। सरकार ने प्रतिबंध के उल्लंघन को रोकने के लिए सक्रिय कदम उठाए। अपनी डायरी में डॉ. मुकर्जी ने लिखा है—''भारत के सभी हिस्सों में बहुत उत्साह था और प्रतिबंध के विरोध के तौर पर अधिवेशन में शिरकत करने के लिए हजारों की भीड़ भागलपुर पहुँची। हमने बंगाल से आंदोलन की शुरुआत के लिए प्रभावी बंदोबस्त किए थे। मुंजे और खापर्डे सरीखे नेता कलकत्ता आए और वहाँ से भागलपुर के लिए रवाना हुए। महासभा के निर्वाचित अध्यक्ष सावरकर को गया में गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे नेताओं को भी भागलपुर में या उसके निकट गिरफ्तार किया गया। मैंने खुलासा नहीं किया कि मैं क्या करने जा रहा था।''

सावरकर की गिरफ्तारी के बाद डॉ. मुकर्जी ने भागलपुर जाना तय किया और अपने कहे अनुसार गवर्नर को अपने मंत्री पद से इस्तीफे की पेशकश की। सर जॉन हरबर्ट ने कोई परेशानी महसूस नहीं की, और न ही डॉ. मुकर्जी से इस्तीफे के बारे में कुछ पूछा। डॉ. मुकर्जी ने कोलगोंग (अब कहलगाँव, भागलपुर जिले में ही) में गिरफ्तारी दी, उन्हें 4-5 दिनों के बाद रिहा कर दिया गया। वास्तव में सरकार में कार्यरत मंत्री के नाते यह 'अभूतपूर्व कार्य' था कि प्रतिबंध का खुलेआम उल्लंघन किया गया, जिसे उन्होंने अन्यायपूर्ण और अनुचित करार दिया था। बहरहाल, सैकड़ों लोग गिरफ्तार किए गए और उत्साह इतना अधिक था कि बड़ी संख्या में गिरफ्तारियों के बावजूद विरोध रुक नहीं रहा था। जनवरी 1942 के आरंभ में सभी गिरफ्तार किए जानेवालों को रिहा कर दिया गया, लेकिन भागलपुर की घटना ने हिंदू महासभा के प्रति ब्रिटिश सरकार के रवैए का खुलासा कर दिया। चारों तरफ अत्यधिक उत्साह था और डॉ. मुकर्जी ने सावरकर को बिहार का दौरा करवाकर इस स्थिति का लाभ उठाने महासभा को बिहार में मजबूत बनाने का अनुरोध किया। जनता की भावनाएँ आंदोलित थीं।

डायरी में डॉ. मुकर्जी ने खुलासा किया था—''दुर्भाग्य से कुछ नहीं किया गया और हमने कमोबेश बिहार में एक अच्छी आधारशिला पर हिंदू सभा को संगठित करने का एक बड़ा मौका गँवा दिया।'' हालाँकि सरकार द्वारा भागलपुर अधिवेशन आयोजित नहीं करने दिया गया, लेकिन उसे व्यापक प्रचार मिला। केंद्रीय विधान मंडल और राज्य परिषद् दोनों में ही यह सामने आया। यह महत्त्वपूर्ण है कि कांग्रेस ने भागलपुर अधिवेशन पर सरकार के मनमाने और निरंकुश प्रतिबंध के विरोध को खूब प्रोत्साहित किया था। 27 दिसंबर, 1941 को मद्रास में आयोजित 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' की बैठक में उसकी निंदा की गई।

डॉ. मुकर्जी के सामने बतौर मंत्री पहला काम यह था कि बंगाल और केंद्र सरकार के बीच वित्तीय निपटारा निष्पक्ष और तर्कसम्मत आधार पर हो। वह यह देखकर हैरान थे कि वित्त विभाग का मुख्य कार्य ऐसे नियम बनाना था, जिनसे खर्च के छोटे आइटम कम किए जा सकें; जबकि कई बड़े आइटमों को आसानी से गड़प लिया जाता था, खासकर जब वे गोरों के हितों को प्रभावित करते थे। उनके सचिव वॉकर ने, जो एक काबिल लेकिन कम कल्पना का आदमी था, पहले-पहल निरंकुश बनने की कोशिश की, लेकिन बहुत जल्दी उसे पता चल गया कि आखिर बॉस कौन है! इस संदर्भ में एक युगांतरकारी घटना का ब्योरा दिया जा रहा है :

जनवरी 1942 में वॉकर और डॉ. मुकर्जी भारतीय प्रदेशों के वित्त मंत्रियों और सलाहकारों के एक सम्मेलन में भाग लेने नई दिल्ली गए। मुख्य रूप से यह तय किया जाना था कि भारत सरकार ने युद्ध के उद्देश्य के तहत प्रदेशों को जो आर्थिक योगदान दिया था, उस पर किस तरह विचार और उसका निपटारा किया जाए। यह तय हो गया था कि यदि हरेक मुद्दे पर खर्च के पहले भारत सरकार की पिछली स्वीकृति प्राप्त करनी है, तो देरी के कारण काम प्रभावित होगा। इस गतिरोध के समाधान के लिए यह सर्वसम्मति से तय हो गया कि या तो प्रदेश सरकारें खर्च करती रहें और एक निश्चित समय के बाद उसका निपटारा कर लिया जाए अथवा भारत सरकार का एक प्रतिनिधि अफसर घटनास्थल पर ही रहे और मुद्दे को दिल्ली भेजने के बजाय तुरंत अपनी राय दे दे। सम्मेलन का पूर्ण सत्र समाप्त होने के बाद यह तय किया गया कि भारत का वित्त विभाग प्रदेशों के संबद्ध सचिवों की सलाह लेगा और उसके मुताबिक योजनाओं को आकार देगा। अंततः उन्हें वित्त सदस्य सर जेरेमी रायसमैन और प्रदेशों के मंत्री व सलाहकार देखेंगे।

इस बंदोबस्त के मुताबिक अगली सुबह जब डॉ. मुकर्जी ने इंपीरियल सचिवालय में वित्त सदस्य के कमरे में उनसे मुलाकात की तो रायसमैन एवं वॉकर ने उनका स्वागत किया और कहा कि तमाम बंदोबस्त पूरे कर लिये गए हैं, सिर्फ उनकी स्वीकृति का इंतजार है। रायसमैन ने मुसकराते हुए डॉ. मुकर्जी को बताया कि मामलों को आसान करने के लिए भारत सरकार वॉकर पर भरोसा करने को तैयार थी। प्रदेश के वित्त सचिव के नाते वह प्रदेश की उन व्यय नीतियों को मंजूरी देने का भी दायित्व निभाएँ, जिनकी पूरी जिम्मेदारी केंद्र ले रहा था और भी ऋण उपलब्ध करा रहा था। डॉ. मुकर्जी यह जानकर बेहद हैरान थे कि वॉकर अपना दोहरा दायित्व क्यों और कैसे निभाएगा—सरकार के सचिव के तौर पर भी और प्रदेश को दिए जानेवाले खर्च की मदों में छँटनी तथा उन्हें स्वीकृति देने का दायित्व भी।

डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में लिखा है—''दूसरे शब्दों में, यह बिलकुल संभव था कि वित्त मंत्री के तौर पर जिस योजना को मैं स्वीकृति देता और बंगाल के हित में जरूरी मानता, उसे मेरा ही सचिव दिल्ली के प्रतिनिधि के तौर पर काम करने का दावा करते हुए या तो खारिज कर देता अथवा संशोधित कर देता।'' डॉ. मुकर्जी ने बंगाल सरकार के किसी अफसर पर भरोसा करने के लिए रायसमैन को बधाई दी कि वह अफसर भारत सरकार के प्रतिनिधि के तौर पर काम करेगा। लेकिन साथ में पुख्ता तौर पर यह भी जोड़ दिया कि यदि बंगाल से किसी को लेना था, तो खुद वित्त मंत्री को लेना चाहिए, किसी अन्य को नहीं। डॉ. मुकर्जी ने आगे यह भी स्पष्ट किया कि वह किसी ऐसे व्यक्ति के आदेश पर अपने निर्णयों को बदलने के लिए तैयार नहीं हैं, जो

बंगाल सचिवालय में उनका सहायक रहा था।

इस 'प्रत्यक्ष आक्रमण' के लिए तैयार न रहनेवाले रायसमैन और उनके साथियों ने कहा कि इसमें बहुत मेहनत लगेगी, जिसका जवाब डॉ. मुकर्जी ने दिया कि उसका फैसला वह खुद करेंगे। यह स्पष्ट था कि दिल्ली एक यूरोपीय आई.सी.एस. पर भरोसा करने को तैयार थी, जो प्रदेश से संबंध रखता था। दरअसल एक भारतीय प्रदेश के मंत्री पर विश्वास करने का कोई सवाल नहीं था। अंततः यह तय किया गया कि बंगाल के महालेखाकार सरीखा कोई अधिकारी, जो बंगाल सचिवालय से जुड़ा न हो, उस काम को करने के लिए चुना जाएगा। डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में लिखा है—"इस छोटी घटना ने मेरे दिमाग में एक छाप छोड़ दी। यह मेरे मंत्री बनने के बमुश्किल एक माह के बाद हुआ और मैंने अनुभव किया कि कितनी निराशाजनक स्थिति थी वह!"

यह घटना रेखांकित करती है कि भारतीय मंत्रियों के साथ अंग्रेज किस तरह छल व धोखे का आचरण करते थे और अधिकारी वर्ग के तौर-तरीकों को समझने की अंतर्दृष्टि और उनसे उचित ढंग से निपटने का माद्दा डॉ. मुकर्जी में था। गोरी चमड़ी का कोई आदमी अथवा आई.सी.एस. भी डॉ. मुकर्जी को डरा-धमका नहीं सकता था।

डॉ. मुकर्जी अपने सचिवालय के स्टाफ को खूब खींचकर रखते थे। वे जानते थे कि यदि मेहनत और ईमानदारी से वे काम करेंगे, तो उन्हें डरने की कोई जरूरत नहीं है। जहाँ तक नियमों की व्याख्या का सवाल था तो वॉकर अपने मंत्री के निश्चय को लेकर हैरान था, क्योंकि वह लचीले ढंग से नियमों की व्याख्या करते थे। खासकर कम तनख्वाहवाले स्टाफ के फायदे के संदर्भ में। सरकारी पेंशनधारक का एक दयनीय प्रसंग अध्याय 1 में दिया जा चुका है, जो 30 या 40 रुपए की माहवार पेंशन में 6-8 रुपए प्रतिमाह की बढ़ोतरी कराना चाहता था। डॉ. मुकर्जी ने अपने तमाम अधिकारी वर्ग के विरोध के बावजूद उस काम को किया।

अंततः डॉ. मुकर्जी ने प्रादेशिक बजट को पूरी क्षमता के साथ सँभाला और बजट बनाने में पेश आई कठिनाइयों व बाधाओं पर काबू पाया। सरकार बने सिर्फ दो माह ही हुए थे। 1942-43 के बजट प्रस्तावों को सिर्फ तीन सप्ताह में ही तैयार करना था। वे प्रस्ताव जनवरी 1942 के प्रथम सप्ताह में हुई कैबिनेट की बैठक में पारित किए जा चुके थे। 16 फरवरी को विधानसभा में बजट प्रस्ताव पेश किए गए। अपने बजटीय भाषण में डॉ. मुकर्जी ने कहा कि सीमित अर्थ में उनके बजट की प्रकृति 'युद्ध बजट' की है, जिसमें पर्याप्त महत्त्व की नागरिक रक्षा योजनाओं को रखा गया है। 'राष्ट्र बचाव' ने 'राष्ट्र-निर्माण' की जगह ले ली है। उन्होंने सदन में सभी दलों से कहा कि जब तक मौजूदा आपात स्थिति रहेगी, तब तक प्रदेश के अपर्याप्त संसाधन उन उद्देश्यों की ओर नहीं मोड़े जाएँगे, जो फिलहाल प्रतीक्षा कर सकते हैं।

डॉ. मुकर्जी ने 24 फरवरी को सांप्रदायिक सौहार्द और तमाम राजनीतिक मतभेदों को भुलाने की माँग करते हुए अपने बजटीय भाषण को समाप्त किया। डॉ. मुकर्जी की डायरी के इन अंशों के साथ उस दौर के निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है—"मेरा सचिवालय स्टाफ पूरी तरह मेरी प्रशंसा कर रहा था, जो जवाब देते हुए मैंने उग्र और तीखी टिप्पणियाँ की थीं। विपक्ष को बिलकुल चुप करा दिया था। भाषण वित्तीय के बजाय राजनीतिक ज्यादा था और साल के बजट पर सामान्य

बहस के जवाब में मैंने वह भाषण दिया था। मुझे करोड़ों रुपए सँभालने थे, दूसरे स्रोतों से उधार भी लेना था। हालाँकि मैं खुश था कि बंगाल और भारत के बीच वित्तीय निपटारा एक निष्पक्ष और तर्कसंगत आधार पर हुआ था।''

नई सरकार के सामने एक और काम यह था कि बंगाल को उस जापानी हमले के खतरे के लिए तैयार करना था, जो 7 दिसंबर, 1941 को जापान पर आक्रमण की घोषणा के बाद ज्यादा भयावह बनता जा रहा था। भारत की ब्रिटिश सरकार शत्रु से लड़ाई के लिए लोगों को तैयार करने के बजाय आंतकित हो अव्यवहारिक नीतियों का अनुकरण कर रही थी।

''गुप्त निर्देश थे कि आक्रमण की स्थिति में अधिकारियों को क्या करना था। सेना की नाकामी ने व्यावहारिक तौर पर संकेत दिया था कि सरकार ने बंगाल को छोड़ने का मन बना लिया है।'' डॉ. मुकर्जी ने भारत सरकार की 'इनकार नीति' की घोषणा में यह पाया। उस नीति में परिवहन और संचार के साधनों को नष्ट करना और संकटग्रस्त क्षेत्रों से चावल के भंडारों को हटाना भी शामिल था। ''भारत में ब्रिटिश प्रशासन की घबराहट, बेचैनी (नर्वस ब्रेकडाउन) का एक भयावह प्रमाण!'' डॉ. मुकर्जी की दलील थी कि कथित खतरेवाले क्षेत्र में संचार के साधनों को नष्ट करने या हटाने के बजाय सक्रिय रहने दिया जाए। हार की स्थिति में और दुश्मन के आक्रमण करने पर आखिरी वक्त में उन्हें नष्ट किया जाए। यदि दुश्मन यहाँ तक न पहुँच सका और जोकि अंततः हुआ तो सरकार द्वारा थोपी हुई विनाशकारी नीति प्रदेश के एक बड़े हिस्से के सामाजिक और आर्थिक जीवन को पूरी तरह बरबाद कर देगी। हालाँकि उनकी सलाह की अवहेलना की गई और उनके रुख को गलत समझते हुए इसे शत्रु के साथ सहानुभूति का संकेत माना गया। सर्वक्षार नीति, जिसे 'इनकार और खाली कर देने' की नीति भी कहते हैं, को कुख्यात तिकड़ी ने बनाया था—लियोपोल्ड आमेरी, लॉर्ड लिनलिथगो और सबसे ऊपर सर जॉन आर्थर हरबर्ट। उन्होंने ही वर्ष 1943 के जघन्य 'बंगाल के अकाल' को बढ़ावा दिया। अकाल और उसे रोकने में डॉ. मुकर्जी की भूमिका और राहत के बंदोबस्त आदि पर अगले अध्याय में चर्चा होगी।

एक और विषय था, जिसे लेकर सरकार ने अपने को बेहद असहाय महसूस किया। मौजूदा सैन्य नियमों द्वारा लोगों को अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए लामबंद होने से रोका गया। डॉ. मुकर्जी ने इस मुद्दे को सीधे गवर्नर के समक्ष उठाने का निश्चय किया। यह जानकर कि गवर्नर युद्ध के हालात पर वायसराय के साथ विमर्श करने दिल्ली जा रहे हैं, उन्होंने 7 मार्च, 1942 को उन्हें एक महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा। उन्होंने सिर पर मँडरा रहे जापानी आक्रमण की स्थिति में मातृभूमि की रक्षा के लिए एक बंगाली सेना के गठन का आग्रह किया। वह ऐसे नाजुक वक्त पर बंगाली सैनिकों की गृह सेना के गठन को अनुमति देना चाहते थे। गवर्नर हरबर्ट ने इस पर आपत्ति जताई। पहले उन्होंने कहा कि यह इंडियन आर्मी नीति के पूरी तरह खिलाफ होगा कि बंगाल की अपनी सेना हो। इस पर डॉ. मुकर्जी की दलील थी कि आदमी द्वारा बनाए गए कायदे-कानूनों को आदमी ही बदल सकता है। हरबर्ट की दूसरी दलील थी कि पर्याप्त हथियार और गोला-बारूद उपलब्ध नहीं हैं। इस पर डॉ. मुकर्जी का पलट जवाब था कि हथियार और असलाह काफी मात्रा में बनाया जा सकता है या विदेश से आयात किया जा सकता है। हरबर्ट की तीसरी आपत्ति थी कि कोई भी सैन्य प्रशिक्षक नहीं है। इस पर डॉ. मुकर्जी ने कहा कि सैन्य प्रशिक्षक

भारत के दूसरे हिस्सों या साम्राज्य के अन्य हिस्सों से लाए जा सकते हैं। उन्होंने महसूस किया कि अंग्रेजों का भारतीयों और बंगालियों के प्रति अविश्वास ही मुख्य बाधा है। डॉ. मुकर्जी ने गवर्नर के साथ-साथ वायसराय से भी अपील की कि बंगाल को अपनी विशेष गृह सेना गठित करने का अधिकार दिया जाए, जिसमें हिंदू-मुसलिमों की बराबर संख्या होगी। उनकी यह अपील नाकाम रही और बंगाल तथा अन्यत्र भी हालात खराब होते रहे।

अंग्रेजों की प्रतिक्रिया को भी, हालाँकि अप्रत्याशित नहीं कहा जा सकता। ब्रिटिशों के सामने पहले ही बंगाली मध्य वर्ग का सैन्यवाद था—खुदीराम बोस से लेकर सूर्यसेन और अंततः सुभाष चंद्र बोस तक। ब्रिटिश बंगालियों को यह सिखाने के मूड में नहीं थे कि आधुनिक हथियारों को कैसे चलाया जाए। शायद हरबर्ट सरीखे गवर्नर के साथ डॉ. मुकर्जी को अपने प्रयासों को व्यर्थ करने की जरूरत नहीं थी।

उसी दौरान मार्च, 1942 में ब्रिटिश सरकार ने युद्ध-नीतियों को अच्छी तरह लागू करने के भारतीय सवाल को हल करने और युद्ध-प्रयासों के लिए भारतीय राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए लॉर्ड प्रिवीसील सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। लेबर पार्टी के सांसद क्रिप्स रूस में जबरदस्त सफलता के बाद लौटे ही थे और प्रधानमंत्री चर्चिल की तरह ही लोकप्रिय थे। डॉ. मुकर्जी क्रिप्स को पहले से ही जानते थे, जब वह भारत आए थे और उनके साथ दो लंबी चर्चाएँ 28 मार्च और 30 मार्च, 1942 को हो चुकी थीं। डॉ. मुकर्जी एक बार सावरकर के नेतृत्ववाली हिंदू महासभा के प्रतिनिधि के तौर पर और दूसरी बार बंगाल के मंत्री के रूप में क्रिप्स से मिले थे। डॉ. मुकर्जी ने उन्हें अपनी अहमियत को लेकर बेहद सचेत और सजग पाया। वह शेखी बघारते हुए कहते थे कि यदि भारत में वह अपने लक्ष्य में सफल हो गए तो पूरे ब्रिटिश साम्राज्य में कोई भी उनके मुकाबले का नहीं रहेगा।

डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में दर्ज किया था—''क्रिप्स ने भारतीय समस्या के समाधान की यथासंभव कोशिश कीं। अनुसूचित जातियों को लेकर वह पूरी तरह उदासीन थे। वास्तव में उनकी असफलता एक बड़ी त्रासदी जैसी थी।''

हालाँकि क्रिप्स की योजनाओं में बहुत कुछ ऐसा था, जिसे महासभा पसंद करती थी। उन्होंने कहा कि दस्तावेज को या तो पूर्णतः स्वीकार करना था अथवा खारिज करना था, जहाँ तक उसके बुनियादी हिस्सों का सवाल था। ब्रिटिश सरकार ने गैर-विलय के अधिकार (एक प्रदेश के भारत में ही रहने या उससे अलग होने के अधिकार) को बुनियादी माना। डॉ. मुकर्जी ने क्रिप्स को साफ-साफ बता दिया कि भारत की समस्या आसान नहीं है। तब महासभा ने रक्षा मंत्रालय का सवाल उठाया और कहा कि वे दो रक्षा सलाहकार चाहती है—एक हिंदू और एक मुसलिम। वायसराय को उनकी सलाह स्वीकार करनी पड़ेगी। क्रिप्स ने कहा कि उन्हें यह एक व्यावहारिक योजना नहीं लगती।

डॉ. मुकर्जी भारत के संभावित विभाजन की योजना को बेहद नापसंद करते थे और गैर-विलय के उन प्रावधानों को लेकर बहुत चिंतित थे, जो राज्यों को भारतीय संघ से अलग होने की छूट देते थे। उन्होंने कहा, ''तुम भारत में ब्रिटिश शासन की एक महान् उपलब्धि को अपने ही हाथों से तोड़ रहे हो—भारत की संपूर्ण राजनीतिक एकता को।'' अपनी योजना की कमजोरियों

को जानते हुए क्रिप्स ने कहा कि ब्रिटिश राजसत्ता की सरकार मुसलिम लीग को मनाने के लिए कमोबेश यही कर सकती थी। क्रिप्स ने डॉ. मुकर्जी को बताया कि वह हालात की गंभीरता को महसूस करते हैं और यह भी बताया कि योजना को स्वीकार करने पर क्या-क्या विकल्प हो सकते हैं। क्रिप्स के मुताबिक, डॉ. मुकर्जी सामान्य तौर पर संतुष्ट थे, पर कुछ लंबित समस्याओं के समाधान के लिए इस योजना को स्वीकार करने में पूरी तरह सहमत नहीं थे।

डॉ. मुकर्जी की डायरी खुलासा करती है कि बाद के समय में उन्होंने क्रिप्स की योजना के बारे अपनी राय में संशोधन किया था। यह सच है कि कागजों पर उस योजना ने अंतरिम बंदोबस्त के संबंध में भारतीयों को व्यावहारिक तौर पर कुछ नहीं दिया। फिर भी, समय की दृष्टि से इसे देखते हुए डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया कि भारतीय इस पेशकश को स्वीकार कर सकते हैं और वर्ष 1942 में ही सत्ता हासिल कर सकते हैं। हालाँकि कुछ संदर्भों में वह पेशकश असंतोषजनक हो सकती थी। उस समय जापान तेज गति से भारत की ओर बढ़ रहा था। हर चीज टुकड़े-टुकड़े हो रही थी और ब्रिटिशों की प्रतिष्ठा सबसे क्षीण दशा में थी। उस समय ब्रिटिश राजसत्ता की सरकार अपने ही हितों के साथ स्थिर रहना चाहती थी और भारत को अपने साथ रखे बिना इंग्लैंड एशिया में उस विश्वयुद्ध को जीत नहीं सकता था। भारतीयों की पूर्ण स्वतंत्रता का सवेरा तब जल्दी उग गया होता। डॉ. मुकर्जी ने दर्ज किया है कि ऐसा कार्य किया जा सकता था, यदि भारत की सबसे बड़ी और सुसंगठित पार्टी कांग्रेस ब्रिटिश सरकार की शर्तों पर सहमत हो जाती।

बुनियादी तौर पर क्रिप्स के पास भारत का सहयोग पाने के बदले में पेशकश करने को कुछ ठोस नहीं था। यह अफवाह थी कि निजी तौर पर क्रिप्स ने भारत को पूर्ण शासनाधिकार का दर्जा देने और अलोकप्रिय वायसराय लिनलिथगो को हटाने का वायदा किया था; लेकिन सार्वजनिक तौर पर वह एक बड़ी और भव्य स्व-सरकार का ठोस प्रस्ताव देने में नाकाम रहे। वायसराय की कार्यकारी परिषद् में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाने जैसे अनिश्चित वायदे ही करते रहे। दरअसल क्रिप्स ने अपना ज्यादा समय कांग्रेस नेताओं और जिन्ना को प्रोत्साहित करने में ही बिताया, ताकि युद्ध व सरकार के समर्थन में साझा और सार्वजनिक बंदोबस्त के लिए उन्हें मनाया जा सके।

बंगाल में फजलुल हक के नेतृत्ववाली सरकार भारी तनावों के बीच थी और अपनी राजनीतिक धारणाओं के खिलाफ काम करने को उसे बाध्य किया जा रहा था। उसे खतरेवाले क्षेत्र से चावल और धान को हटाने की योजना को लागू करने के लिए कहा गया था। यह इनकारी नीति का ही एक महत्त्वपूर्ण घटक था। सरकार को खाद्य आपूर्ति और मूल्य नियंत्रण सरीखी समस्याओं से भी निपटना था। वाणिज्य और श्रम विभाग, जो नागरिक आपूर्ति का प्रभारी था, पहले अब्दुल करीम को सौंपा गया था। जब बंदोबस्त असंतोषजनक साबित हुए तो विभाग बदलकर ढाका के नवाब को दे दिया गया।

वर्ष 1942 के मध्य के करीब बंगाल में जिस तरह घटनाक्रम चल रहा था, उसके मद्देनजर ऐसा लगता था कि डॉ. मुकर्जी ने तय किया कि हरबर्ट के प्रति भले और अच्छे बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। उस आदमी ने उन्हें अपने शत्रु के तौर पर चुन लिया था। वह हक की सरकार को पलटने और मुसलिम लीग के नेतृत्ववाले गठबंधन की सरकार बनवाने पर आमादा था। जुलाई 1942 में जब वायसराय लिनलिथगो से मिलने और अन्य कामों के संदर्भ में डॉ.

मुकर्जी दिल्ली में थे तो उन्होंने 26 जुलाई को गवर्नर हरबर्ट को एक लंबा पत्र लिखा। उसमें उन्होंने हरबर्ट की कार्यशैली पर अपना असंतोष जताया और भविष्यवाणी की कि यदि उन्होंने अपना रवैया नहीं बदला तो विनाश और बरबादी तय है। अकाल के रूप में ऐसा हुआ भी। इससे पहले 7 मार्च को डॉ. मुकर्जी ने हरबर्ट के दिल्ली प्रवास की पूर्व संध्या पर भी एक महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था। तब युद्ध के हालात के बारे में वायसराय और कमांडर-इन-चीफ के साथ बैठक करने हरबर्ट को दिल्ली जाना था। उस पत्र में डॉ. मुकर्जी ने गृह रक्षा के लिए खासतौर से बंगाली सेना गठित करने का सख्त दबाव बनाया था, लेकिन गवर्नर नहीं माना।

26 जुलाई, 1942 को दिल्ली से भेजे लंबे पत्र में डॉ. मुकर्जी ने प्रत्यक्ष रूप से हरबर्ट पर आरोप लगाया कि सरकार के प्रति उनमें दुर्भावनाएँ भरी हुई हैं और वह सरकार को उखाड़ फेंकने की कोशिश कर रहे हैं। इन आरोपों के लिए ठोस कारण थे। डॉ. मुकर्जी ने पूरी तरह संसदीय रहते हुए हरबर्ट के खिलाफ गलत भाषा का इस्तेमाल नहीं किया था। हरबर्ट के साथ-साथ ब्रिटिश नौकरशाही पर भी डॉ. मुकर्जी खूब गरजे-बरसे। मुख्यत: डॉ. मुकर्जी ने गवर्नर के कपटी और चालबाज व्यवहार के लिए उनपर हमला किया था कि ब्रिटिश प्रशासन का मुखिया होते हुए भी वह मुसलिम लीग का समर्थन कर रहे थे। पत्र में कुछ भाषा ऐसी इस्तेमाल की गई थी कि डॉ. मुकर्जी में ही गवर्नर को वैसी भाषा में पत्र लिखने का साहस था :

''यह एक खुला रहस्य है कि बंगाल में फजलुल हक के नेतृत्व में हिंदू-मुसलिम गठबंधन का स्थायी अधिकारियों के एक तबके ने स्वागत नहीं किया था। यह निश्चित तौर पर कहना मेरे लिए संभव नहीं था कि यह मौजूदा गठबंधन को नापसंद करने के कारण ही था, जिसमें खासतौर पर हिंदू भी शामिल थे, जिन्होंने अतीत में कई प्रशासनिक कार्यों का विरोध किया था। यह कुछ ताकतवर लोगों के मुसलिम लीग के प्रति असाधारण जुड़ाव के कारण भी हो सकता था, जो फजलुल हक की नई सरकार के गठन से वाकई कमजोर हुई थी। हमें अकसर बताया जाता था कि भारत का भावी राजनीतिक विकास अवरुद्ध हो गया है, क्योंकि प्रदेश शासन में हिंदू और मुसलिम नेता एक साथ काम करने में नाकाम रहे थे। ब्रिटिश भारत के इतिहास में पहली बार हमें जो भी लोकतांत्रिक संविधान दिया गया, इसके अनेक अवगुणों के बावजूद वह बंगाल में उन हिंदू और मुसलिम प्रतिनिधियों द्वारा कारगर रहा, जिनका अपने समुदाय पर खासा प्रभाव था। जाहिर है कि इस प्रयोग की कामयाबी ने उस दलील को झूठा साबित कर दिया कि भारत के राजनीतिक विकास की राह में सांप्रदायिक समरसता का अभाव खड़ा है। लिहाजा यह देखना कट्टरपंथी अधिकारियों के भी हित में होता कि यह प्रयोग नाकाम साबित हुआ।

''साफ-साफ कहूँ तो सरकार के प्रति आपका अपना रवैया, शुरुआत से ही, संतोषजनक नहीं रहा है। मैं यहाँ उस संकोच को याद नहीं करूँगा, जो नई सरकार के गठन के लिए फजलुल हक से मिलने में आपने दिखाया था। दिसंबर के शुरू में पिछली सरकार ने इस्तीफा दिया था। मैं इस पर भी चर्चा नहीं करूँगा कि कलकत्ता और दरअसल पूरा बंगाल किस तरह अफवाहों से भरा था कि सर नजीमुद्दीन को अल्पमत में होने के बावजूद, को उच्च स्थान से आश्वासन मिला था कि फजलुल हक को नहीं, अपितु उन्हें नई सरकार गठित करने को कहा जाएगा। इन घटनाओं को भी पृष्ठभूमि में रखते हुए मेरी निराशा और हैरानी की भावनाओं को गौर कीजिए कि बीते

सात महीनों के दौरान आप मुसलिम लीग के साथ, किसी भी कीमत पर, समझौते की जरूरत पर लगातार बोलते रहे थे। हालाँकि सात माह से मुसलिम लीग ने निष्ठुर और गाली-गलौज वाला अभियान जारी रखा। सरकार और खासतौर से मुख्यमंत्री के खिलाफ था यह अभियान! इस प्रकार कानून-व्यवस्था को कमजोर करते हुए सांप्रदायिक भावावेश को उत्तेजित किया। इसे विपक्ष द्वारा संवैधानिक आंदोलन मानें या व्यक्तिगत तौर पर मंत्रियों पर महज हमले, जिन्होंने सरकार पर जरा भी प्रभाव नहीं डाला। फजलुल हक और उनके साथियों को पूरी गति के साथ आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करने के बजाय आपने मौके-बेमौके मुसलिम लीग के उद्देश्यों की पैरवी करना जरूरी समझा। ऐसी विशेष पैरोकारी ने हमें आपकी ओर एक तटस्थ संवैधानिक मुखिया के तौर पर देखने के बजाय मुसलिम लीग पार्टी के ही एक निष्ठावान् और विशिष्ट संरक्षक के तौर पर देखने को बाध्य किया। वास्तव में, यह हम सबके लिए एक रहस्य है।''

''पुनश्च : तरस आता है कि आपने खुद को कुछ अधिकारियों की सलाह के माध्यम से ही लोगों के अधिकारों और स्वतंत्रता से जुड़े महत्त्वपूर्ण मामलों में निर्देशित किए जाने की अनुमति दी। आप अपने संवैधानिक सलाहकारों की बात नहीं मानते थे।

''आपने प्रदेश में सरकार के भीतर ही सरकार को काम करने की इजाजत दी है, जहाँ असली ताकत उन लोगों के हाथ में रही है, जिन पर लोगों के समर्थन के साथ प्रदेश की संवैधानिक सरकार को चलाने की बहुत कम जिम्मेदारी है। यह एक गंभीर आरोप है। लेकिन आपको जानना चाहिए कि आपने जानबूझकर या अनजाने में ही अपने मंत्रियों के दिमाग में ऐसी गहरी छाप बना दी थी, जो मुश्किल से ही प्रदेश के अच्छे प्रशासन के मुताबिक थी।''

हरबर्ट और नौकरशाही के खिलाफ आरोपों के साथ-साथ डॉ. मुकर्जी ने पत्र में इसपर भी ध्यान दिया कि ब्रिटिश शासन को भारतीयों पर अलग ढंग से सोचने की जरूरत है। सुभाषचंद्र बोस के विपरीत डॉ. मुकर्जी जापानियों के प्रशंसक नहीं थे और इस नारे में भी विश्वास नहीं रखते थे कि 'मेरे शत्रु का शत्रु मेरा मित्र है।' जब वह यह पत्र लिख रहे थे तो कांग्रेस कार्यसमिति 'भारत छोड़ो' आंदोलन को पहले ही अंतिम रूप दे चुकी थी। डॉ. मुकर्जी को पूर्वाभास हो गया था कि ब्रिटिशों की इस पर तीखी प्रतिक्रिया हो सकती है। वह आनेवाले आघात को हलका करने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने हरबर्ट को विश्वास दिलाने की कोशिश की कि भारतीय चाहते हैं कि अंग्रेज यहाँ से चले जाएँ। युद्ध की समाप्ति तक इंतजार किया जा सकता है। लेकिन यह तय है कि हम नहीं चाहते कि जापानी अंग्रेजों का स्थान ले लें। फिलहाल हम देखेंगे कि क्या करना होगा।

जब डॉ. मुकर्जी दिल्ली में वायसराय से मिले तो उन्होंने पाया कि लिनलिथगो राजनीतिक हालात से सख्ती से निपटने को पूरी तरह तैयार थे। उन्होंने यह भी महसूस किया कि कांग्रेस के आंदोलन से लड़ने की अपेक्षा इसकी शुरुआत हक सरकार से की जाएगी। यह कहते हुए उन्होंने अपनी बात समाप्त की कि लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों को ताकत दी जाए, जो गवर्नर के साथ साझा हों। संवैधानिक मुखिया के नाते काम करते हुए गवर्नर युद्ध के दौरान महत्त्वपूर्ण समस्याओं से निपटें। उसी दौरान हरबर्ट ने वायसराय से शिकायत की कि हक के रवैए को लेकर वह बहुत आश्वस्त नहीं हैं (बागी कांग्रेस को अनुशासित करने के संदर्भ में)। हक डॉ. मुकर्जी के प्रभाव

में हैं और डाँवाँडोल, ढुलमुल होने के संकेत दिखाए हैं। नतीजतन बंगाल सरकार जरूरी कारवाई करने में अनिच्छुक हो सकती है। पंजाब, उड़ीसा और सिंध में मंत्रियों के साथ ऐसी कठिनाई का अनुमान नहीं था।

कलकत्ता लौटते हुए डॉ. मुकर्जी इलाहाबाद में कुछ घंटों के लिए रुके और पं. जवाहर लाल नेहरू के साथ लंबी चर्चा की। उन्होंने गवर्नर को लिखे अपने पत्रों की प्रतियाँ नेहरू को दीं, जो साफ संकेत करते थे कि एक मंत्री के तौर पर दायित्व निभाने के लिए वह किन मुसीबतों के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। जब वह कलकत्ता लौटे तो भारत छोड़ो आंदोलन के लिए मंच पूरी तरह तैयार हो चुका था। आंदोलन शुरू करने के संदर्भ में अंतिम निर्देश देने के लिए गांधीजी को अधिकृत किया गया था।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के महत्त्वपूर्ण दिनों में जाने से पहले एक घटना का उल्लेख करेंगे, जिससे स्पष्ट होता है कि डॉ. मुकर्जी कितने गहरे मानवीय व्यक्ति थे। घटना प्रख्यात बँगला मुसलिम कवि काजी नजरुल इसलाम से जुड़ी है, जो रवींद्रनाथ टैगोर की तरह भारत और बँगलादेश, दोनों देशों में लोकप्रिय थे।

काजी नजरुल इसलाम एक कवि, संगीतकार और क्रांतिकारी थे। उनकी कविताओं में फासीवाद, दमन और धार्मिक कट्टरवादिता के खिलाफ गहरी आध्यात्मिकता के भाव थे। उन्होंने मुसलिम लीग की अलगाववादी सियासत के खिलाफ भी लिखा और व्यापक मुहिम चलाई। उनकी कविता और राष्ट्रवादी सक्रियता के कारण उन्हें 'विद्रोही कवि' का लोकप्रिय नाम दिया गया। नजरुल को अधिकृत तौर पर बँगलादेश का 'राष्ट्रकवि' बनाया गया और भारत, खासकर पश्चिम बंगाल, में भी उनकी बेहद प्रशंसा की गई। मौजूदा पश्चिम बंगाल के बर्धमान जिले के एक गरीब मुसलिम परिवार में जनमे नजरुल ने थिएटर समूहों के साथ काम करते हुए कविता, नाटक और साहित्य को सीखा। ब्रिटिश भारत सेना में नौकरी करने के बाद, जहाँ मेसोपोटामिया में प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उन्होंने लड़ाई देखी, नजरुल ने कलकत्ता में खुद को एक पत्रकार के रूप में स्थापित किया। ब्रिटिश सत्ताधारियों के हाथों उन्हें जेल के कष्ट भी सहने पड़े।

नजरुल धन के मामले में एक बेफिक्र इनसान थे। अपनी पत्नी की बीमारी और उसके इलाज के कारण उनपर 7,000 रुपए (उन दिनों में एक बड़ी राशि) का कर्ज था। लिहाजा कर्जदाताओं से उन्हें उधार माँगना पड़ा। तभी उन्हें एक बँगला फिल्म में संगीतकार की पेशकश हुई थी। उन्हें उम्मीद थी कि जो पैसा मिलेगा, उससे वह संकटमुक्त हो जाएँगे। उसी दौरान फजलुल हक, जिनके वह करीब थे, ने उन्हें अपनी पार्टी के मुखपत्र 'नोबोजुग' का संपादक बनने को कहा और उनकी पारिवारिक समस्याओं का समाधान करने का भी आश्वासन दिया। हालाँकि नजरुल के संगीत निर्देशक का काम छोड़ने के बाद हक ने धीरे-धीरे बेदिली दिखानी शुरू की और कई महीनों तक उन्हें कोई पैसा नहीं दिया। नजरुल घोर संकट में थे और अंतत: जुलाई 1942 में डॉ. मुकर्जी से मिले। डॉ. मुकर्जी ने न केवल उनके कर्ज के भुगतान का बंदोबस्त किया, बल्कि उन्हें मधुपुर स्थित अपने मकान में 'मेहमान' के तौर पर कुछ 'बदलाव' और स्वास्थ्य-लाभ के लिए भेजा। नजरुल अपनी पत्नी के साथ 'गंगाप्रसाद हाउस' के उपभवन में करीब दो माह रहे और बहुत हद तक सामान्य स्थिति में आ गए। मधुपुर में ठहरने के आखिरी दौर में उन्होंने डॉ. मुकर्जी का आभार व्यक्त करते

हुए उन्हें जो पत्र लिखा था, वह पढ़कर किसी का भी दिल पसीज सकता है।

हालाँकि अभी उन्हें पता नहीं था, लेकिन उसी दौरान नजरुल एक अज्ञात बीमारी के शिकार हो गए। वह स्नायु-तंत्र संबंधी कोई गंभीर रोग था (संभवत: पिक्स रोग, अलजाइमर्स सरीखा रोग)। उसके कारण वह अपनी आवाज और स्मृति खो बैठे। सन् 1952 में उनके प्रशंसकों ने 'नजरुल ट्रीटमेंट सोसाइटी' नामक एक संगठन बनाया और डॉ. मुकर्जी उस संगठन के पीछे प्रमुख ताकतों में एक थे। उस समूह ने उनके लंदन और वियना जाने का बंदोबस्त किया, तब जिसे चिकित्सा का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र माना जाता था। लेकिन नजरुल की स्थिति में सुधार नहीं हुआ। वह सन् 1972 तक कलकत्ता में एक जड़, निष्क्रिय व्यक्ति की तरह जिए। बँगलादेश सरकार द्वारा आमंत्रित नजरुल और उनका परिवार 1972 में ढाका चला गया, जहाँ चार साल बाद उनका निधन हो गया।

अब हम 'भारत छोड़ो' की ओर लौटते हैं। अंतत: 8 अगस्त, 1942 को बंबई के गोवालिया टैंक मैदान (अब अगस्त क्रांति मैदान) से गांधी ने 'भारत छोड़ो' का आह्वान किया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने प्रस्ताव को स्वीकृति दी थी। ब्रिटिश शासन ने तुरंत ही प्रतिकार किया और अगले ही दिन कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को जेल में डाल दिया। नतीजतन, आंदोलन बेतरतीब हो गया और स्थानीय नेताओं ने उसका नेतृत्व किया।

अन्य राजनीतिक दलों ने आंदोलन में कांग्रेस का साथ नहीं दिया था। कम्युनिस्ट खुलेआम ब्रिटिश सरकार के साथ थे और उन्होंने आंदोलन को पटरी से उतारने की कोशिशें कीं। बीते साल हिटलर ने अपना 'ऑपरेशन बारबारोसा' या सोवियत रूस पर हमला शुरू कर दिया था। उस बिंदु तक भारतीय कम्युनिस्ट उसे 'साम्राज्यवादी युद्ध' करार देते थे और उसका विरोध करते थे। सोवियत संघ पर हमले के साथ ही रातोरात उन्होंने अपनी धारा बदल ली और जो साम्राज्यवादी युद्ध था, वह 'पीपुल्स वार' बन गया। इससे आगे, भारतीय कम्युनिस्ट पूरी तरह अंग्रेजों के साथ रहे और ब्रिटिश शासन के कुकर्मों पर लीपा-पोती करने के लिए तुच्छ पाखंडों में लिप्त हो गए। मुसलिम लीग और हिंदू महासभा, दोनों ने आंदोलन से खुद को दूर रखा। वर्ष 1939 से हिंदू महासभा के नेता डॉ. मुकर्जी ने पार्टी लाइन का पालन किया और संसदीय राजनीति जारी रखी। अनुसूचित जातियों के नेता डॉ. बी.आर. अंबेडकर भी आंदोलन के कटु आलोचक थे और कहते थे कि यह एक पागलपने और जोखिम का काम था, जिसने अत्यंत तकलीफदेह आकार लिया और पूरी तरह नाकाम साबित हुआ।

कलकत्ता से लौटने पर हक ने डॉ. मुकर्जी को बताया कि भारत सरकार की ओर से कुछ महत्त्वपूर्ण गुप्त निर्देश आए हैं। उन्होंने गवर्नर से अनुरोध किया कि पूरे विषय को कैबिनेट की बैठक में रखा जाए। गवर्नर ने ऐसा करने से इनकार कर दिया और हक को जवाब दिया कि कैबिनेट की बैठक बाद में होगी। हरबर्ट को उम्मीद थी कि जो मंत्री भारत सरकार की नीति से असहमत होगा, वह तुरंत इस्तीफा देगा। उस अभूतपूर्व स्थिति पर विचार करने के लिए मंत्रियों की बैठक हुई। जिम्मेदार मंत्रियों पर भी संदेह किया जाता था और उन महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों तक पहुँच से इनकार कर दिया जाता था, जिन पर गुप्त रूप से आई.सी.एस. अफसरों के साथ चर्चा की जाती थी। यह प्रादेशिक स्वायत्तता का मजाक था। 9 अगस्त की सुबह गवर्नर ने कैबिनेट को

बुलाया, लेकिन बैठक नहीं हो सकी और स्थगित करनी पड़ी, क्योंकि सभी मंत्रियों की जिद थी कि दस्तावेजों को देखे बिना वे आगे नहीं बढ़ेंगे। मंत्री 'गवर्नमेंट हाउस' से जाने ही वाले थे कि अतिरिक्त गृह सचिव पोर्टर फाइल के साथ आए और उसे मुख्यमंत्री को सौंप दिया। मुख्यमंत्री ने वह फाइल डॉ. मुकर्जी को दे दी। डॉ. मुकर्जी फाइल को घर ले आए और उसे बहुत सावधानी से पढ़ा। यह स्पष्ट था कि कांग्रेस की कोई उत्तेजनात्मक काररवाई से बहुत पहले ही सरकार ने तय कर लिया था कि दमन का अभियान शुरू कर दिया जाए। उस उद्देश्य के सभी ब्योरों की विस्तृत रूपरेखा पत्र में दी गई थी। संक्षेप में, यह कहा गया था—'इलाज से परहेज बेहतर है।'

इस बार सरकार को संभावित विद्रोह का पूर्वानुमान था, लिहाजा शुरुआत से ही हालात से सख्ती से निपटने का दृढ़ निश्चय कर लिया गया था। सरकार को स्वतंत्रता संघर्ष के 'भारत छोड़ो' आंदोलन की पहले से ही जानकारी थी और वह पर्याप्त रूप से उसके लिए तैयार थी। क्या कांग्रेस की ओर से 'भारत छोड़ो' आंदोलन की पूर्व सूचना सरकार को दी गई थी? यह हम कभी भी नहीं जान पाएँगे।

यह स्पष्ट था कि सरकार ने गवर्नर और आई.सी.एस. कोटरी के जरिए बंगाल को चलाने का सपना सँजो रखा था। मंत्रियों को नाममात्र के लिए रखा गया था। डॉ. मुकर्जी इस व्यवस्था पर बहुत असहज महसूस करते थे। उन्हें लगता था कि मंत्री के तौर पर काम करना बेकार है, जब वे नौकरशाही के हाथों के महज औजार बने हों। मंत्री ढाका के नवाब के घर पर मिले, ताकि आगे की कार्ययोजना तय कर सकें, लेकिन बिना किसी अंतिम निर्णय के बैठक समाप्त हो गई। यह स्पष्ट था कि कोई भी मंत्री इस्तीफा देने को तैयार नहीं था। डॉ. मुकर्जी के सभी साथियों ने उनसे इस्तीफा न देने और इस मामले में हड़बड़ी न करने की याचना की। दूसरी तरफ, गवर्नर ने महसूस किया कि डॉ. मुकर्जी अपना कार्यालय छोड़ सकते हैं। हरबर्ट ने मंत्रियों को याद दिलाया कि नीति भारत सरकार की है और यह बदली नहीं जा सकती। यदि कोई मंत्री उससे असहमत है तो उन्हें प्रसन्नता होगी, यदि वह मंत्री उस समय में अपने इस्तीफे की पेशकश करे, जब भारत को एक खतरनाक युद्ध की धमकी दी गई है।

हालाँकि 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पर डॉ. मुकर्जी के निजी विचार संतुलित थे और महासभा की विचारधारा से पूरी तरह मेल नहीं खाते थे। वह प्रस्ताव के देशभक्ति वाले कथ्य से पूरी तरह सहमत थे, लेकिन गंभीर शर्तों के साथ उसमें उन्होंने खोट भी देखा था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा प्रस्ताव पारित करने से पहले कांग्रेस कार्यसमिति ने जुलाई 1942 में वर्धा बैठक में उसे मंजूरी दी थी। इसे लेकर डॉ. मुकर्जी सतर्क और सावधान थे। 26 जुलाई, 1942 को गवर्नर हरबर्ट को संबोधित पत्र में उन्होंने लिखा था—''कार्यसमिति की यह घोषणा कि अंग्रेजों को देश छोड़कर वापस जाने को कहा जाए, उसके बाद यह स्पष्टीकरण कि भारत में बचे हुए और शत्रु से लड़ रहे ब्रिटिश या मित्र राष्ट्रों के दस्तों के साथ वापसी का ऐसा आग्रह नहीं किया जाएगा। यह घोषणा पर्याप्त रूप से भ्रमित विचारों का खुलासा करती है। ब्रिटिश वापस चले जाते हैं और भारतीयों के साथ समझौते में ब्रिटिश कोई संवैधानिक व्यवस्था तय नहीं करते हैं, ताकि व्यवस्था ठीक-ठाक जारी रहे। यदि भारतीय समस्या इतनी आसान होती तो भारत को बहुत पहले आजादी हासिल हो चुकी होती।'' लॉर्ड लिनलिथगो को 12 अगस्त, 1942 को कांग्रेस के प्रस्ताव पारित

करने के सिर्फ चार दिन बाद लिखे पत्र में उन्होंने साफ तौर पर कहा था—''8 अगस्त के भारत छोड़ो प्रस्ताव में कांग्रेस की जो माँग है, दरअसल वह भारत की पूर्णत: राष्ट्रीय माँग है। यह खेदजनक है कि गलत प्रतिनिधित्व का अभियान जारी है। कांग्रेस का निमंत्रण दरअसल जापान की उथल-पुथल, भ्रम के प्रति समर्पण का आमंत्रण है। कुछ भी अचानक न करना कांग्रेस का दायित्व है, जो उथल-पुथल और अव्यवस्था का नेतृत्व करने को बाध्य है, ताकि आप भी सुनिश्चित कर सकें कि असंतोष और अनिष्ठा का भी कोई तत्काल कारण नहीं हो सकता। नतीजतन उथल-पुथल और अव्यवस्था की इस नाजुक घड़ी में दमन कोई इलाज नहीं है।''

हालाँकि यह सब बहरे कानों ने सुना। भारत में ब्रिटिश सरकार इतनी चिड़चिड़ी हो गई थी और जापान के हमले को लेकर इतनी आशंकित थी कि अंग्रेज एक छोटे से शोर पर ही कूद पड़ते थे और फिर दमन की शासन-पद्धति को निरंकुशता से छोड़ दिया जाता था। ऐसा कई स्थानों पर हुआ, लेकिन बंगाल के मिदनापुर जिले के तामलुक में जो हुआ, उसने निजी तौर पर डॉ. मुकर्जी को प्रभावित किया। हम स्वतंत्रता संघर्ष के इस चरण और उसके बाद की त्रासदी का अगले अध्याय में वर्णन करेंगे, जिसके साथ डॉ. मुकर्जी गहरे जुड़े हुए थे। फिलहाल संपूर्ण बंगाल और भारत के परिदृश्य को देखेंगे।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के आह्वान ने पूरे देश को बगावत की स्थिति में खड़ा कर दिया था। चूँकि प्रमुख नेताओं को जेल में डाल दिया गया था, लिहाजा आंदोलन का कोई केंद्रीय नियंत्रण नहीं था। अनेक प्रकार की बाधाएँ और गड़बड़ियाँ पैदा हो रही थीं। महाविपत्ति और तबाहीवाले उग्र आंदोलन के प्रभाव से एक के बाद एक प्रदेश हिल उठे थे। रेलवे, सड़क और संचार के साधनों को विनष्ट किए जाने से पुलिस और कानून के रक्षक समाज की प्रचंड शक्ति के सम्मुख बेबस हो गए थे। हड़तालों और प्रदर्शनों ने पूरे देश में खलबली मचा दी थी। विविध प्रकार की अनेक शक्तियाँ आंदोलन को सफल बनाने में एकजुट हो गई थीं। ऐसा लगता था मानो प्रशासन को लकवा मार गया हो।

जब कलकत्ता आंदोलन की लपटों में घिर गया, तो वेलिंगटन चौक पर अंग्रेजों द्वारा छात्रों के प्रदर्शन पर हमला किया गया। नतीजतन छोटे हमले और पलटवार शुरू हुए। ट्राम, कारों और अन्य वाहनों को जलाया जाने लगा। डॉ. मुकर्जी समझ नहीं पा रहे थे कि पुलिस को जब बल-प्रयोग नहीं करने के स्पष्ट निर्देश दिए गए थे, तो उनका उल्लंघन क्यों हुआ? बाद में उन्होंने पूछताछ की कि बल-प्रयोग करने से पहले मुख्यमंत्री को सूचित क्यों नहीं किया गया? तो उसका जवाब संतोषजनक नहीं था। कानून-व्यवस्था के बड़े अधिकारी अकसर हर रोज गवर्नमेंट हाउस में गवर्नर से मिलते और सीधा उनसे निर्देश लेते थे। मुख्यमंत्री, जो गृह मंत्री भी थे, को नजरअंदाज किया जाता था। दूसरे मंत्रियों के बारे में तो क्या कहें! बंगाल जल रहा था और उस दौरान कलकत्ता दमन और गोलीबारी के अविश्वसनीय दृश्यों का साक्ष्य बना। कई मासूम जिंदगियाँ चली गईं। हक ने बंगाल विधानसभा में बताया कि अगस्त 1942 में कांग्रेस का आंदोलन शुरू होने से लेकर नवंबर के अंत तक कलकत्ता में ही पुलिस द्वारा 21 लोग मारे गए। हालात काबू से बाहर हो गए थे। इस संदर्भ में सभी मंत्री असहाय थे। जब कलकत्ता के बाहर आंदोलन तेज हुआ तो उसकी सूचना धीरे-धीरे आ रही थी। दरअसल प्रशासन पर अधिकारियों का नियंत्रण था।

उसी दौरान 'भारत छोड़ो' आंदोलन ने हिंदू महासभा को एक मुश्किल स्थिति में ला खड़ा किया। अखिल भारतीय हिंदू महासभा की कार्यसमिति की बैठक 29-31 अगस्त, 1942 को दिल्ली में हुई, जिसमें राजनीतिक हालात की समीक्षा की गई। सरकार की दमनकारी नीति की भर्त्सना में महासभा कुछ नरम रही थी और उसने कहा कि यदि सरकार गुड़-गोबर नहीं करती तो हालात कभी भी इतने खराब न होते। दिल्ली जाते हुए डॉ. मुकर्जी ने रेलवे स्टेशनों और उनकी करीबी बस्तियों को देखा तथा पाया कि कितनी भीषण बगावत थी वह! दरअसल यदि यह कुछ और समय जारी रहती तो संपूर्ण प्रशासन ध्वस्त हो गया होता! हमले का मुख्य बिंदु संचार के साधनों को तोड़ना था। युद्ध के दौरान इसका प्रशासन पर अत्यंत विनाशकारी प्रभाव हो सकता था। इसमें कोई संदेह नहीं था कि सरकार की दुष्टता और भ्रष्टता के कारण हालात इतने उग्र हुए थे और सरकार ने भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करने से भी इनकार कर दिया था।

दिल्ली में ही डॉ. मुकर्जी ने पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री और बहु-धार्मिक यूनियनिस्ट पार्टी के नेता सर सिकंदर हयात खान के साथ लंबी चर्चा की, लेकिन खान ने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। उन्होंने कहा कि समझौते की चाबी वायसराय के पास है। लीग के बिना मुसलिमों से समझौते की कोशिश करने का कोई लाभ नहीं था। वायसराय उसकी कोई परवाह भी न करते। वायसराय ने अपनी सोच बना ली थी कि वह मुसलिमों के एकमात्र नेता के तौर पर जिन्ना को ही मान्यता देंगे।

8 सितंबर, 1942 को डॉ. मुकर्जी ने वायसराय से मिलने का अनुरोध किया। वह पूना में गांधी से मिलने की अनुमति भी लेना चाहते थे। अगले दिन ही वायसराय से मिलने की इजाजत मिल गई। दूसरी चीजों के बीच सिकंदर हयात खान बिलकुल सही साबित हुए। वह मुलाकात डॉ. मुकर्जी के लिए अच्छी नहीं रही। उन्हें कई असहज सवालों का सामना करना पड़ा, जिनके जवाब नहीं दिए जा सकते थे—न उनके द्वारा और न ही किसी अन्य के द्वारा।

वायसराय लिनलिथगो ने डॉ. मुकर्जी को बताया कि उन्होंने मध्यस्थ के तौर पर अपनी भूमिका हटा ली, क्योंकि समझौते की एक शर्त महात्मा गांधी ने यह रखी थी कि पहले पाकिस्तान मुद्दे का परित्याग किया जाए तथा वे उसपर अड़े रहे। वायसराय ने डॉ. मुकर्जी के प्रस्तावों के बारे में उनसे चर्चा की। उन्होंने पूछा कि 'राष्ट्रीय सरकार के मायने क्या हैं?' उस पर डॉ. मुकर्जी को कबूल करना पड़ा कि दरअसल उनके पास स्पष्ट प्रस्ताव नहीं है। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय सरकार तब सही मायनों में 'राष्ट्रीय' है, जब वह सबका प्रतिनिधित्व करे। वायसराय ने पूछा कि क्या डॉ. मुकर्जी को अपनी राष्ट्रीय सरकार के लिए कांग्रेस और लीग का समर्थन हासिल करने की उम्मीद है? डॉ. मुकर्जी को जवाब देना पड़ा कि उन्हें कम उम्मीद है। दूसरे, डॉ. मुकर्जी उस सवाल का भी जवाब नहीं दे सके कि क्या वह हिंदू महासभा पर ही आधारित सरकार की अपेक्षा करते हैं? क्या सही अर्थों में कांग्रेस या लीग के बिना किसी सरकार को 'राष्ट्रीय' कहा जा सकता है? तीसरे, उन्होंने स्वीकार किया कि केंद्र में पूरी तरह हिंदू राजनीतिक सरकार की स्थिति में भीषण सांप्रदायिक संकट को नगण्य नहीं कहा जा सकता। अंततः वायसराय ने कहा कि उनकी मौजूदा कार्यकारी परिषद् का कोई विकल्प ऐसा होना चाहिए, जिसे जन-समर्थन हासिल हो और युद्ध को पूरा समर्थन दे। डॉ. मुकर्जी की दलील सामान्य थी कि यदि मुसलिम लीग चुनाव नहीं

लड़ती और कांग्रेस लड़ नहीं सकती तो ब्रिटिश सरकार को खाली सीटें महासभा को देनी चाहिए। लिनलिथगो ने उन्हें चेताया कि यदि वह हिंदू महासभा पर ही आधारित सरकार की सोच रहे हैं और मुसलिमों के सिर्फ कुछ बेमेल तबके उसके साथ हैं, तो वह सफलता की उम्मीद न करें, क्योंकि कांग्रेस और लीग दोनों ही विपक्ष में होंगी।

डॉ. मुकर्जी ने वायसराय को बहुत दूराग्रही महसूस किया। उन्होंने कहा कि वे हिंदू ही थे, जिन्होंने जिन्ना को बढ़ावा दिया, क्योंकि जिन्ना को सरकार नहीं, कांग्रेस ने महान् बनाया है। कांग्रेस ने पाकिस्तान के मुद्दे पर जिन्ना को गंभीरता से लेने की गलती की। डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में साफ तौर पर स्वीकार किया था—''हालाँकि मैं वायसराय से अन्य विषयों पर बहुत असहमत था, लेकिन उन्होंने जो कहा, उसमें काफी कुछ सच था।'' बहरहाल, लिनलिथगो ने यह नहीं कहा कि किसी संवैधानिक प्रगति के लिए उनके दरवाजे बंद हैं। उन्होंने डॉ. मुकर्जी को अपनी योजना के खिलाफ कार्य करने सरीखी व्यावहारिक आपत्तियों के बाबत साफतौर पर बताया। जब डॉ. मुकर्जी ने पूछा कि क्या वह गांधी से मिल सकते हैं, तो वायसराय का जवाब था—नो। तब उन्होंने पूछा कि कुछ दिनों में वह फिर वापस आ सकते हैं? इस पर वायसराय ने कहा कि जब तक स्थिति में कोई ठोस बदलाव नहीं आ जाता, तब तक नहीं। डॉ. मुकर्जी ने प्रेस को इतना ही बताया कि वायसराय के साथ उनकी पूरी और खुली चर्चा हुई; लेकिन उनकी डायरी में उनकी निराशा दर्ज है—''इस तरह हमारे प्रयास नाकाम रहे; लेकिन जबरदस्त बेमेल स्थितियों के बावजूद हिंदू और मुसलिम तथा अन्य समुदायों के बीच समझौता हो सकता था, यदि ब्रिटिश सरकार सब बातों को विवेकपूर्ण ढंग से लेती।''

तब डॉ. मुकर्जी जिन्ना से मिले। दो व्यक्तित्व, राजनीतिक तौर पर दो विपरीत ध्रुवों पर, अपनी स्थिति से पूरी तरह आश्वस्त, संघर्ष के बिना दूसरे की बात मानने को तैयार नहीं और उसके पीछे भी ठोस राजनीतिक दलील होनी चाहिए। वे दृढ़ निश्चयी और आत्मसम्मानी समकक्ष की तरह मिले—कोई भाईचारे का काम नहीं, कोई फुसलाना या खुशामद करना नहीं, कोई घुटने टेकने का भाव नहीं। मुलाकात दिल्ली में थी और तीन घंटे तक चली। डॉ. मुकर्जी ने दर्ज किया कि दोनों ही एक-दूसरे से खुलकर बोले। वी.पी. मेनन के मुताबिक, जो मुख्य विचार उन्होंने जिन्ना के सामने रखा, वह यह था कि दोनों समुदायों के प्रतिनिधियों को मिलना चाहिए। दोनों को ही खुलासा करना चाहिए कि किस तरह वह एक-दूसरे समुदाय से सुरक्षा की अपेक्षा करते हैं। महासभा प्रदेशों की पूरी स्वायत्तता को मानने की इच्छुक थी और अल्पसंख्यकों को उनके धर्म, भाषा एवं रीति-रिवाज के संदर्भ में अधिकतम सुरक्षा देने की पक्षधर थी। हालाँकि पाकिस्तान के सवाल पर जिन्ना अड़े हुए थे, लेकिन डॉ. मुकर्जी उसके खिलाफ थे। दोनों में सहमति का कोई भी बिंदु नहीं था। डॉ. मुकर्जी ने जिन्ना को याद दिलाया कि क्रिप्स के भारत आने से पहले जिन्ना चाहते थे कि पाकिस्तान का निषेध नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन संविधान बनाते हुए निष्पक्ष और गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए? डॉ. मुकर्जी ने पूछा, उस आधार पर क्यों न उन्हें वायसराय से एक अंतरिम राष्ट्रीय सरकार की तुरंत स्थापना की माँग पर सहमत हो जाना चाहिए और उसके बाद कांग्रेस नेताओं को रिहा कर देना चाहिए? जिन्ना ने तत्काल जवाब दिया और कहा कि तब से अब हालात बदल गए, जब क्रिप्स ने उन्हें पाकिस्तान सरीखी कोई चीज

दी। हालाँकि बिलकुल वैसी नहीं जैसी वह चाहते थे। लिहाजा जिन्ना ने साफ कहा कि अब समझौते का उनका आधार पाकिस्तान के सिद्धांत को स्वीकृति देना होगा और तभी वह किसी अंतरिम समझौते की बात कर सकेंगे। डॉ. मुकर्जी ने उन्हें स्पष्ट बताया कि पाकिस्तान की उनकी दलील पूरी तरह से एक भ्रांति है। लेकिन जिन्ना पर कोई असर नहीं हुआ। डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में लिखा था कि दोनों के बीच कोई भी कटुता नहीं थी। वे इस पर सहमत हुए कि एक-दूसरे पर आरोप लगाते हुए बयान जारी नहीं करेंगे; लेकिन दोनों खुश थे कि उन्होंने एक-दूसरे के विचार जानने और आपस में एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करने की कोशिश की।

जब डॉ. मुकर्जी बंगाल लौटे तो पाया कि विधानसभा में बेहद उत्तेजना की स्थिति थी। हरबर्ट मंत्रियों के व्यवहार से खुश नहीं थे। गवर्नर की शिकायत थी कि कानून तोड़ने की निंदा और भर्त्सना मंत्रियों ने मुखर रूप से नहीं की। वह विधानसभा में एक प्रस्ताव पारित कराना चाहते थे।

विधानसभा की बैठक के दौरान गवर्नर द्वारा प्रेरित यूरोपीय समूह ने ऐसे विषय पर एक प्रस्ताव पेश किया, जिसे स्पष्ट रूप से कोई भी सरकार स्वीकार नहीं कर सकती थी। बदरुद्दोजा ने अधिकृत संशोधन पेश किया। वह गठबंधन पार्टी के महासचिव थे। उस संशोधन में सरकार ने इस पर बल दिया कि कानून-व्यवस्था को बरकरार रखना सरकार का दायित्व है। कोई भी प्रशासन महज बल और लोगों की सहर्ष सहमति के बिना नहीं चलाया जा सकता। संशोधन की माँग थी कि स्वतंत्रता के भारत के अधिकार को मान्यता दी जाए और उस लक्ष्य के लिए तत्काल एक राजनीतिक समझौता किया जाए।

मुसलिम लीग ने संशोधन पेश किए जाने का जोरदार विरोध किया, जो तकनीकी रूप से सामान्य नहीं था। तब स्पीकर का पद खाली था, क्योंकि अजीजुल हक भारत के उच्चायुक्त बनकर ब्रिटेन चले गए थे। विधानसभा उपाध्यक्ष जलालुद्दीन हाशमी पीठासीन थे। व्यवस्था के सवाल उठाए गए और यूरोपीय तथा मुसलिम लीग की साझा चिंता यह थी कि बदरुद्दोजा के संशोधन पर मत-विभाजन न कराया जाए। हिंदू और मुसलिम की एक बड़ी संख्या द्वारा समर्थित उस संशोधन से प्रमाणित हो जाता कि सरकार को दोनों समुदायों से कितना समर्थन प्राप्त था और भारत के आत्म-सम्मान के सिद्धांत को विरोध के बावजूद थामे रखा गया था।

उसके बाद बैठक में जितने अभद्र हो सकते थे, ऐसे दृश्य देखे गए—शोरगुल और पलटकर चीखना-चिल्लाना, हमले, कड़ी आलोचना और उनका पलटवार··· । बदरुद्दोजा का रास्ता रोका गया, ताकि वह अपना भाषण न दे सकें या अपना संशोधन तक न पढ़ सकें। शोर मचाकर उन्हें बोलने नहीं दिया गया और विपक्ष के नेताओं के साथ भी ऐसा व्यवहार किया गया। ऐसे हालात में, उपाध्यक्ष बहस को समाप्त करना चाहते थे और संशोधन पर मत-विभाजन कराना चाहते थे। उन्होंने मुसलिम लीग को अपना कोई संशोधन पेश करने का मौका दिया, लेकिन लीग का मकसद देरी करने की रणनीति को बनाए रखना था। अंततः जब बदरुद्दोजा के संशोधन पर मत-विभाजन होने ही वाला था, तो विपक्ष के कुछ सदस्य उपाध्यक्ष की ओर लपके और उनपर हमला करने की कोशिश की। उपाध्यक्ष खुद ही विकलांग थे और अपनी बैसाखियों के सहारे चलते थे, जिन्हें छीनने की कोशिश की गई। अंततः विधानसभा को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करना पड़ा।

सबको स्पष्ट था कि यह प्रदर्शन गवर्नर के भड़काने पर ही संभव हुआ था। यूरोपीय पार्टी

ने तब तक विपक्ष के साथ खड़ा होना तय कर लिया था। अभी तक वह एक स्वतंत्र पार्टी की तरह काम कर रही थी और मुश्किल से कभी ही सरकार के खिलाफ उसने वोट दिया था। चूँकि अब उसने विपक्ष के साथ हाथ मिलाना तय कर लिया था, लिहाजा विपक्ष ने संख्या बल की एक महत्त्वपूर्ण ताकत हासिल कर ली थी।

जब हरबर्ट ने एक कठोर नियम लागू किया कि सभी मंत्री या तो भारत सरकार की नीति का पालन करें अथवा इस्तीफा दे दें, तब डॉ. मुकर्जी ने हरबर्ट को बताया कि उन्होंने दो कारणों से तत्काल इस्तीफा नहीं दिया था : पहले, वह अखिल भारतीय मुद्दों को वायसराय और फिर एच.एम.जी. के सामने रखना चाहते थे—वह एक मंत्री का सबसे ऊँचे ब्रिटिश ओहदेदारों तक अपने विचारों को पहुँचाने का एक संवैधानिक रास्ता था; और दूसरे, चूँकि उनके साथी उनका अनुसरण करने को तैयार नहीं थे, लिहाजा वह हरबर्ट से यह आश्वासन लेने को चिंतित थे कि वह इस्तीफे का दुरुपयोग नहीं करेंगे और धमकी या साजिश के जरिए मुसलिम लीग की फिर से सत्ता स्थापित नहीं करेंगे। हरबर्ट ने डॉ. मुकर्जी को आश्वस्त किया कि वह ऐसा कुछ नहीं करेंगे, जिसका उन्हें भय था। 12 अगस्त, 1942 को डॉ. मुकर्जी ने हरबर्ट के जरिए लिनलिथगो को एक पत्र भेजा। उस ऐतिहासिक पत्र में डॉ. मुकर्जी ने राष्ट्रवादी भारत का दृष्टिकोण रखा और ब्रिटेन तथा भारत के बीच तुरंत समझौते के लिए ठोस सुझाव दिए।

कभी-कभार इस शरारती प्रचार के बारे में भी सुना जाता रहा है कि 'भारत छोड़ो' आंदोलन के विरोध के संदर्भ में डॉ. मुकर्जी और कम्युनिस्ट एक जैसे थे। वायसराय को संबोधित डॉ. मुकर्जी का यह पत्र आंदोलन की शुरुआत के सिर्फ तीन दिन बाद ही लिखा गया था। उसमें तमाम संदेहों को असत्य साबित किया गया। पत्र में उन्होंने लिखा था—''लिहाजा यह अनिवार्य है कि भारत के स्वतंत्र दर्जे को तुरंत ही मान्यता देनी चाहिए और देश के लोगों को मित्र राष्ट्रों के सहयोग से अपने देश को बचाना चाहिए। सिर पर मँडरा रहे आक्रमण से लड़ने के लिए महज ब्रिटेन की ओर नहीं देखना चाहिए। कांग्रेस की माँग, जैसा कि उसके अंतिम प्रस्ताव में उल्लेख है, वाकई समग्र भारत की राष्ट्रीय माँग है। यह खेदजनक है कि अब गलत प्रतिनिधित्व का अभियान विदेशी प्रेस के कुछ तबकों में जारी है। कांग्रेस की माँग को अब जापान को निमंत्रण और उथल-पुथल तथा भ्रम के प्रति समर्पण के रूप में आँका जा रहा था। एक सच्चे राजनेता और राजनेतृत्व की भावना से लोगों की असल माँग से निपटने का ब्रिटिश सरकार का इनकार एक बड़ी तबाही को जन्म देगा, यह सुनिश्चित करना भी आपका दायित्व है कि असंतोष और अनिष्ठा का ऐसा कोई कारण नहीं होगा, जिसका नतीजा उथल-पुथल और अव्यवस्था हो। इस नाजुक घड़ी में दमन कोई समाधान नहीं है।''

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, डॉ. मुकर्जी प्रस्ताव के देशभक्तिवाले कथ्य से पूरी तरह सहमत थे, लेकिन कुछ तकनीकी पहलुओं पर उनकी गंभीर शर्तें थीं और वह स्पष्ट बोलने से नहीं डरते थे।

इतना ही नहीं, जब कांग्रेसी नेता जेल में बंद थे, तो डॉ. मुकर्जी ने उनके कल्याण में काफी रुचि ली और उन्हें जेल में ही पढ़ाने के लिए कलकत्ता यूनिवर्सिटी के माध्यम से बंदोबस्त किया। एक संबंधी ने स्मरण किया था कि जब कुशीप्रसून चटर्जी, एक वकील और कांग्रेस कार्यकर्ता ने अपने घर में कांग्रेस पार्टी के नकदी धन को रखना असुरक्षित महसूस किया तो वह पैसा रखने

के लिए उन्होंने जिस व्यक्ति के बारे में सोचा, वह डॉ. मुकर्जी थें और उन्होंने सहयोग भी दिया।

डॉ. मुकर्जी को सितंबर के अंत में वायसराय को लिखे पत्र का जवाब प्राप्त हुआ। जैसा कि अनुमान भी था, उस स्तर पर वायसराय कुछ भी नहीं कर पाए, उनका पहला दायित्व देश में कानून-व्यवस्था बनाए रखना था। डॉ. मुकर्जी ने इस्तीफा देने का मन बना लिया था। सवाल था कि वह ऐसा कब करेंगे? अखिल भारतीय मुद्दों के अलावा उन्होंने पूरी तरह महसूस किया कि प्रदेश की भलाई के लिए वह मुश्किल ही कोई काम कर सकेंगे। गवर्नर एवं अफसरों की टोली का रवैया दुश्मनी भरा और सहानुभूति रहित था। व्यावहारिक दृष्टि से प्रदेश पर वे ही शासन कर रहे थे। राजनीतिक हालात ने भी उनकी स्थिति को बेहद मुश्किल बना दिया था। कैबिनेट जो भी आदेश पारित करती, उसे अस्वीकार कर दिया जाता था।

'भारत छोड़ो' नारे को आई.सी.एस. लॉबी ने भारत में 'गोरी सरकार' के लिए सीधी चुनौती माना। मिदनापुर में गंभीर अशांति फैल गई, जहाँ आंदोलन के कारण पूरे प्रशासन को लकवा मार गया। अगले अध्याय में बंगाल के अकाल का उल्लेख करते हुए इस स्थिति पर भी चर्चा करेंगे, क्योंकि मिदनापुर से ही अकाल की शुरुआत हुई थी।

प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि वायसराय को लिखे 12 अगस्त, 1942 के डॉ. मुकर्जी के पत्र और वायसराय के जवाब के बाद डॉ. मुकर्जी का इस्तीफा अपरिहार्य था। हालाँकि उन्होंने अपने साथियों को निष्ठापूर्ण समर्थन देते रहने का आश्वासन दिया था, ताकि सरकार बनी रहे। हालाँकि लीग और यूरोपीय समूह के हमले जारी थे। हक ने कोशिश की कि इस मुद्दे पर पुनर्विचार किया जाए; लेकिन न तो गवर्नर और न.ही डॉ. मुकर्जी सहमत थे। हरबर्ट के साथ उनकी आखिरी मुलाकात 19 नवंबर की शाम को हुई। वह मुलाकात अचानक समाप्त हो गई, क्योंकि हरबर्ट और डॉ. मुकर्जी के बीच, डॉ. मुकर्जी के पत्र-व्यवहार को प्रकाशित करने के मुद्दे पर, मतभेद थे। गवर्नर ने 20 नवंबर को कलकत्ता में डॉ. मुकर्जी का इस्तीफा मंजूर कर लिया। इस तरह डॉ. मुकर्जी के मंत्री पद की पहली पारी समाप्त हुई, जो दिसंबर 1941 में आरंभ हुई थी। मंत्री पद के कार्यकाल का प्रथम वर्ष भी पूरा नहीं हो सका।

उसी दौरान उनके इस्तीफे के कारणों के जवाब में डॉ. मुकर्जी ने 21 नवंबर को एक बयान जारी किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि उनका इस्तीफा उनके और मुख्यमंत्री के बीच मतभेदों के कारण नहीं था। किसी मंत्री या प्रोग्रेसिव गठबंधन पार्टी के किसी सदस्य से भी उनके मतभेद नहीं थे। गवर्नर की दखलंदाजी के अलावा दो और विशेष मुद्दे थे, जिनमें डॉ. मुकर्जी आंशिक राहत भी प्राप्त करने में नाकाम रहे। वे मुद्दे थे—सामूहिक जुरमाना लगाने से संबंधित और मिदनापुर के हालात का प्रबंध। बंगाल में अध्यादेश की पूरी अवहेलना कर सामूहिक जुरमाने थोपे गए थे, सिर्फ हिंदुओं को आतंकित करने के लिए। मिदनापुर के संदर्भ में सरकार ने कानूनहीनता की स्थिति को काबू में करने के लिए जो उचित और आवश्यक कदम उठाए थे, वे समझने लायक थे; लेकिन 16 अक्तूबर को चक्रवात और बाढ़ की नारकीय स्थितियों के बाद जो दमन जारी रहा, वह बेहद हैरानी वाला था। मंत्रियों के विरोध के बावजूद दमन और तथाकथित राहत-कार्य साथ-साथ जारी रहे। सामूहिक जुरमाने और मिदनापुर स्थिति के संबंध में अपना तुरंत प्रभाव दिखाने के लिए डॉ. मुकर्जी ने सार्वजनिक अभिमत का आह्वान किया। उनके अनुसार, एक मंत्री का

दफ्तर ही अपने आप में अंतिम बिंदु नहीं है, लेकिन लोगों की सेवा का एक साधन तो है। उन्होंने इस्तीफा दिया, क्योंकि बीते कुछ सप्ताहों के दौरान उन्होंने महसूस किया कि अच्छा करने की उनकी इच्छा को रोका जा रहा है।

यह बेहद खेदजनक है कि ब्रिटिश सरकार काम के धनी डॉ. मुकर्जी की विराट् ऊर्जा और योग्यता का उपयोग करने में असफल रही। कुछ तत्कालीन कानूनों एवं संविधान के कारण और कुछ हरबर्ट के जिद्दीपन के कारण ऐसा हुआ। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि वह गलत जगह और गलत वक्त पर एक सही व्यक्ति का त्रासद मामला था। हालाँकि उसी दौरान मिदनापुर जिले के कोंटई में चक्रवात-सुनामी आई और उसे डॉ. मुकर्जी से छिपाया गया। यही मुद्दा डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे का कारण बना। अगले अध्याय में इसका वर्णन है।

□

6

बंगाल का विशाल अकाल

(1942-43)

पुराणों की एक शाखा का मानना है कि मनु नामक 14 राजाओं की एक शृंखला इस लौकिक विश्व पर राज करती है। वे ब्रह्मा के पुत्र हैं और प्रत्येक मनु का शासनकाल 43,20,000 वर्ष रहा है। जब भी मनु बदलता है, तब हमेशा कुछ-न-कुछ भयावह तबाही होती है—बाढ़, सूखा, महामारी, सुनामी या ऐसा ही कुछ और। मनु के परिवर्तन को 'मन्वंतर' कहा जाता है; लेकिन बंगाली में इसके मायने 'अकाल' हैं। सन् 1943 के बंगाल के भयानक अकाल को आमतौर से 'पोंचाशेर मन्वंतर', यानी 'पचास के अकाल' के रूप में जाना जाता है। बँगला कैलेंडर के मुताबिक अकाल वर्ष 1350 में पड़ा। उस काल के साधारण बंगाली हिंदू ज्यादातर कार्यों के लिए 'बँगला कैलेंडर' (एक सौर कैलेंडर) को इस्तेमाल करते थे और दफ्तरी काम के लिए ईसाई कैलेंडर का इस्तेमाल होता था।

उस मानव-निर्मित अकाल में 30 लाख लोगों के मरने का अनुमान है। यह अकाल ब्रिटिश सरकार के कुछ लोगों के उन भीषण दुष्कर्मों का नतीजा था, जो युद्ध की दहशत की प्रतिक्रिया में किए गए थे। मिदनापुर जिले के कोंटई में एक साथ चक्रवात और सुनामी के प्रभाव से अकाल की शुरुआत हुई। यह भारतीय व्यापारियों या अमीर किसानों द्वारा अनाज की जमाखोरी का ही परिणाम नहीं था, जैसा कि अंग्रेजों ने चालाकी से प्रचारित किया और मुसलिम लीग ने उसकी पुष्टि की थी और जैसाकि अधिकतर लोग विश्वास करते हैं। हालाँकि डॉ. मुकर्जी ने अकाल की कोई भविष्यवाणी नहीं की थी, लेकिन उन्होंने देखा था कि ब्रिटिश प्रशासन ने कुछ ऐसे कदम उठाए थे, जो प्रदेश के सामाजिक व आर्थिक जीवन को पूरी तरह तबाह करने के कारण बन सकते थे। उन्होंने अकाल से प्रभावित लोगों और इलाकों के लिए राहत कार्य करने में बुनियादी भूमिका निभाई और प्रशासन के कुकर्मों को बेनकाब किया। लिहाजा संक्षेप में उस स्थिति का इस जीवनी के उद्देश्य के लिए वर्णन करना अनिवार्य है कि वर्ष 1942-43 के दौरान युद्ध के संदर्भ में अंग्रेजों ने भारत को किन हालात में धकेल दिया गया था। वह युद्ध, जो खासकर पूर्वी क्षेत्र में, मित्र राष्ट्रों और जापान के बीच लड़ा जाना था।

सन् 1942 के आरंभ में हिंदू महासभा के डॉ. मुकर्जी बंगाल की प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक गठबंधन सरकार में वित्त मंत्री के रूप में सहजता से शामिल हो गए। सरकार के मुखिया ए.के. फजलुल हक थे। यहाँ तक कि सरकार को 'श्यामा-हक कैबिनेट' कहा जाता था। वह नहीं जानते थे कि वर्ष 1942 उनके लिए कितना घटनापूर्ण साबित होने जा रहा था। युद्ध के प्रचंड रूप धारण करने के बावजूद प्रदेश में कानून का राज था। प्रदेश में न्याय था। कई सालों के बाद प्रदेश में ऐसी सरकार आई थी, जो हिंदू और मुसलिमों के साथ बराबरी से, बिना भेदभाव के, बरताव करती थी। हक और डॉ. मुकर्जी के बीच अच्छी समझदारी थी और शेष मंत्री (कोई भी राजनीतिज्ञ ज्यादा महत्त्वाकांक्षी नहीं था) समान रूप से उनका आदर करते थे। हालाँकि बाद में, सन् 1946 के आरंभ में लिखी डायरी में डॉ. मुकर्जी ने वर्णन किया था कि उस समय बंगाल की दशा 'अशुभकारी शांत' थी। एक ही बड़ी समस्या थी। उस समय नई दिल्ली में ब्रिटिश वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो थे और इंडिया हाउस, लंदन में उनके बॉस भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लियोपोल्ड आमेरी थे। उनमें से कोई भी खुश नहीं था कि बंगाल में हिंदू और मुसिलम प्रसन्नता से एक-दूसरे का सहयोग करें। कलकत्ता में उनका आदमी यानी बंगाल के गवर्नर जॉन ऑर्थर हरबर्ट उनसे दस गुना बदतर थे। डॉ. मुकर्जी ने बाद में उन्हें एक 'घटिया और चालाक, तीसरे दर्जे का गवर्नर' करार दिया था। एक ऐसा व्यक्ति, जो 'क्लाइव स्ट्रीट में हैड क्लर्क बनने के भी योग्य नहीं' था।

स्वयं गवर्नर हरबर्ट और ब्रिटिश सामान्यतः इस कैबिनेट से नफरत करते थे और उसका पतन करना चाहते थे। और सरकार गिरी भी, लेकिन हरबर्ट की चालबाजियों और हक की कमजोरी के जरिए सरकार दूसरी ही परिस्थितियों में गिरी। लेकिन अंग्रेज उस सरकार को गिराना या बीमार देखना क्यों चाहते थे? डॉ. मुकर्जी के 16 नवंबर, 1942 वाले इस्तीफे के बयान में कारणों का पूरी स्पष्टता से खुलासा किया गया था—''हमने ए.के. फजलुल हक के नेतृत्व में जो गठबंधन बनाया था, वह ऐसा कड़वा साबित हुआ कि प्रदेश के स्थायी अफसरों का एक वर्ग उसे सहन नहीं कर पा रहा था। और यहाँ तक कि प्रदेश प्रशासन का मुखिया गवर्नर हरबर्ट भी उसे पचा नहीं पा रहा था। ब्रिटिश शासन हिंदू और मुसलिमों के बीच निरंतर संघर्ष के आधार पर विकसित और सफल हुआ था। यहाँ तक कि दोनों समुदायों के बीच आंशिक एकता उन नौकरशाहों के लिए भयानक दुःस्वप्न साबित होती थी, जिनके हाथ में प्रशासन की असली ताकत थी।''

उसी दौरान द्वितीय विश्व युद्ध प्रचंड रूप धारण कर चुका था। सन् 1939 में ब्रिटेन के युद्ध की घोषणा करने के तुरंत बाद वायसराय लिनलिथगो ने एक तरफा ऐलान कर दिया था कि इस युद्ध में भारत मित्र राष्ट्रों की तरफ है। उन्होंने भारतीय राजनीतिक नेताओं या चुने हुए प्रतिनिधियों की सलाह के बिना ही यह घोषणा कर दी थी। नतीजतन भारत में असंतोष पनपा और कांग्रेस की प्रादेशिक सरकारें सामूहिक इस्तीफा देने को उत्तेजित हुईं। भारत में सार्वजनिक विद्रोह और अव्यवस्था की आशंकाएँ बढ़ीं। इस्तीफे का मुसलिम लीग ने भी स्वागत किया और इस्तीफों के दिन को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाया; लेकिन वह दूसरा मामला है। इस दौरान लिनलिथगो युद्ध के लिए भारतीय राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। सरकारों के इस्तीफे के बाद भी उसके प्रति कांग्रेस की प्रतिक्रिया विरोधाभासी भावनाओं वाली थी। बहुत बाद में डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में लिखा था—''कांग्रेस यह निश्चय नहीं कर सकी थी कि

सरकार का समर्थन या विरोध किया जाए। फासीवाद के खिलाफ उसके घोषित रवैए और चीन-समर्थक नीति ने उसे जर्मनी के जोरदार विरोध में ला दिया था। दरअसल गांधीजी लॉर्ड लिनलिथगो से मिले और वेस्टमिंस्टर ईसाई मठ पर बमबारी पर गहरा दुःख व्यक्त किया; लेकिन लिनलिथगो की राजनीतिक दलों का समर्थन हासिल करने की कोशिशें कामयाब नहीं हुईं। राजशाही ब्रिटिश सरकार कुछ भी ठोस पेश करने को तैयार नहीं थी।''

26 जुलाई, 1942 को नई दिल्ली से हरबर्ट को भेजे अपने लंबे पत्र में डॉ. मुकर्जी ने सरकार के प्रति उनकी छिपी दुर्भावनाओं के लिए उनपर प्रत्यक्ष आरोप लगाए। उनका आरोप था कि वह उनकी सरकार को अस्थिर करना चाहते थे। इन आरोपों के लिए ठोस कारण थे। संसदीय रहते हुए डॉ. मुकर्जी ने उस पत्र में कठोर भाषा का प्रयोग नहीं किया, जिसमें वह हरबर्ट और साथ में ब्रिटिश नौकरशाही पर भी खूब बरसे थे। मुख्यतः उन्होंने हरबर्ट की चालबाजियों के लिए उन पर हमले किए। जबकि ब्रिटिश प्रशासन का मुखिया होते हुए उन्होंने मुसलिम लीग का समर्थन किया। हरबर्ट और नौकरशाही पर इन आरोपों के अलावा पत्र में यह भी फोकस था कि अंग्रेजों को भारतीयों को एक अलग तरीके से देखने की जरूरत थी। सुभाषचंद्र बोस के विपरीत डॉ. मुकर्जी जापानियों के प्रशंसक नहीं थे और इस कहावत में निस्संकोच रूप से विश्वास नहीं करते थे—'मेरे शत्रु का शत्रु मेरा मित्र है।' जब वह यह पत्र लिख रहे थे तो कांग्रेस कार्यसमिति 'भारत छोड़ो' चरण को पहले ही अंतिम रूप दे चुकी थी। डॉ. मुकर्जी को पूर्वाभास था कि ब्रिटिश प्रशासन की भीषण प्रतिक्रिया होगी और वह उस झटके को कमजोर करने की कोशिश कर रहे थे, जो आने वाला था। उन्होंने हरबर्ट को आश्वस्त करने की कोशिश की कि बेशक भारतीय चाहते हैं कि अंग्रेज जाएँ, लेकिन युद्ध की समाप्ति तक इसकी प्रतीक्षा की जा सकती है। यह तय है कि भारतीय नहीं चाहते कि जापानी अंग्रेजों का स्थान ले लें।

डॉ. मुकर्जी जुलाई 1942 के आखिर में दिल्ली में वायसराय से मिले। वह वायसराय हरबर्ट की सीमाएँ अच्छी तरह जानते थे, लेकिन ऐसा नहीं था। वह संविधान के परे चले गए। डॉ. मुकर्जी ने यह भी पाया कि वायसराय राजनीतिक हालात से उतनी सख्ती से निपटने को पूरी तरह तैयार थे, जितना ब्रिटिश सरकार उन्हें अनुमति देती। उसी दौरान 8 अगस्त, 1942 को कांग्रेस की बैठक बंबई में हो रही थी, ताकि अपनी चेतावनी को अंतिम रूप दिया जा सके। 'भारत छोड़ो' का आह्वान किया गया और तुरंत कांग्रेस नेताओं को जेल में डाल दिया गया। उसने डॉ. मुकर्जी को 12 अगस्त, 1942 वाला ऐतिहासिक पत्र लिखने को प्रेरित किया, जिसका खुलासा पिछले अध्याय में किया जा चुका है। उन्होंने सितंबर के अंत में वायसराय का जवाब प्राप्त किया और उसके बाद उनका इस्तीफा सिर्फ वक्त का माँग था। अंततः मिदनापुर जिले में प्राकृतिक तबाही के मुद्दे पर उन्होंने इस्तीफा दिया, क्योंकि हरबर्ट ने इसे छिपाया था, जबकि वह सरकार में मंत्री थे।

मिदनापुर जिला भारत का एक ऐसा इलाका था, जिसने अंग्रेजों का पुरजोर विरोध किया था। तब से यह जिला पूर्व और पश्चिम में विभाजित हो गया। मौजूदा पूर्व जिले में कोंटई (कांति) और तामलुक उपमंडल हैं, जो अविभाजित जिले का हिस्सा थे। तब यह बंगाल का दक्षिण-पश्चिमी इलाका था और बिहार व उड़ीसा की सीमाओं से लगता था। इस इलाके के लोग

अत्यधिक स्वतंत्र दिमाग के हैं। कई सालों के बाद 2007 में उन्होंने एक बार फिर अपना साहस और जीवटता दिखाई, जब उन्होंने पश्चिम बंगाल की वाममोर्चा सरकार और स्थानीय कम्युनिस्ट गुंडों की संयुक्त ताकत के खिलाफ विद्रोह किया। राष्ट्रपार की एक इंडोनेशियाई कंपनी का 'रासायनिक हब' बनाने के लिए उनकी कृषि भूमि को जबरन छीनने की योजनाओं को नाकाम करने में भी वे सफल रहे। अविभाजित इस जिले की, तीन जिला मजिस्ट्रेटों की हत्या करने पर, बहुत बदनामी भी हुई। वे मजिस्ट्रेट थे—पेडी, डगलस और बुर्ग। उसके बाद सरकार ने ब्रिटिश मजिस्ट्रेट को उस जिले में भेजना ही बंद कर दिया था।

'भारत छोड़ो' आंदोलन की घोषणा के बाद इस क्षेत्र के लोगों ने संपूर्ण विद्रोह किया, जो कदापि अहिंसक नहीं था। यह इलाका हालाँकि कलकत्ता के नजदीक है, लेकिन बहुत बड़ी रूपनारायण नदी के द्वारा इस क्षेत्र को शहर से अलग कर दिया गया है। नदी पर रेलवे पुल तो है, लेकिन कोई सड़क-पुल नहीं है। स्वतंत्रता सेनानियों ने इसकी भौगोलिक स्थिति का खूब लाभ उठाया। सड़कें खोदकर और टेलीग्राफ की तारों को काटने से यह इलाका शेष भारत से कट गया था। तामलुक में स्वतंत्रता की घोषणा की गई। उन्होंने इसे 'महाभारतीय जुगतो राष्ट्रो' (यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ ग्रेट इंडिया) कहा।

डॉ. मुकर्जी ने सार्वजनिक रूप से हिंसा और आजादी की घोषणा को स्वीकृति नहीं दी। 16 नवंबर, 1942 को अपने इस्तीफे के बाद के बयान में उन्होंने स्वतंत्रता सेनानियों के खिलाफ कड़े शब्दों का इस्तेमाल करते हुए कहा, "एक क्षण के लिए भी मैं मिदनापुर जिले के कुछ हिस्सों में राजनीतिक गड़बड़ियों और बाधाओं को नजरअंदाज नहीं कर सकता। ये बहुत गंभीर किस्म की हैं। कानूनहीनता से लड़ने और प्रशासन के खुले उल्लंघन के लिए उठाए गए कदमों को अच्छी तरह समझा जा सकता है। इससे पहले 26 जुलाई, 1942 को गवर्नर हरबर्ट को लिखे एक पत्र में उन्होंने सुस्पष्ट शब्दों में कहा था—"युद्ध के दौरान कोई भी सामूहिक भावनाओं को उत्तेजित करने की योजना बनाए और नतीजतन आंतरिक अशांति, उपद्रव या असुरक्षा के हालात पैदा हो जाएँ तो सरकार को उसका प्रतिरोध करना चाहिए, ताकि वह सुचारू रूप से काम कर सके।"

डॉ. मुकर्जी की यह अस्वीकृति स्वतंत्रता सेनानियों के उन निर्भीक कार्यों के प्रति कितनी जवाबदेह थी? हमेशा संसदीय राजनेता के तौर पर क्या डॉ. मुकर्जी यह सब कर रहे थे? क्या वह मानवतावादी थे, जो जानते थे कि ब्रिटिश की साम्राज्यवादी ताकत का 'लौह हाथ' तुरंत ही अपनी प्रचंड शक्ति के साथ इन दुःसाहसी नौजवानों पर आ धमकेगा। वह झटके को हलका करने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने हरबर्ट को राजी किया कि वह विवेकपूर्ण, समझदारी से और दया-माफी के साथ काररवाई करें। शायद यह दोनों का ही मिश्रण था और डॉ. मुकर्जी की राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रमाण था। आंदोलन के साथ उनकी राजनीतिक सहानुभूति थी, यह उनके पत्रों से ही साबित होता है। लेकिन वह यह भी जानते थे कि तामलुक के स्वतंत्रता सेनानी कुछ समय तक ही प्रतिरोध कर सकेंगे। उसके बाद उनपर ब्रिटिश दमन का कहर टूट पड़ेगा और ऐसा ही हुआ। शायद डॉ. मुकर्जी ने दो मुसलिम आई.सी.एस. अफसरों की मौजूदगी में बात की थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दो नीच पिछलग्गू जिला मजिस्ट्रेट नियाज मुहम्मद खान और उपमंडल

अधिकारी वजीर अली शेख थे। उस दौर के सांप्रदायिक माहौल में वे इतने भरोसेमंद माने गए, जो हिंदू विद्रोह के दमन में किसी भी ब्रिटिश अफसर को भी मात कर सकते थे।

जैसी कि डॉ. मुकर्जी की आशंका थी, अंग्रेजों ने बर्बरता से पलटवार किया। वे उन 'उचित व आवश्यक कदमों' तक ही सीमित नहीं रहे, जैसाकि डॉ. मुकर्जी ने सुझाव दिया था। पुलिस और सेना दोनों को तैनात किया गया। उन्होंने कुछ गिरफ्तारियाँ कीं। इसके अलावा उन्होंने लोगों को मारा, जलाया, यातनाएँ दीं, लूला-लँगड़ा बनाया और बलात्कार किए। गवर्नर हरबर्ट ने उन्हें 'असीम अधिकार' दे दिए थे। एक छोटा सा उदाहरण 29 सितंबर, 1942 को रॉयल इंडिया एयरफोर्स ने सुताहत पुलिस स्टेशन (मौजूदा हल्दिया पोर्ट के समीप) के इलाके में कुछ हिस्सों पर बमबारी की। फिर पुलिसवाले उनपर आ धमके और जान-बूझकर तथा बिना विचारे उनके घरों को जला दिया। डॉ. मुकर्जी तब उस सरकार में वित्त मंत्री थे, पुलिस जिसके मातहत काम करती थी। उन्होंने देखा कि "स्थानीय अधिकारियों ने खुद ही सभ्य प्रशासन के तमाम बुनियादी सिद्धांतों को तोड़ दिया था और संबंधित लोगों के दोष पर विचार किए बिना ही दमन का निर्मम कोड़ा बरसाया—निर्दोष लोगों पर गोलीबारी, जायदाद की लूट और नष्ट करना, एक समुदाय को दूसरे के खिलाफ भड़काना और महिलाओं पर हमले···।" इन सभी घटनाओं को दर्ज किया गया। उस समय मिदनापुर का जिला मजिस्ट्रेट नियाज मुहम्मद खान था। वह पंजाबी मुसलिम आई.सी.एस. अधिकारी था, जो बाद में पाकिस्तान चला गया और वहाँ एक बहुत बड़ा नौकरशाह बना। उस दौर में कुछ बेहद दुष्टतापूर्ण कार्य इस अधिकारी के निजी आदेशों पर किए गए। बेशक कमीन और नीच गवर्नर हरबर्ट का भी उसे समर्थन प्राप्त था।

उन्हीं दिनों तामलुक और कोंटई उपमंडलों में मिदनापुर तट पर एक भयानक चक्रवात आया। वह 16 अक्तूबर, 1942 को दुर्गा-पूजा का दिन था। यह बंगाली हिंदुओं का सबसे बड़ा त्योहार है। उस दिन भी कोंटई शहर में गलियाँ लोगों की भीड़ से अटी हुई थीं। जल्दी ही शहर में पाँच फीट तक पानी भर गया। हालाँकि ये साल के वे दिन थे, जब सामान्यत: चक्रवात की संभावना नहीं होती। लिहाजा लोग पूरी तरह अनजान थे। मात्र 15 मिनट के विनाश में करीब 30,000 लोगों की जिंदगियाँ खोनी पड़ी थीं।

यह स्पष्ट नहीं है कि असल में स्थिति क्या थी? हालाँकि चक्रवात बेहद विकराल था, लेकिन सिर्फ उसी के कारण अचानक इतनी बाढ़ नहीं आ सकती थी। यह देश में तब तक का व्यापक विध्वंस था। कोंटई शहर का समुद्र से करीब 14 किलोमीटर, एक पूर्णत: मृत क्षेत्र, कट गया था। ऐसी रपटें थीं कि नदी के कुछ तटबंध टूट गए थे, लेकिन पड़ोस में कोई ऐसा बाँध भी नहीं था, जो एकदम फूटकर ऐसी बाढ़ का कारण बन सकता था। एक प्रत्यक्षदर्शी से सवाल करने पर, जो सिर्फ बँगला में ही बोला, जवाब मिला—'शागोर बहेंगे पोरछिलो—समुद्र ही हम पर टूट पड़ा।' जिस तरह का विध्वंस था, उसके लिए ऐसा वर्णन किया जाता था कि उसके बाद सुनामी आएगी। तब तक सुनामी का विस्तृत अध्ययन संभव नहीं हुआ था, जिससे इसके गलत निदान का स्पष्टीकरण हो सकता।

कुछ लोग अब भी यह विश्वास करते हैं कि तामलुक के उपमंडल अधिकारी वजीर अली शेख, आई.सी.एस. ने चक्रवात की चेतावनी को रोके रखा था। उसे वायरलेस संदेश के जरिए

इस चेतावनी की सूचना मिली होगी, लेकिन उसने इस आधार पर उसे रोके रखा कि 'निष्ठाहीन ऐसे लोगों को जीने का कोई अधिकार नहीं।' यह रिकॉर्ड में है कि मिदनापुर के जिला मजिस्ट्रेट नियाज मुहम्मद खान ने सरकार से सिफारिश की थी कि जिले के लोगों की राजनीतिक शरारत के लिए न तो सरकार को, कम-से-कम एक माह तक, कोई राहत-उपाय करने चाहिए और न ही किसी गैर-सरकारी संगठन को ऐसा करने की अनुमति देनी चाहिए। उसने 15 दिनों तक ऐसा किया—प्रदेश के अन्य हिस्सों से इस विध्वंस की तमाम खबरों को रोके रखा। तब 'डिफेंस ऑफ इंडिया' कानून लागू किए गए और बदले की भावना के साथ प्रेस सेंसरशिप भी जारी रखी। क्या यह एक राजा का कार्य था अथवा शैतान का?

क्या साम्राज्यवादी मानसिकता के ब्रिटेन का इस हद तक पतन हो गया था? लेकिन ऐसा हुआ और वे इतना नीचे गिर गए। खान के बॉस गवर्नर हरबर्ट, उसके बॉस वायसराय लिनलिथगो और अंतत: उनके बॉस लियोपोल्ड आमेरी, लंदन में भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट—उन सभी ने अपने द्वेषपूर्ण कार्यों और भूल-चूक से बंगाल के लोगों को अकथनीय दु:ख दिए। और यह 16 अक्तूबर, 1942 की त्रासदी ही थी, जिसके बाद भयावह अकाल शुरू हुआ।

उसी दौरान कुछ और भी घटित हुआ। 27 जनवरी, 1941 को सुभाषचंद्र बोस, जो एल्गिन रोड, कलकत्ता के अपने घर में बीमार पड़े थे और पुलिस की कड़ी निगरानी में थे। वह नजरबंदी से भाग निकलने तथा वहाँ से जर्मनी और फिर जापान पहुँचने में सफल हो गए। कोंटई के सुनामी-चक्रवात, उसी के साथ पूर्वी घाटी में युद्ध का मोड़ लेना और सुभाष बोस का गायब होना—इन सब घटनाओं ने गवर्नर हरबर्ट को पूरी तरह दिग्भ्रमित कर दिया था। 9 जनवरी, 1942 को जापानियों ने ब्रिटिश उपनिवेश बर्मा पर हमला किया। बंगाल में, खासकर कलकत्ता बंदरगाह और बर्मा सीमा के करीब नोआखाली जिले के फेनी इलाके में कुछ बम गिराए गए। स्पष्टत: अगला पड़ाव भारत ही था और बंगाल प्रवेश-द्वार।

इन सभी ने हरबर्ट के दिमाग का संतुलन बिगाड़ दिया। उन्होंने प्रदेश सरकार (ए.के. फजलुल हक की सरकार, जिसमें डॉ. मुकर्जी एक मंत्री थे) की सलाह लिये बिना ही तय कर लिया कि इस किस्म की सर्वक्षार नीति आरंभ की जाए, जैसी उक्रेन और रूस के नाजी युद्ध के दौरान रूसियों ने अपनाई थी। हरबर्ट ने उसे 'इनकार और खाली कर देने' की नीति कहा। लेकिन वह उक्रेन और रूस से अलग थी। वहाँ जर्मन मौजूदगी एक वास्तविकता थी, एक धमकी नहीं थी। रूस और उक्रेन भी जर्मनी के स्नेही नहीं थे। लिहाजा सर्वक्षार नीति स्वाभाविक थी। इसके उलट, बंगाल में जापानी महज दूर की एक धमकी थे। वास्तव में वे भारत कभी नहीं आए। तमाम संभावनाओं के मद्देनजर भारत आने का उनका कोई मंसूबा भी नहीं था। बर्मा पर उनके कब्जे का संभवत: अर्थ था—चीन तक के सड़क मार्ग से काटना। मिदनापुर के लोगों में जापानियों के प्रति इतनी नफरत नहीं थी जितनी कि अंग्रेजों के प्रति थी। लिहाजा अपनी ही फसल को जलाने और अपनी ही जमीन से दूर भागने का उनका कोई इरादा नहीं था। ऐसा लगता है कि अगस्त 1942 का मिदनापुर विद्रोह हरबर्ट की ऐसी ही ज्यादतियों के कारण भड़का था।

भयभीत मन:स्थिति में गवर्नर हरबर्ट के पास वक्त नहीं था या इन अच्छे बिंदुओं पर विचार करने की उसकी नीयत नहीं थी। सन् 1942 के आखिर में जापान के आक्रमण के भय में उसकी

यह इच्छा भी जुड़ गई कि मिदनापुर के निवासियों से उसके लिए बदला लिया जाए, जो 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान उन्होंने किया था। उसने 'इनकार और खाली कर देने' की नीतियों को मिदनापुर में पूरी गोपनीयता और कठोरता से लागू किया। इस काम में उसके समविचारक अधिकारी जिला मजिस्ट्रेट एन.एम. खान ने उसे सहयोग दिया। गोपनीयता ऐसी थी कि न तो प्रेस में कुछ छप पाया था और न ही अभिलेखागार में कुछ दर्ज हुआ था। नतीजतन, यह कभी भी ज्ञात नहीं होगा कि मिदनापुर में पहली बार कब वह नीति लागू की गई और कब वापस ली गई। बहुत सी सूचना आई.सी.एस. अधिकारी अशोक मित्रा की आत्मकथा से एकत्रित की गई है, जिसमें से कई सूचनाएँ गुप्त रखी गईं, जो कभी भी दर्ज नहीं हुईं या मीडिया को जारी नहीं की गईं।

'इनकार नीति' भारत सरकार द्वारा स्वीकार की गई थी, लेकिन यह हकीकत है कि युद्ध में सीमांत प्रदेश बंगाल ही था। उसका गवर्नर हरबर्ट सरीखा एक दहशती और प्रतिशोधी इनसान था। वह अपनी इस नीति को निर्मम तरीके से बंगाल में ही लागू करना चाहता था। डॉ. मुकर्जी ने इस नीति को 'भारत में ब्रिटिश प्रशासन की बेहद घबराहट और बेचैनी का भयावह प्रमाण' करार दिया था। गृह और सेना के अफसरों को गुप्त निर्देश दिए गए थे कि युद्ध और सेना की नाकामी की स्थिति में क्या करना है? उनके स्पष्ट संकेत थे कि सरकार ने बंगाल को 'खोया हुआ' मान लिया था। डॉ. मुकर्जी ने दलील दी थी कि नावों, साइकिलों और संचार के अन्य साधनों को नष्ट नहीं किया जाना चाहिए या कथित खतरेवाले क्षेत्र से उन्हें हटाया न जाए; लेकिन उन्हें अपने मुताबिक काम करने दिया जाए। हार या शत्रु के आक्रमण की स्थिति में सरकार का अपना स्टाफ ही अंतिम क्षणों में उन्हें नष्ट कर सकता है। शत्रु के कभी भी न आने की स्थिति में (जैसाकि वे नहीं आए) सरकार ने विनाश की जो नीति थोपी थी, वह प्रदेश के एक बड़े हिस्से के सामाजिक और आर्थिक जीवन को पूरी तरह ध्वस्त कर देगी।

दरअसल सरकार ने डॉ. मुकर्जी की दलील नहीं सुनी और वैसा ही हुआ जैसी आशंका जताई गई थी। उस तबाही का नाम था—1943 का बंगाल का भीषण अकाल। इनकार नीति ही अकाल के पीछे का असल कारण थी, न कि भारतीय व्यापारियों द्वारा खाद्यान्न की जमाखोरी, जैसाकि अंग्रेजों ने चालाकी से इसका प्रचार किया था। आई.सी.एस. अफसर अशोक मित्रा ने भी इसकी पुष्टि की है, जो उस समय पूर्वी बंगाल में ढाका जिले के मुंशीगंज में उपमंडल अधिकारी थे। अशोक मित्रा ने इंपीरियल पुलिस के अपने साथी मदन मोहनलाल हूजा के साथ अपने इलाके के सबसे बड़े चावल भंडारगृह पर अचानक छापा मारा था तो वहाँ प्रत्यक्षतः कुछ भी नहीं मिला था।

और भी बहुत कुछ है। सरकार ने न केवल डॉ. मुकर्जी की दलीलों को अनसुना कर दिया था, बल्कि उन्हें कहा गया था कि वह खुद मंत्री हैं और उनके रवैए की गलत व्याख्या हो सकती है कि शत्रु के प्रति उनकी सहानुभूति है। वह साफ-साफ एक छिपी धमकी थी कि शरत बोस की तरह उन्हें भी जेल में ठूँस दिया जाएगा।

अशोक मित्रा के मुताबिक, 'इनकार और खाली कर देने' की नीति ने मोटे तौर पर इस तरह काम किया। पहले, सरकारी एजेंटों ने पुलिस के साथ ऐसी सभी जगहों पर छापे मारे, जहाँ अनाज के बड़े भंडार हो सकते थे। तब उन्होंने चावल को या तो फेंक दिया अथवा जबरन उठा ले गए,

ताकि सरकारी भंडारगृहों में उसे रखा जा सके। जिसने भी विरोध किया, उसे खूब पीटा गया और उसे एक दमड़ी भी नहीं दी गई। इस तरह कितना चावल या धान फेंक दिया गया, यह कभी भी पता नहीं चल सकेगा। भंडारगृहों में जो अनाज भरा गया था, उसे जून 1944 में तब जारी करना शुरू किया गया, जब पहली बार राशन की व्यवस्था शुरू की गई। भंडारगृहों में स्वच्छता और देखभाल की कमी के कारण चावल सड़ गया, दुर्गंध देने लगा, जो किसी भी तरह खाने लायक नहीं रहा।

हरबर्ट की 'इनकार नीति' का दूसरा पहलू यह था कि अनाज के सभी स्वदेशी वाहनों को सामूहिक तौर पर विनष्ट किया गया। हजारों देशी नावों को डुबो दिया गया। उनमें कुछ पूर्वी बंगाल की 'बलम नौका' सरीखी थीं, जो बोझ ढोनेवाली नाव की तरह बड़ी थीं। दसियों हजार बैलगाड़ियों को तोड़ दिया गया। यहाँ तक कि साइकिल को भी नहीं छोड़ा गया। इससे चावल का आना-जाना रुक गया। रेल, स्टीमर या सड़क के जरिए चावल के आने-जाने को नहीं रोका गया। चूँकि भारत में निर्मित रेल के डिब्बों का बड़ी संख्या में निर्यात होता था, नतीजतन पूरी भारतीय रेलवे व्यवस्था में भारी कमी हो गई थी। उस दौर में सड़कों के जरिए आवागमन की गतिविधियाँ नगण्य थीं, क्योंकि सड़कें ऊबड़-खाबड़ थीं। यहाँ तक कि कलकत्ता से सड़क मार्ग के जरिए मिदनापुर पहुँचने के लिए कोलाघाट में जलयान बदलना या नाव से पार जाना पड़ता था। डॉ. मुकर्जी का अनुमान था कि अकेले मिदनापुर में ही 10,000 से ज्यादा साइकिलें और हजारों नौकाएँ पकड़ी गईं और नष्ट कर दी गई थीं।

मिदनापुर में इनकार नीति की ज्यादतियों के साथ-साथ लोगों को दंडित करना भी जारी रहा। पुलिस, सेना और सरकारी अफसरों की ज्यादतियों को जानकर डॉ. मुकर्जी गवर्नर हरबर्ट से भिड़ गए और नजदीक से उनसे पूछा कि क्या पुलिस और सेना को ऐसे गुप्त निर्देश दिए गए थे कि आम आदमी के घर जला दिए जाएँ? हरबर्ट ने रक्षात्मक जवाब दिया कि "मुख्यालयों में ऐसे निर्देशों के बारे में कोई नहीं जानता।" 15 अक्तूबर को राइटर्स बिल्डिंग, कलकत्ता में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें डॉ. मुकर्जी, मुख्य सचिव, पुलिस महानिरीक्षक (प्रादेशिक पुलिस बल के तत्कालीन मुखिया) और पुलिस उप-महानिरीक्षक (आपराधिक जाँच विभाग के प्रभारी) मौजूद थे। उस बैठक में डॉ. मुकर्जी को आश्वस्त करने की कोशिश की गई कि संबद्ध अफसरों को तुरंत सूचना भेजी जाएगी और उन्हें बताया जाएगा कि पलटवार करना सरकार की नीति के खिलाफ है। यदि जलाने और लूटने सरीखे कदम अतीत में उठाए गए हैं, तो उन्हें फिर से दोहराया न जाए। यह सब करके डॉ. मुकर्जी 16 अक्तूबर को एक सप्ताह आराम करने और परिवार के साथ समय बिताने पहाड़ी सैरगाहों के शहर दार्जिलिंग चले गए। और उसी दिन 16 अक्तूबर को, कोंटई में सुनामी-चक्रवात ने आघात किया।

डॉ. मुकर्जी को पहले तीन दिन तक कोई खबर नहीं मिली। मीडिया और संचार साधनों का मुँह बंद कर दिया गया था। वह हर रोज गवर्नर के संपर्क में रहे थे, जो खुद भी तब दार्जिलिंग में थे। ऐसा नहीं हो सकता कि मातहतों द्वारा गवर्नर को उस तबाही के बारे में न बताया गया होगा। डॉ. मुकर्जी को पाँचवें दिन तब जानकारी मिली, जब मिदनापुर से कुछ लोग उनसे मिलने कलकत्ता आए थे। इसका यही अर्थ है कि करीब 30,000 मौतों से भी व्याकुल हुए बिना गवर्नर

ने अपने ही वित्त मंत्री से ऐसी सूचना गुप्त रखी थी। और इतना सब जानते हुए भी वह दार्जिलिंग के ठंडे व शांत माहौल और दृश्यावली का आनंद उठा रहे थे! सम्राट् नीरो ने भी संभवत: ऐसा न किया होगा! गवर्नर इतना अभद्र और अशिष्ट था कि उसने विनाश से प्रभावित लोगों के लिए सहानुभूति का संदेश तक जारी नहीं किया। बाद में वायसराय ने ही ऐसा किया।

बाद में डॉ. मुकर्जी को पता चला कि गृह विभाग ने उस तबाही से जुड़ा प्रचार इसलिए रोक दिया था कि कहीं वह शत्रु तक न पहुँच जाए और वे उसका लाभ न उठा लें। यह एक हास्यास्पद तर्क था। जापानी रेडियो विध्वंस के एक दिन बाद ही उसकी खबरें प्रसारित कर चुका था।

डॉ. मुकर्जी जल्दी से कलकत्ता लौटे और उपलब्ध रपटों के आधार पर उन्होंने हालात का जायजा लिया। वह सरकार के दो अन्य मंत्रियों के साथ 12 दिनों के बाद ही मिदनापुर पहुँच सके। बाद में अपने इस्तीफे के भाषण में उन्होंने कहा, ''हमने लोगों की जो वेदना और व्यथा देखी, वह वर्णन से परे थी। राहत कार्य निराशाजनक स्थिति में था और लोगों को चलने-फिरने तथा काम के लिए नाममात्र की सुविधाओं से भी इनकार किया गया।'' बाद में जब डॉ. मुकर्जी कलकत्ता वापस आए और पर्याप्त तथा सुव्यवस्थित राहत का मुद्दा सरकार के समक्ष उठाया तो भी उदासीनता देखी, जो सिर्फ हरबर्ट की नीति का ही नतीजा हो सकती थी। उन्होंने बाद में अपने भाषण में कहा, ''…दो दिनों तक हमने सचिवालय में आलाकमान के साथ हालात पर चर्चा की। मैंने इन तथाकथित लोकसेवकों के बाधक और नकली रवैए पर खीझ महसूस की।'' उन्होंने सरकारी अधिकारियों, खासकर पुलिस के रवैए पर अपनी बेंदना सख्त भाषा में व्यक्त की। पूरे इलाके में फैली क्रूरता और पशुता के प्रति सरकारी कर्मचारियों का रवैया उदासीनता का था। अपनी कड़ी प्रतिक्रिया देते हुए डॉ. मुकर्जी ने यह भी स्पष्ट किया कि संबद्ध कुछ अफसर मुसलिम थे, जबकि पीड़ित मुख्यत: हिंदू थे। दरअसल ऐसे हिंदू अफसरों की संख्या भी काफी ज्यादा थी, जिनके खिलाफ इस प्रकार के आरोप लग रहे थे।

मिदनापुर प्रवास के दौरान डॉ. मुकर्जी ने तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट एन.एम. खान का रवैया भी गौर किया, जो राहत कार्यों में बाधक था। डॉ. मुकर्जी जेल में कैद उन राजनीतिक नेताओं से मिले, जिन्हें 'डिफेंस ऑफ इंडिया ऐक्ट' के तहत बंद किया गया था। डॉ. मुकर्जी ने राहत कार्य के लिए उनका समर्थन हासिल करने की योजना बनाई। इसके लिए उन्हें रिहा करने की जरूरत थी। हालाँकि न तो गृह विभाग और न ही हरबर्ट उसके लिए सहमत हुए। डॉ. मुकर्जी और कैदियों के बीच मुलाकात पर खान ने एक गोपनीय रपट गृह विभाग को भेजी।

हालाँकि डॉ. मुकर्जी को जो कृत्य सबसे नीच, खीझ भरा और विद्रोही लगा, वह उस तबाही के पीड़ितों के प्रति सरकारी अधिकारियों की अरुचि, संवेदनहीनता, उदासीनता, हृदयहीनता, क्रूरता और पशुता थी। ये अधिकारी भारतीय थे, अधिकतर बंगाली थे। उनमें से ज्यादातर हिंदू और कई मिदनापुर के ही थे। फिर भी, जिस तरह उन्होंने पीड़ितों के साथ व्यवहार किया और वह भी अपने ब्रिटिश आकाओं के उकसाने पर, उससे आज यह कल्पना करना मुश्किल है कि डॉ. मुकर्जी के सुझाव और आग्रह पर कलकत्ता से एक निर्देश जारी किया गया था कि आम नागरिकों के घर जलाना और लूटना सरकार की नीति में नहीं था। खासकर लोगों की बगावत के पलटवार में ऐसा करना सरकारी नीति नहीं थी। यहाँ तक कि इसके बाद और कोंटई में

सुनामी-चक्रवात के बाद भी सरकारी अधिकारियों ने अपनी दुष्टतापूर्ण गतिविधियाँ, खासकर रात में, जारी रखीं। खुद डॉ. मुकर्जी ने दर्ज किया था कि जिला मजिस्ट्रेट की मौजूदगी में ऐसी शिकायतें प्राप्त हो रही थीं कि उस दुर्भाग्यपूर्ण दिन को जान-बूझकर नावें उपलब्ध नहीं कराई गई थीं और जो लोग अपने कच्चे घरों की छतों पर कुछ पलों के लिए रह गए थे, उनके जीवन बचाने के लिए भी कोई मदद नहीं की गई। अंततः वे कच्चे घर ढह गए। एक सज्जन ने भयावह स्थिति का वर्णन किया था कि उसने और कुछ दूसरे लोगों ने अफसरों से अनुमति की प्रार्थना की थी कि उन्हें कुछ घंटों के लिए एक नाव चलाने दी जाए, ताकि निकट की एक जगह में फँसे कुछ पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को बचाया जा सके। वह अनुरोध न केवल खारिज कर दिया गया, बल्कि जो लोग नाव इस्तेमाल कर रहे थे, उन्हें गंभीर नतीजे भुगतने की भी धमकी दी गई। फँसे हुए लोग, जिन्हें बचाया नहीं जा सका था, अंततः बह गए और फिर कभी नहीं मिले। उस आकस्मिक तबाही के बाद भी कर्फ्यू के आदेश वापस नहीं लिये गए, हालाँकि स्थानीय लोगों ने अधिकारियों से निवेदन किया और हर संभव सहयोग देने की पेशकश की थी। 'डिफेंस ऑफ इंडिया ऐक्ट' के तहत गायों का अधिग्रहण किया गया! बाढ़ और तूफान ने करीब 75 से 85 फीसदी पालतू पशुओं को नष्ट कर दिया था। जो बचे थे, उनमें दुधारू गायों को पुलिस और सेना ने जबरन छीन लिया था, ताकि पुलिस दस्तों को दूध मिल सके। कलकत्ता के निजी राहत कार्यकर्ताओं को, अपने पहचान-पत्र दिखाने के बावजूद, जेल में ठूँस दिया गया।

सबसे निंदाजनक बात तो यह थी कि सरकार ने जनता पर सामूहिक जुरमाने थोप दिए। लेकिन उनमें भी पूरी आबादी पर नहीं, सिर्फ हिंदुओं पर ये जुरमाने ठोके गए। डॉ. मुकर्जी ने अपने इस्तीफे के बाद हरबर्ट को लिखे एक पत्र में इसकी तुलना दिल्ली के मुसलिम बादशाहों द्वारा थोपे गए 'जजिया' कर से की थी। गैर-मुसलिमों से वसूला जानेवाला 'जजिया' सम्राट् अकबर ने खत्म कर दिया था, जिसे बाद में औरंगजेब ने फिर से थोप दिया था।

नतीजतन डॉ. मुकर्जी ने 16 नवंबर, 1942 को कैबिनेट से इस्तीफा दे दिया। मुख्यमंत्री को इस्तीफा भेजते हुए उन्होंने उसे गवर्नर को भेजने का अनुरोध किया। दरअसल कोंटई की त्रासदी के बाद मिदनापुर में जो हुआ, डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे का एकमात्र कारण वह नहीं था। 'ऊँट की पीठ पर अंतिम प्रहार' लोकोक्ति जैसा ही था! औपचारिक इस्तीफा भेजने के साथ-साथ डॉ. मुकर्जी ने उसी दिन हरबर्ट को एक अलग पत्र भी लिखा। पत्र और इस्तीफे के भाषण में उन्होंने उन हालात को दर्ज कराया, जिन्होंने उन्हें इस्तीफे देने के लिए बाध्य किया। अन्य कारणों में उन्होंने जो प्रमुख कारण लिखे, उनमें हरबर्ट और उसकी ब्रिटिश नौकरशाहों की मंडली की यह अनिच्छा कि सरकार अपना काम न कर सके। हिंदू-मुसलिम तकरार और मतभेदों को निरंतर उभारना, जिसमें मुसलिम लीग ने भरपूर सहयोग दिया। डिफेंस ऑफ इंडिया ऐक्ट को गलत लागू करना, मिदनापुर में राहत कार्य करने को राजनीतिक कैदियों को रिहा करने से इनकार करना, सिर्फ हिंदुओं पर सामूहिक जुरमाने थोपना और इनकार तथा खाली करने की पराजयवादी नीति आदि भी इस्तीफे के प्रमुख कारण थे।

डॉ. मुकर्जी के इस्तीफेवाले भाषण के अंतिम पैराग्राफ इतने स्मरणीय हैं कि उनमें उनकी गहरी देशभक्ति और राजनीतिक अंतर्दृष्टि का खुलासा पूरी ईमानदारी और स्पष्टता से किया गया

है। उन्होंने कहा, ''जब हम यहाँ विधायक बनकर आते हैं, तो हम संवैधानिक संघर्ष के जरिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता के अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं। उन देशों का इतिहास, जो ब्रिटिश साम्राज्य के अब भी हिस्से हैं (वह कनाडा और ऑस्ट्रेलिया के संदर्भ में), लेकिन उन्हें अपनी आजादी का अधिकार-पत्र अनिच्छुक हाथों को मरोड़कर लेना पड़ा। वे संवैधानिक संघर्ष और जीत के गरिमामय उदाहरण हैं। हमें भी ब्रिटिश प्रभुत्व के बोझ को उतार फेंकने का पर्याप्त अधिकार है, क्योंकि ब्रिटेन हिटलर के अपवित्र हाथों से खुद को बचाने के लिए चिंतित है। क्या हम देशद्रोही होंगे या देशद्रोहियों के गुप्त संगठन के सदस्य करार दिए जाएँगे, यदि हम राष्ट्रपति रूजवेल्ट के ऐतिहासिक कथन को दोहराएँगे कि 'एक देश के लिए खुद अपने पैरों पर खड़े होकर मरना बेहतर है, बजाय इसके कि घुटने मोड़कर जीया जाए!' हम प्रदेश के लोगों की असल जरूरतों के अनुसार, अपनी प्रशासनिक नीति को आकार देकर आजादी का दावा कर सकते हैं। अंततः हमने अपने पड़ोसी देश बर्मा में देखा है कि कैसे विशेष जिम्मेदारियों को, चुपचाप और जल्दी से, बीत जाने दिया गया और उस देश के विशिष्ट रक्षक बर्मा के लोगों को उनके भाग्य पर ही छोड़कर भाग खड़े हुए। बर्मा को जापान के हवाले कर दिया गया। आज जो संकट हमें धमका रहा है, हिंदू या मुसलिम के तौर पर नहीं, लेकिन बंगाली और भारतीय के रूप में, उस स्थिति में हम ऐसे प्रशासन की शुरुआत की माँग करें, जो हमारे भले को और राजनीतिक अधिकारों को मान्यता दे। एक हिंदू और एक मुसलिम में कई चीजों पर मतभेद हो सकते हैं, लेकिन क्या दोनों समान रूप से दासता से सख्त नफरत नहीं करते? इस असहनीय गुलामी की स्थिति को समाप्त करने के लिए ही मैं आपका समर्थन और सहयोग माँग रहा हूँ।''

गवर्नर ने 20 नवंबर, 1942 को डॉ. मुकर्जी का इस्तीफा मंजूर कर लिया था। उससे पहले 19 नवंबर को वह गवर्नर हरबर्ट से मिले, जो यह आश्वासन चाहते थे कि उन्होंने जो पत्र उन्हें लिखे थे, उन्हें सार्वजनिक नहीं किया जाएगा। डॉ. मुकर्जी ने गवर्नर के सामने ही ऐसा आश्वासन देने से साफ इनकार कर दिया, जब तक कि हरबर्ट सरीखे अक्षम गवर्नर को बरखास्त नहीं कर दिया जाता। वह उस टिप्पणी पर बहुत गुस्सा हुआ और उनकी मुलाकात अचानक खत्म हो गई।'

फजलुल हक ने कोशिश की थी कि खुद डॉ. मुकर्जी और हरबर्ट उस इस्तीफे पर पुनर्विचार करें; लेकिन दोनों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। आम आदमी अपने भाग्य के बारे में कम ही जानता था और गवर्नर हरबर्ट का क्या होगा, इसकी भी जानकारी नहीं थी।

जापानियों ने दिसंबर 1942 में कलकत्ता पर बम गिराया। हालाँकि युद्ध के दूसरे तरीकों की तुलना में यह बहुत सधा हुआ काम था। उस समय डॉ. मुकर्जी मधुपुर में थे। वहाँ से वह कानपुर के लिए रवाना हुए, जहाँ अखिल भारतीय हिंदू महासभा के सत्र में भाग लेना था। इस्तीफे के बाद यह उनकी पहली उपस्थिति थी और लोगों में उनके प्रति गजब का उत्साह था। बैठक में नेताओं ने ब्रिटिश सरकार को कहा कि संकट की इस घड़ी में उनके प्रस्तावों पर ध्यान दिया जाए। कुछ लोग सीधी काररवाई के पक्ष में थे, लेकिन सावरकर और डॉ. मुंजे के विरोध के कारण इसे लागू नहीं किया गया।

उसी दौरान कलकत्ता में फजलुल हक की प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक गठबंधन सरकार के लिए हालात बद से बदतर हो रहे थे। लीग और यूरोपीय समूह, दोनों ही उनके खिलाफ एकजुट हो

गए थे और मुसलिम तथा अनुसूचित जाति के विधायक दल-बदल कर रहे थे। डॉ. मुकर्जी के बाहर आने के साथ ही हिंदू सभा सरकार से बाहर हो गई थी, लेकिन सरकार को समर्थन ज़ारी था। कांग्रेस ने भी ऐसा किया था। एक-दो बार विधानसभा में ही सरकार हारने से बाल-बाल बची थी। उसी दौरान गवर्नर हरबर्ट हक पर दबाव डाल रहा था कि लीग को भी कैबिनेट में शामिल किया जाए। हिंदू सभा भी सहमत थी, बशर्ते नेता फजलुल हक को ही रहने दिया जाए। लेकिन लीग ने कहा कि वह किसी के साथ भी सत्ता साझा करने को तैयार है, लेकिन वे उस कैबिनेट में शामिल नहीं होंगे, जिसमें कोई मुसलिम मंत्री लीग के बजाय किसी दूसरी पार्टी का होगा।

डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे के बाद खुद फजलुल हक ने वित्त विभाग सँभाल लिया। यह आशंका थी कि वह आसानी से बजट पारित नहीं करा सकेंगे। इस अवस्था में हरबर्ट ने हक को इस्तीफा देने को कहा, यदि वह ब्रिटिश प्रशासन के बारे में डॉ. मुकर्जी के कथन का खंडन करने को सहमत नहीं होते। हक यह करने को तैयार नहीं थे और हरबर्ट इस्तीफे के पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए उनपर दबाव डाल रहा था। हरबर्ट ने पहले से ही इस्तीफा टाइप करा रखा था। अंततः हक झुक गए और इस्तीफे पर दस्तखत कर दिए। उन्होंने अगली सुबह ही अपने साथियों, डॉ. मुकर्जी समेत, को इस्तीफे के बारे में बताया; लेकिन तब तक इस्तीफा मंजूर किया जा चुका था। बजट पारित नहीं हुआ था, लिहाजा कुछ और दबाव के बाद, जिसका डॉ. मुकर्जी ने प्रतिरोध किया, गवर्नर ने 31 मार्च, 1943 को भारत सरकार अधिनियम की धारा 93 के तहत बंगाल में गवर्नर शासन घोषित कर दिया और 'गवर्नर का बजट' भी पारित कर दिया गया।

इसके खिलाफ खूब हंगामा हुआ और एक विशाल प्रदर्शन भी आयोजित किया गया, जिसे हक और डॉ. मुकर्जी ने संबोधित किया तथा हिंदू-मुसलिमों ने एक साथ उसमें शिरकत की। प्रदर्शन का उद्देश्य यह था कि गवर्नर को अपनी रुचियों और साजिशों के लिए यह कैबिनेट अवरोध लगती थी, लिहाजा एक वैध सरकार को बरखास्त कर दिया; लेकिन हरबर्ट अपने खिलाफ सार्वजनिक हंगामे से शर्मिंदा होनेवाला शख्स नहीं था। उसने नजीमुद्दीन को संदेश भेजा और उसे सरकार बनाने को कहा, जिसमें हिंदू जाति के तीन मंत्री और अनुसूचित जातियों के भी तीन मंत्रियों को शामिल होने के लिए मना लिया गया। तब मुसलिम लीग ने सरकार का स्वागत करते हुए प्रदर्शन आयोजित किया। अपने क्रिया-कलाप का बचाव करते हुए हिंदू मंत्री भी लीगवालों के साथ मिल गए। संयोगवश इस मुकाम पर सोहरावर्दी (जिनके बारे में पुस्तक में आगे बहुत कुछ कहा जाएगा) ने भी मुख्यमंत्री पद के लिए बहुत कोशिश की; लेकिन उनकी अनदेखी कर दी गई और उन्हें नागरिक आपूर्ति का विभाग दिया गया।

यह उल्लेखनीय है कि वायसराय लिनलिथगो गवर्नर हरबर्ट के बारे में निश्चय ही एक गलत राय रखते थे और उसकी हरकतों के अत्यधिक आलोचक थे। भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट आमेरी को 2 अप्रैल, 1943 को लिखे पत्र में लिनलिथगो ने कहा था—''मैं हरबर्ट और उसकी सरकार के क्रिया-कलापों से बेहद अशांत हूँ। मैं हक के जैसी मूर्खता की कल्पना नहीं कर सकता, जिसने इस्तीफे के साथ अपने साथियों की सलाह लेने से मुँह मोड़ लिया। जिन अन्य पहलुओं से मैं चिंतित हूँ, वे हैं कि उस समय हक के पास बहुमत था और निश्चित तौर पर

नजीमुद्दीन के पास बहुमत नहीं था और अब भी नहीं है। मैं विश्वस्त हूँ कि गवर्नरों के लिए ऐसी राजनीति करना बेहद खतरनाक है। बेशक वे उत्कृष्ट क्षमता के हों, और मैं मानता हूँ कि हरबर्ट इस श्रेणी का गवर्नर होने का बड़ी मुश्किल से दावा कर सकता है।'' हालाँकि प्रशासनिक स्थिरता के आधार पर लिनलिथगो ने हरबर्ट का हमेशा समर्थन किया।

क्या डॉ. मुकर्जी ने सरकार से इस्तीफा देकर गलती की थी? इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनके इस्तीफे से प्रोग्रेसिव गठबंधन का पतन तेज हो गया था। ऐसा लगता था कि यदि उन्होंने इतनी हड़बड़ी में इस्तीफा न दिया होता तो मुसलिम लीग सरकार न बनी होती। हालाँकि पुरानी बातों या तथ्यों के विचार से यह असंभव सा लगता है। जब तक डॉ. मुकर्जी सरकार में टिके रहने का प्रबंध कर सके और सितंबर 1943 तक गठबंधन को एकजुट किए रखा, स्वयं हरबर्ट, विधानसभा में यूरोपीय समूह, ब्रिटिश नौकरशाह और मुसलिम लीगवाले लगातार गठबंधन को उलट देने की कोशिश कर रहे थे और यह असंभव सा था कि गठबंधन सरकार डॉ. मुकर्जी के साथ और उनके बिना बरकरार रह पाती। इसके अलावा डॉ. मुकर्जी सुनामी और अकाल राहत कार्यों में खुद अपना इस्तेमाल न कर पाते, जितना इस्तीफे के बाद उन्होंने किया।

इसी बीच खाद्यान्नों की कीमतें, खासकर चावल की, बहुत ज्यादा बढ़ती रहीं। अधिकतर भारतीयों की तरह बंगाली भी मुख्यत: अनाज खाने वाले हैं और अनाज की कीमतें (उनके संदर्भ में चावल) किसी अन्य चीज की कीमतों से ज्यादा उन्हें प्रभावित करती हैं। फरवरी 1942 में प्रति मौंड (करीब 36 किलोग्राम या 80 पौंड) चावल की कीमत करीब 4 रुपए थी। दिसंबर 1942 में यह 16 रुपए प्रति मौंड तक उछल गई और सितंबर 1943 में यह 100 रुपए हो गई। लिहाजा बाजार में जो थोड़ा सा चावल था, वह कलकत्ता सरीखे संपन्न स्थानों की ओर चला गया, जहाँ खरीद की क्षमता ज्यादा थी। देहात में पहले तो जड़ों, पत्तों और घोंघे सरीखी अखाद्य चीजों के सहारे जीवित रहने की कोशिश की गई। नतीजतन कुछ की मौत हो गई तो बाकी लोग भूखे रहे और ऐसे भोजन की तलाश में कलकत्ता चले आए, जो उन्हें भीख में मिल सकता था।

उनमें अधिकतर लोग पड़ोस के जिलों, मुख्यत: मिदनापुर से ही आए थे, जहाँ अक्तूबर 1942 के सुनामी-चक्रवात ने हैरान कर देनेवाली संख्या में लोगों को लील लिया था। अधिकतर वे पुरुष, जो उस समय घर से बाहर थे, ही बच पाए थे। तब महिलाओं को खुद ही जीविका के लिए जुगाड़ करना था और खाने के लिए कहीं कुछ भी नहीं मिल पा रहा था, तब वे भी कलकत्ता आईं। पूर्वी बंगाल के दूर-दराज के जिलों के लोगों को कलकत्ता आना मुश्किल लगा, लिहाज़ा मरने के लिए वे वहीं टिके रहे।

वास्तव में अकाल वर्ष 1943 के शुरुआती महीनों में शुरू हुआ और उसी साल सितंबर-अक्तूबर में स्थिति चरम तक पहुँच गया। वह वक्त भी कैसा था? इस सवाल में जाने से पहले हम कुछ विषयांतर करके डॉ. मुकर्जी के निजी जीवन की ओर चलेंगे, क्योंकि उसी समय उनके परिवार में पहली शादी हुई थी। उनकी सबसे बड़ी बेटी सविता (बुआ) 17 साल की हो रही थी और उस वक्त के मानकों के मुताबिक, खासकर पश्चिम बंगाल की महिलाओं के संदर्भ में, उसकी शादी करनी थी और वह अवसर संयोग से ही आया।

डॉ. मुकर्जी के एक मित्र सुरेश चक्रवर्ती किसी कारणवश उनसे मिलने आए और उल्लेख

किया कि अब उनके बेटे निशीथ की शादी हो जानी चाहिए। निशीथ बनर्जी (बेटा अपने गोत्र बनर्जी का इस्तेमाल करना पसंद करता था) ने इंग्लैंड में एक इंजीनियर के तौर पर प्रशिक्षण लिया था और भारत लौट आया था। टाटा आयरन ऐंड स्टील कंपनी, जमशेदपुर में उसे नौकरी मिल गई थी। बनर्जी और मुकर्जी दोनों ही राढ़ी ब्राह्मण परिवार थे और उनके गोत्र अलग-अलग थे—जातीय व्यवस्था में एक आदर्श जोड़ी, जिसे बँगला में 'पालती घर' कहते हैं। डॉ. मुकर्जी ने सविता के नाम का प्रस्ताव रखा। सुरेश ने पहले तो यह कहते हुए विरोध किया कि मुकर्जी परिवार से उनके परिवार की कोई तुलना नहीं और सविता इतने ऐशो-आराम में पली है कि उनके परिवार की अपेक्षाकृत साधारण जीवन-शैली में ढलने में मुश्किल महसूस करेगी। लेकिन डॉ. मुकर्जी ने आग्रह किया तो वह नरम पड़ गए। डॉ. मुकर्जी ने सुझाव दिया कि 'हाँ' कहने से पहले तुम्हें अपनी पत्नी की सलाह भी लेनी चाहिए। सुरेश ने कहा कि वह जरूरी नहीं है। वह अति प्रसन्न होंगी—और वैसा हुआ भी। लिहाजा डॉ. मुकर्जी की सबसे बड़ी बेटी और दूसरी संतान सविता, जिसका जन्म 1926 में हुआ, की शादी निशीथ बनर्जी से 9 अप्रैल, 1943 को हुई।

विवाह वाले दिन सुबह दुलहन और दूल्हे के पिता ने अलग-अलग रीति-रिवाज संपन्न किए, जो नंदी मुख या आभ्युदायिक के तौर पर जाना जाता है। उनके जरिए वे शादी में आशीर्वाद देने के लिए अपने मृत पुरखों को याद करते हैं। इस रीति-रिवाज के बाद डॉ. मुकर्जी ने सविता को बताया कि कपड़ों और जेवरात में कभी भी आडंबर और दिखावा नहीं करना। सविता ने प्रतिरोध किया और डॉ. मुकर्जी से पूछा कि यदि ऐसा था, तो उन्होंने उसे इतना जेवरात क्यों दिया? डॉ. मुकर्जी सिर्फ मुसकरा दिए।

विवाह के दौरान जब संप्रदान (दुलहन को देना—एक बहुत महत्त्वपूर्ण रस्मो-रिवाज) होना था तो डॉ. मुकर्जी वहाँ कहीं मिल नहीं पा रहे थे और फिर किसी अन्य व्यक्ति ने वह रस्म निभाई। अगले दिन जब डॉ. मुकर्जी दुलहन को चूमने आए तो सविता ने आहत भावनाओं का प्रदर्शन करते हुए अपने ओठ बिचकाए, खासतौर पर बंगाली शैली, जिसे 'अभिमान' कहते हैं (हिंदी में समान शब्द से भिन्न) और कहा, "मुझे मत छुओ—आप मुझे प्यार नहीं करते। संप्रदान के दौरान आप कहाँ गायब हो गए थे?"

डॉ. मुसकराए और बोले, "तुम श्यामाप्रसाद मुकर्जी की बेटी हो। तुम्हें इस तरह नहीं बोलना चाहिए। पिछली रात मैं अकाल से प्रभावित कुछ लोगों को भोजन खिला रहा था और मैं उन्हें छोड़कर नहीं आ सकता था।" हालाँकि परिवार के कुछ अन्य सदस्यों; जो शादी के मौके पर मौजूद थे, ने इस प्रकरण पर अपने संदेह जताए थे। उनका कहना है कि डॉ. मुकर्जी अपनी सबसे बड़ी और मातृहीन बेटी की शादी के पूरे समारोह के दौरान कहीं दूर बाहर नहीं जा सकते थे। उनके मुताबिक, वह कुछ देर के लिए ही गए होंगे।

बहरहाल, अब हम पुन: अकाल के मुद्दे पर लौटते हैं। सवाल था कि वह वक्त भी कैसा था?

ऐसा वक्त था कि जो कभी अच्छे-भले मानव होते थे, अस्थि-पंजर रह गए थे और अब हजारों की संख्या में कलकत्ता की गलियों में घूम रहे थे। वे यह कहते हुए विलाप कर रहे थे, 'एकटू फैन दाओ गो मा' (ऐ माँ, हमें थोड़ा सा फैन दो)। उन्हें चावल मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी। वे सिर्फ 'फैन' से ही खुश थे। ऐसी थी उनकी स्थिति! उनमें अधिकतर औरतें थीं, जो

अपनी छाती से सूखकर काँटा हुए बच्चों को कसकर चिपकाए थीं—बड़े सिर, बाहर निकले हुए पेट और माचिस की तीलियों जैसे अंगोंवाले बच्चे। वे कलकत्ता की गलियों में हजारों मक्खियों की तरह मरे। हुगली नदी पर तैरती लाशें एक आम दृश्य था। एक प्रत्यक्षदर्शी ने बताया था कि उसे सुबह में ट्राम गाड़ी के स्टॉप तक पहुँचने के लिए रास्ते में पड़ी लाशों के बीच से होकर गुजरना पड़ा था।

सरकारी अनुमान के मुताबिक, अकाल में करीब 15 लाख लोग मारे गए थे। अनधिकृत आँकड़े इससे कहीं ज्यादा हैं। कमोबेश सरकारी अनुमान से दुगने, यानी 30 लाख, जबकि कुछ तो इसे 50 लाख के करीब मानते हैं। आँकड़े कुछ भी हों, लेकिन त्रासदी की विकरालता की कल्पना सरकारी अनुमान से ही की जा सकती है। अकाल डॉ. मुकर्जी के जीवन में तीन कारणों के लिए एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। पहले, उन्होंने गवर्नर को समझाने की कोशिश में एक उल्लेखनीय दूरदर्शिता दिखाई कि सैनिकों के लिए खाद्यान्न इकट्ठा करने के नाम पर एक ग्रामीण क्षेत्र को कंगाल न किया जाए। उन्होंने तब इस्तीफा दे दिया, जब लगा कि गवर्नर उनकी बात बिलकुल भी नहीं सुनेगा। दूसरे, जब अकाल एक हकीकत बन गया तो उन्होंने एक विशाल राहत-कार्यक्रम का आयोजन किया, जिसने असंख्य जिंदगियाँ बचाईं। यह काम सरकार को करना चाहिए था, लेकिन सरकार द्वारा ऐसा नहीं किया गया या उचित तौर पर नहीं किया गया और तीसरे, उन्होंने ब्रिटिश प्रशासन और मुसलिम लीग सरकार के कार्यों एवं दलाली के अपराधों को बेनकाब किया। ऐसे कारनामे, जो डॉ. मुकर्जी की कोशिशों के बिना कभी भी प्रकाश में नहीं आ सकते थे। डॉ. मुकर्जी ने विधानसभा में अपने भाषणों के जरिए ऐसे ही प्रयास किए।

अशोक मित्रा, आई.सी.एस. उस समय ढाका जिले में मुंशीगंज के उपमंडल अधिकारी थे, जिन्होंने इन मौतों को शब्दों में बयाँ किया है, जो मार्मिक और वीभत्स है। मित्रा के अनुसार, मुंशीगंज के लोगों का दु:खद अनुभव अगस्त 1943 में शुरू हुआ। जुलाई तक वे किसी तरह जीवित थे। एक और महीना पर्याप्त ठीक रहा। उन्होंने देहात में जिन लोगों को देखा, वे सूखकर काँटा हो गए थे। उनकी त्वचा कागज की तरह उनके अस्थिपंजर से चिपक गई थी, हड्डियाँ बाहर निकल आई थीं। उनके शरीर के बाल काले पिनों की तरह उनके पूरे शरीर पर लिपटे थे। उनका आँखें फाड़कर देखना बिलकुल खाली सा लगता था। उनकी आँखों में कोई रोशनी, चमक नहीं रह गई थी और किसी चीज पर दृष्टि जमाने में उन्हें वक्त लगता था। सामूहिक मौतें अगले माह शुरू हुईं और 15 सितंबर से 15 अक्तूबर के बीच का वक्त सबसे बदतर था। उस समय तक जिला प्रशासन ने सभी जगह 'लंगरखाने' शुरू कर दिए थे। मुंशीगंज में ऐसे करीब 100 लंगरखाने थे। शुरुआत में भोजन में बिना फैन के चावल दिए जाते थे, बाद में खिचड़ी दी गई, जिसमें तीन हिस्से चावल और एक हिस्सा मसूर की दाल होती थी। कुछ हलदी, सरसों का तेल, नमक और कुछ तले-भुने आलू तथा लौकी भी दिए गए। भूख के महीनों के बाद इस पोषक भोजन ने शीघ्र ही उनके शरीरों को गुब्बारे की तरह फुला दिया और उनकी त्वचा अंडे के सफेद हिस्से की तरह अर्द्ध पारदर्शी स्थिति तक फैल गई और तब वे मर गए। मित्रा कहते हैं कि उन लोगों को जिंदा रखने की तमाम उम्मीदें उन्होंने छोड़ दी थीं। उनकी संतुष्टि सिर्फ इतनी थी कि गरीब आत्माओं ने मरने से पहले भरपेट भोजन खा लिया था।

डॉ. मुकर्जी के मुताबिक, मिदनापुर में एक भूखा आदमी एक लंगरखाने में चावल की थाली देखकर सिर्फ उत्तेजना से ही बेहोश होकर गिर पड़ा। ऐसा उसके कुछ खाने से पहले ही हो गया। कुछ देर के बाद वह मर गया। एक और आदमी एक नदी के किनारे मृत पाया गया। उसका पेट रेत से भरा था। भूख के मारे उसने रेत ही निगल लिया था।

नोबेल पुरस्कार विजेता भारतीय अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने एक नौजवान के रूप में उस अकाल को अपनी आँखों से देखा था और बाद में विस्तार से उसका अध्ययन किया। उन्होंने टिप्पणी की थी कि ऐसा अकाल अधिनायकवादी और संवेदनहीन राजनीति में ही संभव है, क्योंकि किसी अन्य व्यवस्था में अकाल की सूचना मिलते ही तुरंत चीख-पुकार मच जाती है और लोग सुधार के उपायों की माँग करने लगते हैं। उसी समय अलग-अलग जगहों से सहायता दी जाने लगती है। दूसरी ओर, एक तानाशाह अकाल को अपने शासन की नाकामी के प्रमाण के तौर पर देखता है। लिहाजा जब तक अकाल को शेष दुनिया—देश के शेष हिस्सों समेत—से छिपाया नहीं जाता तो वह उसके अपने पतन का सबब बन सकता है। मौजूदा वक्त में एशिया में ऐसे अकाल पड़े हैं। माओ के चीन में 1950 के दशक और किम जोंगा के उत्तरी कोरिया में 1990 के दशक में ऐसे अकाल पड़े हैं। दोनों ही देशों में पूरी तरह से बंद, बेहद गुपचुप और बेहद सर्वाधिकारी राजनीति है। हरबर्ट और ब्रिटिश सरकार के तले 1943 का बंगाल का अकाल माओ के चीन और किम के उत्तरी कोरिया से अलग नहीं था—वैसा ही दमनकारी और वैसा ही गुपचुप!

इस अकाल की शुरुआत और कुप्रबंधन के केंद्रबिंदु चार लोग थे। उनमें भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लियोपोल्ड आमेरी, वायसराय लिनलिथगो और गवर्नर हरबर्ट का पाठकों से परिचय हो चुका है। चौथा व्यक्ति हरबर्ट का मंत्री नजीमुद्दीन सरकार में नागरिक आपूर्ति का प्रभारी, एक रंगीन मिजाज, भड़कीला शख्स हुसैन शाहिद सोहरावर्दी था। पुस्तक में आगे उसका उल्लेख आएगा। मिदनापुर के कुलीन मुसलिम परिवार का उत्तराधिकारी सोहरावर्दी अपनी पाकार्ड कार खुद ही चलाता था और कलकत्ता के 'गोल्डन स्लिपर' नाइट क्लब में अकसर जाता था। लैरी कॉलिंस और डॉमिनिक लैपियर की बेस्टसेलर पुस्तक 'फ्रीडम एट मिडनाइट' में उसके बारे में खुलासा किया गया है कि 'वह हरेक कैबरे डांसर और ऊँचे दर्जे की वेश्या के साथ हमबिस्तर होता था।' अशोक मित्रा ने दोनों को करीब से देखा था और वह दोनों की राय के विपरीत कहते हैं कि नजीमुद्दीन एक शांत और शालीन व्यक्ति था, लेकिन सोहरावर्दी एक 'रफ-टफ धौंस वाले व्यक्ति' से कम नहीं था।

नजीमुद्दीन कैबिनेट ने अप्रैल 1943 में कार्यभार सँभाल लिया था। सोहरावर्दी नागरिक आपूर्ति मंत्री था और अकाल भी एक असलियत साबित हो चुका था, लेकिन अभी और भी बदतर हालात सामने आने थे। माओ के चीन और किम के उत्तरी कोरिया की तरह नई सरकार का पहला काम यह तय करना था कि न तो कोई अकाल पड़ा है और न ही पड़ेगा। उन्होंने यह साबित करने की मशक्कत की कि अनाज की कोई कमी नहीं थी। सिर्फ कुशासन और कुछ बेईमान व्यापारियों द्वारा जमाखोरी के कारण ऐसा हुआ। गवर्नर हरबर्ट को खुश करने की कोशिशों में उन्होंने पूरी तरह हास्यास्पद बयान दिए। मसलन सोहरावर्दी ने कहा कि कोई कमी नहीं है, बल्कि पर्याप्त खाद्यान्न हैं और यदि जरूरी हुआ तो वह खुद लोगों के 'तख्तपोशों' के नीचे देखेगा कि कहीं

लोगों ने अनाज छिपाकर तो नहीं रखा है। ऐसे जमाखोरी वाले खाद्यान्न की वसूली की जाएगी। ऐसे बयानों पर डॉ. मुकर्जी विधानसभा में खूब बरसे। हालाँकि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि वह कुछ कर नहीं सके।

ब्रिटिश प्रशासन ने साफ शब्दों में इसकी भर्त्सना नहीं की कि भारतीय नागरिक मक्खियों की तरह मर रहे थे। सिर्फ लॉर्ड लिनलिथगो की हरी झंडी मिल जाती कि युद्ध स्तर पर दूसरे प्रदेशों से अनाज बंगाल में लाया जाए तो बंगाल में अनाज की भरमार होती; क्योंकि उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में खाद्यान्न की कोई कमी नहीं थी। हालाँकि ऐसी कोई हरी झंडी नहीं दिखाई गई। लिनलिथगो और आमेरी दोनों ने ही अकाल के तथ्यों और उसके फलितार्थ को ब्रिटिश संसद् से छिपाने की बहुत कोशिश की। हालाँकि आमेरी ने बाद में अपनी डायरी में चर्चिल पर दोष मढ़ने की पूरी कोशिश की। उन्होंने अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड सरीखे खाद्यान्न-बहुल देशों से भी इस त्रासदी को छिपाया। ये देश की सहायता को जरूर आगे आते, बेशक युद्ध की स्थितियों के बावजूद मदद किसी भी हद तक होती। यहाँ तक कि लाहौर के 'सिविल ऐंड मिलिट्री गजट', जो ब्रिटेन का दोस्ताना अखबार था, ने उस दौरान बंगाल सरकार के गुपचुप और घुन्न रवैए के बारे में कड़वी टिप्पणी की थी। यह सबकुछ आमेरी की उदासीनता, लिनलिथगो के स्वार्थवाद और दिमाग-देह से बीमार हरबर्ट की बदला लेने की भावना तथा सोहरावर्दी की अकुशलता और उसके फूहड़ व्यवहार की ओर संकेत करता है।

लिहाजा यह स्वाभाविक है कि हरबर्ट ने वायसराय लिनलिथगो को एक गोपनीय रपट भेजी और कहा, ''अपने इस्तीफे के बाद से डॉ. मुकर्जी ने मिदनापुर के हालात को भुनाने के लिए खुद को समर्पित कर दिया है। इस तरह वह महामहिम (लिनलिथगो को संबोधित) गवर्नर और सरकारी अधिकारियों को अपमानित करना चाहते हैं।'' हरबर्ट की योजना थी कि यह भयावह त्रासदी अथवा त्रासदियों का संयोजन शेष दुनिया के लिए अज्ञात रहना चाहिए। चूँकि डॉ. मुकर्जी इसी मुद्दे को प्रचारित कर रहे थे, ताकि पीड़ितों के लिए राहत हासिल की जा सके। हरबर्ट को लगा कि डॉ. मुकर्जी उनके कामों में रोड़ा अटका रहे हैं, लिहाजा उनके बयानों में से एक को 'डिफेंस ऑफ इंडिया' कानून के तहत प्रतिबंधित कर दिया गया और भारत सरकार ने 'राज्यों की परिषद्' में इस पर सफाई दी। डॉ. मुकर्जी के बयानों को 'तथ्यों का अति नाटकीकरण' करार दिया गया।

इस्तीफे के बाद डॉ. मुकर्जी राहत-कार्य में कूद पड़े। शुरुआत में मिदनापुर के चक्रवात व सुनामी-पीड़ितों के लिए और बाद में अकाल-पीड़ितों के लिए राहत जुटाने लगे। उन्होंने प्रदेश भर में समग्र अकाल राहत के लिए 'बंगाल रिलीफ कमेटी' का गठन किया और दान इकट्ठा करने का काम शुरू किया। वह जुलाई में बंबई गए, ताकि अकाल के लिए कुछ संभावित दानदाताओं से धन लिया जा सके। कमेटी के नाम से ही स्पष्ट है कि उनका इरादा हालाँकि अपनी ही पार्टी के भीतर से दबाव के कारण उन्हें किसी हद तक झुकना पड़ा और समानांतर संगठन शुरू करना पड़ा—बंगाल प्रोविंशियन हिंदू महासभा रिलीफ कमेटी। वह इस कमेटी के अध्यक्ष बने, जबकि पिछली कमेटी में उपाध्यक्ष रहे, जिसके अध्यक्ष सर बद्रीदास गोयनका थे।

उसी दौरान उनके नेतृत्व में दोनों ही राहत समितियों ने हिंदू और मुसलिमों में एक साथ राहत कार्य शुरू किया। दरअसल, पूर्वी बंगाल में अकाल के ज्यादातर पीड़ित गरीब मुसलिम

खेतिहर किसान थे। डॉ. मुकर्जी और उनकी कमेटियों ने उसी ऊर्जा और जोश के साथ उनके लिए राहत का कार्य किया, जैसा मिदनापुर के हिंदुओं के लिए किया। सरकार की एक खुफिया रपट को यह कहते हुए डॉ. मुकर्जी को न चाहते हुए प्रशंसा करनी पड़ी कि—''एकमात्र पार्टी, जिसने मानवीय आधार पर अकाल पर विचार किया और उसे समझा तथा उसे राजनीतिक लाभ के दायरे से दूर ही रखा, वह पार्टी थी बंगाल हिंदू महासभा।'' उन्होंने विधानसभा सदस्यों से अपने दैनिक भत्तों का एक हिस्सा अकाल राहत को दान करने की भी अपील की और कहा, ''हमें हर रोज 40 रुपए मिलते हैं। मैं नहीं जानता कि आगे यह कितना होगा। लेकिन हमें स्वेच्छा से 10 रुपए की कटौती पर सहमत होना चाहिए और यह राशि ऐसे घर खोलने के मकसद के लिए अलग रखनी चाहिए, जिनमें इन महिलाओं को बसेरा और भोजन दिया जा सके।'' दुःखद है कि बहुत कम विधायकों ने डॉ. मुकर्जी की अपील पर ध्यान दिया।

अकाल ने सियासत को बढ़ावा दिया, क्योंकि वह कुछ भारतीय राजनेताओं के कुरूप लक्षणों का अपरिहार्य नतीजा था, जो अपने हित के लिए आपदा से भी फायदा उठाते हैं। एक मुसलिम सांप्रदायिक पार्टी 'खाकसार पार्टी' ने बंगाल के बाहर राहत शिविर लगाए और हालात का फायदा उठाना शुरू किया। राहत के बदले में उन्होंने हिंदू बेसहारा बच्चों को इसलाम में मतांतरित करने की कोशिश की। डॉ. मुकर्जी ने तुरंत 'खाकसार पार्टी' के नेताओं से कलकत्ता में संपर्क किया और माँग की कि ऐसे बच्चों को हिंदू महासभा को सौंपा जाए और इन बच्चों को प्रदेश के बाहर ले जाना फौरन रोका जाए। अंततः वह सरकार पर पर्याप्त दबाव डालने में सफल रहे कि बच्चों को इस तरह बिलकुल नहीं ले जाया जा सकता। दक्षिण अफ्रीका के कुछ अमीर मुसलिमों ने भी अकाल राहत के लिए दान भेजा; जबकि जिन्ना ने उन्हें ऐसा करने से रोका था।

डॉ. मुकर्जी की दोनों कमेटियाँ एक परिवर्तनकारी और मार्गदर्शक के तौर पर सहायक साबित हुईं कि अकाल राहत के लिए अन्य प्रमुख लोगों को आगे आने और उनके संगठन या किसी दूसरे संगठन में शामिल होने की प्रेरणा दे सकें। जो संगठन गठित किए गए और जिन्होंने नेतृत्व किया, उनमें प्रमुख नाम थे—मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी (मँगतूराम जयपुरिया), रामकृष्ण मिशन (स्वामी माधवानंद), आर्यसमाज रिलीफ सोसाइटी (दीपचंदजी पोद्दार), स्टॉक एक्सचेंज रिलीफ कमेटी (गोविंद लाल बाँगुर), गुजरात सेवा समिति (प्रांजीवन जैथा), पंजाब रिलीफ कमेटी (लाला कर्मचंद थापर), कलकत्ता रिलीफ कमेटी (डॉ. विधानचंद्र राय), हावड़ा रिलीफ सोसाइटी (चिरंजी लाल बजोरिया), ऑल इंडिया वूमेंस कॉन्फ्रेंस रिलीफ कमेटी (श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित), बंगाल वूमेंस फूड कमेटी (लेडी रेणु मुकर्जी), ऑल बंगाल फ्लड ऐंड फेमिन रिलीफ कमेटी (जी.एल. मेहता), दरिद्र बांधव भंडार (डॉ. राधा विनोद पाल)। बिरला ब्रदर्स और सूरजमल नागरमल सरीखे प्रमुख व्यापारिक घरानों ने अपने ही राहत कार्यों को प्रायोजित किया और ऐसा ही कुछ जमींदारों ने अपने-अपने इलाकों में किया। कुछ जिलों में इन कमेटियों से संबद्ध संगठन थे, जिनके जरिए उन्होंने राहत बाँटने का काम किया। डॉ. मुकर्जी ने एक राहत समन्वय समिति का भी गठन किया, जिसके वह उपाध्यक्षों में से एक थे। दूसरे उपाध्यक्ष डॉ. विधानचंद्र राय थे, जो प्रख्यात डॉक्टर थे और बाद में पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री बने। समन्वय समिति के अध्यक्ष सर बद्रीदास गोयनका थे।

राहत संगठनों ने निम्नांकित गतिविधियों को कार्यरूप दिया—

1. बिलकुल बेसहारा और भूखे लोगों के लिए मुफ्त रसोइयाँ और निःशुल्क अनाज वितरण केंद्र।
2. कुछ भुगतान करनेवालों के लिए सस्ती कैंटीन और अनाज की दुकानें।
3. बेसहारा लोगों के लिए थोड़ा आवास।
4. अकाल-प्रभावितों के इलाज के लिए अलग और तमाम सुविधाओंवाले अस्पताल।
5. जरूरतमंदों को मुफ्त वस्त्रों की आपूर्ति।
6. बेसहारा बच्चों और शिशुओं के लिए मुफ्त दूध की आपूर्ति।

संपूर्ण भारत से राहत कमेटियों ने जो दान एकत्रित किया, वह करीब 50 लाख रुपए था। इसमें से एक-तिहाई अकेली बंगाल रिलीफ कमेटी ने ही एकत्रित किया था। इस धन के साथ सभी संगठनों ने कलकत्ता और पूरे ग्रामीण बंगाल में, मिदनापुर में दनतान से जलपाईगुड़ी में बूरा तक और चिट्टगोंग तक राहत केंद्र चलाए। ऐसे तमाम प्रयासों के पीछे डॉ. मुकर्जी की अनथक ऊर्जा ही काम कर रही थी।

सत्ता से बाहर आकर डॉ. मुकर्जी ने अकाल राहत कार्य जोर-शोर से शुरू किए। उन्होंने ब्रिटिश सरकार को दोषी ठहराया, जिसकी लापरवाही और दोषपूर्ण नीतियों के कारण अकाल पड़ा। ऐसा कोई मंच नहीं था, जहाँ से उन्होंने इस अकाल के प्रमुख खलनायक हरबर्ट की सार्वजनिक आलोचना नहीं की हो। नागरिक आपूर्ति मंत्री सोहरावर्दी ने अपनी निजी गलतियों से अकाल-पीड़ितों की स्थिति को और भी बदतर बना दिया था। डॉ. मुकर्जी ने शालीन और सभ्य तरीके से विधानसभा में उसे झाड़ पिलाई और बेनकाब किया। उस समय विधानसभा ''सांप्रदायिक अवॉर्ड-1932 और गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट-1935'' पर आधारित थी और हिंदू, अनुसूचित जाति, मुसलिम, इंडियन ईसाई विधायक तथा असमान तरीके से बड़ी संख्या में 'यूरोपीय' (यानी ब्रिटिश) सदस्य अलग-अलग चुने गए थे। सत्तारूढ़ गठबंधन मुख्यतः मुसलिम लीग का था, जिसके साथ कुछ विश्वासघाती हिंदू मिले हुए थे। यूरोपीय समूह की मदद व समर्थन से ही उन्होंने सत्ता हासिल की थी।

डॉ. मुकर्जी ने बंगाल विधानसभा में 14 जुलाई, 1943 और 17 सितंबर, 1943 को दो अत्यंत जोशीले भाषण दिए। जिनमें मुसलिम लीग सरकार और ब्रिटिश नौकरशाही की भर्त्सना की और तब के नागरिक आपूर्ति मंत्री सोहरावर्दी पर तीखे प्रहार किए। सोहरावर्दी की निंदा न केवल अकाल राहत बंदोबस्त को गड़बड़ करने के लिए की गई, बल्कि खुलेआम तरफदारी और सार्वजनिक धन खर्च करने के नियमों की अवहेलना करने के लिए भी की गई। उसने मुसलिम लीग के एक लाभार्थी इस्पहानी के संदर्भ में यह तरफदारी खुलेआम की थी। वे भाषण अपने तीखेपन और वाक्पटुता के लिए स्मरणीय हैं तो भावी पीढ़ी के लिए तथ्यों को दर्ज करने के लिए भी याद रखने लायक हैं।

बंगाल में खाद्य-स्थिति पर एक बहस के दौरान अपने भाषण में डॉ. मुकर्जी ने कहा था, ''श्रीमान, सोहरावर्दी के बयान में यह कहा गया था कि पिछली सरकार की खाद्य नीति (यानी हक सरकार) का सबसे खराब बात अनाज की कमी के बारे में उनकी जिद थी। 17 मई, 1943 को सोहरावर्दी ने अपने बयान में दोबारा कहा—दरअसल बंगाल के लोगों के लिए पर्याप्त खाद्यान्न है।

मेरे सामने बैठे सदस्य, जो सरकार को अपना समर्थन दे रहे हैं, से विशेष तौर पर कहता हूँ कि वे सोहरावर्दी से स्पष्टीकरण की माँग करें। उसके पास कौन से आँकड़े हैं, जिनके आधार पर ऐसा बयान दिया गया है ?'' खाली बयान से असंतुष्ट डॉ. मुकर्जी ने टिप्पणी की, ''पूरे विस्तृत आँकड़े, जो पर्याप्त खाद्यान्न का खुलासा करते हैं, शीघ्र ही प्रकाशित किए जाएँ। वे आँकड़े कहाँ हैं ? क्या वे एकत्रित किए गए हैं अथवा अब उनका निर्माण किया जा रहा है ?''

जब डॉ. मुकर्जी अपनी मौखिक गोलीबारी करते रहे तो सोहरावर्दी और मुसलिम लीग के उनके साथी चुपचाप बैठे रहे, क्योंकि बोलने को उनके पास कुछ नहीं था। इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक अपराध-बोध महसूस कर रहा था, क्योंकि उनमें से हरेक जानता था कि सोहरावर्दी ने हरबर्ट को महज खुश करने के लिए यह झूठ बोला था, क्योंकि हरबर्ट की कृपा से ही वे मंत्री बने थे। वे सभी जानते थे कि अकाल-पीड़ितों में ज्यादातर मुसलिम थे। वे मुख्यत: कारीगर, बँटाईदार और भूमिहीन खेतिहर मजदूर थे, जिन्हें हरबर्ट की 'इनकार और खाली कर देने वाली' नीति ने बुरी तरह प्रभावित किया था।

डॉ. मुकर्जी का बोलना जारी रहा—''मि. आमेरी ने हाउस ऑफ कॉमंस में घोषित किया था कि 'यस, भारत और बंगाल में कुछ कठिनाई है, लेकिन देश में खाद्यान्न की कोई कमी नहीं है। सिर्फ जमाखोरी और गलत वितरण है। अब श्रीमान, आगे क्या हुआ ? सोहरावर्दी ने घोषणा की कि बंगाल में बहुत खाद्यान्न है। लेकिन तख्तपोशों के नीचे भी अनाज ढूँढ़ना पड़ा। एक दिन के बाद उसने घोषित किया कि यदि जरूरी हुआ तो वह खुद प्रत्येक घर में अनाज की तलाशी लेंगे और चावल निकालकर बाहर ले आएँगे। मैं जानता हूँ कि कई गृहस्थ इससे घबरा गए होंगे। यदि सोहरावर्दी वाकई घरों में जाना शुरू करते और रात में या दिन के समय ही तख्तपोश के नीचे जाते तो मंत्री के उस हमले के बाद के प्रभावों से उन गृहस्थों को ईश्वर ही बचाता। मैं पूछता हूँ कि लाखों लोगों की जिंदगी को बुरी तरह प्रभावित करनेवाली इस समस्या के प्रति काम करने का इससे भी मूर्ख तरीका हो सकता था ?''

ऐसा विदूषक-नाटकीय व्यवहार और धोखा-छल, एक अवर्णनीय मानवीय त्रासदी के बावजूद, सोहरावर्दी के चारित्रिक गुण ऐसे थे। उसने अंग्रेजी और बँगला में एक सार्वजनिक अधिसूचना जारी कर लोगों को खिझाने की कोशिश की। अधिसूचना इस तरह थी—'आवेदन और सतर्क बानी : गरीब जनसाधारण के और उत्पीड़न कोरा चोलिबे ना।' (गरीबों को और सताना नहीं चाहिए।)

इस पर डॉ. मुकर्जी ने अपने भाषण में सवाल किया, ''वह 'यू' कौन है ?'' क्या सोहरावर्दी आईने के सामने खड़ा है और खुद को संबोधित कर रहा है अथवा क्या वह बंगाल के लोगों को गंभीरता से संबोधित कर रहा था ?''

यह सच है कि वह अकाल सोहरावर्दी या मुसलिम लीग द्वारा सृजित नहीं था। उसका श्रेय तो आमेरी-लिनलिथगो-हरबर्ट की तिकड़ी को जाना चाहिए। हालाँकि हालात को बदतर बनाने के लिए सोहरावर्दी जो कुछ कर सकता था, वह उसे सावधानी और पूरे मनोयोग से करने में व्यस्त रहा। अकाल राहत कोशिशों के नाम पर उसने अनाज खरीद के लिए इस्पहानी को नियुक्त किया। मुसलिम लीग का ज्ञात लाभार्थी, बंगाल सरकार का एकमात्र खरीदारी एजेंट, जो पड़ोसी प्रदेशों से अनाज खरीदने के लिए अधिकृत था और उसे राशन की व्यवस्था के जरिए बाँटना था। आज यह

अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक लग सकता है, लेकिन सोहरावर्दी ने बिना किसी प्रतियोगी बोली के ऐसा किया था। इस्पहानी या किसी अन्य एजेंट के साथ बातचीत किए बिना और विधानसभा को विश्वास में लिये बिना सोहरावर्दी ने ऐसा किया, मानो वह अपने निजी खजाने से कोई बख्शीश थाल में परोसकर दे रहा हो। सिर्फ यही नहीं, उसके बाद सरकार ने सोहरावर्दी के आदेशों के तहत 2 करोड़ रुपए इस्पहानी को, बिना किसी अनुबंध के, अग्रिम भी दे दिए। उन दिनों यह बहुत बड़ी रकम थी। उसके बाद ऐसे अविश्वसनीय हालात में अन्य व्यावसायिक संगठनों ने क्या किया? उन्होंने लूटा। चूँकि इस्पहानी मुसलिम लीग के प्रमुख फाइनेंसरों में एक था, लिहाजा यह कल्पना करना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि उस पैसे का एक हिस्सा कहाँ गया और सोहरावर्दी ने ऐसा क्यों किया?

बंगाल विधानसभा में डॉ. मुकर्जी ने अपने भाषण में इस सवाल पर भी सोहरावर्दी पर हमले किए। उन्होंने कहा, ''सोहरावर्दी ने उड़ीसा और बिहार के संदर्भ में क्या किया? उसने इन प्रदेशों की सरकारों से बातचीत क्यों नहीं की? इस्पहानी के खिलाफ मेरा कुछ भी व्यक्तिगत लेना-देना नहीं है···यह सिद्धांत का सवाल है। यह कोई घोटाला नहीं है कि सरकार ने अपने एकमात्र एजेंट के तौर पर एक विशेष फर्म को नियुक्त किया। इससे भी बड़ा सवाल यह है कि बिना किसी दस्तावेज के उस फर्म को करीब 2 करोड़ रुपए पेशगी दे दिए गए। क्या सोहरावर्दी बंगाल सरकार और इस्पहानी के बीच हुए एक अकेले अनुबंध को पेश कर सकते हैं? यह जनता के साथ एक मजाक है। कोई निविदा आमंत्रित नहीं की गई। नियम और शर्तों की कोई घोषणा नहीं की गई। बंगाल सरकार ने जो जमानत माँगी थी, इस्पहानी ने उसका भुगतान करने से ही इनकार कर दिया।''

डॉ. मुकर्जी के पूरे भाषण के दौरान सोहरावर्दी, मुसलिम लीग तथा यूरोपीय समूह के तमाम लँगोटिए चुपचाप बैठे रहे, क्योंकि बचाव में कहने को उनके पास कुछ भी नहीं था। वे जानते थे कि उनके पास दुराग्रही बहुमत है। ब्रिटिश नौकरशाही और गवर्नर हरबर्ट (लेकिन कोई और नहीं) उनकी तरफ हैं। डॉ. मुकर्जी के भाषण के दौरान जवाब देना या दखल देने से सरकार की भारी फजीहत हो सकती थी। फिर भी, आँकड़े खुलासा करते हैं कि उन्होंने दखल देने की कोशिश की; क्योंकि डॉ. मुकर्जी के तीखे-कड़वे भाषण के आक्षेपों के सामने उन्होंने खुद को नंगा महसूस किया।

एक बिंदु पर रिकॉर्ड का खुलासा था—''सोहरावर्दी ने कुछ कहा।'' और वह तुरंत अपनी बात पर लौट आए—''यहाँ आने और उस स्वर में बोलने का कोई फायदा नहीं, जो जूलॉजिकल गार्डंस के निवासियों को उपयुक्त लगे।'' एक अन्य बिंदु पर सोहरावर्दी ने ताना मारा और बोला, ''नॉनसेंस।'' जवाब तुरंत आया—''नॉनसेंस नागरिक आपूर्ति मंत्री का उपनाम है, क्योंकि आज वह अकल से खाली हैं और यदि उसका अर्थ नॉनसेंस है तो वह नॉनसेंस को मूर्त रूप देते हैं।''

डॉ. मुकर्जी ने 17 सितंबर, 1943 को अपना भाषण तब शुरू किया, जब अकाल अपने बदतर चरण में पहुँच चुका था। उन्होंने एक प्रस्ताव पेश किया, जिसका मसौदा इस प्रकार है—''इस विधानसभा का अभिमत यह है कि नागरिक आपूर्ति मंत्री का खाद्यान्न की स्थिति पर बयान पूरी तरह निराशाजनक और असंतोषजनक है। खाद्यान्न की खरीद और वितरण तथा प्रदेश में उत्पादन बढ़ने के विषय में सरकार की नीति योजनाहीन और अप्रभावी है। यह नीति हालात को धीरे-धीरे खराब करने के लिए भी जिम्मेदार है और उसी से अब प्रदेश के ज्यादातर हिस्सों में भयंकर अकाल

की स्थितियाँ मौजूद हैं। चावल के नियंत्रण मूल्य की घोषणा, आपूर्ति के उपयुक्त प्रावधानों के बिना ही, ने भी लोगों की मुसीबतें बढ़ा दी हैं। यह सरकार किसी सभ्य सरकार की प्राथमिक जिम्मेदारियाँ निभाने में भी नाकाम रही है। मानवीय जीवन को बचाने और लोगों के अस्तित्व के लिए बेहद जरूरी चीजें खरीदने में भी नाकाम रही है।''

डॉ. मुकर्जी ने बंगाल देहात के लोगों के असीम दु:खों और मुसीबतों का जीवंत वर्णन किया; जबकि सत्ता पक्ष में बैठे सदस्य, जो ऐसे देहात के प्रतिनिधि थे, चुपचाप भाषण सुन रहे थे।... ''मैं जोर देकर कहता हूँ कि मौत का आँकड़ा मुख्यत: भूख के कारण और भूख के बाद के रोगों के कारण ही बढ़ा है। आत्महत्या, परिवारों व बच्चों के पलायन और उपेक्षित पड़ी लाशों की रपटें बंगाल के विभिन्न हिस्सों से आ रही हैं। मैं पिछले सप्ताह मिदनापुर में था। मेरी उपस्थिति में ही एक आदमी का मामला आया था, जो मुफ्त रसोई में भोजन खाने आया था और भोजन देखते ही ऐसा उत्तेजित हुआ कि भोजन उसके मुँह तक पहुँच पाता कि वह वहीं बेहोश हो गया और फिर कभी होश में नहीं आया। श्रीमान, अब कोंटई में गीदड़-सियार और कुत्ते खुलेआम उन लाशों को खा रहे हैं।''

सरकार के दुर्व्यवहार और अनंत गड़बड़ियों के बीच, खासतौर पर सोहरावर्दी के विभाग में, एक उल्लेखनीय बात यह थी कि जिलों में चावल की खरीद में संलग्न कंपनियों के लिए किसी भी खरीद-मूल्य की अनुमति थी। व्यावहारिक दृष्टि से देहात में लोगों में खरीद की क्षमता बची ही नहीं थी। लिहाजा व्यापारियों द्वारा ऊँची कीमतें देने के बाद जो भी चावल बचा था, उससे जिलों को पूरी तरह कंगाल कर दिया गया था। डॉ. मुकर्जी इस नीति को कड़ी सजा देने के हिमायती थे—''मैंने भारत सरकार के गृह सचिव कोनराड स्मिथ से गंभीरतापूर्वक प्रार्थना की कि एक बार इस प्रदेश का दौरा करें और फिर बंगाल की दु:खद कहानी के कथित अति नाटकीकरण के लिए संबंधित लोगों की वहीं आलोचना करें। सरकार ने सबसे बड़ी गलती यह की थी कि स्टाकिस्टों और व्यापारियों को किसी भी उपलब्ध मूल्य पर चावल खरीदने की अनुमति दे दी थी। ऐसा अनाज-अभियान के दौरान और बाद में किया गया। कुछ जगहों पर भंडार पकड़े गए और उन्हें सील कर दिया गया। अब भी वे सरकारी आदेशों के तहत जमा पड़े हैं। हालाँकि उन तमाम जगहों पर लोग भूख से मर रहे थे। सरकार की नीति का एक हिस्सा खरीद को प्रोत्साहन देना था और बर्द्धमान, मिदनापुर सरीखे अति पीड़ित और अभावग्रस्त इलाकों से ही चावल को हटाना भी सरकार की नीति थी।''

मानवीय त्रासदी के दौरान सरकार की काररवाई का एक खीझ भरा पहलू यह था कि अकाल पीड़ित इलाके के लोगों को ही चावल बेचकर मुनाफा कमाया गया। ऐसा सरकार ने और उसके चहेते व्यापारियों, इस्पहानी वगैरह ने भी किया। इस मुद्दे पर डॉ. मुकर्जी सरकार को फटकार लगाने में भी नहीं चूके थे—''ऐसा लगता है कि बंगाल सरकार अपने ही भूखे लोगों में गेहूँ बेचकर 10 लाख रुपए का मुनाफा कमा रही है। यह गेहूँ उस दर पर बेचा जा रहा है, जो पंजाब से खरीद की दर से बहुत ज्यादा है। बंगाल के लाखों भूखे और मरते लोगों की कीमत पर सरकार यह मुनाफा क्यों कमा रही है? 4.5 करोड़ रुपए से अधिक, सोहरावर्दी के बैंक खाते से नहीं, बल्कि सार्वजनिक कोष से इस्पहानी को भुगतान किए गए। बंगाल को यह जानने का अधिकार है, खासकर कंपनी और सरकार के बीच राजनीतिक संबंधों के कारण, कि क्या इस मोटी रकम का एक-एक पैसा

उचित रूप से खर्च किया गया है ?''

अकाल के दौरान सरकार की काररवाई का अकाल्पनिक और लगभग बेवकूफी भरा लक्षण यह रहा कि आपूर्ति सुनिश्चित किए बिना ही मूल्य-नियंत्रण की घोषणा कर दी गई। डॉ. मुकर्जी ने आलोचना करते हुए कहा, ''सरकार ने प्रदेश भर में जनगणना कराई है और वह जानती है कि आज कहाँ भंडार पड़े हैं ? यदि आज आपूर्ति बंद हो जाए तो मूल्य-नियंत्रण पूरी तरह बेमानी है। बंगाल के तमाम हिस्सों से रपटें आ रही हैं, जो बाजार से चावल के पूरी तरह गायब होने के बाद की अत्यंत भयावह स्थितियों का खुलासा कर रही हैं। हालात थोक भुखमरी की ओर बढ़ रहे हैं।''' जब भी सरकार ने आपूर्ति तय करने की अपनी जिम्मेदारियों के बिना ही खरीद शुरू की है तो इससे उथल-पुथल और भ्रम की स्थितियाँ ही पैदा हुई हैं।''

डॉ. मुकर्जी ने यह कहते हुए अपना भाषण समाप्त किया, ''दरअसल यह आश्चर्यजनक है कि सरकार ने हर जगह गड़बड़ी की। मैं समझ नहीं पाया हूँ कि सरकार की नीति क्या है ? क्या आमेरी अब भी मानते हैं कि बंगाल के लोग ज्यादा खाने या लालची किसानों की जमाखोरी से पीड़ित हैं ? ऑस्ट्रेलिया और भारत के बाहर के अन्य हिस्सों से अनाज तुरंत क्यों नहीं मँगाया गया ?''

डॉ. मुकर्जी के सभी भाषण स्मरणीय हैं, लेकिन कुछ ऐसे हैं, जिनके बारे में कहा जाना चाहिए कि कमोबेश पश्चिम बंगाल की मौजूदा राजनीति के संदर्भ में विचार करते हुए जरूरी हैं। डॉ. मुकर्जी ने जनसभा, बंगाल बंद, राजमार्गों को अवरुद्ध करने या तोड़ने-फोड़ने का एक बार भी मन में खयाल नहीं किया। वह इस प्रकार के तरीके से बंगाल की सबसे भयावह त्रासदी की ओर दुनिया का ध्यान नहीं खींचना चाहते थे। यदि आज ऐसी त्रासदी का दसवाँ हिस्सा भी बंगाल को प्रभावित करता तो मौजूदा बंगाली राजनेताओं में से कुछ या सभी ने प्रतिक्रिया दी होती। यदि डॉ. मुकर्जी के सामने कोई 'बंद' का प्रस्ताव रखता तो वह संदेह से उसकी ओर देखते और कहते थे, 'लेकिन उससे तो लोगों के लिए स्थितियाँ और बदतर हो जाएँगी !' लिहाजा उन्होंने ऐसा कभी भी नहीं किया, क्योंकि वह वामपंथी नहीं थे। इसके बजाय उन्होंने राहत पहुँचाने का कार्य किया, जिलों के दौरे किए, लोगों से बातचीत की और ऐसी सरकार को सचेत किया, जो मौजूदा सरकार से कई गुना ताकतवर और अधिकारवादी थी। भारतीय बंगालियों में राजनीतिक आंदोलन का मौजूदा मुहावरा, जो सार्वजनिक जीवन को बाधित करने से शुरू हुआ, वर्ष 1953 में कम्युनिस्टों द्वारा 13 ट्राम कारें जलाने के साथ आरंभ हुआ। ट्राम का किराया मात्र एक पैसा बढ़ा था। अधिक वर्णन अध्याय 15 में किया गया है। डॉ. मुकर्जी इस तरह के कार्यों के लिए अनिच्छुक थे और उससे सख्त नफरत करते थे, जिसने आज के पश्चिम बंगाल को अपने पाँवों पर कुल्हाड़ी मारने के लिए उच्छृंखल बना दिया। लेकिन यह एक दूसरी कहानी है।

यह पहले कहा जा चुका है कि जमाखोरी अकाल का कारण नहीं थी। हालाँकि अकाल के प्रभाव के कारण भी कुछ जमाखोरी हुई। खेदजनक है कि कलकत्ता के दो प्रमुख अखबार घराने ही ऐसी जमाखोरी के दोषी थे। पश्चिम बंगाल के प्रख्यात पत्रकार सुखरंजन सेन गुप्ता को बँगला पत्रकारिता के पुरोधा हेमेंद्रप्रसाद घोष ने बताया कि कलकत्ता के दोनों प्रमुख मीडिया घरानों ने चावल, चीनी और मिट्टी का तेल बड़ी मात्रा में अपने भंडारगृहों में जमा कर रखे थे, लेकिन वे भंडार न्यूज प्रिंट के लिए थे। बाद में उन्होंने अपने कर्मचारियों के लिए चावल को जारी कर

दिया, लेकिन चीनी और मिट्टी का तेल बेचकर उन्होंने खूब पैसा बनाया। आयकर अधिकारियों को बहुत देर बाद में इसकी जानकारी मिली और आजादी के तुरंत बाद उनकी जाँच-पड़ताल का आदेश दिया गया। जब डॉ. मुकर्जी केंद्रीय उद्योग मंत्री थे तो उन्होंने उन्हें उस मुसीबत से बाहर निकाला। सेनगुप्ता ने बँगला में लिखी अपनी आत्मकथा 'भंग पाथेर रंग धुले' में इस प्रकरण का उल्लेख किया है।

उसी दौरान त्रासदी का मुख्य रचनाकार, गवर्नर जॉन आर्थर हरबर्ट अचानक बीमार पड़ गया; उस समय अकाल ने प्रचंड रूप धारण कर लिया था। लिहाजा बिहार के गवर्नर सर थॉमस रदरफोर्ड को 6 सितंबर, 1943 से बंगाल के गवर्नर का अतिरिक्त कार्यभार सँभालने को कहा गया। हरबर्ट का 11 दिसंबर को अचानक और बिना किसी कारण निधन हो गया। उसी दौरान अक्तूबर 1943 में हरबर्ट के संरक्षक वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो के स्थान पर लॉर्ड वावेल आए।

तुरंत हालात बेहतर होने लगे। हरबर्ट 'गवर्नर हाउस' (कोलकाता का मौजूदा राजभवन) से कभी भी बाहर नहीं निकला था और लॉर्ड लिनलिथगो ने भी अकाल के दौरान बंगाल का एक भी दौरा नहीं किया था। इसके विपरीत 26 अक्तूबर, 1943 को लॉर्ड और लेडी वावेल रदरफोर्ड के साथ सामूहिक मरती हुई जनता को देखने के लिए कलकत्ता की गलियों में घूमे। कुछ जिम्मेदार लोगों की गलतियों के कारण ही यह मानवता सामूहिक तौर पर मर रही थी। वावेल ने बंगाल को एक अत्यंत गंभीर और नाजुक विषय के रूप में लिया और 6 जनवरी, 1944 को सेक्रेटरी ऑफ स्टेट आमेरी को एक टेलीग्राम भेजते हुए सिफारिश की कि नजीमुद्दीन के नेतृत्ववाली राज्य सरकार को बरखास्त किया जाए और गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 की धारा 93 के तहत गवर्नर का प्रत्यक्ष शासन लागू कर दिया जाए। हालाँकि ब्रिटिश कैबिनेट ने उसे खारिज कर दिया और नजीमुद्दीन को इससे राहत मिली।

धीरे-धीरे अकाल कम हो गया और एक त्रासद प्रदेश के इतिहास में आज यह बिंदु भर है। पश्चिम बंगाल की वाम मोरचा सरकार की नीति के कारण सोहरावर्दी जैसे किसी मुसलिम शासक की आलोचना में कुछ लिखा नहीं जा सकता था, लिहाजा इतिहास की पुस्तकों में अकाल सिर्फ एक पंक्ति के संदर्भ के तौर पर ही दर्ज है—और मौजूदा पीढ़ी, जिसने अकाल को देखा ही नहीं, इस बारे में कुछ भी नहीं जानती।

कुछ लोगों की टिप्पणियाँ, हालाँकि अकाल या अकाल-राहत से सीधे नहीं जुड़ी हैं, लेकिन दिलचस्प हैं। कांग्रेस नेता एवं स्वतंत्रता सेनानी पं. हृदयनाथ कुंजरू, जिन्होंने अकाल के दौरान बंगाल का दौरा किया, की टिप्पणी थी—''क्या बंगाल के लिए मुसलिम लीग सरकार के रवैए की अपेक्षा कोई बड़ी त्रासदी हो सकती है?'' ऐसे त्रासद हालात में भी सरकार मुसलिमों से सांप्रदायिक अपील कर रही थी और उनकी भावनाओं को भड़का रही थी। बंगाल के कांग्रेसी नेता के.सी. नियोगी, जिन्हें आजादी के बाद केंद्र में कैबिनेट मंत्री बनाया गया व 1950 में डॉ. मुकर्जी के साथ इस्तीफा दे दिया था, उन्होंने कहा, ''हम इस तरह की सोच भी नहीं सकते कि अकाल मूलत: एक राज्य-उद्योग है और इसके कुछ पहलुओं पर ब्रिटिश का हाथ होने के प्रामाणिक चिह्न हैं।''

बाद में अवलोकन करते हुए डॉ. मुकर्जी ने मधुपुर में 5 जनवरी, 1946 को अपनी डायरी में

दर्ज करने के लिए स्टेनोग्राफर बृदबरन को लिखवाया और सामान्यत: ब्रिटिश समर्थक दैनिक अखबार 'द स्टेट्समैन' द्वारा कुशासन को बेनकाब करने की उसकी भूमिका की प्रशंसा की गई। उन्होंने कहा कि अखबार ने अपनी धारणा को लेकर बहुत बड़ा साहस दिखाया और अपने चित्रों तथा लेखों के जरिए उसने सार्वजनिक अभिमत को उद्वेलित किया। सरकार पर मुनाफाखोरों की मदद करने और अवैध तरीके से हासिल धन में हिस्सेदारी के खुलेआम आरोप लगे। डॉ. मुकर्जी विवरण देते हैं—भोजन के बिना लाखों लोग मर गए, इतने ही गंभीर रूप से बीमार हुए और कुपोषण का शिकार हुए, उस समय कपड़े की भी जरूरत थी। सर्दी के दौरान हजारों लोग बिना आश्रय और गर्म वस्त्रों के मर गए। पूरा माहौल नफरत भरा और घिनौना था। जो सरकार सभ्य होने का दावा करती थी, सहज रूप से प्रशासन चला रही थी और यहाँ तक कि एक युद्ध भी लड़ रही थी, उसने अपने ही लाखों लोगों को भोजन और कपड़ों की कमी के कारण मर जाने दिया। यदि किसी अन्य देश में ऐसा होता तो ऐसी सरकार तुरंत ही हटा दी जाती। अनाज को लेकर देश में दंगे और बगावत शुरू हो जाती। लेकिन हमारे लोगों और देश ने इसे भी अपनी नियति मान लिया और वे बिना कुछ बड़बड़ाए चुपचाप मर गए। मुझ पर हालात के राजनीतिक इस्तेमाल करने के आरोप लगे, जबकि हालात अत्यधिक गंभीर थे। मेरी पूरी ऊर्जा और ध्यान राहत कार्यों में लगा था, पीड़ित लोग चाहे किसी भी पार्टी या संप्रदाय के थे। लेकिन मैं सोचता था कि भीषण विषमताओं और कठिनाइयों के बावजूद जिंदगियाँ बचाने की अधूरी कोशिशों का प्रतिरोध करना चाहिए, ताकि सरकारी मशीनरी को जड़ता से बाहर निकाला जा सके।

बेशक आज की पीढ़ी को अकाल के बारे में कुछ भी नहीं पता है, लेकिन अब भी कुछ लोगों के दिमाग में उसकी छवि बहुत गहरे बैठी हुई है। मसलन वह महिला, जिसने इस जीवनीकार को लिखा कि कैसे उसे कलकत्ता की गलियों में सूखकर काँटा और विकृत लाशों के बीच से होकर गुजरना पड़ा और वह अपने कॉलेज के रास्ते में ट्राम स्टॉप तक पहुँच सकी। वे लोग भी, जिन्होंने भूखी आवाजों की चिल्लाहट सुनी, कभी टूटती हुई तो कभी मेढक की तरह टरटराती हुई—'एकटु फैन दाओ गोमा।' वे आवाजें धीरे-धीरे लैंपों से रोशन कलकत्ता की रातों में ओझल हो गईं। ऐसे लोग किसी भी तरह अकाल को भूल नहीं सकते अथवा अकालपीड़ितों के लिए अनथक कार्य करने वाले डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी को भी नहीं।

□

7

मुश्किल भरे वर्ष

(1944-46)

वर्ष 1944 की सुबह युद्ध में मित्र राष्ट्रों की जीत की संभावनाओं के साथ उगी। बर्मा की सीमा पर ज्वार-भाटा नहीं आया था। जून या जुलाई का महीना रहा होगा, जब जापान ने भारत पर आक्रमण करने की अपनी योजनाएँ रोक दीं और पीछे हटना शुरू कर दिया। हालाँकि उनकी सैन्य टुकड़ियाँ विस्तार में फैली थीं, लेकिन तभी अमेरिका ने उसपर निर्दयता से बमबारी की थी। अकाल समाप्त हो चुका था, परंतु नया साल पुराने साल से कुछ अलग साबित नहीं हो सका। कलकत्ता में बम का भय जारी रहा और लोग झुंडों में शहर छोड़कर देहात की तरफ चले गए, ताकि बमबारी से बच सकें। बंगाल और असम की अपेक्षा भारत के अन्य हिस्से युद्ध से बहुत दूर थे और लोग उसके बारे में सुबह के अखबारों में पढ़ते तथा रेडियो पर सुनते थे। उसी दौरान बंगाल में, हरबर्ट की बीमारी और मौत के बाद, ऑस्ट्रेलिया के राजनेता, इंजीनियर और एक व्यापारी आर.जी. कासे ने जनवरी 1944 में गवर्नर का कार्यभार सँभाल लिया।

अकाल के खत्म होने पर डॉ. मुकर्जी अपने राहत-दायित्वों से मुक्त हो गए। नतीजतन उन्होंने राहत की साँस ली। उन्होंने दिसंबर 1943 में हिंदू महासभा के अमृतसर अधिवेशन में शिरकत की, जिसमें उन्होंने यह यादगार भाषण दिया कि वह हिंदू महासभा में शामिल क्यों हुए और कांग्रेस में क्यों नहीं। उन्होंने कहा, "जब तक भारतीय प्रशासन में सांप्रदायिक विचारों की लंबी छाया है और एंग्लो-मुसलिम साजिश जारी है, तब तक हिंदू महासभा को एक सक्रिय और निर्भीक राजनीतिक संगठन के तौर पर काम करना चाहिए। वह ही हिंदुओं और संपूर्ण भारत के अधिकारों को दिला सकती है। जब तक भारत में तीसरी पार्टी मौजूद है और आक्रामक राष्ट्र-विरोधी तथा हिंदू-विरोधी मुसलिम लीग पार्टी का मुसलिम अवाम पर प्रभाव है, साथ ही ब्रिटिश सरकार भी उसी के पक्ष में है और बहुमत के प्राथमिक अधिकारों को वीटो करने की योजना बना रही है, तब तक हिंदुओं को अपने अस्तित्व के लिए अपना ही राजनीतिक संगठन बनाना चाहिए, ताकि अपने अधिकारों और मुक्ति के लिए लड़ा जा सके। हिंदू महासभा का राजनीतिक उद्देश्य भारत की पूर्ण स्वतंत्रता है। वह साझा मतदाताओं का समर्थन करती है। यदि जरूरी हो तो कुछ सीटें आरक्षित की जा सकती हैं। महासभा देश भर में हिंदुओं के लिए किसी विशेष अधिकार की

बात नहीं कहती। उसका लक्ष्य और नीतियाँ भी संपूर्ण भारत के कल्याण के लिए हैं।'' डॉ. मुकर्जी ने इन राजनीतिक लक्ष्यों के बीच उल्लेखनीय 'समानता' के अधिकार को पाया और करीब 6 वर्षों के बाद जिन्हें भारतीय संविधान में शामिल किया गया, उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। यह भाषण डॉ. मुकर्जी की दूरदर्शिता की ओर संकेत करता है।

वर्ष की शुरुआत में उन्होंने अपनी डायरी में कुछ अति महत्त्वपूर्ण लिखा। 2 जनवरी, 1944 से शुरू की गई ये प्रविष्टियाँ हालाँकि लंबी और विस्तृत हैं, लेकिन निरंतर नहीं हैं। अगली प्रविष्टि अंग्रेजी में 21 अक्तूबर, 1944 और उससे अगली 6 दिसंबर, 1945 को पाई गई। ये प्रविष्टी सिर्फ समकालीन घटनाओं के बारे में ही नहीं थीं, बल्कि 1939 में राजनीति में उनके प्रवेश और उसके बाद के वर्षों पर एक इतिहास-सा लिखा गया था। फजलुल हक के नेतृत्व में मुसलिम लीग-कृषक प्रजा पार्टी के गठबंधन का अत्याचारी और अत्यंत सांप्रदायिक शासन, उसके बाद हक की ही प्रोग्रेसिव गठबंधन सरकार, जिसमें डॉ. मुकर्जी वित्त मंत्री थे और गवर्नर हरबर्ट की ओछी हरकतों आदि का खुलासा किया गया है।

मुसलिम लीग ने 1940 के लाहौर अधिवेशन में जिन्ना के द्विराष्ट्र के सिद्धांत पर आधारित पाकिस्तान प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। किसी को भी धुँधला सा विचार नहीं था कि पाकिस्तान कैसा होगा! हिंदू महासभा ही एकमात्र ऐसा संगठन था, जिसने प्रस्ताव का विरोध किया था। संगठन सिर्फ मुसलिम लीग के ही खिलाफ नहीं था, बल्कि कांग्रेस के विरोधाभासों और दोगलेपन के भी विरुद्ध था। कांग्रेस ने यह धोखा और भ्रम फैला रखा था कि वह हिंदू और मुसलिमों का एक साथ प्रतिनिधित्व करती है। विभाजन के करीब 50 साल बाद बनाए गए टी.वी. धारावाहिक 'तमस' (लेखक भीष्म साहनी) को जिन्होंने देखा है, उन्होंने ध्यान दिया होगा कि एक मुसलिम लीगवाला किस तरह जबरन ऐलान कर रहा था कि लीग मुसलिमों का और कांग्रेस हिंदुओं का प्रतिनिधित्व कर रही थी। एक कांग्रेसी नेता का किरदार निभानेवाले चरित्र अभिनेता ए.के. हंगल किस तरह दयनीय स्थिति में चिल्ला रहे थे और आश्वस्त करना चाहते थे कि कांग्रेस हिंदुओं व मुसलिमों, दोनों की पार्टी है। दरअसल मुसलिम लीग नेता सच बोल रहा था अथवा कमोबेश तब जो सच था। त्रासदी यह थी कि कांग्रेस हिंदू समर्थन पर सवार थी और हिंदुओं ने बिना किसी शर्त के कांग्रेस का समर्थन किया था, लेकिन कांग्रेस ने तब हिंदुओं की जरा सी भी मदद करने की कोशिश नहीं की थी, जब वे मुसलिम कट्टरपंथियों के भीषण हमले झेल रहे थे। दरअसल बहुत पहले कांग्रेस ने भीतरी तौर पर यह उक्ति स्वीकार कर ली थी—'एक मुसलिम गलत नहीं कर सकता। यदि वह करता भी है तो वे मुसलिमों के लिए बुरा नहीं बोलेंगे, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि उन्हें सांप्रदायिक कह दिया जाए।' लिहाजा कांग्रेस पाकिस्तान के खिलाफ कोई ठोस रुख अख्तियार नहीं कर सकती थी या ऐसा नहीं किया। हालाँकि नेहरू ने पहले इस विचार को 'बेतुका और बेवकूफाना' करार दिया था।

एक हिंदू महासभा नेता के तौर पर डॉ. मुकर्जी ने सबसे पहले इस विचार का विरोध किया और अपने संघर्ष को गलियों तक ले गए। यहाँ तक कि इससे पहले भी महासभा ने उनके आधार पर 'सांप्रदायिक अवॉर्ड विरोधी दिवस' मनाया था। यह आयोजन 1932 के 'सांप्रदायिक अवॉर्ड' के खिलाफ था, जिस कानून की घोषणा ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडोनॉल्ड ने की थी। उसे कांग्रेस

ने न तो स्वीकार और न ही खारिज किया था। अवॉर्ड के सबसे बुरे लक्षण ये थे कि हिंदुओं और अनुसूचित जातियों को सीटों के अलग-अलग प्रखंड दिए गए थे, जबकि सुन्नी और शिया मुसलमानों के बीच ऐसा अलगाव नहीं किया गया था। अवॉर्ड के तहत 'यूरोपीय समूहों' के लिए अधिसंख्य सीटें बेमेल तरीके से आरक्षित की गई थीं। विचार यह था कि हिंदुओं और मुसलिमों के बीच यूरोपीय 'संतुलन समूह' के रूप में काम करें। इस यूरोपीय समूह के समर्थन के साथ ही गवर्नर हरबर्ट ने सन् 1943 में बंगाल में मुसलिम लीग की सरकार स्थापित करने की शरारत की थी।

ढाका के कॉरपोरेशन पार्क में आयोजित एक विशाल रैली में डॉ. मुकर्जी ने लीग की सांप्रदायिक राजनीति और लीग की अनुचित माँगों के सामने कांग्रेस के शर्मनाक आत्मसमर्पण के खिलाफ एकजुट होने के लिए हिंदुओं का आह्वान किया। हिंदू महासभा के 1942 वाले लखनऊ अधिवेशन में डॉ. मुकर्जी ने घोषित किया था कि कांग्रेस द्वारा मुसलिमों के सामने माथा टेकने के खिलाफ मैं खून की अंतिम बूँद तक लड़ूँगा। तब फिर 1943 के महासभा के अमृतसर अधिवेशन में डॉ. मुकर्जी ने घोषणा की कि लीग के साथ कोई चर्चा संभव नहीं है, क्योंकि वह अपने लाहौर प्रस्ताव पर ही हुई टिकी है।

बंगाल के राजनीतिक आकाश में उस समय डॉ. मुकर्जी सरीखा कोई कद्दावर हिंदू नेता नहीं था। इसके बावजूद कि उन्होंने सिर्फ 5 साल पहले ही सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया था। सुभाष चंद्र बोस वर्ष 1941 में भारत छोड़ चुके थे और शरतचंद्र बोस सुदूर कुर्ग की जेल में बंद थे। लिहाजा डॉ. मुकर्जी जो भी कहते थे, लोग उसे ध्यान से सुनते थे और उनकी हर बात का आग्रहपूर्वक अनुसरण किया जाता था। उनकी संवैधानिक राजनीति, मुसलिम लीग की अतार्किक माँगों के सामने माथा टेकने से इनकार करना और उनके जन-हितैषी विचार लोगों पर विशिष्ट प्रभाव छोड़ रहे थे। इनसे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की अपेक्षा कोई और ज्यादा आहत नहीं था। पार्टी ने अपने घर को सरलता से जीतने और हिंदू बंगाल पर काबिज होने की उम्मीद की थी, क्योंकि कांग्रेस वहाँ परिदृश्य से गायब थी। सन् 1941 में जर्मनी द्वारा बारबारोसा ऑपरेशन शुरू करने और सोवियत संघ के युद्ध में शामिल होने के साथ ही इंडियन कम्युनिस्ट ब्रिटिश युद्ध के प्रयासों के सबसे बड़े समर्थक बन गए। 'साम्राज्यवादी युद्ध' अब उन्हें 'जन-युद्ध' लगने लगा था। लिहाजा वे कीचड़ उछालने के काम में जुट गए और अफवाहें फैलाने लगे, जिसमें उन्हें पहले से ही महारत हासिल थी और अब भी है।

दो उदाहरण ही पर्याप्त हैं। डॉ. मुकर्जी के बड़े बेटे अनुतोष ने निर्माण क्षेत्र के प्रभावी व्यक्ति शिब बनर्जी की बेटी से विवाह किया था। शिब बनर्जी के भाई के दामाद, एक और मुकर्जी, ब्रिटिश बलूचिस्तान (अब पाकिस्तान) के क्वेटा में एक युद्ध ठेकेदार के तौर पर काम करते थे। वह डॉ. मुकर्जी के संबंधी नहीं थे। हालाँकि वे मुकर्जी परिवार की तरह ही अपने नाम के पीछे गोत्र लिखते थे। उसने खूब धन कमाया और कलकत्ता में, ब्रेबोर्न रोड पर, एक भवन का निर्माण कराया और उसका नाम 'मुकर्जी हाउस' रखा। उससे कुछ दूर ही शिब बनर्जी का ऐसा ही भवन था—'नारायणी'। कम्युनिस्ट पार्टी ने अफवाह फैलाई कि डॉ. मुकर्जी ने अनुचित तरीके से प्राप्त धन से यह भवन बनवाया है। एक और घटना में डॉ. मुकर्जी के सबसे छोटे भाई बामा प्रसाद ने अपने पुरखों के गाँव जिराट में कुछ जायदाद खरीदी और वहाँ एक छोटा सा मकान बनवाया।

कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र 'पीपुल्स ऐज' ने निम्न कैप्शन के साथ उस भवन का चित्र छापा—'यहाँ धन-दौलत का बड़ा भारी रांग्रह है।'

उसी समय कांग्रेस के भीतर कुछ अमंगलकारी घट रहा था। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, राजाजी के नाम से चर्चित एक तमिल ब्राह्मण कांग्रेस में दक्षिण भारत के सबसे प्रमुख नेताओं में से थे। दक्षिण भारत तब मद्रास प्रेसिडेंसी का पर्यायवाची था। अप्रैल 1942 में मद्रास प्रेसिडेंसी की निलंबित विधानसभा के कांग्रेसी विधायकों की एक बैठक में उन्होंने सुझाव रखा कि पार्टी मुसलिम लीग के साथ आपसी समझ पैदा करने के लिए विभाजन के सिद्धांत को आधारभूत के तौर पर स्वीकार करें। उस सुझाव की सख्ती से आलोचना की गई और उसी महीने के अंत में इलाहाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में उसे खारिज कर दिया गया। राजाजी ने कांग्रेस कार्यसमिति और विधानसभा की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया और घोषणा की कि अब से वे एक स्वतंत्र राजनीतिक कार्यकर्ता के तौर पर अपने इन विचारों का प्रचार करेंगे। उसके कुछ देर बाद गांधीजी का 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हुआ और गांधीजी समेत कांग्रेस के सभी प्रथम पंक्ति के नेताओं को जेल में डाल दिया गया। नतीजतन सी.आर. फॉर्मूला कोल्ड स्टोर में बंद होकर रह गया। हालाँकि राजाजी को जेल नहीं भेजा गया, क्योंकि उन्होंने इस्तीफा दे दिया था और वह 'भारत छोड़ो' आंदोलन के खिलाफ थे।

कांग्रेस नेताओं के साथ गांधी भी वर्ष 1943 और 1944 के दौरान जेल में ही रहे। ब्रिटिश शासन ने 6 मई, 1944 को उन्हें इसलिए रिहा किया, क्योंकि उनकी सेहत बिगड़ रही थी और अंग्रेज कुछ अनिष्ट होने की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे। इसी बीच राजाजी अपने प्रिय फॉर्मूले के लिए समर्थन हासिल करने में व्यस्त रहे और गांधी के जेल से रिहा होने के बाद उन्हें प्रभावित करने के मद्देनजर राजाजी के पास समय था। जुलाई 1944 में उन्होंने 1942 की अपनी पेशकश का संशोधित रूप आगे बढ़ाया, ताकि 'एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना' के लिए मुसलिम लीग के विभाजन के दावे को स्वीकार किया जा सके।

सी.आर. फॉर्मूले ने लीग के साथ समझौते का यह प्रस्ताव इस शर्त पर रखा कि बदले में वह एक 'अस्थायी अंतरिम सरकार' के गठन में कांग्रेस का सहयोग करेगी। वस्तुतः यह प्रस्ताव मुसलिम बहुमत के पड़ोसी जिलों के बाशिंदों को, जनमत-संग्रह के आधार पर, हिंदुस्तान से अलग होने के मुद्दे पर तय करने की इजाजत देता था, लेकिन रक्षा, वाणिज्य और संचार जैसे साझा हितों को आपसी समझौते के जरिए धारण करने के साथ…। प्रस्ताव यह था कि पंजाब और बंगाल के विभाजन के साथ, असम को दिए बिना ही, एक 'खंडित पाकिस्तान' बनाया जाए। जबकि जिन्ना ने पाकिस्तान में संपूर्ण पंजाब, सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश और पूरे बंगाल तथा असम का सपना सँजोया गया था। सी.आर. फॉर्मूले में बंगाल और पंजाब की आबादी के संपूर्ण स्थानांतरण और विभाजन के साथ पेश भारत का सपना सँजोया गया था। उसपर गांधी ने बाद में एक आत्मघाती धारा थोप दी कि ऐसे स्थानांतरण पूरी तरह स्वैच्छिक होने चाहिए।

सी.आर. फॉर्मूले का आधार राजाजी का अपना विश्वास था, जो पूरी तरह गलत नहीं था। पहले, युद्ध की कोशिश का कांग्रेसी विरोध गलत था और दूसरे, मुसलिम लीग को भारतीय मुसलिमों के बहुमत की आवाज के रूप में अब नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था। वर्ष 1937

की नेहरू की प्रसिद्ध 'फाल इन लाइन' थ्योरी के जरिए कांग्रेस ने ऐसा करना चाहा था। दूसरी चोट कांग्रेस के इस विशिष्ट धोखे और भ्रम के आधार पर थी कि पार्टी हिंदुओं व मुसलिमों का एक साथ प्रतिनिधित्व करती थी। लेकिन फिर भी वह बहुत यथार्थवादी नहीं थी। उसी समय लॉर्ड लिनलिथगो ब्रिटिश भारत में तमाम मुसलिमों के एकमात्र प्रतिनिधि के तौर पर लीग और खासकर जिन्ना को स्वीकार करने का मन बना चुके थे। पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी के नेता सर सिकंदर हयात खान ने यह सब डॉ. मुकर्जी को बताया था। वह भी फजलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी की तरह गैर-सांप्रदायिक पार्टी थी। इसके बाद लॉर्ड लिनलिथगो और उनके उत्तराधिकारी लॉर्ड वावेल (अक्तूबर 1943-मार्च 1947), जो लिनलिथगो के मातहत कमांडर-इन-चीफ थे, ने जिन्ना को 'मुसलिम इंडिया' के बेताज बादशाह के रूप में ऊँचा उठाया। उसी के आग्रह पर उन्होंने गैर-लीग के किसी भी मुसलिम नेता के साथ समझौता-वार्त्ता करने से इनकार कर दिया।

अंततः सी.आर. की अपने फॉर्मूले की पैरवी का नतीजा यह रहा कि गांधी ने संशोधित फॉर्मूला स्वीकार कर लिया और उसके आधार पर ही वह जिन्ना के साथ बातचीत के दौर शुरू करने को आगे बढ़े। राजाजी सरीखे पार्टी के साथी की राजनीतिक थ्योरी को स्वीकार करना एक बात थी, लेकिन मुहम्मद अली जिन्ना सरीखे पक्के इरादेवाले और जबरदस्त प्रतिपक्षी को सार्वजनिक रूप से आश्वस्त करना बिलकुल मुश्किल काम था। गांधी को बातचीत का यह दौर शुरू करने को किसने प्रेरित किया? संभवतः वह अप्रैल 1943 में दिल्ली में आयोजित मुसलिम लीग के एक खुले सत्र में जिन्ना का ऐलान रहा होगा, जब गांधी जेल में ही थे और उनसे ज्यादा किसी ने भी उस घोषणा का स्वागत नहीं किया। वास्तव में गांधी मुसलिम लीग के साथ समझौता करने के इच्छुक थे।

उसी दौरान डॉ. मुकर्जी और हिंदू महासभा के अन्य नेताओं ने ऐसी अफवाहें सुनीं कि गांधी पाकिस्तान के मुद्दे पर जिन्ना के सामने आत्मसमर्पण करने जा रहे हैं। उन्होंने दिल्ली में अखिल भारतीय कार्यसमिति की बैठक बुलाई और सावरकर ने अपने विचार व्यक्त किए कि जल्दी ही ऐसा प्रयास किया जाएगा। गांधी की रिहाई के शीघ्र बाद ही सर बद्रीदास गोयनका और नलिनी रंजन सरकार उनसे मिलने बंबई गए। डॉ. मुकर्जी ने खासतौर पर गांधी को यह बताने के लिए उन्हें कहा कि मुसलिम लीग के तुष्टीकरण की कोई भी कोशिश नहीं की जानी चाहिए। कांग्रेस नेताओं की रिहाई से पहले और बंगाल के संदर्भ में, खासतौर से हिंदू महासभा की सलाह लिये बिना ही, किसी प्रकार का वायदा न किया जाए। दोनों ही लौटकर कलकत्ता आए और कहा कि उन्हें निश्चित तौर पर भरोसा दिलाया गया था कि किसी समझौते की बात नहीं होगी। खुद गांधी ने इस बिंदु पर सभी को पूरी तरह आश्वस्त किया था। जब अखिल भारतीय कार्यसमिति की बैठक में सावरकर ने अपने संदेह व्यक्त किए तो डॉ. मुकर्जी को गोयनका और सरकार से जो जानकारी मिली थी, उसके आधार पर उन्होंने सावरकर को बताया कि किसी भी समझौते या वायदे की कोई संभावना नहीं है। हालाँकि डॉ. मुकर्जी के दिल्ली छोड़ने से पहले ही वे इस घोषणा से चौंक उठे कि राजाजी के पाकिस्तानवाले प्रसिद्ध फॉर्मूले को गुप्त रूप से गांधीजी ने भी तब मंजूर किया था, जब 1942 में पूना में उनका अनशन जारी था। उसी आधार पर जिन्ना के साथ बातचीत शुरू हुई थी।

किस हद तक पाकिस्तान को यह फॉर्मूला कबूल था और किस सीमा तक गांधीजी जिन्ना

की माँगें स्वीकार करने के करीब आए थे, यह उस साझा घोषणा के उपबंध-2 से ही साबित होता है, जो राजगोपालाचारी ने प्रस्तावित किया था :

"(2) युद्ध की समाप्ति के बाद एक आयोग नियुक्त किया जाएगा, जो उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी भारत के ऐसे पड़ोसी जिलों का सीमांकन करेगा, जहाँ मुसलिम आबादी पूरी तरह बहुमत में है। उन सीमांकित इलाकों में बालिग मताधिकार या अन्य व्यावहारिक मताधिकार के आधार पर, वहाँ के बाशिंदों के बीच, जनमत-संग्रह कराया जाएगा। अंततः उससे ही हिंदुस्तान से अलग होने का मुद्दा तय होगा। यदि बहुमत हिंदुस्तान से अलग एक संप्रभु देश बनाने के पक्ष में होगा, तो ऐसे विभाजन को प्रभावी बनाया जाएगा। सीमा पर जिलों के अधिकार के प्रति बिना किसी पूर्वग्रह के उन्हें किसी भी देश को चुनने का अधिकार दिया जाएगा।"

डॉ. मुकर्जी ने इस आत्मसमर्पण और विश्वासघात का जोरदार विरोध करते हुए 10 जुलाई को इलाहाबाद से एक बयान जारी किया। उन्होंने कहा, "दरअसल आश्चर्यजनक और दर्दनाक बात यह है कि गांधीजी ने इस पेशकश में अपना नाम खींचने की अनुमति दी। यह वस्तुतः पाकिस्तान को स्वीकृति देना है।"

अनुसूचित जातियों के नेता डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने भी उस फॉर्मूले की कड़ी आलोचना की और कहा, "मैं नहीं जानता कि राजगोपालाचारी कहाँ से यह विचार ले आए कि स्वतंत्रता प्राप्त करने का यह सबसे अच्छा तरीका है। यह संभव है कि उन्होंने भारत के उन पुराने हिंदू राजाओं से इसे उधार लिया होगा, जिन्होंने पड़ोस के राजकुमारों को अपनी बेटियाँ देते हुए संबंध बनाए। राजगोपालाचारी यह भूल गए कि ऐसे गठबंधनों से न तो अच्छे पति मिले और न ही स्थायी सहयोगी।"

दूसरी तरफ, प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास के छात्रों को संबोधित करते हुए राजगोपालाचारी ने कहा कि गांधीजी ने पाकिस्तान की मुख्य माँग स्वीकार कर दोनों समुदायों के बीच स्थायी सद्भावना के लिए एक महान् योगदान दिया। राजनीति में इस तरह के कुछ बयान भविष्य में खुद को छलनेवाले ही साबित हुए।

डॉ. मुकर्जी के कलकत्ता लौटने के बाद उन्होंने सार्वजनिक अभिमत तैयार करने की कोशिश की; लेकिन उन्होंने उनकी सोच में बड़ा बदलाव महसूस किया, जो जनता की राय को गढ़ने के लिए जिम्मेदार थे। कम्युनिस्ट पार्टी, जिसने भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियाद पर हमला करने में बड़ी बेशर्म भूमिका अदा की थी, वह राजगोपालाचारी के प्रयासों की प्रशंसा कर रही थी। कलकत्ता यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट में महासभा की पहली बैठक को कम्युनिस्टों की कथित गुंडागर्दी ने भंग कर दिया।

डॉ. मुकर्जी अगस्त 1944 में तिलक की वर्षगाँठ के मौके पर उद्घाटन भाषण देने पूना गए। उस जनसभा में रिकॉर्ड मौजूदगी थी। डॉ. मुकर्जी ने गांधी के इस नए प्रस्ताव व प्रयास की निंदा की और उसे हिंदुओं तथा पूरे देश के हितों के प्रति अत्यंत अहितकर बताया। कलकत्ता लौटते हुए वे रास्ते में वर्धा में गांधीजी से मिले और राजगोपालाचारी की उपस्थिति में ही उनके साथ लंबी बातचीत की। डॉ. मुकर्जी ने उन्हें सचेत किया कि उन्होंने जो पेशकश दी है, जिन्ना उससे कभी भी सहमत नहीं होंगे। अपने प्रस्तावित आत्मसमर्पण के जरिए उन्होंने भारतीय एकता और राष्ट्रवाद के मकसद तथा सरोकार को नीचा दिखाया है। दरअसल, जिन्ना ने लाहौर में पहले ही ऐलान कर

दिया था कि हालाँकि गांधी ने पाकिस्तान संबंधी लाहौर प्रस्ताव को स्वीकार करने की बात कही थी, लेकिन लीग को जो पेशकश दी गई थी वह विकृत, खंडित और बेईमान किस्म के पाकिस्तान की थी, जो जिन्ना को मंजूर नहीं थी।

गांधी कोई विश्वसनीय जवाब नहीं दे सके। रहस्य बनाए रखते हुए उन्होंने जवाब दिया, "अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण समय में मैंने अपने भीतर की आवाज के अनुसार ही काम किया था, जो मुझे सही और उपयुक्त की समझ देती है।" संयोगवश, जिन्ना ने किसी और समय और किसी दूसरे संदर्भ में गांधी के ऐसे ही कथन पर टिप्पणी की थी, "उनके अंदर की आवाज भाड़ में जाए। वह क्यों नहीं स्वीकारते कि उनसे गलती हुई थी!"

17 जुलाई, 1944 को गांधी ने जिन्ना से मुलाकात के लिए पत्र लिखा। दिलचस्प बात यह है कि जिन्ना को उन्होंने 'ब्रदर जिन्ना' से संबोधित किया और पत्र के अंत में 'योर ब्रदर गांधी' लिखकर हस्ताक्षर किए। उन्होंने जिन्ना की मिन्नत-चिरौरी की कि उन्हें इसलाम या भारतीय मुसलिमों के दुश्मन के तौर पर न समझा जाए, बल्कि मानव जाति का सेवक और मित्र माना जाए। उन्होंने वह पत्र गुजराती भाषा में लिखा--गांधी और जिन्ना दोनों की जो मातृभाषा थी। ऐसा माना जाता है कि गांधी की कल्पना थी कि इससे जिन्ना को खुश और नरम किया जा सकेगा। जिन्ना ने तेज-तर्रार अंग्रेजी में पत्र का जवाब दिया और गांधी को संबोधन दिया—'डियर मि. गांधी' और दस्तखत 'एम.ए. जिन्ना' लिखकर ही किए। संक्षेप में, उन्होंने लिखा कि वह अगस्त के मध्य में कभी भी बंबई के अपने घर पर गांधी की अगवानी कर खुश होंगे। भीष्म साहनी के 'तमस' में भी, कई सालों के बाद, ऐसे ही तेवर झलकते हैं। लुइस फिशर ने गांधी की जीवनी में लिखा है कि अंतत: गांधी ने जिन्ना को 'कायदे आजम' (महान् नेता) के तौर पर संबोधित किया। आज पाकिस्तान में जिन्ना इसी उपनाम से जाने जाते हैं। लेकिन जिन्ना ने 'डियर मि. गांधी' संबोधन ही जारी रखा।

उस संवाद को रोकने की आखिरी कोशिश के तौर पर डॉ. मुकर्जी ने पार्टी के अपने साथी मनोरंजन चौधरी को दूत के रूप में गांधी के पास भेजा—19 जुलाई, 1944 के पत्र और सहायक कागजात के साथ। पत्र में उन्होंने लिखा कि देश का विभाजन कितना अवांछनीय होगा और गांधी से विनती की कि जिन्ना के प्रतिरोध में खड़े हो जाएँ तथा उनका विरोध करें। उन्होंने कहा कि न तो ब्रिटिश सरकार और न ही मुसलिम लीग सत्ता-हस्तांतरण के गांधी के प्रस्ताव को स्वीकार करेंगी; लेकिन बाद में जिन्ना इन प्रस्तावों को अधिक रियायतें हासिल करने के लिए इस्तेमाल करेंगे। डॉ. मुकर्जी ने विभाजन के खिलाफ सशक्त अभिमत की याद भी गांधी को दिलाई। गांधी ने अपनी पत्रिका 'हरिजन' के वर्ष 1943 के एक अंक में अपने ऐसे विचार व्यक्त किए थे। उन्होंने गांधी से अनुरोध किया कि वे अब भी उस रुख पर कायम रहें। डॉ. मुकर्जी ने यह भी लिखा कि भारत में कई मुसलिम पाकिस्तान के विचार को अब भी बेवकूफी भरा, अस्वीकार्य और अव्यावहारिक मानते हैं। ऐसे हालात में, यदि गांधी भारतीय मुसलिमों के नुमाइंदे के तौर पर जिन्ना के साथ बातचीत करते हैं तो वे उस शख्स पर स्वीकृति की अमिट मुहर लगा देंगे और तमाम राष्ट्रवादी मुसलिमों को उदास व निराश करेंगे।

हालाँकि गांधी ने उस पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया। जिन्ना के महलनुमा आवास माउंट

प्लेजेंट रोड, मलाबार हिल, बंबई में 9 सितंबर, 1944 को शुरू हुई बातचीत 18 दिनों तक चली और नाकाम रही। गांधी जिन्ना को मना रहे थे और राजाजी तो उनकी दृढ़ इच्छा के सामने लगभग आत्मसमर्पण की मुद्रा में झुक गए थे। जिन्ना ने इसे बेकार मानने का ढोंग किया, लेकिन गुप्त रूप से वे अवश्य खुश होंगे कि गांधी और राजाजी उनके स्वप्न को स्वीकार करने के इतना करीब आ गए थे। उसी प्रक्रिया में उन्होंने राजाजी और उनके फॉर्मूले के लिए एक 'चौंकाऊ अवमानना' व्यक्त की और कहा कि गांधी उनके सचिव प्यारेलाल से बातचीत कर चुके हैं। संक्षेप में, जिन्ना एक इंच भी नहीं सरके, लेकिन कांग्रेस उनसे मिलने के लिए आगे बढ़ चुकी थी और अब लौटने का कोई रास्ता नहीं था। कांग्रेस और गांधी ने पाकिस्तान का प्रस्ताव लगभग मान लिया था और उसे पूरी तरह लागू करने में उन्हें तीन साल लगे। लॉर्ड लिनलिथगो के शब्दों में—''हिंदुओं को बड़ा दुःखद अंत झेलना पड़ा, क्योंकि जिन्ना को कांग्रेस ने ही महान् बनाया था।''

कांग्रेस के भीतर और बहुत बाद में भी, जिन्ना के सामने उस आत्मसमर्पण की कोई जोरदार और प्रभावी आलोचना नहीं की गई। अनुभवी पत्रकार दुर्गादास ने 'भारत : कर्जन से नेहरू तक' में लिखा है कि जब नेहरू राजगोपालाचारी को भारत का पहला राष्ट्रपति बनाने के लिए समर्थन जुटाने में अग्रणी थे, तो उनका विरोधी धड़ा डॉ. राजेंद्र प्रसाद को चाहता था। पार्टी की औपचारिक स्वीकृति लेने के लिए नेहरू ने पार्टी की बैठक बुलाई और सी.आर. के गुणों के बारे में विस्तार से बोले। यह भी कहा कि विदेशी महानुभावों ने किस तरह उनकी प्रशंसा की है। लेकिन बैठक नेहरू की योजना के मुताबिक नहीं चली। पार्टी में पीछे बैठनेवालों में एक के बाद दूसरे ने सी.आर. की कड़ी निंदा की कि जब 'भारत छोड़ो' आंदोलन का ऐलान किया गया था, तब वह पार्टी छोड़कर चले गए थे। पाकिस्तान की माँग को उन्होंने सम्मान दिया और जिन्ना को 'साहसिक पेशकश' देने का दावा किया।

गांधी ने जिन्ना के साथ संबंध बढ़ाकर न केवल जिन्ना को महान् बनाया, और खासतौर पर बंगाल का बहुत नुकसान किया। मुसलिम नेताओं की बड़ी संख्या, जो अब भी मुसलिम लीग के वर्चस्व का विरोध कर रही थी, लीग की ओर चली गई। डॉ. मुकर्जी ने पहले ही ऐसा कहा था। यह न केवल बंगाल में हुआ, बल्कि दूसरे प्रदेशों में भी हुआ। लेकिन लीग-शासित मुसलिम बहुल बंगाल में इसका प्रभाव अत्यंत अहितकर हुआ। दरअसल, हक सरकार की बरखास्तगी और नजीमुद्दीन की सरकार बनाने के हरबर्ट के दुर्भाग्य के बाद से ही नजीमुद्दीन के लिए बहुत बुरा घटने लगा था। सोहरावर्दी द्वारा अकाल का कुप्रबंध और डॉ. मुकर्जी के पूरी दुनिया के सामने उसे बेनकाब करने आदि कार्यों ने मामलों को इतना बदतर बना दिया था कि वावेल ने सरकार को बरखास्त और धारा 93 के तहत गवर्नर शासन लागू करना चाहा। पिछले अध्याय में इसका उल्लेख किया जा चुका है। न केवल नजीमुद्दीन और सोहरावर्दी, बल्कि उनकी पार्टी मुसलिम लीग की भी बदनामी हुई और विधानसभा में यूरोपीय समर्थन के बूते ही उनकी सरकार बची हुई थी। उसी दौरान हक की नजीमुद्दीन के साथ गुप्त बातचीत जारी थी, ताकि वे स्पीकर बन सकें। चूँकि हक हमेशा ही 'सत्ता का भूखा' था। जून 1944 के आखिरी सप्ताह में हक और डॉ. मुकर्जी ने नजीमुद्दीन सरकार को बचाने के लिए गवर्नर कासे के हस्तक्षेप करने पर उनकी जोरदार भर्त्सना की। जब लीग के लिए सबकुछ खराब घट रहा था तो ऐसे में जिन्ना को गांधी की रियायतों ने

उनकी हिम्मत बढ़ा दी। विपक्षी गठबंधन पार्टी के साथ करीब 50 मुसलिम थे, जो लीग का विरोध कर रहे थे और लीग को सत्ता से बाहर करने के दृढ़ संकल्प के साथ विपक्ष में बैठे थे। जब उन मुसलिम सदस्यों ने पाया कि खुद गांधी ही जिन्ना के साथ समझौता करने जा रहे हैं और लीग को मुसलिम हितों की सबसे ताकतवर पार्टी के रूप में मान्यता दे रहे हैं तो उन्होंने सोचा कि इस पार्टी को छोड़ना और लीग में शामिल होना अक्लमंदी व दूरदर्शिता होगी।

डॉ. मुकर्जी की डायरी ऐसा कहती है—''इस प्रकार मुसलिम सदस्य एक के बाद एक हमसे दूर चले गए और हमारी विपक्षी गठबंधन पार्टी टुकड़े-टुकड़े हो गई।''

डॉ. मुकर्जी ने यह भी पाया कि जो अखबार अभी तक मुसलिम लीग के विरोधी थे और 'राष्ट्रवादी तत्त्वों', यानी लीग-विरोधी मुसलिमों के साथ काम कर रहे थे, अब उन्हें इस तथ्य का सामना करना पड़ा कि गांधी (मतलब कांग्रेस) ही जिन्ना के साथ समझौता कर रहे हैं। नतीजतन, लीग में शामिल होना उन्हें अक्लमंदी और दूरदर्शितापूर्ण लगा। इस प्रकार गांधी-जिन्ना संवाद ने बंगाल में मुसलिम लीग को मजबूत किया। डॉ. मुकर्जी ने जिन राष्ट्रवादी तत्त्वों को एकत्र करने में सफलता पाई थी, वह बरबाद हो गई।

दिसंबर 1944 में डॉ. मुकर्जी ने बिलासपुर में हिंदू महासभा के अधिवेशन की अध्यक्षता की। वे देश के सामने समस्याओं के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं से पूरी तरह अवगत थे। जनता के साथ सीधा संपर्क स्थापित करने की शीघ्रता की भी उन्हें जानकारी थी। लेकिन वह ऐसे उत्साही कार्यकर्ताओं का समूह इकट्ठा करने में नाकाम रहे, जो महासभा की नीति और कार्यक्रमों को 'अपने जीवन के मिशन' के तौर पर अपने साथ ले जाने और उन्हें लागू कराने के काम को स्वीकार कर पाते। इसके अलावा कई अवांछनीय व्यक्तियों ने भारत के विभिन्न हिस्सों में महासभा के संगठन पर कब्जा कर लिया। इसका ब्योरा इसी अध्याय में बाद में दिया गया है।

1 जुलाई, 1945 को लियोपोल्ड आमेरी को लिखे वायसराय लॉर्ड वावेल के पत्र में कहा गया था—''महासभा एक अलग प्रकार का समूह है। इसके संगठन में कई कांग्रेसी हैं और बड़े राजनीतिक मुद्दों पर वे एस.पी. मुकर्जी या सावरकर के बजाय गांधी का अनुसरण करेंगे।'' वावेल का कहना बिलकुल सही था और दिसंबर 1945 के बंगाल विधानसभा चुनावों से यह साबित भी हो गया था। वावेल निजी तौर पर डॉ. मुकर्जी के आलोचक भी थे और उन्हें 'अत्यधिक सांप्रदायिक' कहते थे। लेकिन हर दृष्टि से वह व्यक्ति के चरित्र के अच्छे पारखी थे। उस कारण या अन्य कारणों से अंततः उनकी चालबाजी व धोखेबाजी ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों ने उनकी बरखास्तगी की माँग की।

नए ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने उनके बारे में टिप्पणी की थी—''कई कारणों से एक महान् व्यक्ति, लेकिन एक जिज्ञासु और खामोश पंछी। और मैं नहीं सोचता कि खामोश लोग इन बातूनी भारतीयों के साथ अच्छी तरह से निर्वाह कर सकते हैं।'' अंततः एक पत्र भेजकर उसे ब्रिटेन वापिस भेज दिया गया।

पत्र को पढ़ने पर वावेल ने अपने सहायक अबेल से कहा था, ''जॉर्ज, उन्होंने मुझे बरखास्त कर दिया है।''

इसी समय डॉ. मुकर्जी ने दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ अपनी सूची में जोड़ीं। पहली, उन्होंने

अंग्रेजी में 'द नेशनलिस्ट' और बंगाल में 'हिंदुस्तान' नामक दो दैनिक अखबारों की वर्ष 1944 के अंत में स्थापना की। पत्रकारिता की क्षमताओं की यही अभिव्यक्ति थी, जो कई वर्षों पहले कलकत्ता में 'कैपिटल' के संपादक पैट लोवेट ने डॉ. मुकर्जी में देखी थी और सर आशुतोष (अध्याय 2 देखें) को बताया था। 'नेशनलिस्ट' में डॉ. मुकर्जी ने जिन कड़े शब्दों का इस्तेमाल किया, उसके कारण गवर्नर कासे ने वायसराय वावेल को लिखा कि डॉ. मुकर्जी के लेख ब्रिटिश विरोधी और मित्र-राष्ट्र विरोधी हैं। यह पूरी तरह गलत और बेतुका बयान था। लेकिन इसके लिए कासे को माफ किया जा सकता था, क्योंकि भारत और भारतीय राजनीति को लेकर उनका ज्ञान शून्य था। डॉ. मुकर्जी ब्रिटिश-विरोधी हो सकते हैं, क्योंकि उस दौर में जो ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता चाहते थे, वे सभी एक हद तक ब्रिटिश-विरोधी ही थे; लेकिन मिदनापुर के त्रासद चक्रवात के दौरान डॉ. मुकर्जी ने जो कहा था, उससे स्पष्ट है कि उन्होंने युद्ध की स्थितियों में मित्र राष्ट्रों का समर्थन किया और ऐसा स्पष्ट शब्दों में कहा, ''हम मास्टर्स, यानी अंग्रेजों के बजाय जापानी को बदलना नहीं चाहते।''

उसी समय, दिसंबर 1944 में, उन्होंने एक पुस्तक 'अनेक हिंदुस्तान' (जागो हिंदुस्तान) प्रकाशित की, जिसमें शिलांग से लायलपुर (अब पाकिस्तान पंजाब में) और लुधियाना से मदुरै तक, भारत के विभिन्न हिस्सों में दिए गए उनके भाषणों का संकलन था। पुस्तक के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि सभी भाषणों का मुख्य विषय क्या होगा। वे देश भर में हिंदुओं को प्रेरित कर रहे थे कि वे अपने अधिकारों के लिए खड़े हों और मुसलिम लीग की जहरीली राजनीति को आगे न बढ़ने दें तथा कांग्रेस की तरह लीग के सामने आत्मसमर्पण न करें।

दूसरे, उन्होंने नजीमुद्दीन कैबिनेट में संचार मंत्री, एक विश्वासघाती हिंदू मंत्री बड़ोदा प्रोसन्ना पाइन के कुकर्मों को बेनकाब किया। वह मुसलिम लीग की कठपुतली था। डॉ. मुकर्जी ने लीग के इस दावे को गलत करार दिया कि वह हिंदू और मुसलिमों दोनों के लिए निष्पक्ष होने की कोशिश कर रही थी। पाइन एक वकील और हावड़ा से कांग्रेसी था। वह किसी तरह शरतचंद्र बोस का कृपा-पात्र बन गया था और जेल से ही अपने लिए एक भावपूर्ण पत्र हक के नाम लिखवाने में सफल हो गया था कि हक पाइन को अपनी प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक सरकार में शामिल कर लें। तब वह सरकार बनने वाली थी। डॉ. मुकर्जी ने 31 मई, 1944 को विधानसभा में एक सशक्त भाषण देते हुए पाइन के खिलाफ निजी तौर पर ही अविश्वास प्रस्ताव रखा। उन्होंने पाइन के सकल भ्रष्टाचार को आधार बनाया और जोर देकर कहा कि पाइन राजसत्ता का एक मंत्री होने योग्य आदमी नहीं है। लेकिन बंगाल की राजनीति का एक तुच्छ कण, बड़ोदा प्रोसन्ना पाइन ही मुख्य मुद्दा नहीं थे। इस अविश्वास प्रस्ताव और पाइन को निर्दयी फटकार के जरिए डॉ. मुकर्जी ने समग्र राजनीति के सामने यह सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया कि नजीमद्दीन कैबिनेट के हिंदू सदस्य दो कौड़ी के आदमी हैं। उनका कोई जनाधार नहीं है। वे खुद के सिवाय किसी हिंदू का प्रतिनिधित्व नहीं करते। सरकार पूरी तरह मुसलिम-सांप्रदायिक है और सिर्फ मुसलिमों की भलाई के लिए ही है। पाइन और गोस्वामी महज क्षुद्र सेवक एवं चमचे हैं तथा लीग ने सिर्फ दिखावे के लिए ही उन्हें रखा है। ऐसा नहीं है कि मुसलिम लीग उनकी ज्यादा परवाह करती है। डॉ. मुकर्जी के पक्ष में एक बात कही जा सकती थी कि संप्रदायवाद के बारे में उनका कोई दोगलापन नहीं

था। वे बेशर्मी की हद तक सांप्रदायिक मुसलिम-समर्थक को भी ठोकर मारते थे और गैर-मुसलिम की भी कोई परवाह नहीं करते थे।

उसी दौरान विश्वयुद्ध समाप्ति की ओर था। गांधी-जिन्ना की बातचीत नाकाम हो चुकी थी। लिहाजा विभिन्न क्षेत्रों में राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए जोरदार कोशिशें शुरू हुईं। अप्रैल 1945 में सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक नॉन पार्टी कॉन्फ्रेंस द्वारा एक कमेटी गठित की गई। कमेटी ने अपनी सिफारिशें तार के जरिए वायसरॉय लॉर्ड वावेल को भेज दीं, जो उस समय लंदन में थे। डॉ. मुकर्जी का विश्वास था कि कमेटी गांधी की सिफारिशों का ही नतीजा थी। इसका प्रस्ताव था कि हिंदू जातियों और मुसलिमों में साझा मतदाताओं के साथ समानता के आधार पर भारत सरकार बनाई जाए।

फिर भी, मुसलिम लीग को मनाने का एक और प्रयास किया गया। केंद्रीय विधान सभा में कांग्रेस के नेता भुलाभाई देसाई ने शायद गांधी के आशीर्वाद से यह कोशिश की। जिन्ना के बाद दूसरे बड़े नेता लियाकत अली खान और देसाई के बीच कुछ अनधिकृत समझदारी बन गई थी, ऐसा कहा जाता है। उनका उद्देश्य केंद्र में कांग्रेस-लीग अंतरिम सरकार बनाने का था। यह कहा जाता था कि कांग्रेस अपने और मुसलिम लीग के बीच बराबरी को स्वीकार करने पर सहमत हो गई थी। लेकिन कांग्रेस आलाकमान ने देसाई को इनकार कर दिया और जिन्ना ने सार्वजनिक तौर पर इस संदर्भ में किसी समझदारी या समझौते की जानकारी से इनकार कर दिया। उस 'समझौते' के पीछे का रहस्य अब भी स्पष्ट नहीं है। डॉ. मुकर्जी लीग के साथ सहयोग के खिलाफ नहीं थे, क्योंकि वे जानते थे कि मुसलिम समर्थन एकजुट होकर लीग के पीछे था। वास्तव में, हरबर्ट द्वारा बंगाल के मुख्यमंत्री पद से फजलुल हक को बरखास्त करने के बाद भी वे नजीमुद्दीन का सहयोग करने को तैयार थे, यदि गैर-लीग मुसलिमों को भी वह अपनी सरकार में जगह देने को तैयार हों। लेकिन उन्हें हिंदू जातियों और मुसलिमों के बीच समानता का प्रस्ताव स्वीकार नहीं था।

उस राजनीतिक गतिरोध को तोड़ने के इरादे से वावेल योजना 14 जून, 1945 को नई दिल्ली से एक प्रसारण में प्रकट हुई। योजना बुनियादी तौर पर 1942 के क्रिप्स प्रस्तावों सरीखी ही थी कि राष्ट्रीय प्रशासन का गठन किया जाए। हालाँकि न कांग्रेस और न ही मुसलिम लीग ने उसे मंजूर किया। लेकिन ब्रिटिश शासन ने उन प्रस्तावों को कभी वापस नहीं लिया था। वायसरॉय की कार्यकारी परिषद् को पुनर्गठित करने की सोची गई, जिसमें प्रत्येक संगठन के प्रतिनिधि पर्याप्त संख्या में हों। कांग्रेस नेताओं को जेल से रिहा किया गया, ताकि वे योजना पर जारी बहस में शामिल हो सकें। गांधी ने इसमें 'स्वतंत्रता के बीज' महसूस किए। हालाँकि प्रस्ताव स्वतंत्रता के बारे स्पष्टता से दूर थे। उसी माह के अंत में शिमला में आयोजित एक सम्मेलन में कांग्रेस, लीग, सिख, अनुसूचित जातियों और केंद्रीय विधान सभा में यूरोपीय समूह के प्रतिनिधियों ने उस योजना पर चर्चा की। प्रदेशों के मुख्यमंत्री और पूर्व मुख्यमंत्री स्तर के 10 अन्य नेताओं ने भी बहस में भाग लिया। हालाँकि हिंदू महासभा को ऊपरी तौर पर इन आधारों पर आमंत्रित नहीं किया गया, क्योंकि केंद्रीय विधान सभा में उसका कोई भी प्रतिनिधित्व नहीं था। यह आश्चर्यजनक था, क्योंकि सिखों और अनुसूचित जातियों का भी कोई प्रतिनिधित्व नहीं था, लेकिन उन्हें आमंत्रित किया गया था। यहाँ तक कि लॉर्ड लिनलिथगो ने क्रिप्स के साथ चर्चा के लिए महासभा को आमंत्रित किया था और गोलमेज सम्मेलन

के भी प्रत्येक चरण के लिए महासभा को आमंत्रित किया जाता रहा था।

जिन्ना की इस जिद के कारण यह बातचीत भी टूट गई कि प्रस्तावित अंतरिम सरकार में सभी मुसलिम सदस्य लीग के ही होने चाहिए। वह इसके लिए तैयार नहीं थे कि कांग्रेस या कोई अन्य पार्टी किसी मुसलिम को नामांकित करे। ऐसा कहकर उन्होंने एक झाँसे से सबको बचाया। वावेल झुक गए और बात जहाँ से शुरू हुई थी, वहीं समाप्त हो गई। उसी दौरान, जिस जापानी युद्ध की आशंका थी, वह करीब एक और साल जारी रहा; लेकिन अमेरिका द्वारा हिरोशिमा व नागासाकी पर एटम बम गिराने के साथ ही युद्ध अचानक समाप्त हो गया।

डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में टिप्पणी की है कि रिहाई के बाद कांग्रेस नेताओं ने कुछ सकारात्मक और कड़े बयान दिए, ताकि वे खुद को हिंदू समर्थक नेता के रूप में पेश कर सकें। उनमें से पटेल एक सच्चे हिंदू नेता थे। नेहरू और पटेल ने वर्ष 1942 की घटनाओं को खुला समर्थन दिया। गांधी के विपरीत, उन्होंने इस सवाल को नहीं उठाया कि लोग अहिंसा के पक्षधर थे या हिंसा के पैरोकार थे? 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से लेकर अब तक क्या आम आदमी ने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष नहीं किया था? नेताओं ने लोगों के नायकवाद और बलिदान के लिए उनकी खूब प्रशंसा की। मुसीबतों और संकट के समय उनसे सहानुभूति भी जताई। इस रुख ने हिंदू जनता में नया विश्वास जाग्रत् किया। उन्होंने खुले खब्दों में पाकिस्तान और मुसलिम लीग का विरोध किया। नेहरू और पटेल ने जिन्ना और लीग की आलोचना में ऐसे कड़े शब्दों का इस्तेमाल किया कि बहुत से लोगों को महसूस हुआ कि अंततः कांग्रेस ने मुसलिमों को सिर चढ़ा लेने और जिन्ना पर कृपा करने की अपनी नीति छोड़ दी है। ऐसे क्रिया-कलापों और शब्दों के जाल में फँसकर महासभा के अग्रिम पंक्ति के नेता पंजाब के गोकुल चंद नारंग, उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश के मेहर चंद खन्ना, बिहार के डॉ. त्रिपाठी और कुछ अन्य लोग पार्टी बदलकर कांग्रेस में शामिल हो गए।

डॉ. मुकर्जी ने कांग्रेस नेताओं के इस धूर्ततापूर्ण भरे प्रयासों के कारण हिंदू महासभा के जनाआधार को कांग्रेस की ओर खिसकते हुए बड़े खेद और दुःख के साथ देखा। उन्होंने अपनी बँगला डायरी में इसका सारगर्भित विश्लेषण किया था, जो उन्होंने जनवरी 1946 में बीमारी के दौरान मधुपुर में लिखी। उन्होंने यह भी टिप्पणी की कि हालाँकि कांग्रेस नेताओं ने यह कहा कि वे पाकिस्तान बनाने के खिलाफ थे, लेकिन वास्तव में वे आत्मनिर्णय के द्वारा देश के विभाजन के निर्णय को स्वीकार कर रहे थे। जहाँ तक प्रेस की भूमिका का सवाल है, वे न केवल इस विसंगति को बाहर लाने में असफल हुए, बल्कि लोगों को कई तरीके से गलत सूचना देने की भी कोशिश की। देश के लोग, खासकर हिंदू, जिनके दिमाग में किसी भी कीमत पर आजादी हासिल करने का विचार समा गया था, इस मुद्दे का गहराई से विश्लेषण करने में असफल रहे। जब से कांग्रेस नेताओं ने लगातार सार्वजनिक तौर पर यह ऐलान करना शुरू किया था कि पाकिस्तान पर कोई समझौता नहीं होगा, लोगों ने महसूस किया कि कांग्रेस ने हिंदू महासभा के सिद्धांत स्वीकार कर लिये हैं। लिहाजा हिंदू महासभा के अलग अस्तित्व की अब कोई जरूरत नहीं।

इस मामले में कितने गलत थे वे! डॉ. मुकर्जी ने 10 जनवरी, 1946 को लिखी अपनी बँगला डायरी में महासभा के हिंदुओं द्वारा ही हिंदू महासभा के परित्याग पर अपनी कुंठा व्यक्त की थी।

उनके नेतृत्व में ही महासभा ने हिंदू सरोकारों के लिए अनथक कार्य किया था। लिहाजा उन्होंने दो-टूक बात कही और राजनीतिक उपयुक्तता की चिंता किए बिना ही उन्होंने लिखा—"एक संगठन, जो हिंदू समर्थन के बल पर बनाया गया हो, हिंदू हितों की रक्षा करने को गुनाह कैसे मान सकता है? वह ऐसे संगठन से निरंतर लड़ा, जो मुसलिमों का वर्चस्व स्थापित करने के लिए समर्पित है।" डॉ. मुकर्जी ने कांग्रेस और मुसलिम लीग के संदर्भ देते हुए खुद से पूछा था, "इससे ज्यादा त्रासद और क्या हो सकता था कि हिंदू अपने बौद्धिक और आर्थिक संसाधनों के बावजूद इस सामान्य सच को समझ नहीं पाए।"

उसी दौरान बंगाल में 10 मार्च, 1945 तक प्रदेश कैबिनेट में फेरबदल होने की संभावना बन गई, क्योंकि विपक्ष ने बेनकाब कर दिया था कि बंगाल के संकट के समाधान में सरकार अयोग्य सिद्ध हुई। सरकार के समर्थकों के एक बड़े तबके में भी यह अनुभूति बढ़ रही थी कि एक सरकार, जो गाहे-बगाहे कुछ संदेहास्पद लोगों का समर्थन खरीदकर ही अपने को सत्ता में बनाए रखे थी, प्रशासन में स्थित गले-सड़े तत्त्वों की सफाई करने में अक्षम है। सरकार और विपक्ष के बीच तय शक्ति-परीक्षण के आखिरी नतीजे की अनिश्चितता के चलते बंगाल में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 की धारा 93 के तहत 31 मार्च, 1945 से गवर्नर शासन लागू कर दिया गया। अखिल भारतीय हिंदू महासभा ने 18-19 अगस्त, 1945 को नई दिल्ली में बैठक कर प्रस्ताव पारित किए और बंगाल में धारा 93 लागू करने की निंदा की। इस मुद्दे पर डॉ. मुकर्जी ने बड़ी सख्ती से महसूस किया और तय किया गया कि महासभा के सदस्य ब्रिटिश शासन द्वारा दी गई उपाधियों को तुरंत छोड़ दें। पंजाब के पूर्व मंत्री एवं अखिल भारतीय हिंदू महासभा के उपाध्यक्ष सर गोकुल चंद नारंग ने अपनी 'नाइट' की उपाधि का त्याग कर दिया और उनका पत्र लंदन स्थित 'भारतीय कार्यालय' को भेज दिया गया। सिंध से हिंदू महासभा के एक और सदस्य ने एक भारतीय उपाधि छोड़ने की अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए गवर्नर को सूचित किया।

इन सभी के बीच 21 अगस्त, 1945 को केंद्र सरकार ने आनेवाली सर्दियों में ही केंद्रीय और प्रादेशिक चुनावों की घोषणा कर दी। यह 'भारतीय कार्यालय' के 11 जनवरी, 1946 के एक गोपनीय दस्तावेज से प्रकट हुआ कि बंगाल में मुसलिम लीग के पक्ष में एक निर्णायक रुझान पहले से ही था, जिस पर जिन्ना ने वाकई में विजय हासिल की थी। उसी के मुताबिक, लीग का चुनावों के बाद एक बड़ी ताकत और प्रतिष्ठा के साथ उभरना तय था। ऐसी ही भविष्यवाणी के मद्देनजर 1946 के प्रादेशिक चुनावों में लीग को एक उल्लेखनीय सफलता हासिल हुई, जिसने 250 सदस्यों के सदन में सन् 1937 की 39 सीटों से 115 सीटें कर लीं। विधानसभा में मुसलिम लीग के सर्वसम्मत नेता चुने गए। सोहरावर्दी ने सरकार बनाई और 24 अप्रैल, 1946 से बंगाल के नए मुख्यमंत्री बन गए।

इसी बीच लीग ने मुसलिमों के बीच अपनी स्थिति अधिक मजबूत कर ली थी और हिंदू-मुसलिम ध्रुवीकरण को तेज कर दिया था। 'राष्ट्रवादी मुसलिम' के नाम से चर्चित समूह 1944 में गांधी और सी.आर. के जिन्ना से संबंध बढ़ाने की दुर्भाग्यपूर्ण कोशिशों के बाद घटना शुरू हो गया था। इस समय तक ध्रुवीकरण लगभग पूरा हो चुका था। मौलाना आजाद या सैयद नौशेर अली सरीखे कुछ ही नेता थे, जो उस ध्रुवीकरण में नहीं बहे। लीग की सोच पूरी तरह और कटुतापूर्ण

सांप्रदायिक, हिंदू-विरोधी एवं पाकिस्तान समर्थक थी और उसके संप्रदायवाद को लेकर कोई दोगलापन नहीं था। लीग की बंगाल इकाई के महासचिव अबुल हाशिम, बर्दवान से वाम मानसिकता के मुसलिम नेता ने 'हमें युद्ध में जाना चाहिए' ('लेट अस गो टू वार') शीर्षक के एक उग्र इश्तहार में अपने विचार रखे थे। इस काम में उन्हें अपने कम्युनिस्ट साथियों की सहायता मिली, जिनमें से निखिल चक्रवर्ती का उल्लेख उन्होंने अपने संस्मरणों में खासतौर पर किया। युद्ध के दौरान कांग्रेस नेताओं की अनुपस्थिति (सभी जेल में थे), पंजाब के सर सिकंदर हयात खान और बंगाल में फजलुल हक की घुटने टेक देनेवाली और अनिश्चय की राजनीति ने भी काफी हद तक मुसलिम लीग की मदद की। यूनियनिस्ट पार्टी (बुनियादी तौर पर ग्रामीण जमींदारों की ब्रिटिश समर्थक पार्टी) के ताकतवर और करिश्माई नेता सर सिकंदर हयात खान पंजाब में बेहद लोकप्रिय थे और उनका जनाधार तथा समर्थन हिंदू, मुसलिम एवं सिखों में एक जैसा था। वे पाकिस्तान के खिलाफ थे और उनके जीवन काल में पंजाब में मुसलिम लीग हाशिए की पार्टी बनी रही। हालाँकि उनके उत्तराधिकारी मलिक खिज्र हयात टिवाना का लीग की कट्टरवादी इसलामी अपील से मुकाबला नहीं कर सके। अंततः उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया और लीग में शामिल हो गए। साथ ही उनकी पार्टी गायब हो गई। हक वर्ष 1937 तक धुर लीग-विरोधी थे। सन् 1937 और 1941 के बीच वह घोर लीगवादी हो गए और उस दौर में नजीमुद्दीन व सोहरावर्दी के दुष्टतापूर्ण, सांप्रदायिक कार्यों को न्यायसंगत ठहराया। हक ही थे, जिन्होंने जिन्ना के आदेश पर मुसलिम लीग के 1940 के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान का प्रस्ताव पेश किया था। उसके बाद वर्ष 1941 और 1943 के बीच उन्होंने लीग छोड़ दी और प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक गठबंधन का नेतृत्व किया, जिसमें दूसरे स्थान के नेता डॉ. मुकर्जी थे। गवर्नर हरबर्ट द्वारा उनकी सरकार बरखास्त करने के बाद वे निर्वासित अवस्था में चले गए। बंगाल विधानसभा के 1945 के चुनावों में उनकी कृषक प्रजा पार्टी का, सिर्फ उन्हें छोड़कर, सूपड़ा साफ हो गया था। तब हक ने दोबारा लीग में शामिल होने को आवेदन किया।

जैसा कि डॉ. मुकर्जी ने एक बार उनके बारे में कहा था, "हक एक साथ काम के आदमी और ऊँचे दर्जे का बोझ थे।"

अब हम डॉ. मुकर्जी के जीवन के एक छोटे, लेकिन विक्षुब्ध चरण की ओर आते हैं। सन् 1945 के आखिरी महीनों का दौर। वे महीने व्यस्तता के साथ-साथ कुंठा और हताशा भरे थे। उनका डॉ. मुकर्जी की सेहत पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वह 1945 के सेंट्रल एसेंबली चुनावों के लिए डॉ. मुकर्जी के चुनाव प्रचार का दौर था।

हिंदू महासभा किसी अन्य जगह की अपेक्षा बंगाल में ज्यादा ताकतवर थी। लिहाजा हरेक को उम्मीद थी कि वह चुनावों में बेहतर करेगी। लेकिन घटनाओं ने एक अलग ही मोड़ लिया। जनाधार खोने के अलावा महासभा के साथियों ने अनिश्चय दिखाना और विचलित होना शुरू कर दिया। जेल से शरत बोस की रिहाई के बाद डॉ. मुकर्जी ने उनके साथ सीटों के बँटवारे का समझौता करने की बहुत कोशिश की, ताकि सेंट्रल एसेंबली चुनावों में हिंदू वोट न बँटें। हालाँकि वह समझौता नहीं हुआ। शरत बोस के साथ समझौते की बातचीत टूटने के बाद डॉ. मुकर्जी ने अक्तूबर 1945 में अपनी पार्टी के लिए चुनाव प्रचार शुरू किया। हिंदू मतदाताओं ने किसी भी तरह

के हिंदू मतों के विभाजन के खिलाफ निर्णायक उत्तर दिया और अपने सभी वोट कांग्रेस के पक्ष में डाल दिए। इतने वोट दिए कि हुगली जिले से एक पूरी तरह तुच्छ और नगण्य व्यक्ति नगेंद्र नाथ मुखोपाध्याय, जो कांग्रेस के टिकट पर कलकत्ता उपनगरीय क्षेत्र से चुनाव लड़ रहे थे, ने डॉ. मुकर्जी को पराजित कर दिया। उसे 10,216 वोट मिले, जबकि डॉ. मुकर्जी को मात्र 346 वोट मिले। कांग्रेस ने गैर-मुसलिम क्षेत्रों में और मुसलिम लीग ने मुसलिम बहुल इलाकों में अच्छी-खासी जीत हासिल की। मुसलमानों के कुल 24,34,100 वोट पड़े, जिनमें से लीग को 20,36,775 वोट मिले। इस प्रकार, मतदाताओं का समग्र संप्रदायीकरण हुआ और हिंदू-मुसलिमों का समान प्रतिनिधित्व करने का कांग्रेस का छल-प्रपंच चकनाचूर हो गया। उनके 'राष्ट्रवादी मुसलिमों' को (जो कांग्रेस का समर्थन करते थे और विभाजन के खिलाफ थे) मुसलिम चुनाव क्षेत्रों में लगभग शून्य मत मिले।

डॉ. मुकर्जी ने इस दौर के दो पहलुओं को बड़ी कड़वाहट के साथ डायरी में लिखा था—''शरत बोस का हठ और दुराग्रह तथा अंतत: 1945 के बंगाल प्रदेश विधानसभा के चुनावों के लिए हिंदू महासभा के साथ सीटों का समझौता करने से इनकार। और जिस तरह महासभा के उनके साथी और लोगों ने, जो राजनीतिक दृष्टि से करीब माने जाते थे, चुनाव के दौरान और बाद में बुरा बरताव किया तथा पार्टी छोड़कर कांग्रेस में चले गए। वर्ष 1940 के कलकत्ता नगर निगम चुनावों के दौरान छोटे बोस बंधु सुभाष के साथ उनके जो संक्षिप्त मतभेद थे, पाँच सालों के बाद वर्ष 1945 में बड़े बोस बंधु शरत के साथ और बढ़ गए। शरत बोस मद्रास प्रेसिडेंसी की कुर्ग जेल में करीब चार साल रहे थे और 14 सितंबर, 1945 को रिहा हुए थे। उनकी रिहाई तय नहीं थी, बंगाल के गवर्नर कासे ने आखिरी दम तक उसका विरोध किया और डॉ. मुकर्जी सीटों के बँटवारे को लेकर किरण शंकर राय तथा उनके कांग्रेसी धड़े के साथ बातचीत पहले ही शुरू कर चुके थे। हालाँकि शरत बोस की रिहाई ने स्थिति बदल दी और डॉ. मुकर्जी को नए सिरे से उनके साथ बातचीत शुरू करनी पड़ी। उस दौरान उन्होंने शरत बोस को बिलकुल अहंवादी और 'सिर्फ बातचीत का ही शौकीन' पाया। स्पष्ट तौर पर शरत बोस ने जवाहरलाल नेहरू को गालियाँ दीं और उससे भी अधिक चीन के महासेनापति चियांग काई-शेक को 'देशद्रोही' और 'फासीवादी, निरंकुश शासक' कहा। जैसाकि डॉ. मुकर्जी ने गौर किया था कि ये टिप्पणियाँ अशिष्ट, अभद्र और अप्रासंगिक थीं।

महासभा और कांग्रेस के बीच सीटों के बँटवारे को लेकर डॉ. मुकर्जी शरत बोस से ऊब चुके थे। उन्होंने अपनी डायरी में दर्ज किया है कि जेल से रिहाई के बाद शरत बोस का बंबई में जिस तरह जोरदार स्वागत किया गया, वह उनके दिमाग में चढ़ गया। उन्होंने खुद की तुलना गांधी से करनी शुरू कर दी। सीटों के बँटवारे के संबंध में उन्होंने बड़ा अजीब व्यवहार किया। पहले कह चुके थे कि वह सामान्य 6 सीटों में से महासभा के लिए सिर्फ 2 सीटें छोड़ेंगे, फिर अपने बयान से पलट गए और देशबंधु पार्क में एक भाषण के दौरान डॉ. मुकर्जी के बारे में व्यंग्यपूर्ण व आलोचनात्मक शब्दों का इस्तेमाल किया। बोस बंधुओं के जीवनीकार लियोनार्ड गोर्डन भी सहमत हैं कि वह सीटों के समझौते के बारे में तय नहीं कर पाए और ढुलमुल ही बने रहे। हालाँकि एक बार जब तय हो गया कि कांग्रेस और महासभा के बीच सीटों का कोई भी बँटवारा नहीं होगा

तो शरत बोस ने डॉ. मुकर्जी को नेपथ्य में करना और हराना तय कर लिया। उन्होंने बर्दवान डिवीजन और कलकत्ता दोनों ही जगहों से नामांकन पत्र दाखिल किए, जब उन्हें पता चला कि डॉ. मुकर्जी इनमें से किसी एक क्षेत्र से चुनाव लड़ सकते हैं। उन्होंने कलकत्ता उपनगरीय क्षेत्र के चुनाव, जहाँ से डॉ. मुकर्जी ने अंततः चुनाव लड़ा, को भारत का 'प्रमुख चुनावी मुकाबला' करार दिया। उन्होंने मुकर्जी को हराने का प्रबंध कर लिया, क्योंकि हिंदू मतदाताओं ने सामूहिक तौर पर महासभा की तुलना में उन्हें और कांग्रेस को चुना, ताकि हिंदू वोट न बँटें, लेकिन वे कथित राष्ट्रवादी मुसलिमों के संदर्भ में पूरी तरह नाकाम रहे, जिन्होंने सांप्रदायिक मुसलिमों के साथ एकजुट होकर लीग को वोट दिए। गोर्डन ने सही लिखा था—'दिसंबर चुनाव के नतीजे शरत बोस के लिए कुछ खुशी लाए होंगे, लेकिन ढेर सारे आँसू भी दे गए।'

अपने साथियों और राजनीतिक मित्रों के विश्वासघात के संदर्भ में डॉ. मुकर्जी ने अपनी बँगला डायरी में कुछ उदाहरण दिए हैं। उन्होंने गौर किया था कि क्षितिज नियोगी बार-बार उन्हें कहते थे कि वह कांग्रेस के टिकट पर कभी भी चुनाव नहीं लड़ेंगे, लेकिन बाद में डॉ. मुकर्जी को बताए बिना ही उन्होंने कांग्रेस को आवेदन भेज दिया। आनंद मोहन पोद्दार, जिन्हें नारायणगंज नगरपालिका का अध्यक्ष बनाने में डॉ. मुकर्जी ने मदद की थी और जिनके कारण शरत बोस के साथ चुनावी समझौता नहीं हो सका था, डॉ. मुकर्जी के प्रयासों के जरिए ही निर्विरोध चुने गए थे। हालाँकि चुनावों के बाद उन्होंने कांग्रेस के लिए समर्थन की घोषणा कर दी।

बंगाल के बाहर भी स्थिति चिंताजनक थी। जैसा कि डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में दर्ज किया है, महासभा से उसके ही कुछ महत्त्वपूर्ण नेताओं—पंजाब के गोकुल चंद नारंग और सीमांत क्षेत्र के मेहर चंद खन्ना—ने विश्वासघात किया। नारंग सिर्फ इसलिए दल-बदल करके कांग्रेस में चले गए, क्योंकि उनका कहना था चूँकि कांग्रेस ने भी पाकिस्तान का विरोध करना तय किया है, लिहाजा कांग्रेस का विरोध करने से कुछ भी हासिल होने वाला नहीं है। दूसरी ओर, उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र के कांग्रेसी मुख्यमंत्री का सचिव बनने के बाद खन्ना क्षेत्रीय सभा का अध्यक्ष पद बरकरार रखना चाहते थे। डॉ. मुकर्जी ने कड़े स्वर में उन्हें बता दिया था कि उन्हें न तो 'केक' मिल सकेगा और न ही वह उसे खा सकेंगे। इसपर उन्होंने अनिच्छा से सभा को छोड़ दिया।

इसके अलावा, एक और मामला अवध एसेंबली के अध्यक्ष महेश्वर दयाल सेठ का था। वे एक साल के लिए हिंदू महासभा के महासचिव थे, जिस दौरान उन्होंने महत्त्वपूर्ण प्रभाव अर्जित किया। उनकी समस्या थी कि वह महासभा और कांग्रेस के बीच हमेशा ही ढुलमुल रहे थे। सावरकर समूह के विरोध के बावजूद डॉ. मुकर्जी ने वर्ष 1945 में उहें एक अवसर दिया, और उन्हें सभा की अखिल भारतीय कार्यसमिति का सदस्य बनाया। गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) के महंत दिग्विजय नाथ एक निर्भीक और रहमदिल हिंदू नेता थे। वे पूरी तरह महेश्वर दयाल के समर्थन में थे। हालाँकि सभा की अवध इकाई ने बीते साल में कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया था। समर्थक इसके लिए महेश्वर दयाल को दोष देते थे। उन्होंने कोई उपलब्धि हासिल नहीं की, बावजूद इसके उन्हें कोई अड़चन नहीं थी। उनका मानना था कि कांग्रेस से लड़ना मूर्खता होगी और यदि वह ऐसा करेगी तो महासभा हारेगी। उन्होंने चुनाव लड़ने के खिलाफ कई आपत्तियाँ उठाई; लेकिन जब उन्हें बताया गया कि वह कांग्रेस में शामिल होने को स्वतंत्र हैं तो उन्होंने कहा

कि सभा के लिए उन्होंने समर्पित भाव से काम किया है।

बिहार में भी परेशानी खड़ी हो रही थी। वहाँ ऐसा कोई नेता नहीं था, जो स्थितियों को सक्षमता से सँभाल सके। रायसाहेब अरोड़ा एक अच्छे व्यक्ति थे, लेकिन वह इस किस्म के नहीं थे कि अपने तरीके से लड़ाई लड़ सकें। उन्होंने कुछ बहाना बनाकर सभा को छोड़ दिया। सचिव डॉ. त्रिपाठी खूब लंबी हाँकते थे, लेकिन बहुत योग्य नहीं लगते थे। वे बिना किसी को बताए दल-बदल करके कांग्रेस में चले गए। कुमार सदानंद सिंह उदीयमान नेता थे, लेकिन महाराजा दरभंगा के सचिव होने के नाते वे कामों में इतना तल्लीन थे कि एक विराट् राष्ट्रीय संगठन को बनाने में मदद देने योग्य नहीं लगते थे। वे एक प्रामाणिक व्यक्ति थे और झूठ-फरेब में नहीं पड़ते थे। बिहार में कांग्रेस काफी ताकतवर थी और महासभा में कोई एकता नहीं थी, लिहाजा उस क्षेत्र से कुछ भी अपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

महासभा का असम में थोड़ा प्रभाव था और उड़ीसा में बदतर हो गया था। मद्रास प्रेसिडेंसी की आंध्र प्रदेश इकाई के अध्यक्ष रेड्डी ने डॉ. मुकर्जी को बीते साल आमंत्रित किया था और उनका मंगल ध्वनियों के साथ भव्य स्वागत किया गया था, लेकिन वर्ष 1945 में वह गायब से हो गए और उनके पत्रों का जवाब तक नहीं दिया। मद्रास में पंचनाथन एक बहुत अच्छे व्यक्ति थे, लेकिन वे बहुत ज्यादा कुछ करने की स्थिति में नहीं थे। तमिलनाडु में पूरा संगठन निष्क्रिय लोगों से भरा हुआ था। कोई भी डॉ. नायडू पर विश्वास नहीं करता था, जो बाद में कांग्रेस में शामिल हो गए। केंद्रीय क्षेत्रों में बरार इकाई ने कुछ प्रगति दिखाई, लेकिन महाकोसल में कुछ ज्यादा हासिल नहीं किया जा सका और जबलपुर इकाई आपसी फूट व झगड़े से बराबर ग्रस्त थी।

महाराष्ट्र में कुछ योग्य लोग थे और वहाँ कुछ फलदायक काम भी किए गए थे। पूना में तिलक के कुछ अनुगामी थे, जो हिंदू धर्म से परिचित थे और कई नौजवानों को उन्होंने प्रेरित किया। डॉ. मुकर्जी ने दर्ज किया है कि उन्होंने प्रसन्नता महसूस की और पूना में संगठन को देखकर गर्व हुआ। धामधेरे मुंबई में एक विश्वसनीय साथी थे, लेकिन खुद के बलबूते एक बड़ा संगठन खड़ा करने की योग्यता की उनमें कमी थी। इसके अतिरिक्त पूना और बंबई में कुछ लोग ऐसे भी थे, जो सावरकर को पूरी तरह स्वीकार नहीं करते थे। वे हिंदू महासभा के समर्थक थे, लेकिन सावरकर के विचारों से सहमत नहीं थे। एक और समूह था, जिसने सावरकरवाद का मिथ पैदा कर दिया था। सावरकर ने अपनी सेहत को देखते हुए ज्यादा यात्रा नहीं की। वे चुनावों के संबंध में भी कुछ ज्यादा करने के इच्छुक नहीं थे। डॉ. मुकर्जी ने दर्ज किया है कि संगठन को असंतोष को सँभालना होगा अन्यथा डायनामाइट की गठरी जैसा किसी भी दिन फट सकता था; लेकिन इस विस्फोट ने पार्टी के भीतर असहमति और समरसता के अभाव को सिर्फ बढ़ावा ही दिया। सिंध में भोजराज अजवाणी ने कई वादे तो किए, लेकिन वे कितना हासिल कर सके, यह संदेहास्पद ही रहा। हालाँकि सिंध में कुछ लोग ऐसे थे, जो हिंदू उद्देश्य के सच्चे समर्थक थे।

बंगाल में क्षितिज नियोगी और आनंद मोहन पोद्दार ही केवल उनके ऐसे साथी नहीं थे, जो कांग्रेस के भीषण आक्रमण के कारण उन्हें छोड़कर चले गए। देवेंद्रनाथ मुकर्जी, महासभा के कलकत्ता मेयर (1945-46), ने दोबारा चुनाव लड़ने के लिए इनकार कर दिया। नतीजतन पार्टी कार्यकर्ताओं के गुस्से को झेलना पड़ा। पार्टी के एक और वरिष्ठ साथी और पूर्व मेयर (1937-

38) सनत कुमार रायचौधरी, जिन्हें कलकत्ता उपनगरीय क्षेत्र से चुनाव लड़ना था, ने इधर-उधर की खूब हाँकने के बाद चुनावी मुकाबले से अपना नाम वापस ले लिया। डॉ. मुकर्जी के अपने चुनाव क्षेत्र, कलकत्ता उपनगरीय क्षेत्र, के तहत 44 नगरपालिकाएँ थीं और 24 परगना, हुगली एवं हावड़ा जैसे जिलों में 36,000 मतदाता फैले हुए थे। डॉ. मुकर्जी को बताया गया था कि इस चुनाव क्षेत्र को सँभालना आसान होगा। हालाँकि वहाँ स्थितियाँ बिलकुल अलग तरीके से मुड़ीं। हिंदू महासभा क्षेत्र के किसी भी हिस्से में ताकतवर नहीं थी; दूसरे, प्रेस का काफी बड़ा तबका इसका विरोधी था। एक बड़ी प्रसार संख्यावाला बंगाली दैनिक 'आनंद बाजार पत्रिका' और इसी घराने का अंग्रेजी दैनिक 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' दोनों ही पारंपरिक रूप से कांग्रेस-समर्थक थे। दोनों अखबारों ने ही डॉ. मुकर्जी के खिलाफ झूठा प्रचार करना और अफवाहें फैलाना जारी रखा। नैतिक पत्रकारिता में शालीनता की तमाम हदें पार कर दी गईं और सभी मत-सिद्धांत भी लाँघ गए। डॉ. मुकर्जी का मानना था कि चुनावों के दौरान ऐसा होना तय था, फिर भी झूठे प्रचार की एक सीमा होनी चाहिए, लेकिन दोनों अखबारों ने इस सीमा को पार किया। उन्होंने ऐसी अफवाहें फैलानी शुरू कीं, मसलन डॉ. मुकर्जी देशद्रोही हैं और उनके अपने निहित स्वार्थ हैं। हिंदू महासभा अभी तक बंगाल के लिए कुछ भी अच्छा नहीं कर सकी। लीग की तरह यह भी देश की दुश्मन है। वर्ष 1942 के संघर्ष के दौरान हिंदू महासभा ने सरकार की सहायता की, इत्यादि। उनके खिलाफ निजी वैर-विद्वेष खुलकर सबसे आगे आए। उनके प्रतिद्वंद्वी हुगली कांग्रेस नेता नगेंद्र नाथ मुखोपाध्याय थे, जो उनकी तुलना में एक राजनीतिक बौना थे। कांग्रेस ने यह ऐलान करना शुरू किया कि मुद्दा यह नहीं है कि कौन बेहतर उम्मीदवार है, लेकिन एक संगठन के तौर पर कांग्रेस का आधिपत्य बनाए रखने के लिए डॉ. मुकर्जी को किसी भी कीमत पर हराना चाहिए। अपनी बँगला डायरी में डॉ. मुकर्जी ने इस तथ्य पर पश्चात्ताप किया कि हिंदुओं और बंगाल के लिए बीते छह सालों में उन्होंने जो भी किया, उसके लिए किसी इनाम की अपेक्षा उन्होंने नहीं की थी। उन्होंने कभी भी नहीं सोचा कि कांग्रेस उन्हें नष्ट करने के लिए इसे ही अपना मुख्य मकसद बनाएगी। जिन्ना के खिलाफ उम्मीदवार खड़ा करने का कांग्रेस में साहस नहीं था और न ही क्षमता थी। अब वही कांग्रेस, जिसके नेताओं की जेल के दौरान प्रतिष्ठा बनाए रखने की, बीते तीन या चार सालों में, उन्होंने बहुत कोशिश की थी, उन्हें किसी भी तरह हराने पर आमादा थी।

उन्होंने यह भी दर्ज किया कि हिंदू महासभा के लिए वह ज्यादा समर्थन हासिल नहीं कर सके, लेकिन समाज के प्रति योगदान के कारण उन्होंने निजी स्तर पर कुछ समर्थन प्राप्त किया। जो अपेक्षाकृत बड़े थे और बंगाल की समस्याओं को समझते थे, वे डॉ. मुकर्जी के प्रति कांग्रेस के विरोध से हैरान थे। नौजवान और नए उत्साहवादी, जो जोश-खरोश से कांग्रेस का समर्थन कर रहे थे, डॉ. मुकर्जी के धुर विरोधी थे।

तब आई.एन.ए. के अदालती मामले दिल्ली में शुरू हुए। नेताजी सुभाषचंद्र बोस जनवरी 1941 में भारत से रवाना होने के बाद जर्मनी गए और वहाँ से दो पनडुब्बियों में जापान गए। फिर वह विजयी, आगे बढ़ती हुई जापानी सेना के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया गए और जापानी युद्ध कैदियों को लामबंद करके एक सेना बनाई, जिसे 'आजाद हिंद फौज' या इंडियन नेशनल आर्मी नाम दिया गया। अंग्रेजों ने उन्हें 'देशद्रोही सेना' करार दिया और ब्रिटिश विजय के बाद उन्हें 'कोर्ट

मार्शल' करने का फैसला किया। अब कांग्रेस उनके साथ अपनी बात से बदल गई। वर्ष 1939 में गांधी ने सुभाष से कहा था कि उन्हें अलग-अलग रास्तों पर चलना चाहिए और 1943 में जवाहरलाल नेहरू ने ऐलान किया था कि यदि सुभाषचंद्र बोस ने जापानियों के साथ भारत में प्रवेश किया तो वह उनसे लड़ेंगे। अब जनता के मूड को भाँपते हुए कांग्रेस पूरी तरह आई.एन.ए. आरोपियों के पक्ष में आ गई और उनके समर्थन में पार्टी ने खुद को उनके अदालती मामलों में झोंक दिया। प्रख्यात बैरिस्टर सर तेज बहादुर सप्रू आरोपियों को बचाने में जुटे थे, जिन्हें ब्रिटिश सरकार फाँसी पर लटकाने को आमादा लग रही थी। नेहरू, जो एक प्रशिक्षित बैरिस्टर थे, लेकिन उन्होंने कभी वकालत नहीं की थी और संभावना थी कि वह तब तक सभी कानून भूल चुके होंगे, जो उन्होंने 'इन्स ऑफ कोर्ट' में सीखे थे। उन्होंने भी गाउन पहना और सर तेज बहादुर के साथ खड़े हो गए और इस काम के लिए अत्यधिक प्रशंसा प्राप्त की। हालाँकि आरोपियों के आधार पर उन्होंने बहस नहीं की। जैसाकि लियोनार्ड गोर्डन ने टेढ़े-मेढ़े ढंग से टिप्पणी की है, "भारतीय राष्ट्रवादियों में महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू, जो वर्ष 1939 से 1945 तक सुभाष बोस के घोर आलोचक रहे, उन्हें जीवित के स्थान पर मृत्यु के पश्चात् (जैसा गोर्डन का अनुमान था) उनके साथ लेन-देन करना ज्यादा आसान लगा।"

अदालती मामलों ने देश भर में और अपेक्षानुसार बंगाल में एक जबरदस्त प्रतिक्रिया पैदा की, जिसका कांग्रेस तुरंत लाभ लेना चाहती थी। डॉ. मुकर्जी ने इसका विरोध किया और पार्टी के रुख में विसंगतियों की ओर संकेत किया। कलकत्ता में आयोजित एक बड़ी बैठक में, जिसमें आई.एन.ए. का मुद्दा उठाया गया, डॉ. मुकर्जी अहिंसा पर आई.एन.ए. के आदर्शों और कांग्रेसी रुख के विरोधाभासों पर बोले। प्रत्येक ने उनके भाषण की प्रशंसा की। उस चुनावी सभा में करीब 40 से 50 हजार लोग मौजूद थे। उन्होंने निजी आरोपों को बिलकुल साफ करते हुए अपने विचार व्यक्त किए। वह उन लोगों के बारे में भी बोले, जो अवसरवाद के तहत कांग्रेस में शामिल हो गए थे और जो देशद्रोही के तौर पर उनकी खिल्ली उड़ा रहे थे। डॉ. मुकर्जी बोले कि वर्ष 1942 में उनमें से कई या तो चुपचाप चले गए अथवा करारों पर हस्ताक्षर करके जेल से रिहाई का बंदोबस्त किया। उन्होंने लोगों को बताया कि शरत बोस और वह, दोनों ही देश के लिए साथ-साथ काम कर सकते थे। यदि बंगाल को डॉ. मुकर्जी की जरूरत नहीं और हिंदुओं को उनकी सेवाएँ नहीं चाहिए तो वे अपनी ऊर्जा किसी अन्य दिशा में मोड़ सकते थे। उन्होंने कहा कि ऐसा उनका विश्वास नहीं था कि वह ही देश के लिए अनिवार्य हैं। उनमें जो क्षमता थी, उसके अनुसार उन्होंने किया और निस्स्वार्थ तथा स्वेच्छा से काम किया। किसी इनाम की अपेक्षा से नहीं किया। यदि अब उनकी सेवाएँ नहीं चाहिए तो वह इसे गरिमापूर्ण तरीके से स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि उन्होंने जो भी किया था, उसमें उनका एक कण भी स्वार्थ का नहीं था। उनके भाषण की खूब प्रशंसा हुई।

22 नवंबर, 1945 को डॉ. मुकर्जी कलकत्ता के पूर्वी उपनगरीय इलाकों में सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेंबली के चुनावों के लिए प्रचार कर रहे थे। उन्होंने बारासत, बसीरहट, बदुरिया और तकी में कुछ महत्त्वपूर्ण सभाओं को संबोधित किया और रात्रि 9 बजे घर लौट आए। एक पूरे दिन के चुनाव-प्रचार से वे थक गए थे। उन्होंने सुना कि कलकत्ता में भारी हिंसा हुई और पुलिस ने गोलीबारी भी की। लौटने पर उन्हें पता चला कि लोग दोपहर बाद से उनकी उम्मीद लगाए बैठे

थे। कुछ युवकों ने बैठकें कीं और एक जुलूस निकाला। पुलिस ने जुलूस को रोका, जब वह धर्मतला स्ट्रीट (अब लेनिन सरणी) से गुजर रहा था। यह योजना थी कि जुलूस लाल बाजार (कलकत्ता पुलिस मुख्यालय का स्थान) और डलहौजी स्क्वायर (अब बिनॉय-बादल-दिनेश बाग) से गुजरेगा। पुलिस ने उन्हें रोकने की कोशिश की। यह कहा गया कि यह निषेध क्षेत्र है; लेकिन जुलूसियों को पहले इसकी जानकारी नहीं थी, लिहाजा उन्होंने मानने से इनकार कर दिया। लाठीचार्ज और गोलीबारी की गई। नतीजतन कुछ लोग मारे गए और बहुत लोग घायल हुए। तमाम तरह की कहानियाँ फैलनी शुरू हो गईं, लेकिन कोई नहीं जानता था कि असल में हुआ क्या था।

डॉ. मुकर्जी ने डॉ. राधा बिनोद पाल को फोन किया और बताया कि उन्हें गड़बड़ के दौरान मौजूद रहना चाहिए था और संकट की उस घड़ी में छात्रों के साथ खड़ा होना चाहिए था। डॉ. पाल ने डॉ. बिधान चंद्र राय को सूचित किया। डॉ. मुकर्जी को पूरे दिन की थकान और इधर-उधर की भाग-दौड़ के बाद हाथ-मुँह धोने का भी समय नहीं मिल पाया और रात्रि 9.30 बजे के करीब वह डॉ. पाल के घर की ओर भागे। डॉ. मुकर्जी मेडिकल कॉलेज अस्पताल चले गए। गेट को लोगों की भीड़ ने रोक रखा था, लेकिन उन्हें अंदर जाने दिया गया। वह प्रिंसिपल डॉ. लिनडॉन से मिले, जिन्होंने उन्हें आश्वस्त किया कि घायलों के इलाज के लिए हर संभव प्रयास किया जाएगा। उसी दौरान डॉ. पाल और डॉ. राय वहाँ पहुँच गए। उन्होंने हालात को समझा और गवर्नमेंट हाउस को फोन किया। डॉ. राय ने पुलिस आयुक्त टायसन से बातचीत की। उसी दौरान डॉ. मुकर्जी को जानकारी मिली कि धर्मतला स्ट्रीट में हालात अब भी काफी गंभीर थे। हजारों छात्र सड़क पर बैठे थे और पुलिस लाठियाँ व बंदूकें लिये उन्हें रोकने की कोशिश कर रही थी। सभी ने उनसे वहाँ जाने का अनुरोध किया। इसी वक्त डॉ. राय को एक गंभीर रोगी को देखने वहाँ से जाना पड़ा। डॉ. पाल और डॉ. मुकर्जी धर्मतला स्ट्रीट गए। पुलिस ने उनकी कार रोकी, जब वे क्रॉसिंग पर पहुँचे, लेकिन उन्हें पहचानकर जाने दिया गया। जब वे बाशेल मोल्ला की दुकान के करीब थे तो उन्होंने सशस्त्र पुलिस का एक दल देखा। छात्र उनकी ओर देखते हुए सड़क पर बैठे थे और नारे लगा रहे थे। उसी दौरान गवर्नर घटनास्थल पर आए और डॉ. मुकर्जी एवं डॉ. पाल से अनुरोध किया कि वे छात्रों को घर वापस जाने को कहें। डॉ. मुकर्जी छात्रों के करीब गए, छात्रों ने अधिक जोर से नारेबाजी शुरू कर दी। छात्रों ने कहा कि वे शाम से पुलिस को कह रहे थे कि शरत बोस और डॉ. मुकर्जी को हालात की सूचना दी जाए।

दरअसल, शरत के वहाँ आने से इनकार करने पर हालात और भी बिगड़ गए। उन्होंने छात्रों के व्यवहार पर खेद जताते हुए उन्हें एक लिखित संदेश भेजा और उन्हें आज्ञाकारी बच्चों की तरह घर जाने को कहा। उन्होंने कहा कि वह उनके बचाव के लिए नहीं आए, क्योंकि जिन्होंने उन्हें भड़काया था (यानी उनका विरोधी पक्ष, हिंदू महासभा), वे ऐसी मुसीबत पैदा कर उन्हें दोषी ठहराना चाहते थे। डॉ. मुकर्जी ने दर्ज किया है कि मैं स्वयं हैरान था कि शरत ऐसी राजनीतिक चाल चलेंगे और इतना गिर जाएँगे। हिंदू महासभा में कोई भी, सिर्फ डॉ. मुकर्जी को छोड़कर, छात्रों को ऐसे उन्माद की सीमा तक नहीं भड़का सकता था और डॉ. मुकर्जी पूरा दिन कलकत्ता से बाहर थे। दूसरी ओर शरत बोस, जो अकसर छात्रों का आह्वान करते थे कि गोली खाने के लिए तैयार रहें व जोशीले भाषणों के जरिए उन्हें उकसाते व उत्तेजित करते रहते थे। परंतु वास्तव में

जब उन्हें गोलियाँ झेलनी पड़ीं और गोलीबारी के बावजूद वे अपनी जगह खड़े रहे, तब उन्हें बता रहे थे कि उन्होंने गलत किया था और घर लौट जाना चाहिए।

डॉ. मुकर्जी को एक प्रमुख कांग्रेसी बीना दास से पता चला कि शरत बोस के संदेश को छात्रों ने फाड़ दिया था। वास्तव में, बँगला दैनिक 'युगांतर' के रिपोर्टर सुशील के पास कागज का एक ऐसा टुकड़ा देखा था। श्रीमती ज्योतिर्मयी गांगुली, एक और प्रमुख कांग्रेस नेत्री, वहाँ पहुँचीं और शरत बोस के व्यवहार से अत्यधिक परेशान लग रही थीं। वह उनके घर गई थीं, ताकि उन्हें घटनास्थल पर लाया जा सके। उन्होंने देखा कि एक महान् नेता चमचों से घिरे हुए वहाँ बैठे थे। लेकिन चापलूसों ने कहा कि वे इन खतरनाक हालात में उन्हें बाहर नहीं जाने दे सकते। शरत बाबू ने किरण शंकर राय को घटनास्थल पर भेजा था, लेकिन हालात पर काबू पाना उनकी क्षमता से बाहर था। डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में लिखा है कि इस घटना ने दिखा दिया कि सुभाष और शरत बोस के बीच कितना अंतर था? लियोनार्ड गोर्डन ने भी बोस बंधुओं की जीवनी में लिखा है कि खबरों के मुताबिक, शरत बोस को आने से मना किया गया था। दरअसल इस दौर में उनके नवनियुक्त राजनीतिक सचिव उनके बेटे अमिया की गलत सलाह शरत बोस को दी जाती रही। लेकिन गोर्डन की यह टिप्पणी भी थी—"इससे भी ज्यादा बहुत कुछ है। शरत बोस जननेता नहीं थे, जो विवादास्पद प्रदर्शनों का नेतृत्व करने के इच्छुक हों। सुभाष बोस वाकई एक जननेता थे, लेकिन शरत बोस बिलकुल भी नहीं। शरत बोस जन नेता की नई भूमिका के लिए नहीं बने थे, जो भूमिका उन्हें पेश की गई थी।"

शरत बोस के इनकार का नतीजा यह रहा कि छात्रों ने वहाँ से हिलने से भी मना कर दिया। वे अपने उस रास्ते पर, किसी भी कीमत पर, चलने को दृढ़ निश्चयी थे, जो उन्होंने पहले ही तय कर रखा था। वे अपने उन कामरेड साथियों को निराश करने को बिलकुल भी तैयार नहीं थे, जिन्होंने उद्देश्य के लिए स्वेच्छा से अपने जीवन बलिदान कर दिए थे। वे आगे बढ़ने को दृढ़ संकल्पित थे। उन्होंने शांतिपूर्वक डॉ. मुकर्जी को आश्वस्त किया कि उनका इरादा हिंसा और मुसीबत पैदा करने का नहीं है। पुलिस भी अपनी बात पर अड़ी थी और अब यह प्रतिष्ठा की लड़ाई बन गई थी। छात्रों और कुछ पुलिसकर्मियों ने डॉ. मुकर्जी से अनुरोध किया कि वह वहाँ से न जाएँ, क्योंकि उनका मानना था कि कमोबेश उनकी मौजूदगी संभावित हादसे को रोक सकती थी। कांग्रेसी नेता श्रीमती ज्योतिर्मयी गांगुली बेचैनी से ऊपर-नीचे आ-जा रही थीं। उन्होंने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया; लेकिन तब कौन जानता था कि अगले ही दिन एक कार दुर्घटना में उन्हें मार दिया जाएगा!

डॉ. मुकर्जी दिन भर के दुःखद और चिंताजनक अनुभव के बाद बहुत थक गए थे। सुबह से ही, बिना आराम किए, वह अपने पाँवों पर खड़े रहे। अंततः सुबह 3 बजे वह घर पहुँच पाए। अगले दिन 10 बजे ही वह डॉ. पाल से बात करने यूनिवर्सिटी गए, ताकि स्कूल और कॉलेजों को कुछ दिन के लिए बंद रखना सुनिश्चित हो सके। उन्हें डर था कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो ज्यादा मुसीबत हो सकती है। उसके बाद वह मेडिकल कॉलेज अस्पताल गए। वह सभी घायलों से मिले और उनका हाल-समाचार पूछा। कॉलेज और अस्पताल का परिसर लोगों से भरा हुआ था। एक सज्जन आगे आए। उनका भतीजा रामेश्वर बनर्जी सबसे पहले गोली से मरनेवालों में

एक था। पुलिस ने अभी तक उसका पार्थिव शरीर उसके परिजनों को नहीं सौंपा था। डॉ. मुकर्जी उस सज्जन तथा उसके दो और साथियों के साथ यूनिवर्सिटी गए। वह हलका सा लंच करने घर आए, लेकिन यह सुनकर जल्दी ही लौटना पड़ा कि करीब एक लाख लोगों की भीड़ एक बार फिर वेलिंगटन स्कवायर पर जमा हो गई है और बीते दिन का प्रदर्शन दोहराया जाने वाला है। पुलिस उन्हें रोकने पर आमादा थी और हालात प्रत्येक क्षण खतरनाक होते जा रहे थे। उसी समय उन्होंने पुलिस आयुक्त को मनाने का प्रबंध किया कि भीड़ पर गोली नहीं चलाई जाएगी। उन्होंने पुलिस आयुक्त को बताया—''उन्हें उस रास्ते से जाने दो, जिस रास्ते वे जाना चाहते हैं। तुम उन्हें मशीनगनों के बिना रोक नहीं सकते और तब उनमें से हजारों बेहिचक ही अपना जीवन बलिदान करेंगे। हताहतों की संख्या जलियाँवाला बाग से ज्यादा होगी और वे फिर भी नहीं हिलेंगे।'' अंततः भीड़ को आगे बढ़ने की अनुमति दे दी गई और फिर कोई गोलीबारी नहीं हुई। हालाँकि डॉ. मुकर्जी अपनी डायरी में पश्चात्ताप करते हैं कि बाद में शरत बोस ने गोलीबारी रोकने का श्रेय लेने की कोशिश की और मेरे बारे में उपहासजनक टिप्पणियाँ कीं।

बाद में वह रामेश्वर के माता-पिता के साथ उसका पार्थिव शरीर लेने मुर्दाघर गए और इसका बंदोबस्त किया कि शरीर अच्छी तरह से कपड़े में लिपटा हो और उसे उठाकर ले जाया जा सके। करीब 2 लाख लोगों की विशाल भीड़ शवयात्रा के पीछे चुपचाप चल रही थी। उसी दौरान शहर के दक्षिणी हिस्सों में काफी शोरगुल और उथल-पुथल मची थी। अमेरिकी सेना के अफ्रीकी-अमेरिकी ट्रक ड्राइवर ने एक बच्चे को कुचल दिया था। भीड़ ने ट्रक में आग लगा दी थी और ड्राइवर को आग में झोंक दिया था। आगजनी व्यापक थी और आतंकित, सनकी पुलिस ने अंधाधुंध गोलीबारी की थी। इस सबके बीच ही डॉ. मुकर्जी भीड़ को बिना किसी घटना के केवड़तला शवदाह गृह तक ले गए। करीब 6 किलोमीटर की दूरी तक वह भीड़ के साथ ही चलते रहे। उनके पाँवों में छाले पड़ गए थे।

डॉ. मुकर्जी ने स्मरण किया कि कई महत्त्वपूर्ण लोग आए, लेकिन शरत बोस नहीं आए थे। वह देर रात में आए। डॉ. मुकर्जी रात्रि करीब 11 बजे घर गए, तब तक चिता जल चुकी थी। वापसी में वह एक सज्जन से मिले, जो दक्षिण कलकत्ता में शाम की उथल-पुथल में हजरा पार्क के पास पुलिस फायरिंग में अपने इकलौते बेटे को खो चुके थे। माँ बेटे का शव अपनी गोद में रखे हुए बैठी थी। पिता इस तरह चल रहे थे मानो बेहोशी की स्थिति में हों। डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में यह भी स्मरण किया कि वहाँ उन्होंने एक अजीब संयम भी देखा। कोई भी खुलकर चिल्लाया नहीं या अपना दुःख प्रकट नहीं किया।

''मेरे बेटे ने अपनी जिंदगी अंग्रेजों को बलिदान कर दी। इसे रात भर मेरी बाँहों में रहने दो। तुम इसे सुबह में ले जा सकते हो।'' यह एक अशिक्षित, साधारण, मध्य वर्ग की माँ के शब्द थे।

डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में लिखा है—''इसने लोगों के भीतर अत्यधिक जागृति है—ऐसा मुझे समझा दिया और मैंने महसूस किया कि एक क्रांति उभर रही है। यदि ऐसी निर्भीक चेतना व सजगता को अनुशासित किया जा सका और सही दिशा में उसे ले जाया जा सका तो ब्रिटिश यहाँ कब तक रह सकेंगे?'' अंततः डॉ. मुकर्जी आधी रात में घर लौटे और सोने चले गए, बिलकुल बेदम और बेजान से। पाँवों का दर्द बढ़ गया था। उनके निजी सेवक बनमाली ने उनके पाँवों में

मरहम लगाया। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार, उन्हें अगले दिन कार से कांचरापारा से बराकपुर की यात्रा करनी थी।

उस दिन शवदाह गृह से लौटकर वह अच्छी तरह नहीं सो पाए। तमाम तरह की चिंताएँ उनके मन पर टूट पड़ी थीं। बीते दो दिन की घटनाएँ अब भी जीवंत थीं। अगली सुबह शहर पर विषाद का एक आवरण छा गया था। बीते दिन की हड़ताल पूरी तरह सफल रही थी। कई रेलगाड़ियाँ चल नहीं पाईं, क्योंकि हजारों लोग पटरियों पर लेटे थे। चारों ओर बगावत की हवा बह रही थी। कुछ जगहों पर इसने हिंसक मोड़ ले लिया था। बगावत की हवा ने तमाम अवरोधों को तोड़ दिया था। ट्राम और बसों को सड़कों से दूर रखा गया, माहौल में तनाव था। डॉ. मुकर्जी आशुतोष कॉलेज के सुशील चट्टोपाध्याय के साथ कार से निकल पड़े। बराकपुर और कांचरापारा के बीच के इलाके में उनके निजी अभियान का प्रभारी सुशील था। हालाँकि उस दिन उन्हें आराम करना चाहिए था, लेकिन उन्होंने जाना तय किया, क्योंकि दौरा पहले से ही निर्धारित था। उन्होंने सोचा कि यदि वह नहीं गए तो कार्य अस्त-व्यस्त हो जाएगा।

कलकत्ता की सड़कों पर गाड़ी चलाना आसान नहीं था। अब भी इधर-उधर फैली आग देखी जा सकती थी। हालाँकि वक्त सुबह का ही था। ट्राम और बसें नहीं चल रही थीं और कार से यात्रा करना जोखिम भरा था। डॉ. मुकर्जी के दल को कई जगह रोका गया, लेकिन पहचानने पर उन्हें आगे जाने दिया। वे पूरे दिन बाहर रहे, भाषण दे रहे थे और बहस कर रहे थे। उनका कांचरापारा, हालीशहर, भाटपारा, नैहाटी, जगतदल, श्यामनगर और इच्छापुर में जोरदार स्वागत हुआ। नैहाटी में प्रगति इतनी उत्साहजनक नहीं थी। 'आनंद बाजार पत्रिका' और 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' के सुबह के संस्करणों में उनकी भूमिका का कोई उल्लेख नहीं था, जो उन्होंने बीते दो दिनों की घटनाओं में निभाई थी। उनके कार्यों के जो चश्मदीद थे, वे इस तरह तथ्यों को दबाने के छल-कपट और बेशर्मी से हताश थे।

डॉ. मुकर्जी तब तक अपना चुनाव-प्रचार समाप्त कर चुके थे। इच्छापुर में विशाल बैठक आयोजित थी। उसके तुरंत बाद ही उन्होंने स्वयं को बीमार महसूस किया। उन्हें अचानक ऐसा लगा कि सिर में चक्कर आकर वह गिर पड़ेंगे। कुछ देर के बाद उनके सीने में तीव्र पीड़ा हुई। वे कार में थे और टीटागढ़ जा रहे थे। पीड़ा तेज होती जा रही थी और उन्होंने इस तरह का अनुभव पहले कभी नहीं किया था। उन्होंने महसूस किया कि इस बार बीमारी तीखी है। उन्हें रायबहादुर तारकनाथ चटर्जी के घर जाना था, जहाँ से एक बैठक के लिए आगे निकलना था। तब तक रात्रि के लगभग 9 बज चुके थे और 2-3 हजार लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे किसी तरह चटर्जी के घर पहुँचे, लेट गए और डॉक्टर बुलाने को कहा। वे इतने अस्वस्थ हो गए थे कि मुश्किल से ही बोल पा रहे थे। उन्होंने सुशील को कलकत्ता में उनके घर फोन करने को कहा और उनकी स्थिति की गंभीरता बताए बिना ही घरवालों को उनकी बीमारी की खबर देने को कहा। उन्होंने सुशील को यह बताने को भी कहा कि आज रात वह घर नहीं लौट सकेंगे, क्योंकि तबीयत ठीक नहीं है। उनके बड़े भाई के सवालों से बचने में असमर्थ सुशील ने उन्हें सबकुछ बता दिया। घर में खलबली मच गई। डॉ. बी.सी. राय और डॉ. इंदु माधव बसु, दोनों ही प्रख्यात चिकित्सकों को सूचित किया गया।

कलकत्ता में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। कई तरह की कहानियाँ इधर-उधर बिखर रही

थीं। यहाँ तक कि किसी ने एक अखबार के दफ्तर में फोन किया और इसकी पुष्टि करनी चाही कि वह मृत हैं या जीवित? एक स्थानीय डॉक्टर उनका इलाज करने आए और कुछ दवाइयाँ दीं। दर्द कुछ कम हुआ, लेकिन वे अब भी बहुत कमजोर थे। रात में करीब 11 बजे उनके सभी भाई-रमाप्रसाद, उमाप्रसाद और बामाप्रसाद, साथ में उनकी भाभी तारा देवी और डॉ. बसु बराकपुर पहुँच गए। उनकी सलाह पर डॉ. मुकर्जी ने घर से बाहर रात न गुजारने का फैसला लिया। वे धीरे-धीरे चले और सुबह करीब 1 बजे घर पहुँचे।

उन्होंने अपनी डायरी में लिखा कि वे बहुत बीमार थे और उससे पहले कभी भी उन्होंने इतनी कमजोरी महसूस नहीं की थी।

अगले दिन डॉ. मुकर्जी के घर आनेवाले सभी डॉक्टरों ने उन्हें बताया कि यदि वह जीवित रहना चाहते हैं तो उन्हें पूरा आराम करना चाहिए। डॉक्टरों ने कहा कि यदि वह उनकी सलाह पर ध्यान देंगे तो उन्हें अब भी बचाया जा सकता था। नहीं तो उन्हें तब तक एक विकलांग आदमी की जिंदगी जीनी पड़ सकती है, जब तक वह जीवित रहेंगे। इस मुद्दे पर खूब बहस हुई कि चुनावों के बारे में अब क्या किया जाए? डॉक्टर, खासकर डॉ. राय, कहते रहे कि उन्हें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जिससे उन्हें उत्तेजना और तनाव हो। चुनाव दिसंबर के शुरू में होने थे। लेकिन 15 दिनों के लिए उन्हें घर के बाहर जाने की अनुमति नहीं दी जाएगी। वे शनिवार को बीमार पड़े थे। रविवार को उत्तरपाड़ा, सीरमपुर आदि में कई बैठकें आयोजित थीं। लेकिन वह उनमें उपस्थित नहीं हो सके। निर्मल चंद्र चटर्जी (हिंदू महासभा के एक प्रमुख नेता और पूर्व लोकसभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी के पिता) सामान्यत: उनके स्थान पर जाते थे, लेकिन वे भी नहीं गए; क्योंकि एक सप्ताह पहले कुछ कांग्रेसी समर्थकों ने हावड़ा में एक बैठक में बाधा उत्पन्न की थी और उनका अपमान भी किया था। देवेंद्रनाथ मुकर्जी सीरमपुर गए, लेकिन वहाँ कोई मुसीबत नहीं झेलनी पड़ी। यह सुनकर चटर्जी उत्तरपाड़ा गए। डॉ. मुकर्जी के लिए कुछ ज्यादा करना और घर में बैठे रहना संभव नहीं था। उन्होंने कुछ काम करने का प्रयास किया, लेकिन अचानक ही वह पहले वाली खराब स्थिति में आ गए।

इस बार डॉक्टर आगबबूला हो गए। उन्होंने कहा कि आत्मघाती होने में कोई समझदारी नहीं है। वे उन्हें कोई काम करने की अनुमति नहीं देंगे। उनकी बीमारी के लक्षणों को देखते हुए और उनकी उम्र, मोटापा, खाने की आदतें एवं बीते दो दिनों में उन्होंने जो तनाव झेला था और आज के हृदय-विज्ञान को लागू करते हुए कलकत्ता के प्रमुख हृदय-रोग विशेषज्ञ डॉ. शुवो दत्ता के मुताबिक, यह बहुत संभव था कि उन्हें दो लगातार दिल के हलके दौरे पड़े थे या कंठशूल के! सामान्यत: दिल के दौरे से पहले-पहल दिल की मांसपेशियाँ कुछ मर जाती हैं। ऐसा ऑक्सीजन की कमी के कारण होता है। दूसरे दौरे में इसी कारण से छाती में खूब दर्द होता है। ऑक्सीजन की कमी होने का कारण यह है कि दिल की जो धमनी या धमनियाँ दिल की मांसपेशियों तक रक्त की आपूर्ति करती हैं, वे सिकुड़ जाती हैं। ऐसा धमनियों के भीतर चिकने और चरबी आदि पदार्थों के जमा होने के कारण होता है और वे पर्याप्त रक्त की आपूर्ति नहीं कर पातीं। आज इन लक्षणों के लिए आपातकालीन इलाज कराना पड़ता है। उसके बाद पूर्णत: अचल कर देना और संभवत: एंजियोप्लास्टी या बाइपास सर्जरी करानी पड़ती है। वर्ष 1945 में, हालाँकि हृदय-विज्ञान अपनी शैशव अवस्था में था। यहाँ तक

कि चिकित्सा की मान्यता प्राप्त पद्धति भी नहीं थी। इलेक्ट्रो कार्डियोग्राम (ई.सी.जी.) की मशीन का भी आविष्कार नहीं हुआ था। ऐसे लक्षणों का इलाज संभवत: फॉक्सग्लोव के फूल के अर्क से ही किया जाता था। हवा बदल, यानी जगह को बदलना और एक स्वास्थ्यवर्द्धक जलवायुवाले स्थान पर रहना आदि को कई बीमारियों के लिए अचूक और रामबाण औषधि माना जाता था।

दूसरे नेता चुनाव प्रचार की जिम्मेदारी लेने के इच्छुक नहीं थे। डॉ. मुकर्जी ने निर्मल चटर्जी और देवेन मुकर्जी को बताया कि यदि वे चुनावों का प्रभार ले लें तो उन्हें राहत मिलेगी। यह महज हार या जीत का सवाल नहीं था। तब वह अखिल भारतीय हिंदू महासभा के अध्यक्ष थे। वे खुद चुनाव लड़ रहे थे और यह उनके लिए स्वाभाविक था कि अपनी बीमारी के आधार पर किसी को जिम्मेदारियाँ सौंपें, लेकिन बहुत दु:खद बात थी कि कोई भी जिम्मेदारी लेने के लिए आगे नहीं आया। उन्हें घोर निराशा हुई। अपनी डायरी में खेद जताते हुए उन्होंने लिखा था कि बीते कुछ सालों में उन्होंने जिन आदर्शों के लिए संघर्ष किया था, वे एक ही झटके में चूर-चूर हो गए। चारों ओर विश्वासघात, छल-कपट और स्वार्थीपन पा गया था! उन्होंने लिखा कि मैं कभी भी खुद को राजनीति में स्थापित करना नहीं चाहा। यदि लोगों ने महसूस किया कि वह उनके किसी काम के नहीं तो उन्होंने खुद को उनपर थोपने की इच्छा नहीं रखी थी। किसी भी तरह, बीमारी के कारण वह कार्य को जारी रखने में असमर्थ थे और कोई अन्य नेता जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं था तो उनके लिए चुनाव से अपना नाम वापस लेने के अलावा कोई रास्ता नहीं रह गया था। दरअसल, औपचारिक तौर पर वे अपना नाम वापस नहीं ले सके, क्योंकि तब तक नाम-वापसी की आखिरी तारीख बीत चुकी होगी। बहरहाल, उनकी और पार्टी की अपरिहार्य हार हुई। तत्कालीन हालात और 22-23 नवंबर के कत्लेआम को रोकने के लिए अति मानवीय प्रयास करने के बावजूद और यहाँ तक कि अपनी जिंदगी जोखिम में डालने का भी कोई फर्क नहीं पड़ा। नतीजतन उन्हें शरत बोस की कांग्रेस के तुच्छ व्यक्ति नगेंद्र नाथ मुखोपाध्याय के हाथों बदनाम पराजय का अपमान झेलना पड़ा।

उनकी बीमारी जारी रही। उसी समय गांधी, जवाहरलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल कलकत्ता आए। चारों ओर खूब उत्तेजना थी। उन्हें देखने के लिए हजारों लोग जमा हुए। ऐसा लग रहा था मानो बाढ़ के दरवाजे खोल दिए गए हों। नेहरू, पटेल, गोविंद बल्लभ पंत और रफी अहमद किदवई उन्हें देखने आए थे। कई लोगों ने कांग्रेस में शामिल होने को उन पर दबाव बनाया। उन्होंने डायरी में खेद व्यक्त किया है कि वे समझ नहीं पा रहे थे कि जब तक महासभा और कांग्रेस के बीच के मतभेद समाप्त नहीं हो जाते, तब तक वे कांग्रेस में शामिल नहीं हो सकते। वे मतभेद खासकर मुसलिमों के तुष्टीकरण से जुड़े थे। बेशक वे शक्ति के लिए राजनीति में थे, लेकिन अपने विश्वासों और संकल्पों के अनुसार सत्ता का इस्तेमाल करने के इरादे से वे राजनीति में आए थे। उनका मानना था कि यदि वह कांग्रेस में शामिल हो गए होते तो ऐसा करना असंभव होता। वे अपनी डायरी में लिखते रहे—''मेरी दलील समझने को कोई तैयार नहीं दिखता था! आमतौर पर लोगों का झुकाव व्यापक रुझान की ओर ही होता है और वे व्यवस्था के मुताबिक ही काम करते हैं।''

अपनी डायरी में उन्होंने लिखा है कि महीने के अंत में उनकी सेहत कुछ सुधरने लगी थी, यानी बीमारी के लक्षणों की पुनरावृत्ति नहीं हुई थी। उनकी सेहत का हाल-चाल पूछते हुए गांधी ने उन्हें हिंदी में एक पत्र लिखा और उन्होंने बँगला में जवाब उसका दिया। उसी दौरान देश भर

से चुनाव-नतीजे आने शुरू हो गए थे। दो लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट हुए थे—पहला, हिंदू महासभा कहीं से भी नहीं जीती थी; दूसरे, कांग्रेस को एक भी मुसलिम सीट नहीं मिली थी। स्पष्ट और साधारण निष्कर्ष यह था कि हिंदुओं ने कांग्रेस को चाहा था और मुसलिमों ने लीग को। फिर भी कांग्रेस ने कभी भी न तो खुद को हिंदू संगठन कहा और न ही हिंदुओं के अधिकारों के लिए लड़ी। वह अपने विशिष्ट झाँसे पर ही कायम रही कि वह हिंदुओं और मुसलिमों का एक समान प्रतिनिधित्व करती है। डॉ. मुकर्जी ने गौर किया कि यदि हिंदू महासभा अपने निष्ठावान् कार्यकर्ताओं के समर्थन से अपना अस्तित्व बचा सकी तो निश्चित तौर पर उसे आगे बढ़ने का एक अवसर जरूर मिलेगा।

भीषण तनाव, जीवन को झकझोर देनेवाली बीमारी और व्यापक कुंठा ने उनकी ऊर्जा को धीरे-धीरे क्षीण कर दिया था और डॉ. मुकर्जी जैसी क्षमतावाले व्यक्ति के लिए भी यह सह पाना अब कठिन था। एक महीने के बाद उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—''मुझमें अब एक नेता की जिम्मेदारियाँ उठाने की ताकत या इच्छा नहीं रह गई थी। मैं खुद को ऐसे काम में व्यस्त करना चाहता था, जो मुझे विवादों और तनाव से दूर रखे। मैंने जीवन के अंतिम कुछ वर्षों के लिए ऐसा सोचा था। मैं खुद को कुछ रचनात्मक काम में डुबो देना चाहता था, जिससे हिंदुओं को उनकी खोई हुई गरिमा पुनः प्राप्त करने में मदद मिल सकती।'' पटेल के साथ उनकी एक बैठक हुई। कांग्रेस के शीर्ष नेताओं में उन्हें ही हिंदुओं की समस्या के प्रति सर्वाधिक संवेदनशील नेता माना जाता था। पत्रों का आदान-प्रदान हुआ, लेकिन किसी समझौते पर नहीं पहुँचा जा सका। कांग्रेस ने महसूस किया कि हिंदू महासभा को लोकप्रिय समर्थन का अभाव था और सेंट्रल एसेंबली के चुनावों ने ऐसा साबित कर दिया था। लिहाजा वे महासभा के साथ काम क्यों करना चाहते? अंततः डॉ. मुकर्जी ने अखिल भारतीय हिंदू महासभा की कार्यसमिति की बैठक कलकत्ता में बुलाई। उन्हें राहत देने के लिए भोपटकर को कार्यवाहक अध्यक्ष बनाया गया। यह फैसला किया गया कि हिंदू महासभा विभिन्न प्रदेशों में अपनी संबद्ध ताकत के अनुसार चुनाव लड़ेगी।

इसी समय उन्होंने यूनिवर्सिटी में अपने कई दायित्व भी छोड़ दिए थे। वर्ष 1924 से लेकर करीब 22 सालों तक उन्होंने यूनिवर्सिटी की बेहतरी के लिए अनथक कार्य किए थे। अब उन्होंने सिंडिकेट चुनावों के लिए अपना नाम वापस ले लिया था। उनके बड़े भाई रमाप्रसाद उनके स्थान पर आए। उन्होंने एसेंबली चुनावों में बड़े भाई को अपने स्थान पर खड़ा होने को कहा।

यह सबकुछ करने के बाद वे 'बदलाव' के लिए रवाना हुए, जिसके लिए डॉक्टर और उनके सगे-संबंधी एक लंबे समय से उनपर दबाव डाल रहे थे। वे मधुपुर गए, जहाँ दिसंबर-जनवरी का मौसम सबसे अच्छा रहता था। लेकिन उससे पहले वे अपनी बड़ी बेटी सविता और अपनी नातिन मंजू (जिसे वह 'दीदी भाई' कहते थे) के साथ कुछ समय गुजारना चाहते थे। लिहाजा वह पहले जमशेदपुर गए और वहाँ से मधुपुर। उनके दामाद निशीथ ने जिद की कि सविता एवं मंजू को उनके साथ जाना चाहिए और मधुपुर में उनके साथ कुछ समय रुकना चाहिए। उनकी माँ योगमाया, एक संगी और उनका छोटा बेटा देवतोष भी साथ में गए और 15 दिनों के लिए वहाँ ठहरे। उनका बड़ा बेटा अनुतोष आसनसोल के करीब बर्नपुर से बीच-बीच में वहाँ आता रहता था। वह बर्नपुर में इंडियन आयरन ऐंड स्टील कंपनी में काम करता था।

डॉ. मुकर्जी के मधुपुर में महीने भर के प्रवास ने न केवल उन्हें एक नया जन्म दिया, बल्कि भावी पीढ़ी के लिए बेशकीमती भी साबित हुआ। इस पुस्तक के लेखक समेत उनके जीवनीकारों के लिए भी ऐसा ही साबित हुआ। इस अवकाश के दौरान उन्होंने डायरी में विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ भी दर्ज कीं, जो बाद में उस दौर की राजनीति को समझने के लिए बहुमूल्य साबित हुईं। वे वर्ष 1945 में क्रिसमस के दिन वहाँ पहुँचे और 27 जनवरी, 1946 तक वहाँ रुके। वे अपने स्टेनोग्राफर बृदबरन को भी साथ ले गए और 5 जनवरी, 1946 को लिखना शुरू किया। उन्होंने एक विवरण अंग्रेजी में और दो बँगला में शुरू किए। वे अंग्रेजी में विस्तृत विवरण लिखने में सफल रहे। बँगला सरकार में 12 दिसंबर, 1941 से 20 नवंबर, 1942 तक वित्त मंत्री के तौर पर अपने अनुभव लिखे। बँगला के दो विवरणों में से एक में उन्होंने बचपन, आठ साल की उम्र तक, का वर्णन किया। दूसरे में उन्होंने अपने दिल को खोलकर रख दिया था। कोई भी महसूस कर सकता है कि उसने लेखक को रू-ब-रू देखा। उनकी डायरियों के संकलनकर्ता असीम कुमार दत्ता की टिप्पणी है कि संभवत: वे ऐसा इसलिए लिख रहे थे, ताकि संस्मरणों में सहायक साबित हों। जनता के लिए इतिहास लिखने, जब वह भविष्य में बैठेंगे तो इन विवरणों का इस्तेमाल कर सकेंगे। अफसोस! वह अवसर कभी नहीं आया।

उन्होंने अपने नितांत अकेलेपन के बारे में भी लिखा है—उन्होंने पत्नी को खो दिया, जब वह सिर्फ 31 साल के थे और उन्होंने कैसे उसे याद किया। उन्होंने अपने गुस्से के बारे में लिखा, जब उन्होंने कुछ लोगों में शर्महीन अहंवाद देखा, जब हिंदू महासभा के लिए वह चुनाव-प्रचार को आयोजित कर रहे थे। सबसे ऊपर, उन्होंने तब अपनी कुंठा व्यक्त की, जब पाया कि अपनी प्यारी मातृभूमि का विभाजन रोकने की उनकी तमाम कोशिशें बेकार गईं। देश उस अपरिहार्य नियति के रास्ते पर था। यह विवरण उनके जीवन-दर्शन की अंतर्दृष्टि देता है। वे किसी मूल पाठ या शिक्षक का संदर्भ नहीं देते; लेकिन कोई भी देख सकता है कि उनके मूल्यों का आधारभूत सिद्धांत 'भगवद्गीता' के उपदेशों में निस्स्वार्थ काम के सिद्धांत में निहित था।

जो समय नवंबर-दिसंबर 1945 के दौरान उन्होंने मधुपुर में बिताया, वह वाकई शांतिपूर्ण था और उसने उन्हें जीवंत बना दिया। यह चरण उन्हें अपने परिवार के करीब लाया। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह उनके लिए मुश्किल वक्त था। उनका दिल खुद ही अपनी मरम्मत कर रहा था और उन्होंने दिल को ऐसा करने का मौका देकर समझदारी दिखाई थी। लेकिन स्वास्थ्य में अब भी उतार-चढ़ाव हो रहे थे। एक से अधिक बार उन्होंने अपनी डायरी में शिकायत की थी कि वह अब भी बेहतर महसूस नहीं कर रहे हैं। 9 जनवरी की शाम को उन्होंने अपनी बँगला डायरी में लिखा था—"बीते दो दिनों से मैं अस्वस्थ महसूस कर रहा हूँ। मैं करीब आठ दिनों तक बिलकुल ठीक था। कल सुबह एक क्षणिक दर्द हुआ और वैसा ही दर्द शाम को दोबारा हुआ। जब मैं बिस्तर पर बैठा कुछ पत्र लिख रहा था, तभी दर्द ने चोट की। दर्द 5 मिनट तक रहा, लेकिन उस दौरान बढ़ता ही रहा। मैं साँस भी नहीं ले पा रहा था। यह क्यों होता है—क्या यह गैस है? मैं काफी किफायत से खाता हूँ और उसके बाद पाचन के लिए दवा भी लेता हूँ।"

उनकी बेचैनी अगले दिन कुछ और बढ़ गई, जब उन्होंने लिखा—"कल मुझे लिखना छोड़ना पड़ा। मेरे सीने में दर्द हालाँकि बहुत हलका था, लेकिन अचानक मैंने काँपना शुरू किया। ऐसा

पहले कभी नहीं हुआ था। मैंने खुद को एक चादर में लपेट लिया और आरामकुरसी पर बैठ गया, लेकिन मैं उसे और अधिक सहन नहीं कर पाया और बिस्तर पर चला गया। मैंने कई चादर, कंबल और एक रजाई से खुद को ढाँप लिया। मैंने ऊनी जुराबें पहनीं और गरम पानी का एक बैग लिया, लेकिन उनसे कोई भी मदद नहीं मिल सकी। मैंने डॉ. मजूमदार को बुलाया और उन्होंने लक्षणों की पहचान करके इसे मलेरिया बताया। इतना घूमने-फिरने के बावजूद मुझे पहले कभी मलेरिया नहीं हुआ था। रात्रि 10 बजे तक मुझे कोई राहत नहीं मिली। मुझे कंबल और रजाई हटाने की इच्छा नहीं हुई। आधी रात के आसपास बुखार कम हुआ, लेकिन पूरी रात मेरे सिर और शरीर में दर्द होता रहा। मैं सुबह तक सो नहीं सका। डॉक्टर ने कहा कि शायद विटामिन बी इंजेक्शन की एक बड़ी खुराक लेने के कारण ऐसा हुआ। इस सुबह मैं बहुत कमजोर महसूस कर रहा था। मेरा सिर बेहद भारी था, लेकिन बुखार नहीं था। मेरी भूख गायब थी। पूरे दिन मैं बिस्तर में ही पड़ा रहा। डॉक्टर देखने के लिए दो बार आया। बीते कल मेरी नाड़ी की दर 85 तक बढ़ गई थी, लेकिन आज गिरकर 64 तक आ गई थी। अब मैं मेज पर बैठा हूँ। कमरे में अँधेरा है, हालाँकि बाहर चंद्रमा की उजियाली है। आज कुछ ज्यादा गरम दिन है। आज मैं बिलकुल आराम से हूँ, लेकिन कौन जानता है कि कब तक मुझे यह कष्ट झेलना पड़ेगा? कौन जानता है कि मेरे भविष्य में क्या लिखा है?''

कलकत्ता के एक प्रमुख हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. शुवो दत्ता के मतानुसार, डॉ. मुकर्जी के सभी लक्षण अस्थिर एंजाइना की ओर संकेत करते हैं। उन्होंने सोचा कि 'गैस' ऐसे एंजाइना के मानक लक्षणों में से एक है और बंगालियों की खाने की आदतों के कारण यह उनमें बेहद सामान्य है।

14 तारीख तक वे बहुत अच्छे हो गए और उन्होंने लिखा—''पिछले दो दिनों से मैं कुछ अच्छा हूँ। सुबह और शाम में मैं सैर करने बाहर निकला। मेरी भूख में कुछ सुधार हुआ है। डॉक्टर हर रोज सुबह मुझे दलिया भेजता है। दोपहर का भोजन मुझे जोगेश बाबू के घर से भेजा जाता है। ज्ञान बाबू के घर से मिठाइयाँ भेजी जाती हैं। हर दिन मैं रात्रिक भोजन के लिए डॉक्टर के घर जाता हूँ।…'' यह स्वास्थ्य-लाभ सिर्फ दवाइयों के कारण ही नहीं था, क्योंकि तब कोई दवा नहीं दी जा रही थी। यह सिर्फ उनका जीवन-बल था, जो उन्हें बीमारी से बाहर खींच लाया था।

मधुपुर में बिताए उन दिनों ने न केवल उन्हें स्वस्थ किया, बल्कि उनके भीतर के विचारशील और अंतर्मुखी व्यक्ति को भी बाहर लाने में मदद की। मधुपुर में उन्होंने लगभग एक महीना गुजारा। उन्होंने अपनी डायरी पुनः लिखना शुरू किया। बीते कुछ सालों से वह अनियमित रूप से ही लिख पा रहे थे।

4 जनवरी को उन्होंने डायरी में जो दर्ज किया, उसमें उन्होंने अपने विश्वास का महत्त्वपूर्ण तथ्य लिखा था, जो गांधीवाद के प्रचलित सिद्धांत 'अहिंसा' के प्रत्यक्ष विरोध को स्पष्ट करता है—''अंतिम विश्लेषण में बल के लिए बल का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। सशस्त्र हिंसा के प्रतिरोध में अहिंसा की एक आंतरिक नीति अंततः किसी समाज को विघटन के लिए बाध्य कर देगी।''

यह बयान स्पष्ट रूप से डायरी में दर्ज अन्य विवरणों के संदर्भ से अलग था, लेकिन देश की तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में बहुत सटीक था। यह दिन की पहली प्रविष्टि अंग्रेजी में थी और उससे एकदम अगला वाक्य बँगला में था, जिसका एक-दूसरे से कोई लेना-देना नहीं था। वह किसी रहस्योद्घाटन जैसा लगता था, जिससे किसी की भी आँखें आश्चर्य से खुली की खुली रह

सकती थीं। बेशक वह बीते कुछ दिनों में हिंदू-मुसलिम तनाव के बारे में सोच रहे थे। यह दिन के उजाले की तरह स्पष्ट था कि उनकी हार हिंदू-मुसलिम लाइन पर सियासत के पूर्ण ध्रुवीकरण का परिणाम थी। कुछ ऐसी सियासत, जिससे प्रत्येक सच्चा देशभक्त भयभीत होता है। इसने उन्हें निराश और सचेत किया होगा कि मतदाताओं ने 'विजेता, सबकुछ लो' के मूड में कांग्रेस में अपना विश्वास जताया था। प्रत्यक्ष यह देखते हुए भी कि कांग्रेस मुसलिमों के भीषण आक्रमण से हिंदुओं को बचाने के लिए छोटी उँगली तक नहीं उठाएगी। 'मुसलिम-विरोधी या सांप्रदायिक' करार दिए जाने के डर से कांग्रेस ऐसी परिस्थिति में चुप रहेगी। उन्होंने अपनी आंतरिक आँखों से उस कौंध को देख लिया होगा कि भविष्य में क्या होनेवाला है? धीरे-धीरे मुसलिम लीग का रवैया कड़ा होना, जीत का पहले ही रसास्वादन करना और उसकी अंतिम, निर्मम चाल 'प्रत्यक्ष काररवाई' या कलकत्ता की भीषण हत्याएँ, नोआखाली नरसंहार, बिहार में प्रतिक्रिया और अंततः कांग्रेस का आत्मसमर्पण, विभाजन को स्वीकृति, पंजाब का कत्लेआम।

मानव मस्तिष्क एक क्षणांश में असंख्य मीलों की यात्रा कर सकता है। यह वायु से भी तीव्र चलता है, यह ज्येष्ठ पांडव व धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने वनवास के दौरान कहा था। उन्होंने एक यक्ष के प्रश्न के जवाब में ऐसा कहा था। एक सरोवर से पानी पीने से पहले यक्ष ने उनसे ये सवाल पूछे थे। संभवतः वह स्थान कटासराज था, जो अब पाकिस्तानी पंजाब में है। युधिष्ठिर के सभी भाई मृत हो गए थे, क्योंकि उन्होंने यक्ष के सवालों के जवाब नहीं दिए थे। युधिष्ठिर ने जवाब दिए और सभी भाइयों को जीवित करा लिया। यह महाकाव्य 'महाभारत' में उल्लिखित एक कथा है। ऐसा आकस्मिक रहस्योद्घाटन, जो एक विषय से दूसरे असंबद्ध विषय तक प्रकाश की गति से मस्तिष्क में कौंधने के कारण हुआ। डायरी में उस प्रविष्टि की व्याख्या इसी तरह की है। आज ऐसी चीजों को मानस-तरंगें कहा जाता है। संदेह से परे यह अभिव्यक्ति वाकई एक मानसिक दूरदर्शिता थी।

यही विचार छह दिनों के बाद एक बार फिर उन्होंने प्रतिध्वनित किए। 10 जनवरी की बँगला डायरी में उन्होंने वह लिखा, जो लिखने लायक नहीं था और वह बोला, जो बोलने लायक नहीं था—''इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता, यदि दोनों समूह (यानी हिंदू व मुसलिम) भारतीय संस्कृति को सँभालकर रखने के लिए साझा तौर पर काम करें और अपने-अपने आस्था-विश्वासों के मुताबिक मित्रता से रहें। लेकिन हिंदू चिंतित नहीं हैं कि वे खुद कैसे रक्षा करेंगे, यदि मुसलिम अति उत्साही हुए और उनपर प्रभावी होने की कोशिश की। यदि ऐसा हुआ तो हिंदू-मुसलिम समस्या, गृहयुद्ध के बिना, कभी भी नहीं सुलझेगी (लेखक ने विशेष जोर देकर कहा)। हम गृहयुद्ध नहीं चाहते। लेकिन यदि दूसरे पक्ष ने खुद को तैयार रखा और हम सतर्क रहकर अपनी रक्षा नहीं कर सके तो हम पराजित होंगे। कांग्रेस हिंदू-मुसलिम समस्या सुलझाने में न केवल नाकाम रही, बल्कि वह कभी भी ऐसा करने में समर्थ नहीं होगी। समस्या आपसी समझदारी या समझौते से सुलझाई जा सकती थी या मैत्रीपूर्ण पुनर्मिलन से अथवा शक्ति-परीक्षण के जरिए।

''यदि कोई समझौता नहीं होता तो ज्यादा ताकतवर पक्ष विजेता के तौर पर उभरेगा। कैसे एक संगठन, जो हिंदू समर्थन पर बना था, के लिए हिंदू हितों को थामे रखना पाप या गुनाह माना जा सकता है? उस संगठन से लड़ने का भी पाप उसपर थोपा जा सकता है, जो मुसलिम वर्चस्व को

स्थापित करने को समर्पित रहा था? इस तथ्य से ज्यादा त्रासद और क्या हो सकता था कि हिंदू अपने बौद्धिक और वित्तीय संसाधनों के बावजूद इस साधारण सत्य को समझने में नाकाम रहे? इसलाम में एकता और समानता की असाधारण भावना है, जिसकी हिंदू धर्म में व्यापक कमी है। जाति, पंथ या धर्म के आधार पर मतभेदों ने एक हिंदू को दूसरे के प्रति सहानुभूति से दूर रखा। दूसरी ओर, एक मुसलिम ने दूसरे के प्रति हमेशा ही जुड़ाव महसूस किया—बेशक वह कहीं का भी हो, वह मुसलिम भारत या विश्व के किसी भी हिस्से से आता हो।''

डॉ. मुकर्जी के स्वभाव में दोगलापन नहीं था। आज भारत में उन्हें 'धर्मनिरपेक्ष' और दुनिया भर में 'राजनीतिक दृष्टि से सही' के रूप में जाना जाता है। यदि उन्होंने दोगला बनने की कोशिश भी की होगी तो वे बन नहीं पाए। ईश्वर ने उन्हें उस ढंग से गढ़ा नहीं होगा। ये अति साहसी और जोखिमपूर्ण शब्द न केवल सत्य थे, बल्कि भविष्यवाणी भी थे। मात्र सात महीने बाद ही बंगाल की घटनाओं से यह साबित भी हुआ। दरअसल उसी साल जिन्ना ने 16 अगस्त को कलकत्ता में 'प्रत्यक्ष काररवाई' का जो मुद्दा उठाया था और उसके बाद अक्तूबर में नोआखाली नरसंहार किसी गृहयुद्ध से कम नहीं था और जिन्ना ने वह जंग जीती, क्योंकि वे तैयार थे। उनकी जीत का इनाम ही पाकिस्तान था।

डॉ. मुकर्जी का गृहयुद्ध का संदर्भ कुछ दिलचस्प सवाल उठाता है। क्या होता, यदि वास्तव में गृहयुद्ध होता? क्या उससे विभाजन रोका जा सकता था? यदि वह ऐसा कर सकता था तो क्या ऐसा युद्ध संभव था? एक उदाहरण में कमोबेश उसने विभाजन को रोका। जब अब्राहम लिंकन युद्ध में गए और संयुक्त राज्यों को एकजुट रखने में कामयाब रहे। अभी तक दुनिया में धार्मिक आधार पर तीन विभाजन हुए हैं—भारत और पाकिस्तान, फिलिस्तीन का इजराइल व जॉर्डन के रूप में विभाजन और ब्रिटेन-शासित आयरलैंड का विभाजन। प्रोटेस्टेंट बहुल उत्तरी आयरलैंड और कैथोलिक बहुल रिपब्लिक ऑफ आयरलैंड। पहले दो देशों के संदर्भ में इसलाम एक बड़ा मुद्दा था। अब भी विभाजित देशों के बीच सशस्त्र संघर्ष जारी रहता है और कभी-कभार वे युद्ध की स्थिति तक आ जाते हैं। तीसरा देश, जो कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट आयरलैंड के बीच विभाजित हुआ, हाल तक तीखी धार्मिक झड़पों और संघर्ष से प्रभावित रहा है। हालाँकि ब्रिटेन और आयरलैंड के बीच कभी भी गंभीर सशस्त्र लड़ाई नहीं हुई। दूसरे शब्दों में, विभाजन ने कोई भी समस्या नहीं सुलझाई, ऐसा प्रतीत होता है। हालात पर विचार करते हुए क्या गृहयुद्ध लड़ना बेहतर नहीं होता, जिसमें हिंदू, जो विभाजन के खिलाफ थे, निश्चित तौर पर विजयी होते; क्योंकि उनकी संख्या अत्यधिक थी? और शायद यह देश संयुक्त बना रहता!

लेकिन डॉ. मुकर्जी के सभी विचार इतने विश्लेषणात्मक नहीं थे। तारों से जगमग आकाश के नीचे एकांत और नीरव खामोशी के समय में वे मानवीय प्रयासों की लघुता से अभिभूत हो जाते थे और खुद को अनन्य ताकतों के हाथों में महज एक कठपुतली महसूस करते तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर को सर्वस्व समर्पण में ही आराम पा सकते थे। इन वाक्यों पर विचार करो—''ओह, दयावान ईश्वर! अपने भीतर अपनी झलक पाने दो मुझे। मैं अपने लिए किसी भी चीज के लिए नहीं कहता। सिर्फ मुझे अपने चरणों में जगह दो। मुझे उठाओ और अपने अंक में ले लो। मुझे शक्ति दो और आपकी प्रार्थना करने की साध दो। मैंने बहुत पाप, गुनाह किए हैं और क्षणिक संतुष्टि के लिए

अकसर झूठ की शरण ली है। ऐसा कुछ नहीं है, जो आप नहीं जानते। अपनी असीम कृपा में मुझे माफ कर दो और मुझे पुनः पथभ्रष्ट न होने की प्रेरणा दो। मुझे निरर्थकता और अहं से मुक्ति दो। दूसरों की सेवा के लिए खुद को समर्पित करने में मेरी सहायता करो और शेष जीवन के लिए मेरी सर्वश्रेष्ठ योग्यता के अनुसार ईश्वरीय इच्छा का पालन करने में मदद करो। मैं इससे दुःखी नहीं होऊँगा, यदि आप मुझे किसी विशेष उद्देश्य की सेवा न करने देना चाहेंगे। मैं प्रसिद्धि और गौरव के पीछे नहीं पड़ा हूँ। मुझे अपने पास रहने दो। अपने चरणों में शरण दो, मुझे उस अज्ञात जगह ले चलो और मेरे मस्तिष्क को अपनी शांति के भाव से भर दो। आप जानते हैं कि मैं अब भी किसे प्यार करता हूँ और किसकी चिंता करता हूँ। मैं उनसे किसी भी चीज का दावा नहीं करता। मैं उनकी भलाई के लिए शुभकामनाएँ देता हूँ। मेरे मन की साध है कि आपको देखूँ, लेकिन मैं उसे संयत करने की सर्वश्रेष्ठ कोशिशें कर रहा हूँ। मैंने इस संसार की निरर्थकता महसूस कर ली है। आज यहाँ हैं, कल चले जाना है—यही जीवन की प्रक्रिया है। तो ऐसी मामूली, नगण्य चीजों पर हो-हल्ला या शिकायत क्यों? हम रास्ते के सिर्फ यात्री हैं। हम और जानवरों के बीच क्या अंतर है, यदि इस पृथ्वी पर मिले समय को भी हवस और लालच के दलदल में डूबकर गुजारें। मैंने अकसर जानवरों के नैसर्गिक व्यवहार को देखा है। यदि आदमी, जिसके पास आत्मा है और परमात्मा को पहचान सकता है, हर चीज को भूल जाए और इन बुनियादी धंधों में संलिप्त रहे, तो इससे ज्यादा त्रासद क्या हो सकता है!

''ओह परमात्मा! मेरे भीतर एक नई भावना जगाओ। अपनी प्रार्थना करने की मुझे ताकत दो। यह मेरी प्रार्थना है। मैं अपने दिमाग में इस विचार के साथ रात में सोने जाऊँ—'ओह दयावान, आदमी के दिलों को प्यार से भर दो। घृणा मेरे दिल को कलुषित न करे। मैं जानता हूँ कि मेरा जीवन-दीप अचानक ही बुझ जाएगा। इससे मैं दुःखी और उदास नहीं होता, लेकिन उससे पहले मैं अपने मन को ईश्वर के प्रति समर्पित होने के लिए तैयार करना चाहता हूँ।''

और एक बार फिर, ''एक और दिन गुजर गया है। इस शाम को मैंने कुछ पढ़ा है। मैं पूरे दिन कुछ भी नहीं लिख सका। यह शांत चाँदनी रात अतीत की कई घटनाओं की याद दिला देती है। कुछ रातों से मैं प्रार्थना कर रहा हूँ, अपनी आत्मा को आपके सामने उड़ेल रहा हूँ। मेरी आँखें आँसुओं से भरी हैं, मुझे शरण दो। यदि आप मुझे अपनी शरण में लेना चाहते हैं तो आज ही ले जाएँ। मैं पश्चात्ताप की टीस महसूस तक नहीं करूँगा। मैं खुशी से अपनी जिंदगी के दीपक की लौ बुझा दूँगा। लेकिन यदि आप चाहते हैं कि मैं अभी कुछ देर और रुकूँ तो मुझे शांति दो। आप में अपने विश्वास को दोबारा हासिल करने की मुझे अनुमति दो। मुझे यह विश्वास करने दो कि आप मेरे हो, कि आप बेघर के शरणदाता हो, कि भिखारियों के राजा हो, कि मित्रहीनों के मित्र हो, आप खोए हुए यात्रियों के लिए मार्गदर्शक हो, नेत्रहीन की दृष्टि हो, अनाड़ी के लिए बौद्धिकता हो और गरीब के मित्र हो। ये विचार मुझे आनंद से भर देते हैं; लेकिन यह मेरे लिए हमेशा संभव नहीं है कि अपने मन को संयत रखूँ और 'उसमें अपनी आस्था से ताकत बटोरता रहूँ।' चिंताएँ आती रहती हैं, अशांत भावनाएँ मेरे दिल को कष्ट देती हैं और हैरान हूँ कि मैं इतनी निराशा महसूस क्यों करता हूँ।'' लिहाजा आज की रात मेरी प्रार्थना यह है—''ओह दयावान, आओ और मुझे अपना बना लो, मुझे रास्ता दिखाओ और मुझे जाग्रत् करो! मुझे महसूस करने दो कि आप में निमग्न रहने से बड़ी शांति कोई नहीं है। मैं किसी

के प्रति अपने गुस्से और कड़वाहट को छिपाना नहीं चाहता। जो कुछ भी मैंने इस जीवन में किसी से हासिल किया है, वह मुझे आभार से भर देता है। जो लोग मुझे कुछ तसल्ली दे सकते थे, यदि वे इस क्षण मेरे साथ नहीं हैं तो उनके प्रति मेरी कोई जलन नहीं है। ईश्वर प्रत्येक को आशीर्वाद दे।' ये विचार मेरे दिल को लबालब भर देते हैं।''

डॉ. मुकर्जी यहाँ अपने निजी धर्म या हिंदूवाद की अपनी व्याख्या का अनुपालन करते लगते हैं। उसे 'अद्वैतवाद' कहा जा सकता है, साधक और साध्य की पहचान, अपने भीतर से परमात्मा की प्रार्थना करना, सभी धर्मों के पुट के साथ, जिनमें एक ही ईश्वर की प्रार्थना की जाती है (जिसके साथ गंभीरता से ईशनिंदा या धर्मनिंदा के बिना किसी एक की पहचान की कोई गुंजाइश नहीं है)। जैसा कि अध्याय 1 में पहले ही खुलासा किया जा चुका है। हिंदू धर्म में ऐसी निजी व्याख्या का कोई बंधन नहीं, यहाँ तक कि एक ही मन में दो विश्वासों के बीच जीवाणु-साहचर्य के लिए भी कोई बंधन नहीं। लेकिन सबके ऊपर, इन सभी के जरिए एक इनसान की मानवीयता ही चमकती है।

इस सबके बीच डॉ. मुकर्जी की नातिन मंजू, 19 जनवरी को वह जमशेदपुर से अपने माता-पिता के संग आई थी। वे उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सके कि किस तरह सिर्फ छह साल की बच्ची ने अपने दाँतों से चबाकर भोजन खाना सीखा था। ''एक प्यारे बच्चे के तौर पर वह बड़ी हुई थी, जीवन से भरपूर लोगों के बारे में कुछ नकचढ़ी! उसने अपनी 'दीदीमनी', यानी नानी के दो चित्रों पर आँखें फाड़कर देखा, उन्हें उठाया, उलटा-पलटा और उन्हें चूम लिया।'' और इस प्रकरण से डॉ. मुकर्जी की आँखों में आँसू छलक आए होंगे। उन्होंने सोचा, ''मैं चाहता हूँ कि सुधा यहाँ होती! अपनी नातिन को देखकर वह कितना खुश होती!''

मधुपुर में वह स्वस्थ हुए तो उन्होंने बेचैन होना शुरू कर दिया और राजनीति की व्यस्त दुनिया के लिए भी लालसा होने लगी और अवसर बहुत जल्द ही आ गया, जब यह घोषणा की गई कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा भारत में भेजा गया एक ब्रिटिश संसदीय प्रतिनिधिमंडल कलकत्ता आ रहा है। प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व प्रोफेसर रॉबर्ट रिचर्ड्स कर रहे थे, जो पहले भारत के लिए 'अंडर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' थे। तब डॉ. मुकर्जी को एक तार मिला कि प्रतिनिधिमंडल ने उनसे मिलने की इच्छा जताई है और उन्होंने तुरंत मुलाकात का समय दे दिया। 27 जनवरी, 1946 को उन्होंने कलकत्ता जाने के लिए मधुपुर छोड़ दिया और उसी दिन वहाँ पहुँच गए; लेकिन मधुपुर को एक भावुक विदाई दिए बिना वे वहाँ से रवाना नहीं हुए, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है—''अलविदा मधुपुर! मैंने इस घर में एक महीना बिताया है। तुम्हारे प्रति आभार व्यक्त करते हुए इस ठहराव का मुझे अंत करने दो। इस दौरान जो कुछ भी मैंने हासिल किया है, उसके लिए भी मधुपुर तुम्हारा आभार!''

□

8

ग्रेट कलकत्ता एवं नोआखाली नरसंहार

(1946)

उसी दौरान बंगाल में एक और खेल शुरू हुआ। वह एकमात्र प्रदेश था, जहाँ मुसलिम लीग की हुकूमत थी। सन् 1946 में सोहरावर्दी को बंगाल का मुख्यमंत्री बनाया गया था। सर नजीमुद्दीन के खिलाफ वह आंतरिक संघर्ष के बावजूद जीत गया था। भारत को एक अलग किस्म की क्रूरता और पशुता जल्दी ही देखनी थी। भारत में जिन्ना और मुसलिम लीग की 'प्रत्यक्ष कारवाई' और ग्रेट कलकत्ता की हत्याओं को दुनिया भी देखने वाली थी। उसी दौरान बंगाल के ऑस्ट्रेलियाई गवर्नर कासे को बदलकर फ्रेडरिक बरोज को नियुक्त किया गया। वह ब्रिटिश रेलवे में गार्ड और मजदूर संगठन के नेता थे। गवर्नर और सोहरावर्दी के बीच अच्छे संबंध थे।

हालाँकि जिन्ना ने 'प्रत्यक्ष काररवाई' का ऐलान जुलाई 1946 में किया था, लेकिन वे इसकी पहले से ही योजना बना रहे होंगे! इसकी शुरुआत बहुत पहले ही 1945 के आखिरी हिस्से में तब हो चुकी थी, जब सोहरावर्दी ने कलकत्ता पुलिस के ढाँचे में बदलाव का फैसला लिया था। पुलिस मुख्यालय, लाल बाजार में कई पद बनाए गए और थानों के हिंदू अफसर-प्रभारी का वहाँ से तबादला किया गया तथा थानों में मुसलिम अफसर नियुक्त कर दिए गए। कांस्टेबलों की भरती ए.बी.सी.डी. नियम के तहत होती थी, जिसके मायने थे—आरा, बलिया, छपरा और देवरिया। ये इलाके संयुक्त प्रदेश के आसपास के थे, जो बिहार और उत्तर प्रदेश के थे। आमतौर पर इन इलाकों के लोग हट्टे-कट्टे और वफादार समझे जाते थे, जो कांस्टेबल की नौकरी के लिए अच्छे और जरूरी माने जाते थे। लेकिन सोहरावर्दी को इनके बारे में एक समस्या थी। वे पूर्णत: हिंदू और भगवान् हनुमान के भक्त थे, जो शक्ति, पौरुष और अमर निष्ठा के प्रतीक माने जाते हैं। सोहरावर्दी के दिमाग में एक खयाल था कि अपनी साजिश को अमल में लाने के लिए इन हिंदूवादियों पर भरोसा कैसे किया जाए?

सोहरावर्दी जानता था कि इन पुलिसवालों की मदद से वह हत्याओं को संचालित नहीं कर सकता। लिहाजा इस समस्या से निजात पाने के लिए वह आई.सी.एस. अफसर नियाज मुहम्मद खान की ओर मुड़ा। मिदनापुर के जिला मजिस्ट्रेट के तौर पर खान 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भाग लेनेवालों को सबक सिखाने की गवर्नर हरबर्ट की रणनीति को अमल में लाया था। कलकत्ता

पुलिस के मुसलिमीकरण का विचार किया गया। विशेष रूप से कलकत्ता पुलिस ही क्यों? क्योंकि कलकत्ता का चुनाव मुसलिम लीग ने गुप्त रूप से पहले ही कर लिया था कि वहाँ नरसंहार करना है।

आखिर वह 16 अगस्त, 1946 को हुआ, जिसे 'सीधी काररवाई' या 'ग्रेट कलकत्ता हत्याएँ' कहा गया। नियाज मुहम्मद खान ने सोहरावर्दी के आदेश पर उत्तर-पश्चिम सीमांत क्षेत्र तक यात्रा की, ताकि पंजाबी मुसलिमों और पठान कांस्टेबलों की कलकत्ता पुलिस में भरती की जा सके। पठान पश्तो बोलनेवाले मुसलिम कबायली या जनजातीय हैं, जो मौजूदा अफगान-पाक सीमांत क्षेत्र की पहाड़ियों में बसे हुए हैं। वे अफरीदी, मोहम्मद, वजीरी, खट्टक और यूसुफजई आदि बड़ी संख्या में कबीलों में बँटे हैं। विभिन्न कबीले या समूहों के बीच खूनी खेल आज भी आम बात है। ये कबायली स्वाभाविक तौर पर बर्बर और क्रूर होते हैं। दरअसल भारत की तत्कालीन ब्रिटिश जेलों में तीसरे दर्जे के दंड के लिए उनका खूब इस्तेमाल किया जाता रहा था। खान अब्दुल गफ्फार और उनकी 'खुदाई खिदमतगार' पार्टी के नेतृत्व में उनकी एक अच्छी-खासी संख्या उदार बन गई और भारतीय मुख्यधारा के करीब आई। लेकिन पेशावर और कोहाट शहरों को छोड़कर दूर-दराज में रहनेवालों पर इसका कोई फर्क नहीं था। एक और खास लक्षण था, जिसका उल्लेख किया जाना चाहिए। चूँकि वहाँ औरतों को बड़ी सख्ती से परदे में रखा जाता था। अफगानिस्तान, पाकिस्तान व तालिबान भी इन्हीं में से हैं। ये न तो औरतों का सम्मान ही करते थे और न ही औरतों को बिना परदे में देखने के आदी थे। इसके कुछ बेहद घृणित नतीजे सामने आए, जिनमें से एक का खुलासा नीचे किया गया है।

हैरिसन रोड (अब महात्मा गांधी रोड) कलकत्ता के मुख्य मार्गों में से एक है। वह सियालदह और हावड़ा के दो रेलवे स्टेशनों को जोड़ता है। इस सड़क पर परिसर नंबर 100 एक छह मंजिला भवन है, जिसमें हिंदू परिवार रहते थे और एक नर्स हॉस्टल भी था। भवन अब भी वहीं है—कमोबेश अपरिवर्तित ही है। भवन हिंदू-मुसलिम वर्चस्व के इलाकों की बिलकुल सीमा पर ही स्थित था। एक दिन कई पठान पुलिसवाले 100, हैरिसन रोड में घुस आए और नर्सों समेत कई औरतों के साथ सामूहिक बलात्कार किया। खूब हंगामा मचा, लेकिन किसी को सजा नहीं दी गई। प्रदेश के हिंदुओं ने बंगाल प्रदेश के विभाजन का समर्थन क्यों किया? उसका एक कारण उन मुसलिम पुलिस कर्मियों का दुर्व्यवहार भी था, जो प्रदेश सरकार ने हाल ही में भरती किए थे।

वरिष्ठ अधिकारियों के स्तर पर भी महत्त्वपूर्ण बदलाव किए गए। राज्य पुलिस के एक कट्टर धर्मांध मुसलिम लीग समर्थक अफसर मुहम्मद शम्स-उद-दोहा, को उपायुक्त (मुख्यालय) के तौर पर कलकत्ता पुलिस में नियुक्त किया गया। परंपरा से इस महत्त्वपूर्ण पद पर अंग्रेज अफसर को ही नियुक्त किया जाता रहा था। कलकत्ता पुलिस में पुलिस अफसरों के दो अलग-अलग कैडर थे—जाँच संबंधी और गैर-जाँच संबंधी। पहले कैडर में अभी तक अधिकतर बंगाली हिंदू सब-इंस्पेक्टर और इंस्पेक्टर थे। उनके स्थान पर योजनाबद्ध ढंग से मुसलिम अफसरों को नियुक्त किया गया व उन्हें पुलिस स्टेशनों का प्रभारी भी बनाया गया था। गैर-जाँच वाले पदों, खासकर शांति-व्यवस्था स्थापित करनेवाले अफसरों में अधिकतर एंग्लो-इंडियन को नियुक्त किया गया। यह क्रम लगातार चलता रहा।

डॉ. मुकर्जी सबकुछ समझते हुए भी असहाय थे, क्योंकि उन्हें अधिकतर हिंदुओं का समर्थन हासिल नहीं था। दिसंबर 1945 के सेंट्रल एसेंबली चुनावों में एक नगण्य कांग्रेसी नेता के हाथों उनकी अपमानजनक हार का पहले उल्लेख किया जा चुका है। बाद में सन् 1946 में उन्होंने यूनिवर्सिटी चुनाव क्षेत्र से चुनाव लड़ा और प्रदेश की विधानसभा में प्रवेश किया। अधिकतर मुसलमान घोर सांप्रदायिक 'लीग' के पीछे एकजुट खड़े थे, लिहाजा मुसलिम लीग को 119 मुसलिम सीटों में से 113 प्राप्त हुईं।

उसके विपरीत, अधिकतर हिंदुओं ने कांग्रेस को समर्थन दिया, ऐसे लोगों ने भी उनका साथ दिया जिन्होंने पूर्व में कभी भी उनका पक्ष नहीं लिया था। परंतु लीग सरकार के घोर अन्यायों के खिलाफ कांग्रेस ने हिंदुओं के लिए कुछ नहीं किया। डॉ. मुकर्जी के नेतृत्व के बावजूद हिंदुओं द्वारा हिंदू महासभा का समर्थन न करने के कारण महासभा राजनीतिक दृष्टि से बिलकुल कमजोर हो गई थी। इसके अलावा, युद्ध की समाप्ति के बाद जेल से कांग्रेसी नेताओं की रिहाई ने उन्हें एक अलग किस्म का प्रभामंडल दिया। एक शहीद का प्रभामंडल और देशभक्ति के उभार ने कांग्रेस के पक्ष में पूरे हिंदू समाज को खड़ा कर दिया। परिणामस्वरूप सन् 1945 के चुनावों में महासभा ने अपना संपूर्ण हिंदू आधार ही खो दिया। जहाँ महासभा का हिंदू हितों व उसके सरोकारों की हिमायत करना बेकार हो गया। जहाँ कांग्रेस, जिसने कभी भी हिंदू हितों का समर्थन नहीं किया। अपनी इस छवि पर विश्वास कर वह हिंदू-मुसलिमों का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती है। समाज ने स्वयं को ही आत्मघाती धोखा दिया, वहीं मुसलिम समाज को दोनों ही पक्षों में लाभ हुआ। डायरी में दर्ज डॉ. मुकर्जी के आक्रोशपूर्ण के शब्दों को याद करें—"कांग्रेस, जो हिंदू के ही समर्थन पर बनी थी, फिर भी वह हिंदू हितों के लिए आवाज उठाने को पाप या गुनाह मानती थी; वह लीग सरीखे संगठन से लड़ना भी अपराध मानती थी, जो कि मुसलिम वर्चस्व को स्थापित करने को समर्पित थी!"

अपनी सामर्थ्य के भीतर डॉ. मुकर्जी ने वह सबकुछ करने की कोशिश की, जो वे कर सकते थे। सुकुमार बनर्जी जो पश्चिम बंगाल भाजपा के प्रदेश अध्यक्ष रहे, ने बहुत समय पश्चात् यह संस्मरण सुनाया कि वे कैसे कुछ छोटे-छोटे हथियार हुगली जिले में मनकुंडू के एक पते से कलकत्ता में दंगों से त्रस्त हिंदुओं की आत्मरक्षा के लिए लेकर गए।

इन्हीं दिनों युद्ध के पश्चात् हुई ब्रिटिश संसदीय चुनाव में कंजरवेटिव पार्टी हार गई व लेबर पार्टी के क्लेमेंट एटली प्रधानमंत्री बने। पूर्ववर्ती प्रधानमंत्री चर्चिल के विपरीत वे भारत की तुरंत स्वतंत्रता के पक्षधर थे। भारतीय स्वतंत्रता के संदर्भ में एटली का पहला कदम था। 1946 के शुरू में एक सर्वदलीय संसदीय प्रतिनिधिमंडल भारतीय नेताओं से मिलने भारत भेजना, ताकि उन्हें विश्वास दिलाया जा सके कि ब्रिटिश संसद् भारत की स्वाधीनता के मुद्दे को शीघ्र निपटारे की इच्छुक है। इसी प्रतिनिधिमंडल से मिलने की इच्छा से डॉ. मुकर्जी ने मधुपुर से विदाई ली।

दस सदस्यीय संसदीय प्रतिनिधिमंडल 5 जनवरी, 1946 को भारत पहुँचा। इनमें 8 हाउस ऑफ कॉमंस से और 2 हाउस ऑफ लॉर्ड्स से। प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व लेबर पार्टी के सांसद प्रो. राबर्ट रिचर्ड्स थे, जो 1924 में भारत के अंडर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट रहे थे। प्रतिनिधिमंडल के प्रवास की पूर्व संध्या पर ही सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने कांग्रेस और मुसलिम लीग के अध्यक्षों को

सूचित किया कि प्रतिनिधिमंडल का बुनियादी मकसद बातचीत करना है। सांसद अनौपचारिक यात्रा पर आ रहे हैं। ब्रिटिश सरकार के अधिकृत प्रतिनिधि के नाते उन्हें काम करने की शक्ति नहीं दी गई है; लेकिन उनके निष्कर्षों को सांसदों व मंत्रिमंडल के सदस्यों तक अवश्य पहुँचाया जाएगा। उन्होंने यह भी अपेक्षा की कि प्रतिनिधिमंडल को पूर्ण सहयोग दिया जाएगा। संसदीय प्रतिनिधिमंडल करीब एक माह के लिए भारत में रहा। वह लगभग तमाम महत्त्वपूर्ण राजनेताओं से मिला और उसके सदस्यों की हर जगह सौहार्द व मित्रतापूर्ण अगवानी की गई।

दूसरे चरण में एटली ने पूर्ण अधिकारों के साथ कांग्रेस और मुसलिम लीग के साथ शर्तों की बातचीत के लिए कैबिनेट मिशन को भेजा। इसे प्रतिनिधिमंडल में भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लॉर्ड पेथिक लॉरेंस, 1942 के क्रिप्स मिशन के सर स्टेफोर्ड क्रिप्स और व्यापार बोर्ड के चेयरमैन एवं ब्रिटिश सामंत (विस्काउंट) ए.वी. एलेक्जेंडर, नौसेना विभाग के प्रथम लॉर्ड शामिल थे। मिशन 23 मार्च, 1946 को भारत आया और विभिन्न राजनीतिक दलों, अन्य संगठनों एवं चुनिंदा व्यक्तियों के साथ उन्होंने मई माह तक अनेक बैठकें कीं।

जहाँ बातचीत मुख्यतः कांग्रेस और मुसलिम लीग के साथ थी; वहीं हिंदू महासभा के साथ भी उन्होंने चर्चा की, जिसमें डॉ. मुकर्जी के साथ एल.बी. भोपटकर भी शामिल हुए। उन्होंने एक ज्ञापन दिया, जिसमें अनुरोध किया गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य से भारत को तुरंत मुक्त और स्वतंत्र घोषित किया जाए, किसी भी कीमत पर देश की एकता, समग्रता और अविभाज्यता को बरकरार रखा जाए व विभाजन आर्थिक तौर पर दोषपूर्ण, विनाशकारी, राजनीतिक तौर पर मूर्खतापूर्ण और आत्मघाती होगा। महासभा किसी भी ऐसे सुझाव पर सहमत नहीं होगी कि हिंदू व मुसलिम को समानता के आधार पर केंद्र सरकार में प्रतिनिधित्व दिया जाए। डॉ. मुकर्जी ने जोर देकर कहा कि महासभा पाकिस्तान के मुद्दे पर समझौता नहीं करेगी। उन्होंने अपने निजी विचार व्यक्तिगत बातचीत 1943 में जिन्ना के सामने रखी थी। उनका मत था कि दोनों समुदायों के प्रतिनिधियों को परस्पर बैठकर यह खुलासा करना चाहिए कि वे किस संदर्भ में एक-दूसरे से अपने बचाव के लिए किस प्रकार की अपेक्षा रखते हैं। महासभा इस मत की थी कि प्रांतों को पूर्ण स्वायत्तता दी जाए व धर्म, भाषा व रीति-रिवाजों के संदर्भ में अल्पसंख्यकों को अधिकतम सुरक्षा दी जाएगी।

सभी संबद्ध पक्षों को सुनने के बाद मिशन ने कुछ प्रस्ताव तैयार किए, इन्हें सामान्यतः 'ग्रुपिंग प्लान' के तौर पर जाना जाता है। उसमें देश के विभाजन का प्रस्ताव नहीं था। प्रस्तावों का सार यह था कि देश की रचना संघीय राजनीति के तौर पर की जाएगी, जिसके तहत प्रांतों को शेष शक्तियाँ दी जाएँगी। प्रांतों को भौगोलिक स्थिति और आबादी के धार्मिक स्वरूप के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जाएगा।

कांग्रेस ने कमोबेश खुशी-खुशी और मुसलिम लीग ने कुछ अनिच्छा के साथ प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। हालाँकि कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू ने 10 जुलाई को बंबई में एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में घोषणा की कि कांग्रेस संविधान सभा में प्रवेश करेगी—समझौतों से पूरी तरह बंधन-मुक्त होते हुए और आनेवाली तमाम स्थितियों का आजादी से सामना करते हुए। मिशन के प्रस्ताव के अनुसार, प्रांतों का वर्गीकरण कारगर नहीं होगा। जब सवाल किया गया कि क्या कैबिनेट मिशन की योजना में संशोधन किया जा सकेगा, तो नेहरू ने जोरदार शब्दों में जवाब

दिया कि कांग्रेस सिर्फ संविधान सभा में भाग लेने पर सहमत हुई थी और अपने संदर्भ में कैबिनेट मिशन की योजना को बदलने या संशोधित करने में वह स्वतंत्र है, जैसा उसे उचित लगेगा। इसके परिणामस्वरूप मुसलिम लीग ने 29 जुलाई को कैबिनेट मिशन प्रस्तावों को दी गई अपनी स्वीकृति वापस ले ली और पाकिस्तान की अपनी माँग पर पुनः लौट आई। मौलाना अबुल कलाम आजाद कांग्रेस में कहीं अधिक एक प्रमुख मुसलिम नेता थे और युद्ध के वर्षों (1940-46) में दौरान पार्टी अध्यक्ष थे। जिन्ना उन्हें कांग्रेस का 'मुसलिम शो ब्वॉय' कहकर उनका मखौल उड़ाते थे। अपनी आत्मकथा 'इंडिया विन्स फ्रीडम' में उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के काम को 'आश्चर्यजनक बयान' करार दिया और एक ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटना बताया, जिसने इतिहास को बदल दिया। यह पुस्तक 1958 में उनकी मौत के बाद छपी थी। लेकिन उनकी इच्छाओं के मुताबिक पुस्तक के 30 पन्ने रोक लिये गए थे। वे 30 साल बाद छपे।

पुस्तक के इस हिस्से में वे लिखते हैं—''जवाहरलाल नेहरू मेरे सबसे प्यारे दोस्तों में एक थे और भारत के राजनीतिक जीवन में उनका योगदान अद्वितीय था। फिर भी, मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि ऐसा पहली बार नहीं हुआ था कि उन्होंने राष्ट्रीय उद्देश्य और सरोकारों को बहुत नुकसान पहुँचाया था।''

समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया ने ऊँटपटाँग और बेतरतीब ढंग से लिखे निबंध 'गिल्टी मैन ऑफ इंडियाज पार्टीशन' में मौलाना आजाद की पुस्तक को बेकार साबित करने की कोशिश की और कहा, ''कमोबेश हर पन्ने पर एक झूठ है।'' लेकिन आजाद के दृष्टिकोण को उन्होंने भी चुनौती नहीं दी। सत्ता-हस्तांतरण में शामिल एक अति महत्त्वपूर्ण भारतीय अधिकारी वी.पी. मेनन ने अपने रचनात्मक कार्य 'द ट्रांसफर ऑफ पॉवर इन इंडिया' में इस विवादित सवाल की स्पष्ट व्याख्या की है।

29 जुलाई को कैबिनेट मिशन प्रस्तावों की स्वीकृति वापस लेने के साथ-साथ मुसलिम लीग ने एक प्रस्ताव ग्रहण किया कि 16 अगस्त, 1946 का दिन पाकिस्तान के समर्थन में मुसलिम लीग द्वारा 'प्रत्यक्ष काररवाई' का दिन होगा। कोई स्पष्टीकरण नहीं आ रहा था कि ऐसी 'प्रत्यक्ष काररवाई' के तहत क्या होने वाला था। जिन्ना ने ऐलान किया, ''आज हम संवैधानिक तरीकों को अलविदा कहते हैं। आज हमारे पास एक जाली पिस्टल है और हम उसका इस्तेमाल करने की स्थिति में हैं।'' जब जिन्ना से पूछा गया कि यह 'प्रत्यक्ष काररवाई' हिंसक होगी या अहिंसक, तो उनका रूखा सा जवाब था, ''मैं नैतिकता पर चर्चा करने नहीं जा रहा हूँ।'' देश भर के गाँवों और कस्बों में मुसलिम लीग के कार्यकर्ताओं ने युद्ध का नारा लगाया, ''लड़ के लेंगे पाकिस्तान, लेकर रहेंगे पाकिस्तान।'' इसी दौरान जवाहरलाल नेहरू ने अपने शब्द वापस लेने और कांग्रेस का ताजा प्रस्ताव जिन्ना को पेश कर समाधान निकालने की कोशिश की। हालाँकि इस बार जिन्ना अपनी बात से नहीं डिगे और कहा कि नेहरू के 10 जुलाई वाले बयान ने 'कांग्रेस के असली दिमाग' को सामने रख दिया है। वायसराय वावेल ने भी जवाहरलाल को जिन्ना से उनके बंबई स्थित घर पर जाकर मिलने और उन्हें राजी करने को कहा। नेहरू ने ऐसा ही किया और एक असंभव सा काम करने की कोशिश की। दरअसल, 15 अगस्त को जवाहरलाल बंबई में जिन्ना के घर पर ही बैठे थे और उन्हें मनाने की असफल कोशिश कर रहे थे कि वह 'प्रत्यक्ष काररवाई' की धमकी को वापस ले लें। बंगाल के मुसलिम लीग मुख्यमंत्री

सोहरावर्दी कलकत्ता में आनेवाले कल के लिए योजनाओं को अंतिम रूप दे रहे थे।

उसी दौरान डॉ. मुकर्जी और उनकी पार्टी वर्ष 1945 के चुनावों में बुरी तरह हारने के बाद इस दुष्टतापूर्ण खेल को देखते रहने के सिवाय कुछ नहीं कर सकते थे। जिस कांग्रेस ने उनसे लोगों का प्यार छीन लिया था, उसकी स्थिति और भी बदतर थी और वह असहाय होकर कथित राष्ट्रवादी मुसलिम के समर्थन-आधार को नष्ट होते हुए देख रही थी। बंगाल कांग्रेस के प्रमुख मुसलिम नेता सैयद नौशेर अली का हर रोज सुबह मानसिक उत्पीड़न हो रहा था। पार्क सर्कस एरिया (कलकत्ता में ऊँचे दर्जे के मुसलिमों का इलाका) में उनके घर के सामने हर रोज एक प्रदर्शन होता और वे नारे लगाते—'मुसलिमों के दुश्मन नौशेर अली का नाश हो।' एक दिन वह अपने परिवार के साथ उस घर से चले गए और उनके घर के सामने एक साइन बोर्ड टाँग दिया गया, जिस पर लिखा था—'मुसलिम लीग पार्टी ऑफिस।' उनके साथी नेता उनका बचाव नहीं कर सके और नौशेर अली को, तमाम व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, राजनीति से पीछे हटना पड़ा। लेकिन कांग्रेस हमेशा ही अल्पसंख्यकों की भावनाओं को चोट पहुँचाने से डरती-घबराती रही और इस विचार के साथ खामोश रही कि उसका 'राष्ट्रवादी मुसलिम' समर्थन-आधार उसी का दुश्मन न बन जाए। ऐसा जनाधार तब तक लगभग समाप्त हो चुका था।

अब हम डॉ. मुकर्जी के जीवन से विषयांतर करके ग्रेट कलकत्ता और नोआखाली नरसंहार की ओर चलेंगे, क्योंकि इन दोनों ने बिहार के पलटवारी दंगों के साथ-साथ इस उपमहाद्वीप के हिंदू-मुसलिम संबंधों के इतिहास में एक विभाजक रेखा भी खींच दी थी। डॉ. मुकर्जी का राजनीतिक जीवन बहुत हद तक इन संबंधों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा।

उसी वक्त सोहरावर्दी हत्याओं की तैयारी में व्यस्त हो गया था। उसने शुक्रवार 16 अगस्त को सार्वजनिक छुट्टी का ऐलान कर दिया, क्योंकि विधानसभा को विश्वास में लिये बिना ही एक विशेष राजनीतिक पार्टी द्वारा हड़ताल के आह्वान पर सार्वजनिक छुट्टी का ऐलान कर दिया गया था। 15 अगस्त को इसी प्रश्न पर बहस की माँग करनेवाला काम रोको प्रस्ताव बंगाल विधान परिषद् में हार गया।

उसी समय, उस दिन की योजना सावधानीपूर्वक तैयार कर ली गई और शहर के मुसलमानों में उसे बाँट दिया गया था। काफी मुसलिमों को जुबानी ही बताया गया। लीग समर्थक अखबार कराची के 'डॉन' ने 16 अगस्त को एक विज्ञापन छापा, जिसमें बल-प्रयोग का आह्वान किया गया था, क्योंकि उसी तरीके से वह हासिल किया जा सकता था, जो कि मुसलिम चाहते थे। कलकत्ता के मेयर और कलकत्ता मुसलिम लीग के सचिव एस.एन. उसमान ने बँगला में एक इश्तहार बाँटा, जिसमें लिखा था—'काफिरो, तुम्हारा अंत ज्यादा दूर नहीं है! समग्र नरसंहार होगा!' एक और लीग समर्थक अखबार 'मॉर्निंग न्यूज' ने अपने संपादकीय में लिखा था कि एक अंग्रेज को आहत करना न केवल लीग के बंबई प्रस्ताव के खिलाफ था, बल्कि इसलाम के सिद्धांतों के भी खिलाफ था। इस प्रकार, अखबार ने अपने पाठकों को संकेत दिया कि हिंदुओं को आहत करना, चोट पहुँचाना मुसलिम लीग को पूरी तरह स्वीकार्य था।

मुसलिम लीग के चोटी के नेताओं ने खुलेआम लोगों को दंगों के लिए उकसाया। लियाकत अली खान ने अमेरिका की समाचार एजेंसी एसोसिएटेड प्रेस को बताया कि 'प्रत्यक्ष कारवाई'

का मतलब गैर-संवैधानिक तरीकों का सहारा लेना—और यह किसी भी किस्म का हो सकता है। जिन हालात में हम रहते हैं, कोई भी तरीका उसके माकूल हो सकता है। हम कोई भी तरीका छोड़ नहीं सकते। 'प्रत्यक्ष कारवाई का अर्थ है—कानून के खिलाफ कोई भी कारवाई।' तथाकथित सज्जन नजीमुद्दीन ने 11 अगस्त को एक घोषणा करते हुए कहा, ''हमारी योजनाओं को अभी आखिरी रूप नहीं दिया गया है। ऐसे एक सौ तरीके हैं, जिनके जरिए हम मुसीबतें पैदा कर सकते हैं। खासतौर पर हम अहिंसा तक सीमित नहीं हैं। बंगाल की मुसलिम आबादी यह अच्छी तरह जानती है कि 'प्रत्यक्ष कारवाई' के मायने क्या होंगे? लिहाजा हमें उन्हें रास्ता दिखाने की चिंता करने की जरूरत नहीं है। (इस विषय पर बंगाल विधानसभा में डॉ. मुकर्जी की टिप्पणी निम्नांकित है, जो दंगों के बाद दी गई।) कलकत्ता के मेयर और कलकत्ता मुसलिम लीग के सचिव एस.एन. उस्मान ने जो इश्तहार बाँटा था, हालाँकि वह पूरी तरह खरा था, जिसमें लिखा गया था—''कायदे आजम से हमें विद्रोह का आह्वान मिला है। यह नायकों के देश (यानी मुसलिम) के लिए एक नीति है। खुली लड़ाई का दिन आ गया है, जो कि मुसलिम देश की सबसे बड़ी इच्छा है। इस पाक जंग में लड़कर आप जन्नत में जाएँगे। हम सभी को पाकिस्तान की जीत, मुसलिम देश की जीत और फौज की जीत के लिए आवाज बुलंद करनी चाहिए, जिसने जेहाद का ऐलान किया है।''

कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया ने 'प्रत्यक्ष कारवाई' के आह्वान का समर्थन किया था। स्वतंत्रता-पूर्व भारत में कम्युनिस्ट और मुसलिम लीग के सहयोग पर एक अत्यंत मौलिक कार्य 'हँसिया और चंद्राकार' में सुनंदा सान्याल और सौम्य बसु ने दिखाया है कि यह सहयोग किस हद तक हो गया था। हावड़ा के उत्तर में कुछ किलोमीटर दूर 'बल्ली जूट मिल' में कम्युनिस्ट नेताओं अमर मुकर्जी और माँगरू टटोआ ने जूट मिल के कर्मचारियों एवं स्थायी दुकानदारों को। यदि वे 'प्रत्यक्ष कारवाई' वाले दिन हड़ताल में शामिल नहीं हुए तो भयंकर नतीजे भुगतने की धमकी दी थी। सी.पी.आई. से संबद्ध 'ट्रामवे यूनियन' के नेता मुहम्मद इस्माइल ने अपने सदस्यों से हड़ताल को सफल बनाने का आग्रह किया था।

हिंदू, मुसलिम और ब्रिटिश कई लोगों को विस्तृत, आंशिक तौर पर प्रत्यक्ष ब्योरे दिए गए कि 'प्रत्यक्ष कारवाई' मे किस तरह आकार ग्रहण किया। इस जीवनीकार के मतानुसार, उन लोगों में अशोक मित्रा, आई.सी.एस. और लेफ्टिनेंट जनरल सर फ्रांसिस टुकरे पर खासतौर से विश्वास किया जा सकता है, क्योंकि वे दोनों ही शीर्ष स्तर के सरकारी अधिकारी थे। एक सिविल, एक सैन्य और उनके पूर्वग्रही होने का कोई कारण नहीं था। एक हिंदू होने के बावजूद अशोक मित्रा ने मेडिकल कॉलेज अस्पताल में अपने एक मुसलिम साथी तक पहुँचने के लिए शहर के बीच से खुद ही कार चलाने का असाधारण जोखिम उठाया था। उस अस्पताल में उस साथी की पत्नी बीमार थी। मित्रा और टुकरे के अलावा पेनसिल्वेनिया यूनिवर्सिटी के एक अमेरिकी स्कॉलर रिचर्ड डी. लंबर्ट ने दंगों पर व्यापक शोध किया था और उनका एक विश्वसनीय ब्योरा दिया था। जिन्ना के जीवनीकार स्टैनले वोल्पर्ट और बोस बंधुओं के जीवनीकार लियोनार्ड गोर्डन ने उसका इस्तेमाल किया था।

इस लेखक ने मुसलिम इतिहासकारों में मिजानुर रहमान का दिया हुआ ब्योरा देखा है। वे एक

साहित्यिक व्यक्ति और ढाका में एक पत्रिका के संपादक थे। बँगलादेश में लीग सरकार की साँठ-गाँठ को उल्लेखनीय रूप से कम करके बताया गया, जो हैरान कर देनेवाला था। रहमान लीग के समर्थक तो नहीं थे। हालाँकि उन निर्णायक दिनों की घटनाओं का विवरण देने की मिजानुर की शैली विस्तार से बयान करने और यथार्थहीनता की थी। इसके अलावा वह अपने ब्योरों पर बार-बार अपनी भावुकता बिखेर देते थे। नतीजतन, यह बहुत कठिन है कि अवलोकन में से तथ्य को कैसे छाना जाए। इस घटना को कमतर करके बतानेवालों में हिंदू कम्युनिस्ट सोमनाथ लाहिड़ी की कोशिश है, जो हैरान करनेवाली नहीं है; क्योंकि उस दौर में कम्युनिस्ट लीग का समर्थन करते थे और मुसलिम समर्थक हिंदू इतिहासकार जोया चटर्जी ने भी इसी प्रकार का खुलासा किया है। दंगों की जिम्मेदारी कलकत्ता के व्यापारियों पर डाली गई है, लेकिन उनके समकालीन दो और इतिहासकारों—अमलेश त्रिपाठी और पार्थो चटर्जी—ने इसे बकवास कहा था। उनमें से एक ने जोया के ब्योरे को खामख्याली बताया था। दूसरी ओर, अब्दुल मंसूर अहमद ने दूसरा ही पहलू बताया था। उन्होंने नजीमुद्दीन के शब्दों को उद्धृत किया। उन्होंने कहा था कि हमारा संघर्ष अंग्रेजों के खिलाफ नहीं, बल्कि हिंदुओं के खिलाफ है। अब्दुल ने यह भी कहा था कि मुसलिमों में कत्लेआम का उन्माद लीग के नेता इस कदर बढ़ा चुके थे कि एक बार नजीमुद्दीन के दोस्त ने उनसे पूछा था, ''आपने कितने हिंदुओं का कत्ल किया है? मुसलमानों के प्रति आपका जो प्यार है, वह झूठी सहानुभूति है।''

हर कोई जानता था कि कुछ खौफनाक मंजर घटनेवाला है। शायद जो नहीं जानते थे, उनमें भोले-भाले और आत्मसंतुष्ट हिंदू थे, जिन्होंने जेहाद के नारे को गंभीरता से नहीं लिया। उनमें से कुछेक उस दिन अपनी दुकान खोलने के लिए चले गए। लोगों ने उन्हें बुरी तरह पीटा। हालाँकि सेना को बैरकों में रहने का आदेश था, लेकिन वह बड़े गौर से हालात पर निगाह रखे हुए थी। निगरानी अफसर मेजर एल.ए. लिवरमोर, जो फोर्ट विलियम की छत से निगरानी कर रहा था, ने कहा कि ''माहौल में एक अजीब सी चुप्पी थी।'' और जैसे ही सुबह की किरण फूटी, हावड़ा जूट मिल के मुसलिम कर्मचारियों ने शहर में ओक्टरलोनी सुई स्मारक (जिसे शहीद मीनार कहते हैं) की ओर तेजी से बढ़ना शुरू किया, जहाँ पर 'प्रत्यक्ष काररवाई' दिवस मनाने के लिए बहुत बड़ी जनसभा हो रही थी। सोहरावर्दी और सज्जन माने जानेवाले नजीमुद्दीन, दोनों ने बड़े उग्र व भड़काऊ भाषण दिए। सेना के गुप्तचर सोहरावर्दी के भाषण को सुन रहे थे। सेना के एक अफसर स्टेनले वोलपार्ट ने वह कहा, जो सोहरावर्दी ने भाषण में कहा था कि वह देखेगा कि ब्रिटिश शासन नेहरू को बंगाल पर कैसे हुकूमत करने देगा। 'प्रत्यक्ष काररवाई' दिवस मुसलिमों के मुक्ति-संघर्ष की दिशा में पहला कदम साबित होगा। उन्होंने लोगों को सलाह दी कि वे जल्दी ही घर लौट जाएँ और कहा कि हमने पुलिस और सेना के साथ तमाम बंदोबस्त कर दिए हैं कि वे दखलंदाजी न करें। हालाँकि उनका आखिरी कथन गलत था।

जो लोग जनसभा में शिरकत करने आए थे, वे भी मारने और लूटने के लिए तैयार थे। वे पुरानी चाल की बंदूकों, लोहे की रॉड, छड़ों, दुधारे छुरों व तलवारों, पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों और मुसलिम लीग के झंडे के साथ हथियारबंद थे। लड़ाई के नारे लगाते हुए वे फैल गए—''अल्लाहो अकबर! पाकिस्तान जिंदाबाद, मुसलिम लीग जिंदाबाद। लेकर रहेंगे पाकिस्तान, लड़ के लेंगे पाकिस्तान।'' सबसे पहले उन्होंने चौरंगी पर बंदूक की एक दुकान लूटी। जनसभा के

स्थल से बिलकुल अगली थी वह दुकान। सोहरावर्दी जनसभा में दंगों के लिए मुसलिमों से आग्रह कर रहे थे। भीड़ भड़क उठी और उसने पूरे शहर में हिंदुओं पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। साउथ पोर्ट पुलिस क्षेत्र में एक मुसलिम बहुल इलाके में उड़िया हिंदुओं का एक छोटा सा हिस्सा था, जिसे 'लिचुबागान' कहते थे। वहाँ के बाशिंदों ने कुछ पुलिसवालों की मिन्नत के बावजूद वहाँ से जाने से इनकार कर दिया था। करीब 300 अभागे उड़िया हिंदुओं की 15 मिनट में ही हत्या कर दी गई। यह एक सोची-समझी और अति सावधान प्रक्रिया थी, जिसमें लुटेरों ने हिंदुओं की जासूसी की और उनकी निर्ममता से हत्या कर दी। सामान्यत: छुरा भोंककर या उनके गले चीरकर अथवा उनके सिरों में चोट मारकर उनकी हत्या की गई। जो नहीं जानते, उनके लिए मुसलिमों से हिंदुओं का विभेद करना बहुत आसान है। उन दिनों में प्रत्येक हिंदू घर में कोई-न-कोई देवी-देवता होते थे और कोई भी विवाहित बंगाली हिंदू महिला हमेशा अपनी माँग में सिंदूर लगाती थी। हमेशा ही अग्निपरीक्षा यह रही—एक मुसलिम पुरुष को खतना कराना पड़ता था। लुटेरे महज गुंडों और बदमाशों से ज्यादा कुछ नहीं थे। वे सभ्य और शिष्ट नौजवान लगते थे। उनमें कुछ कॉलेज के छात्र भी थे और उनमें जेहाद की भावना का जुनून था। उन्होंने सामूहिक हत्याओं में भागीदारी की। आग की लपटें रात भर जलती रहीं और युद्ध के नारे जारी रहे—"अल्लाहो अकबर! लड़कर लेंगे पाकिस्तान।" यह प्रक्रिया अगले दिन भी जारी रही। अलीपुर कोर्ट के एक अतिरिक्त जज को तब मार दिया गया, जब वह एक छोटे बालक को बचाने की कोशिश कर रहा था। वह बालक गुंडों से अपनी जिंदगी बचाने के लिए भाग रहा था। जोड़ासांको में एक फल विक्रेता ने अपने पड़ोसी की पत्नी को ही गोली से मार दिया। हुगली नदी में भाप-चालित नौकाओं की मुसलिम टोली ने हिंदुओं की स्वदेशी नौकाओं को टक्कर मारकर उन्हें डुबो दिया। उस दिन भोर होने तक, यानी 17 अगस्त को, कहीं भी कोई भी पुलिसवाला दिखाई नहीं दिया था।

सोहरावर्दी कलकत्ता पुलिस के लाल बाजार स्थित नियंत्रण कक्ष में बैठा था और अपने भरोसेमंद उपायुक्त दोहा के साथ 'हालात का जायजा' लेने में व्यस्त था। उसने उसे रोकने की कोई कोशिश नहीं की, जिसे शुरू करने में उसकी ही बड़ी भूमिका थी। किसी भी पुलिस अफसर को, बिना उसके आदेश के एक भी आदमी को हिलाने का अधिकार नहीं था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कुछ अफसरों ने उसके सामने ही आज्ञा का उल्लंघन किया और अपने बलों को हटा लिया। जो सब वहाँ घट रहा था, सामान्यत: नियाज मुहम्मद खान द्वारा खासतौर पर भरती किए गए पठान पुलिस बल और एंग्लो-इंडियन सेनाधिकारियों ने उसके प्रति सर्वाधिक उदासीनता दिखाई। यह भी सामने आया कि कमोबेश अफसरों के एक वर्ग को भी ये दंगे फैलाने के आदेश थे, न कि उसे रोकने या निवारण करने के। सेना के संदर्भ में वोलपार्ट लिखते हैं कि कलकत्ता के ब्रिगेडियर इंचार्ज जे.पी.सी. मैकिन्ले ने अपने दस्तों को आदेश दिए थे कि वे 'बैरक में ही रहें।' वोलपार्ट ने यह भी गौर किया कि इस प्रकार भारत का सबसे बड़ा, सबसे भीड़-भाड़वाला और सबसे अधिक सांप्रदायिक दृष्टि से अस्थिर शहर को अपने हाल पर छोड़ दिया गया। फायर ब्रिगेड ने लगातार ओवरटाइम काम किया, लेकिन कई स्थानों पर लुटेरी मुसलिम भीड़ ने उन्हें रोका भी।

कलकत्ता के सेना प्रमुख लेफ्टिनेंट जनरल सर फ्रांसिस टुकरे, भारत की पूर्वी सेना के जनरल ऑफिसर कमांडिंग-इन-चीफ और मैकिन्ले के भी वरिष्ठ सेना अधिकारी ने गौर किया कि सोहरावर्दी

'दंगों के दौरान एक सहायक के बजाय ज्यादा नुक्ताचीन' थे। टुकरे ने हत्याओं की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'नरसंहार के उन्माद के साथ बेलगाम बर्बरता को मारने और लूला-लँगड़ा करने तथा जला देने को खुला छोड़ दिया गया था। अंडरवर्ल्ड ने शहर का दायित्व सँभाल लिया था। पुलिस इसे काबू नहीं कर रही थी। मेजर लिवरमोर ने देखा कि कलकत्ता भीड़ के शासन तथा सभ्यता, शालीनता के बीच एक युद्धक्षेत्र बन गया था। जब '7वीं वोरसेस्टर' और 'ग्रीन हॉवर्ड' (दो ब्रिटिश सैनिक टुकड़ियों) को बुलाया गया तो उन्होंने कॉलेज स्ट्रीट को जलते पाया और कुछ अनजले मकानों, दुकानों को पूरी तरह लूट लिया गया था। एमहर्स्ट स्ट्रीट में सामूहिक लूट का कूड़ा-कचरा, अपर सर्कुलर रोड में आग लगानेवालों द्वारा छोड़े गए रोड़े-पत्थर और हैरीसन रोड पर जख्मी व आतंकित बाशिंदों की चीखें!

दंगों की व्यापकता अगले दिन, यानी 18 अगस्त को कुछ ढीली मालूम हुई और सोहरावर्दी के गुंडों तथा देशवासियों (जिनमें से कुछेक का दंगों से कोई लेना-देना नहीं था) ने 'जैसे को तैसा व्यवहार' करना शुरू किया। बिहार और उत्तर प्रदेश के हिंदू कलवारों (लोहे और धातु की छीलन आदि के व्यापारी) ने आगे बढ़ने की पहल की। तब उनमें सिख और हिंदू बंगाली भी शामिल थे। लोहे की छड़ों, कृपाण, तलवारों और अन्य हथियारों के साथ उन्होंने पिछले दो दिनों की लूट-खसोट का बदला लेना शुरू किया। इसमें उन्होंने एक अविश्वसनीय बर्बरता दिखाई, जो अब तक उनमें नहीं पाई गई थी। मुसलिम इलाकों में हिंदू घरों को व्यापक तौर पर जलाया गया था। संभवत: सोहरावर्दी ने हिंदुओं से किसी बदले की काररवाई के बारे में सोचा नहीं था। उसने हिंदुओं को गांधी का अनुगामी मान लिया होगा और हिंसा के लिए भी उन्हें अक्षम मान लिया होगा। पलटवार में मुसलिमों के कत्लेआम से वह पूरी तरह हैरान हुआ! बदले की यह काररवाई ही बुनियादी कारण थी कि उसे अपनी शैतानियत रोकने को बाध्य होना पड़ा। उस दौरान 19 अगस्त को भी ज्यादतियों की धारा तेज गति से बहती रही; लेकिन तब तक हिंदू अपना बदला ले चुके थे। एक वरिष्ठ इंपीरियल पुलिस अफसर ने अशोक मित्रा को बताया कि 18 अगस्त को लाल बाजार के नियंत्रण-कक्ष में सोहरावर्दी को निराश बैठे पाया गया और वह खुद ही बुदबुदा रहा था—'मेरे बेचारे निर्दोष मुसलिमो!'

हालाँकि इसका कोई अधिकृत अनुमान उपलब्ध नहीं है कि हत्याओं में कितने लोग मारे गए! सामान्यत: लाशों को गिनकर ही मृत लोगों की संख्या तय की जाती है और यह न केवल असंभव था, बल्कि भ्रामक भी था, क्योंकि कई मृत शरीरों को हुगली नदी में फेंक दिया गया था या शहर के बीच से गुजरती नहरों में अथवा गटर-नालों में फेंक दिए गए थे। यह आँकड़ा 5,000 और 25,000 के बीच हो सकता था और शायद इससे चार गुना लोग गंभीर रूप से घायल हो गए थे।

मौलाना आजाद ने 'इंडिया विन्स फ्रीडम' में टिप्पणी की है—''16 अगस्त, 1946 न केवल कलकत्ता के लिए एक काला दिन था, बल्कि पूरे भारत के लिए भी था। घटनाओं ने जिस तरह मोड़ लिया, उससे कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच समझौते के जरिए एक शांतिपूर्ण समाधान की अपेक्षा करना लगभग असंभव था। यह भारतीय इतिहास की बड़ी त्रासदियों में से एक थी और मुझे एक गहरे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि इस घटनाक्रम की ज्यादा जिम्मेदारी जवाहरलाल

नेहरू की है।'' दिलचस्प है कि उन्होंने जिन्ना या सोहरावर्दी को प्राथमिक दोषी भी नहीं ठहराया।

बेशक 'प्रत्यक्ष काररवाई' कहें या 'कलकत्ता नरसंहार 1946' कहें, इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे एक दुष्टतापूर्ण और राक्षसी साजिश के नतीजे थे, जो कुछ बेहद शैतानी और आपराधिक दिमागों ने रची थी। उनका सोचना था कि अपने ही कुछ हजार देशवासियों (उस समुदाय के लोगों के समेत, जिनके हितों की रक्षा उन्हें करनी थी) को अत्यंत वीभत्स तरीके से मारना अकल्पनीय है। अगस्त के अंत में, जब एक विदेशी समाचार एजेंसी ने जिन्ना से इस कत्लेआम के बारे में पूछा, तो उन्होंने खेद नहीं जताया और जवाब दिया, ''यदि कांग्रेस हुकूमतें मुसलमानों का दमन और उत्पीड़न कर रही हैं तो ऐसी गड़बड़ियों को काबू करना बेहद मुश्किल होगा।'' सामूहिक नरसंहार में सरकारी शक्ति के दुरुपयोग के उदाहरण के तौर पर कलकत्ता नरसंहार की प्रचंडता की तुलना, हालाँकि उतनी व्यापक नहीं, जिसकी तुलना नाजी अग्निकांड और कंबोडिया में पोलपोट की 'किलिंग फील्ड्स' से की गई।

30 जुलाई के लंदन के 'द टाइम्स' में एक संपादकीय में मुसलिम लीग के 'प्रत्यक्ष काररवाई' के आह्वान को 'बेहद खेदजनक' कहा गया। उसी दिन अमेरिका की इंडियन लीग के सरदार जे.जे. सिंह ने नरसंहार रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र से हस्तक्षेप करने की अपील की। इन लोगों ने कैसे ऐसा मूल्यांकन कर लिया कि 'प्रत्यक्ष काररवाई' क्या आकार ग्रहण करने जा रही थी, जब जिन्ना ने कहा था, 'मैं नैतिकता पर चर्चा करने नहीं जा रहा हूँ।' लिहाजा अब इस निष्कर्ष पर पहुँचना अतार्किक नहीं होगा कि ब्रिटिश प्रशासन को हत्याओं की साजिश के बारे में कमोबेश संक्षिप्त जानकारी जरूर थी, बेशक विस्तार में न पता हो। फिर भी हत्याओं को पहले दिन और दूसरे दिन भी जारी रहने दिया गया। तब तक यह क्रम जारी रहा, जब बरोज ने सेना बुलाने का फैसला किया। बरोज का यह फैसला कि सेना को बुलाने की जरूरत नहीं थी या ब्रिगेडियर मैकिन्ले के आदेश, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, कि ब्रिटिश सेना के जत्थे अपनी बैरक में ही रहें और सोहरावर्दी का अपने पहले भाषण में यह दावा करना कि पुलिस या सेना ने उसमें हस्तक्षेप नहीं किया, जो मुसलिमों ने किया; निस्संदेह यह सोहरावर्दी और बरोज के बीच दुष्टतापूर्ण साजिश की ओर संकेत करता है और एक अकल्पनीय स्वार्थ को भी स्पष्ट करता है। एक संप्रभु ताकत के तौर पर ब्रिटिश शासन निश्चित ही मूकदर्शक बने रहने और खुद को चकित किए रखने का दोषी था, जबकि सोहरावर्दी के गुंडे छुरे भोंक रहे थे और घरों को जला रहे थे।

कलकत्ता के बाद नोआखाली एक संक्षिप्त आदेश पर हुआ। हर कोई जानता था कि कलकत्ता कहाँ है, लेकिन बहुत कम लोग नोआखाली के बारे में जानते थे, पर उस जगह को किसने बदनाम किया! दुनिया के इस भूले हुए हिस्से के बारे में भी कुछ शब्द कहे जाने जरूरी हैं, जिसने वर्ष 1946 में ही एक और नरसंहार को देखा।

पवित्र गंगा की मुख्यधारा भागीरथी एक नन्ही व प्रकट जलधारा को विरासत में अपनी पवित्रता देती है। और यह एक सामान्य, लेकिन बड़ी चौड़ी पोइड्डा या पद्मा नदी बनकर मौजूदा बँगलादेश में प्रवेश करती है। तब पद्मा उत्तर से आ रही विशाल ब्रह्मपुत्र नदी (बँगलादेश में यमुना) से मिलती है और दक्षिण-पूर्व की ओर अपनी अथाह जलराशि के साथ बहती है। यह संयुक्त नदी तब एक और बड़ी नदी मेघना से मिलती है, जो दक्षिण-पश्चिम दिशा में बहती है।

वह नदी, जो इस संगम के पार भी मेघना नदी ही कहलाती है, तब वाकई एक अंतर्देशीय समुद्र बन जाती है, करीब 20 किलोमीटर चौड़ा जिसका विस्तार है और जो करीब 100 किलोमीटर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में जाकर मिल जाती है। इसके कीचड़ से भरे जल के मंथर बहाव से नदी के मुख में और उसके इर्द-गिर्द व्यापक गाद बन जाती है, जिससे डेल्टा और मोटे तौर पर तिकोने द्वीप बनते हैं। उन द्वीपों को स्थानीय तौर पर 'चार' कहते हैं। समयानुसार इनमें से कुछ 'चार' मुख्य भूभाग से जुड़ जाते हैं, लेकिन उनके नाम वही रहते हैं।

नोआखाली जिला, जैसा कि वह ब्रिटिश काल में था, संयुक्त मेघना नदी के बाईं ओर मौजूद है। अविभाजित बंगाल के सभी जिले स्वतंत्र बँगलादेश में कई बार विभाजित हुए हैं। उन दिनों के नोआखाली में आज के नोआखाली, लखीपुर और फेनी जिले शामिल थे। मेघना के जिस ओर यह जिला स्थित है, वहाँ नदी समुद्र से मिलती है और कई द्वीपों, यानी 'चार' को मिलाती चलती है। 'चार' पर रहना बेहद खतरनाक होता है, क्योंकि वे अकसर जल स्तर के एक मीटर से भी कम ऊपर होते हैं और किसी भी चक्रवात के पहले शिकार वही बनते हैं। फिर भी 'चार' की मिट्टी की उर्वरता और मुख्य भूभाग पर आबादी के बढ़ते दबाव के कारण कई लोग इन द्वीपों पर बस जाते हैं। ब्रिटिश काल में यहाँ करीब 80 फीसदी आबादी मुसलिमों की थी। अब करीब 95 फीसदी है।

अल्पसंख्यक हिंदुओं में अधिकतर स्कूल अध्यापक, वकील, महाजन, डॉक्टर, दुकानदार, छोटे व्यापारी, कारीगर आदि थे, जिनमें अधिकतर बँटाईदार या भूमिहीन खेतिहर मजदूर थे। कुल मिलाकर आर्थिक दृष्टि से हिंदू मुसलिमों से बेहतर थे। यही आर्थिक असमानता बड़ा कारण थी, जिसका हिंदू-विरोधियों ने नरसंहार शुरू करने के लिए इस्तेमाल किया। एक और असमानता थी—आर्थिक नहीं, राजनीतिक नहीं और सामाजिक नहीं। यह एक मान्यता सी थी कि हिंदू महिलाएँ अपनी मुसलिम बहनों की तुलना में ज्यादा सुंदर मानी जाती थीं। अल्पसंख्यक होते हुए बेवफाई को एक फायदे का कार्य माना गया। यह कोई मजाक नहीं है। ऐसे शब्द किसी और ने नहीं, बंगाल के तत्कालीन गवर्नर सर फ्रेडरिक बरोज ने कहे थे, जब नोआखाली में हिंदू महिलाओं की छेड़छाड़, अपहरण और बलात्कार की व्यापक घटनाएँ उन्हें बताई गईं।

ग्रेट कलकत्ता नरसंहार के पीछे सोहरावर्दी का दिमाग था, नोआखाली में मुसलिम लीग के नेता गुलाम सरवर ने कत्लेआम की साजिश रची। यह साजिश पड़ोस के जिले टिप्पराह में भी इस्तेमाल की गई। सरवर एक पीर परिवार से जनसाधारण की भावनाएँ उकसानेवाला व्यक्ति था, जिसने बाद में 'कृषक समिति' का नेतृत्व खान बहादुर अब्दुल गफ्फार सरीखे नरम नेता से छीन लिया था। जब एक बार शुरू हुई तो हिंसा ने अपनी तेजी पकड़ ली और उसकी गति तीव्र होती गई। बेशक प्रेरणा सोहरावर्दी की कलकत्ता-हत्याओं (हिंदू प्रतिशोध समेत) से मिली थी। यह आश्वासन सोहरावर्दी की कथित दयालु हुकूमत और बरोज की उदासीनता से मिला था कि पुलिस ने तब दूसरी ओर देखा, जब मुसलिमों ने हिंदुओं को लूटा। दरअसल कलकत्ता नरसंहार के दौरान ऐसा ही हुआ था और यह सिलसिला जारी रहता, यदि दंगों का ज्वार मुसलिमों के खिलाफ न मुड़ जाता। नोआखाली में ऐसा कोई डर नहीं था। मुसलिमों की बहुसंख्यक आबादी और इलाके की सुदूरता ने यह सुनिश्चित किया कि हिंदुओं की ओर से पलटवार नहीं होगा और न ही जल्दबाजी में कोई सरकारी कारवाई होगी।

गुलाम सरवर के भाषण और हिंदुओं पर हमले करने के आग्रह कितने उत्तेजक थे, उन्हें वही समझ सकता है, जो नोआखाली की बोली (काफी बंगाली, यहाँ तक कि पूर्वी बंगाली भी नहीं जानते) समझता है। उन शब्दों का अनुवाद निम्नांकित है—

'भाइयो, सारा अच्छा चावल जो तुम उगाते हो, उसे कौन खाता है?—हिंदू!

भाइयो, जो मोटे केले तुम उगाते हो, उन्हें कौन खाता है?—हिंदू!

भाइयो, जब हमारी औरतें बीमार पड़ जाती हैं तो उन्हें अपने हाथों से कौन देखता है?—हिंदू डॉक्टर!

भाइयो, हम मुसलिम पतले और कुपोषित क्यों हैं?—क्योंकि हमें पर्याप्त खाना नसीब नहीं होता!

भाइयो, हिंदू मोटे और चिकने क्यों हैं?—क्योंकि उन्हें खाने को सर्वोत्तम चीजें मिलती हैं!'

बेशक यह सबकुछ झूठ है। हालाँकि उनमें अमीर और गरीब के बीच का संघर्ष देखा जाना चाहिए। नोआखाली के 20 फीसदी हिंदू कभी भी एक-चौथाई चावल और केले भी नहीं खा सकते, जो 80 फीसदी मुसलिमों ने उगाया था। अधिकतर हिंदू, जो या तो सफेदपोश पेशों में थे अथवा छोटे व्यापारी या दस्तकार थे, अपने मुसलिम भाइयों की अपेक्षा कुछ बेहतर हो सकते थे। तीसरा आरोप खासतौर से उत्तेजक है। उसके कुछ स्पष्ट कारण होंगे।

लक्ष्मी-पूजा की पूर्णिमावाली रात, आमतौर पर अक्तूबर में, दुर्गा-पूजा के बाद की ऐसी चाँदनी रात होती है, जब बंगाली हिंदू पारंपरिक रूप से धन की देवी 'लक्ष्मी' की पूजा करते हैं। सरवर और उसके लीग नेताओं ने जनसंहार के लिए यही दिन चुना। वे गाँव-दर-गाँव घूमकर पहले ही जरूरी माहौल बना चुके थे। रोजाना की नमाज पर इकट्ठा हुए लोगों को उत्तेजक भाषण दिए और ऐसे विभिन्न ब्योरे दिए कि कलकत्ता कत्लेआम के दौरान हिंदुओं ने मुसलिमों के साथ क्या किया। उन्होंने उस नरसंहार के दूसरे पहलू को बिलकुल छोड़ दिया। कलकत्ता कत्लेआम की तरह विस्तृत बंदोबस्त पहले ही कर लिये गए थे, ताकि ऑपरेशन सफल रहे। नहर के ऊपरवाले बाँस के एक पुल को तोड़कर उस दूर-दराज के इलाके को नोआखाली से काट दिया गया। देशी नौकाओं में सभी मल्लाह मुसलिम थे। एक बार हत्याएँ शुरू हुईं तो एक हिंदू के लिए कहीं और चले जाने का भी कोई रास्ता नहीं था। अब भी दुगुनी सुनिश्चितता के साथ मुसलिम लीग ने रेलवे स्टेशन जानेवाले तमाम रास्तों पर अपने कार्यकर्ता तैनात कर दिए थे।

कलकत्ता हत्याओं से ये गुणात्मक तौर पर भिन्न थे। कलकत्ता में लुटेरों के मंसूबे मुख्यतः लूटना और मारना थे या कमोबेश लूला-लँगड़ा बना देना। नोआखाली में मकसद छाँट-छाँटकर मारने का लगता था; लेकिन बलात्कार, जबरन धर्म-परिवर्तन और हिंदुओं के पूजा-स्थलों को अपवित्र करना भी मुख्य मकसद में शामिल था।

नोआखाली कत्लेआम की व्यापक जानकारी महात्मा गांधी के प्रसिद्ध प्रवास के कारण मिली। गांधी चौमुहानी में 7 नवंबर, 1946 को पहुँचे, कत्लेआम शुरू होने के करीब एक महीने बाद और नोआखाली में फरवरी, 1947 तक रहे। गांधी के साथ कई नेता आए थे और अन्य लोग भी उनसे मिलने आए थे। जो प्रमुख लोग तब सुदूर नोआखाली में इकट्ठा हुए थे, उनमें आचार्य जे.बी. कृपलानी और सुचेता (वह खुद भी प्रमुख कांग्रेस नेताओं में थीं), शरत चंद्र बोस, सुरेंद्र

मोहन घोष, मुरिल लिस्टर, ए.वी. ठक्करबापा, अशोक गुप्ता, नेल्ली सेनगुप्ता और अन्य थे। जवाहरलाल नेहरू और राममनोहर लोहिया ने भी जिले का दौरा किया तथा नेहरू ने अपने कथनों तथा लोहिया ने उद्धरणों से उस प्रवास को यादगार बना दिया। यह सबकुछ बाद में हुआ।

एक और व्यक्ति, जो गांधी के साथ गए, वह लुइस फिशर थे। वह एक अमेरिकी पत्रकार थे, जिन्होंने गांधी की जीवनी लिखी। वह नोआखाली नरसंहार का वर्णन इस प्रकार करते हैं—"आर्थर हेंडरसन ने 4 नवंबर, 1946 को 'हाउस ऑफ कॉमन्स' को बताया कि नोआखाली और पास के टिप्पराह जिलों में मृतकों की अभी गिनती नहीं हुई है, लेकिन अनुमान के मुताबिक संख्या तीन अंकों (सैकड़ों) में होगी। बंगाल सरकार ने हताहतों की संख्या 218 बताई। हालाँकि कुछ परिवारों ने डर के मारे अपने पीड़ितों के नाम छिपाए। दो जिलों में 10 हजार से ज्यादा घरों को लूटा गया। टिप्पराह में 9,895 लोगों को जबरन इसलाम में परिवर्तित किया गया। नोआखाली में अनिश्चित आँकड़ों के मुताबिक धर्म-परिवर्तन कराए जानेवालों की संख्या ज्यादा थी। हजारों हिंदू महिलाओं का अपहरण किया गया और उनकी इच्छा के खिलाफ मुसलिमों से उनकी शादी कराई गई। धर्म-परिवर्तन के लिए मुसलिमों ने उनकी चूड़ियाँ तोड़ीं और माथे पर से उनकी 'प्रसन्नता के चिह्न' मिटाए गए। बिंदी और सिंदूर आदि से यही स्पष्ट होता था कि वे विधवा नहीं थीं। हिंदू पुरुषों को दाढ़ी बढ़ाने को बाध्य किया गया और हिंदुओं की बजाय मुसलिमों की तरह लुंगी लपेटने को मजबूर किया गया। 'कुरान' का पाठ करने को कहा गया। पत्थर की मूर्तियाँ तोड़ दी गईं और हिंदू मंदिरों को अपवित्र किया गया। सबसे बदतर तो यह कि हिंदुओं से उनकी गायों का वध कराया गया या हर हालत में गोमांस खाने को बाध्य किया गया। यह माना गया कि हिंदू समुदाय उस व्यक्ति को अपने धार्मिक संप्रदाय में दोबारा स्वीकार नहीं करेगा, जिसने पवित्र पशु को मारा हो या उसका मांस खाने में शरीक हुआ हो।"

डॉ. मुकर्जी ने इस सर्वनाश और जनदाह को रोकने के लिए क्या किया? और उस सर्वदाह के दौरान उन्होंने क्या किया? पिछले सवाल का जवाब—पहले जब दंगों ने प्रचंड रूप धारण कर लिया था, लोगों ने खुद को पशुता और निर्दयता के ऐसे स्तर तक गिरा लिया था कि उस दौरान लुटेरों पर गोली चलाने के अलावा कुछ और नहीं किया जा सकता था और यही है, जिस पर ब्रिटिश सरकार ने कुछ करने से इनकार कर दिया था तथा मुसलिम लीग ने सरकारी मशीनरी को कुछ करने के लिए अपंग बना दिया था। प्रख्यात इतिहासकार डॉ. अनिल चंद्र बनर्जी ने 'ए फेज इन द लाइफ ऑफ डॉ. मुकर्जी, 1937-46' नामक एक निबंध में यह टिप्पणी की है—"यह एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं था कि वह एक संगठन (मुसलिम लीग) के खिलाफ प्रभावी तौर पर लड़ सकता, बेशक वह व्यक्ति कितना भी योग्य और प्रसिद्ध क्यों न हो! एक ऐसा संगठन, जो सरकार को नियंत्रित करता था और गवर्नर तथा ब्रिटिश नागरिकों का जिसे समर्थन हासिल था। इसके अलावा, मार्च 1940 में मुसलिम लीग द्वारा 'पाकिस्तान प्रस्ताव' को अपनाने के बाद कांग्रेस नेता भारत-विभाजन सरीखे महत्त्वपूर्ण सवाल पर गोल-मोल तरीके से बोल रहे थे। मई 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने क्षेत्रीय इकाइयों के 'आत्मनिर्णय' के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। वर्ष 1942-46 के दौरान कांग्रेस पाकिस्तान की स्वीकृति की ओर धीरे-धीरे बढ़ी।" गांधी के कथन 'भारत का चीर-फाड़' की ओर इस तय फिसलन को, जो एक चीज रोक सकती थी,

वह कैबिनेट मिशन की दलीय योजना थी। जवाहरलाल नेहरू ने लीग और कांग्रेस दोनों के इसे स्वीकार करने के बाद उस योजना को डुबो दिया था। बनर्जी आगे लिखते हैं—"अविश्वास, मानसिक विकार, अंतर नस्लीय धमकियों और अंतर सांप्रदायिक संघर्ष के उस माहौल का अब स्मरण करना असंभव है। उन दिनों में ऐसे माहौल ने देश को अपनी चपेट में ले लिया था।" यह अबुल मंसूर अहमद के उस मित्र के कथन के बहुत कुछ मुताबिक है, जिन्होंने उनसे पूछा था कि उन्होंने कितने हिंदू मारे थे।

देश जिस स्थिति का सामना कर रहा था, वह संक्षेप में इस तरह थी—एक ओर जो पार्टी देश के तमाम मुसलिमों का व्यावहारिक तौर पर प्रतिनिधित्व कर रही थी, वह कत्लेआम और हिंसक विध्वंस के जरिए पाकिस्तान को हासिल करने पर आमादा थी। दूसरी तरफ, देश के तमाम हिंदुओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली पार्टी छल-भ्रम, गोल-मोल बातों और एक समुदाय का समर्थन खोने के डर से अपने ही जाल में फँसी थी। उस समुदाय ने उसका समर्थन भी नहीं किया था। इन हालात में डॉ. मुकर्जी, जो हिंदू महासभा जैसी एक छोर की पार्टी से जुड़े थे, इस सर्वनाश और सर्वदाह को रोकने के लिए कुछ नहीं कर सकते थे। कारण बड़ा साधारण था कि अधिकांश बंगाली हिंदुओं ने उनकी पार्टी को वोट न देना तय किया था। उसी के फलस्वरूप उनपर तबाही आई थी। डॉ. मुकर्जी जो कर सकते थे, वह पीड़ितों को राहत मुहैया कराना और शब्दों के जरिए सर्वनाश के साजिशकर्ताओं पर बरसना और उन्हें झाड़ पिलाना। उन्होंने पर्याप्त मात्रा में दोनों ही काम किए।

हत्याओं के बाद बंगाल विधानसभा में एक अविश्वास प्रस्ताव पेश किया गया और वह पराजित भी हुआ। बहस के दौरान उन्होंने एक बार फिर यादगार भाषण दिया। जनसंहार के लिए खुले तौर पर लोगों को उकसाने के लिए सोहरावर्दी और उसके संगी-साथियों पर वह खूब बरसे। उसी वक्त, शहर के गोरे बाशिंदों (तब यूरोपीय कहते थे) की गैर-जिम्मेदार आत्मकेंद्रित प्रवृत्ति पर भी उन्होंने जोर दिया। भाषण के कुछ अंश—

"स्पीकर सर, कल से हम अविश्वास प्रस्ताव पर ऐसे हालात में बहस कर रहे हैं, शायद सभ्य दुनिया के किसी भी हिस्से की किसी विधानसभा में विचार-विमर्श के लिए ऐसा माहौल नहीं रहा। कलकत्ता में जो हुआ, शायद आधुनिक इतिहास में उसकी कोई तुलना नहीं है। सेंट बार्थोलोम्यू दिवस की हत्याओं और खून-खराबे की कुछ कठोर घटनाएँ इतिहास में दर्ज हैं। वे ब्रिटिश इंडिया के इस प्रथम शहर की गलियों, लेन और बाइलेनों में जो बर्बरता की गई, उनकी तुलना में बेहद तुच्छ प्रतीत होती हैं। मुझे यह कहने दीजिए कि जो हुआ, वह किसी अचानक विस्फोट का नतीजा नहीं था; लेकिन यह एक भ्रष्ट, अक्षम और सांप्रदायिक प्रशासन की पराकाष्ठा थी, जिसने इस महान् प्रदेश की जिंदगी को विकृत कर दिया। लेकिन जहाँ तक तात्कालिक कारण का संबंध है, मुसलिम लीग के आधार पर यह कहा जाता है कि कैबिनेट मिशन मुसलिमों के हितों के प्रति बेवफा साबित हुआ और उसके फलस्वरूप एक ऐसी स्थिति पैदा हुई, देश में एंग्लो-मुसलिम संबंधों के मद्देनजर जिसकी कोई तुलना नहीं थी। दरअसल, कैबिनेट मिशन ने क्या किया? ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के बीते 30 सालों से बिगड़ैल और सिर चढ़ाए हुए बच्चे मुसलिम लीग को पहली बार ब्रिटिश लेबर सरकार ने अपनाने से इनकार कर दिया।⋯(सत्तारूढ़ पक्ष की ओर से भारी शोर⋯) जब मिस्टर जिन्ना का 31 जुलाई को बंबई में एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में आमना-

सामना हुआ और उनसे पूछा गया कि 'प्रत्यक्ष काररवाई' के मायने हिंसा या अहिंसा है, तो उनका गुप्त जवाब था—'मैं नैतिकता पर चर्चा करने नहीं जा रहा हूँ।' (माननीय मुहम्मद अली : शाबाश)। लेकिन ख्वाजा नजीमुद्दीन उतने अच्छे नहीं थे। वह बंगाल में बड़ी साफगोई से सामने आए और उन्होंने कहा कि मुसलिमों का अहिंसा में बिलकुल भी विश्वास नहीं। सर, जिम्मेदार लीग नेताओं ने ऐसे भाषण दिए, उसके बाद आलेखों और बयानों की एक श्रृंखला 'मॉर्निंग न्यूज', 'द स्टार ऑफ इंडिया' और 'आजाद' सरीखे अखबारों में छपी। यदि मेरे मित्र इस्पहानी इन दस्तावेजों को पढ़ें तो उन्हें पता लगेगा कि हिंसा के लिए सरेआम उकसाए जाने के अलावा कुछ और नहीं था। हिंदुओं से नफरत और हिंदुओं पर जेहाद का ऐलान आग उगलती भाषा में किया गया और आम मुसलिम जनता ने निर्देशों के मुताबिक काम किया। सर, मैं सदन में ब्रिटिशों का सम्मान करते हुए एक बात कहना चाहूँगा। मेरे मित्र तटस्थ रहे हैं। मैं इस रवैए को बिलकुल भी समझ नहीं सकता। यदि सरकार सही थी, तब उन्हें समर्थन दो और यदि सरकार गलत थी तो तुम्हें साहसपूर्वक ऐसा कहना चाहिए, तटस्थ नहीं होना चाहिए। इस तरह महज बेलाग बैठे रहना तुच्छ नपुंसकता की निशानी है (हँसी)। मेरे मित्र मि. ग्लैडिंग (सदन में यूरोपीय समूह के एक नेता) का कहना है कि सौभाग्य से उनके कोई भी लोग जख्मी नहीं हुए। यह सच है सर, लेकिन इस बयान ने मुझे अत्यधिक दुःख पहुँचाया। यदि एक ब्रिटिश पुरुष, महिला या बच्चे पर हमला हुआ होता तो उन्होंने बेहिचक ही सरकार को दफ्तर से बाहर फेंक दिया होता। चूँकि किसी भी अंग्रेज को छुआ तक नहीं गया तो वे एक उदासीन और तटस्थ विचार रख सकते हैं! लिहाजा यंह बेहद जरूरी है कि पाकिस्तान या इसलामी शासन के असत्य और मूर्खतापूर्ण विचार को अपने दिमाग से हमेशा के लिए निकाल देना है। बंगाल में हमें एक साथ रहना है।''

लेकिन असलियत बिलकुल अलग साबित हुई। पाकिस्तान बना। एक-चौथाई शताब्दी के बाद भारत से टूटकर पाकिस्तान पैदा हुआ। हिंदू बहुल पश्चिम बंगाल में हिंदुओं और मुसलिमों ने इकट्ठा रहना सीख लिया था, जैसा कि डॉ. मुकर्जी चाहते थे। हालाँकि मुसलिम बहुल पूर्वी बंगाल की कहानी बिलकुल ही अलग थी।

नोआखाली में डॉ. मुकर्जी की भूमिका गुणात्मक रूप से भिन्न थी। मुख्यत: स्थानीय मुसलिम पुरुषों द्वारा हिंदू महिलाओं से बलात्कार, छेड़छाड़ और निर्ममता-बर्बरता के अन्य तरीकों की बड़ी संख्या के कारण डॉ. मुकर्जी को एक अलग भूमिका निभानी पड़ी। यह एक ऐसा समय था, जब डॉ. मुकर्जी न तो एक शिक्षाविद् और न ही राजनेता के तौर पर, बल्कि एक समाज-सुधारक की तरह सामने आए।

डॉ. मुकर्जी ने सन् 1946 में ही नोआखाली का पहली बार दौरा नहीं किया था और न ही मुसलिमों द्वारा हिंदुओं के दमन के प्रति यह जिला अजनबी था। सन् 1940-41 में, जैसा कि डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में दर्ज किया था, वहाँ सांप्रदायिक गड़बड़ियाँ थीं और हिंदुओं ने अपने आप को धमकाया हुआ महसूस किया था। उन्हें प्रशासन से कोई सहायता नहीं मिली, जिसका मुखिया तत्कालीन कार्यवाहक जिला मजिस्ट्रेट टी.आई.एम. नूरुन नबी चौधरी था। सिर्फ पाँच फीट लंबे उस व्यक्ति को अंग्रेज 'टिनीटिम' (बहुत छोटा) कहते थे। वह लीग का एक 'ज्ञात हमदर्द' था। तब उन्होंने कांग्रेस को आजमाया और भविष्यवाणी के मुताबिक उनका मनोरथ नाकाम रहा।

उसी दौरान, पार्वती नगर में एक हिंदू महाजन मार दिया गया और हिंदू घरों को जलाने व हिंदू महिलाओं के साथ छेड़छाड़ की रपटें रामगंज और लक्खीपुर से दर्ज की गईं। तब डॉ. मुकर्जी को नोआखाली आमंत्रित किया गया था और अरुण स्कूल के मैदान में हिंदुओं की एक विशाल जनसभा आयोजित की गई, जिसकी अध्यक्षता प्रिंसिपल राधा गोविंद नाथ ने की थी। उन्होंने प्रत्येक को हिंदू महासभा का सदस्य या समर्थक बनने का भी उपदेश दिया और उस जिले में पार्टी की स्थापना की। जनसभा ने एक महत्त्वपूर्ण सीमा तक हिंदुओं का मनोबल बढ़ाया। मनोबल इतना बढ़ा कि गुलाम सरवर, जो उस वक्त एक सांप्रदायिक नेता के तौर पर उभर रहा था, को अपने समर्थन-आधार को बताना पड़ा कि डॉ. मुकर्जी से डरने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि वह कलकत्ता के भवानीपुर इलाके का महज एक होम्योपैथिक डॉक्टर है, जो सिर्फ भौंक सकता है, काटता नहीं है।

फिर भी, अंतत: त्रस्त हिंदू समुदाय की प्रवृत्ति ऐसी थी कि उसने अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मार ली। जब सन् 1946 में नलिनी रंजन मित्रा ने नोआखाली से विधानसभा चुनाव लड़ा और वह भी हिंदू महासभा के टिकट पर और डॉ. मुकर्जी के निजी समर्थन के साथ। लेकिन मतदाताओं ने आजादी के जुनून के मद्देनजर कांग्रेस उम्मीदवार हरन चंद्र घोष चौधरी को चुना। नरसंहार के दौरान नलिनी मित्रा ने खून की प्यासी मुसलिम भीड़ से खुद को बड़ी मुश्किल से बचाया था। उनके पूरे परिवार को जबरन इसलाम में परिवर्तित किया गया था और गोमांस खाने को भी बाध्य किया गया, लेकिन बाद में फिर उन्होंने अपना धर्म-परिवर्तन किया। यह धर्म-परिवर्तन डॉ. मुकर्जी की एक समाज-सुधारक के रूप में महान् उपलब्धि थी।

अब फिर वर्ष 1946 की ओर लौटते हैं—नरसंहार के बाद हिंदुओं की स्थिति की ओर । उस दौर में बंगाली हिंदुओं में यह सामाजिक प्रथा थी कि किसी को भी जबरन गोमांस खिलाया गया हो तो उसे हिंदू मानना बंद कर देते थे। विभिन्न युगों में हिंदू समाज में जो विभिन्न आत्मघाती लक्षण थे, यह उनमें से सबसे बुरा था और इसी कारण उसका आधार कमजोर हुआ। यहाँ तक कि कवि रवींद्रनाथ टैगोर का परिवार 'पीरअली-ब्राह्मण' के रूप में जाना जाता था। उनके किसी पुरखे को, एक गाँव से गुजरते हुए एक ऐसे मुसलिम कुनबे से होकर गुजरना पड़ा, जहाँ गोमांस पक रहा था और उसकी गंध हवा में तैरते हुए उसके नथुनों तक पहुँची थी। नतीजतन, अधिकतर ब्राह्मण परिवार उनके साथ वैवाहिक संबंध नहीं जोड़ते। इसी तरह किसी हिंदू स्त्री को एक ने, उसकी इच्छा के विपरीत, छू भर लिया हो तो वह हिंदू समाज में अपनी स्थिति खो देगी। उसे या तो मुसलिम बनना पड़ेगा अथवा वेश्या बनना पड़ेगा या आत्महत्या करनी पड़ेगी। सरवर के गुंडों ने हिंदुओं की इसी विशिष्टता का फायदा उठाया, जिन्होंने हिंदुओं को जबरन गोमांस खिलाया। अकसर उसी हिंदू की गाय को मारने के बाद ऐसा किया गया। अनेक महिलाओं का अपहरण किया गया, उन्हें देहात में ले जाया गया और हमेशा के लिए उन्होंने अपने परिवार खो दिए। बाकियों के साथ बार-बार बलात्कार किए गए और निर्ममता से कुचला गया। समस्त हिंदू आबादी को हतोत्साह की स्थिति तक, जानवरों के स्तर तक, ला खड़ा किया गया। यही स्थिति है, जिसमें सुचेता कृपलानी और अशोक गुप्ता सरीखे उद्धारकर्ताओं ने हिंदुओं को पाया। जब बताया गया कि वे उन्हें बचाने आए हैं तो हिंदुओं ने घोर उदासी, दु:ख और अनमनेपन वाली मनोदशा में कहा कि अब इसका कोई फायदा नहीं। वे अब हिंदू

नहीं रहे। कोई भी हिंदू उनके हाथ का पानी तक नहीं पीएगा।

उन स्थितियों में डॉ. मुकर्जी उन निर्देशों में आमूल परिवर्तन करते हुए आगे आए, जिनके जरिए हिंदू समाज ने अपने आत्मघाती सिलसिले को अभी तक चलाया था। वह रामकृष्ण मठ और मिशन के समीप गए। स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित यह संगठन पहले से ही इस संदर्भ में राहत कार्य कर रहा था। उन्हें प्रस्ताव दिया गया कि हिंदू धर्म के अभिभावक के तौर पर इस संदर्भ में उन्हें आगे आना चाहिए। रामकृष्ण मिशन तुरंत सहमत हो गया और मिशन के महासचिव स्वामी माधवानंद के हस्ताक्षर समेत उन्हीं के तत्त्वावधान में एक पुस्तिका प्रकाशित की गई। पुस्तिका में नवद्वीप समाज, भट्टापल्ली समाज, बाकला समाज, कोटलीपारा समाज, बिक्रमपुर समाज सरीखे हिंदू धार्मिक स्कूलों के पंडितों की पुष्टियाँ संकलित की गईं। महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री और बिजन मुकर्जी, कलकत्ता उच्च न्यायालय के जज और संस्कृत समाज के अध्यक्ष, सरीखे धार्मिक प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने भी इस अभियान का समर्थन किया था।

डॉ. मुकर्जी ने देश भर के प्रमुख संस्कृत विद्वानों और धार्मिक गुरुओं से इस आशय के निर्देश जारी करने के लिए भी संपर्क किया कि इनमें से किसी भी हिंदू को स्वयं को परिवर्तित महसूस नहीं करना चाहिए और न ही महिलाओं को अपने आप को अपवित्र मानना चाहिए। उन विद्वानों और गुरुओं में कांची कामकोटि पीठ के शंकराचार्य, गोवर्धन मठ के जगद्गुरु स्वामी योगेश्वर, आनंद तीर्थ (पुरी) और काशी (बनारस) पंडित सभा आदि के धर्म-पुरुष शामिल थे। ये सभी निर्देश स्वामी माधवानंद के प्रवचनकारी निबंध के साथ संलग्न किए गए और पुस्तिका में शामिल किए गए।

डॉ. मुकर्जी ने नोआखाली और टिप्पराह जिलों के प्रभावित इलाकों का दौरा किया और बँगला में एक बयान दिया, जिसमें उन्होंने अपनी पीड़ा को बयान किया। अनुवाद के शब्दों में उसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है—

''नोआखाली और टिप्पराह में जो हुआ, उसके कुछ निश्चित लक्षण हैं, जिनकी भारत में सांप्रदायिक दंगों के इतिहास में कोई तुलना नहीं है। बेशक नोआखाली का नरसंहार किसी भी तरह से एक सांप्रदायिक दंगा नहीं था। यह बहुसंख्यक द्वारा अल्पसंख्यक पर एक योजनाबद्ध और समन्वित हमला था। (पूर्वी यूरोप में यहूदियों के खिलाफ ऐसी ही काररवाई को 'पोग्रम' नाम दिया गया था—लेखक)। इस हमले का बुनियादी मकसद था—सामूहिक लूट, धर्म-परिवर्तन और हिंदू मंदिरों तथा देवी-देवताओं को पूरी तरह अपवित्र करना। हत्याएँ मुख्यत: प्रभावशाली हिंदुओं की हुईं, जिन्होंने उत्पात का विरोध किया। हिंदू स्त्रियों का बलात्कार और अपहरण भी योजना का एक अनिवार्य हिस्सा था। हमलों के दौरान जिन नारों का इस्तेमाल किया गया, उससे स्पष्ट है कि जिले को हिंदुओं से रहित करने और पाकिस्तान बनाने की ही योजना थी। तमाम हमलावर लीग के समर्थक थे और जानते थे कि कलकत्ता में उनकी ही सरकार की हुकूमत है। इसी से काफी हद तक इस काम को अंजाम देने की उनकी हिम्मत बढ़ी।

''ऐसा नहीं है कि यह नरसंहार कुछ गुंडों का ही काम था या वे कहीं दूर से आए थे। व्यावहारिक तौर पर स्थानीय मुसलमानों ने ही तमाम ज्यादतियाँ की थीं और जिले की ज्यादातर आबादी की उनकी हरकतों को खुली सहानुभूति थी। मुसलिमों के बीच कुछेक ही अपवाद थे,

जिन्होंने हिंदुओं को बचाने का बंदोबस्त किया था। हालाँकि उनकी संख्या नगण्य है। इस तरह जो हिंदू बचाए गए, लेकिन जो वहाँ से दूर भाग नहीं पाए, उनका जबरन धर्म-परिवर्तन कराया गया। जो हिंदू जान बचाने और धर्म रक्षार्थ भागने में कामयाब रहे, उनकी सारी चीजें लूट ली गईं। जिला प्रशासन के ध्यान में यह बार-बार और यथासमय लाया जाता रहा कि ऐसा नरसंहार हो सकता है; लेकिन प्रशासन ने उन लोगों के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाया, जो नफरत भड़का रहे थे। इन प्रशासकों ने साबित कर दिया कि वे अपने पदों पर रहने के काबिल नहीं थे। जब तक वे अपने पदों पर कायम रहेंगे तब तक जिले में अमन-चैन को बहाल करना बेहद मुश्किल होगा। ऐसे संकट के बाद भी नोआखाली में करीब 50 लोग और टिप्पराह में कुछ लोग अभी तक गिरफ्तार किए गए हैं। हजारों लोग सिर्फ तन पर पहने कपड़ों में ही अपने घरों से दूर भाग गए। अब उन्हें कोमिला, चाँदपुर, अगरतला और कुछ अन्य जगहों पर बनाए गए शिविरों में रखा गया है। ऐसे बेसहारा लोगों की कुल संख्या 50,000 और 75,000 के बीच होगी।

''इनके अलावा, अन्य 50,000 लोग अब भी उन इलाकों में घिरे हैं, जहाँ प्रशासन का कोई जोर नहीं चलता। इन लोगों को तुरंत बचाने की जरूरत है। उनका जबरन धर्म-परिवर्तन कराया गया था। उनके सामान लूट लिये गए और उनकी भावना को कुचल दिया गया। उन्हें अब मुश्किल से ही मानव कहा जा सकता है। उनके नाम बदल दिए गए हैं और उनकी स्त्रियों से बलात्कार किए गए हैं। उन्हें मुसलिम कपड़े पहनने को बाध्य किया गया है। पुरुषों को मसजिद में जाना पड़ता है। घरों में औरतों को मौलवियों द्वारा धार्मिक निर्देश दिए जाते हैं। यह तय करने को सभी कदम उठाए गए हैं कि वे अपने नैतिक नियमों से पूरी तरह कट जाएँ और उत्पीड़कों के सामने समर्पण कर दें।

''उन्होंने विरोध करने तक का साहस खो दिया है। बाहर से आनेवाले उन हिंदुओं से मिलने की हिम्मत भी उनमें नहीं है, जो उनसे मिलने आते हैं। प्रभावशाली हिंदुओं के नामों से इश्तहार छापे जा रहे हैं, जिनमें उनके हिंदू व मुसलिम नाम दिए जाते हैं और उनके जरिए कहा जाता है कि उन्होंने स्वेच्छा से इसलाम धारण किया है। उन्हें उपमंडल अधिकारियों को ऐसा लिखने को बाध्य किया गया है। वे स्थानीय मुसलिम नेताओं की लिखित इजाजत से ही अपने गाँव छोड़ सकते हैं। उनमें से कुछ ने नोआखाली के समीप चौमुहानी में मुझसे मिलने का बंदोबस्त किया और अपनी हृदय-विदारक कहानियाँ सुनाईं।

''तात्कालिक काम अल्पसंख्यकों को बचाने का है, जो अब भी वहाँ घिरे हुए हैं और पूरी तरह बहुसंख्यक समुदाय के शिकंजे में हैं। अभी हाल तक दंगाइयों ने संचार के साधनों को काटकर गाँवों को अगम्य बना रखा था। सेना ने उसे अब आंशिक तौर पर दुरुस्त किया है। लेकिन सिर्फ गाँवों तक पहुँच ही पर्याप्त नहीं है। हमारे कार्यकर्ताओं को हजारों हिंदुओं के मनोबल और विश्वास को बहाल करने के लिए गाँवों में जाना पड़ेगा।

''यह स्वागत योग्य घटनाक्रम है कि सेना ने प्रत्येक गाँव का दौरा करना तय किया है। उन्हें कुछ खास अफसरों को इन गाँवों से हटाना पड़ेगा। ऐसा न किया गया तो उन्हें कोई भी काम करने में बेहद कठिनाई होगी। दंडात्मक कर भी थोपे जाने चाहिए। ऐसे कर वर्ष 1942 के आंदोलन के दौरान अकेले हिंदुओं पर ही थोपे गए थे। इस बार सिर्फ मुसलिमों पर ही दंडात्मक कर लगाए जाने चाहिए, क्योंकि वे हिंदू अल्पसंख्यक को बचाने में नाकाम रहे। जब मैंने इस पहलू पर

अफसरों के साथ चर्चा की तो बताया गया कि कई मुसलिमों ने भी हिंदुओं की मदद की। मेरा प्रस्ताव है कि यदि कोई मुसलिम हिंदुओं की मदद करने का पर्याप्त प्रमाण पेश कर सकता है तो उसे छूट दी जा सकती है। बेसहारा हिंदुओं को उस राशि में से मुआवजा दिया जाए, जो दंडात्मक करों से वसूल की जाएगी।

''पुनर्वास तुरंत शुरू किया जाना चाहिए। फसल कटाई का समय नजदीक है। जिन्हें उनके घरों से निकाल बाहर किया गया है, ताकि वे फसल कटाई में से अपना हिस्सा हासिल न कर सकें, उस स्थिति में खाने को उनके पास कुछ भी नहीं होगा। हिंदुओं के पुनर्वास के संदर्भ में उन्हें सुरक्षा का एहसास कराया जाना चाहिए। उन्हें तब तक अस्थायी शिविरों में शरण दी जाए, जब तक उनके गाँवों में उनके घर व मंदिर दोबारा बन नहीं जाते और उनमें देवी-देवताओं को स्थापित नहीं कर दिया जाता। सिर्फ इससे ही उनका मनोबल बहाल होगा।

''मैं यह स्वीकार नहीं करता कि हमारे असंख्य भाई-बहनों ने, जिन्हें हिंदू धर्म छोड़ने को बाध्य किया गया था, उस संप्रदाय को छोड़ दिया है। वे जन्मजात हिंदू थे। वे अब भी हिंदू हैं और वे हिंदू के तौर पर ही मरेंगे। मैंने यह हर किसी को कहा है कि उन्हें हिंदू धर्म में वापस आने के लिए कोई प्रायश्चित्त करने का सवाल ही नहीं है। किसी भी तरह के प्रायश्चित्त की कोई बात बिलकुल नहीं होगी।

''उपद्रवग्रस्त इलाके से बचाई गई किसी स्त्री के संदर्भ में पाया गया कि किसी एक से उसकी जबरन शादी की गई है तो वह अपने परिवार में वापस जाएगी। अविवाहित लड़कियों की, जहाँ तक संभव हो सके, शादी की जाए। हिंदू समाज को एक स्पष्ट दृष्टि और भविष्य के विचार के साथ इस संत्रास व दहशत से बाहर आना चाहिए, अन्यथा इसका भविष्य अंधकारमय है।

''मैंने बचाव, सहायता और पुनर्वास के लिए नोआखाली और चौमुहानी में समितियों का गठन कर दिया। पाँच-पाँच कार्यकर्ताओं के 10 समूह, सशस्त्र रक्षकों के साथ, जल्दी ही प्रभावित इलाकों के लिए रवाना होंगे।

''मैंने पूर्वी बंगाल के एक छोटे से हिस्से को देखकर ही यह बयान दिया। हमने जो देखा और सुना, उसकी सभ्य समाज में कोई तुलना नहीं है। कलकत्ता समेत बंगाल के कई दूसरे हिस्सों में गड़बड़ियाँ, उपद्रव और तनाव हैं। प्रशासन ध्वस्त हो चुका है, जिसके लिए गवर्नर और प्रदेश कैबिनेट समान रूप से जिम्मेदार हैं। हमने कई बार चेतावनी दी, लेकिन उसका इनपर कोई असर नहीं हुआ। हम साफ देख सकते हैं कि प्रशासन में यही लोग रहेंगे तो कानून-व्यवस्था और बिगड़ जाएगी।

''बरबादी की इस घड़ी में हिंदू समाज को कुछ महत्त्वपूर्ण चीज को महसूस करना चाहिए, समाज को एकजुट रहना चाहिए, नहीं तो वह बरबाद हो जाएगा। शायद यह भगवान् की इच्छा है कि यह बरबादी हिंदुओं को जाग्रत् करेगी।

''अंधकार की इस घड़ी में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बंगाल में 3 करोड़ हिंदू रहते हैं। यदि हम खुद को संगठित कर लें और हममें से कुछ इन मुश्किलों का सामना बहादुरी और निश्चय से करने की हिम्मत रखते हैं तो अपने दुश्मनों पर काबू पा सकते हैं और अपनी मातृभूमि में हमें उचित अधिकार मिल सकता है।''

नोआखाली से कलकत्ता आने के बाद डॉ. मुकर्जी ने एक स्वयंसेवी समूह 'हिंदुस्तान नेशनल गार्ड्स' का गठन किया। उस समय में वैसा ही एक समूह 'मुसलिम नेशनल गार्ड्स' के नाम पर मौजूद था। मुसलिम लीग के खिलाफ ताकतों को डराना और झुकाना उसका काम था। मौजूदा समय के धर्मनिरपेक्ष ब्रिगेड इस गठन को फौरन फासीवाद करार दे सकते हैं या उससे भी बदतर। लेकिन टकराव के माहौल में और लीग की हुकूमत के बावजूद वर्ष 1946 में कलकत्ता के हिंदुओं में यह कदम एक करिश्मा साबित हुआ और हिंदुओं में विश्वास जगाया। नोआखाली और टिप्पराह जिलों में दौरा करने के साथ, हिंदुओं में विश्वास और मनोबल बहाल करने, सामाजिक सुधार के अपने एजेंडे पर काम करते हुए डॉ. मुकर्जी ने दूसरा जो अच्छा काम किया है—वह सोहरावर्दी सरकार को विधानसभा में 'कोड़े' लगाना था। तुलनात्मक रूप से यह एक छोटा भाषण था, जिसे नीचे उद्धृत किया गया है—

''सर, मेरी कोई इच्छा नहीं है कि मैं अपने दो माननीय मित्रों—अबुल हाशिम और फजलुल हक के भाषणों का संदर्भ दूँ। (सत्तारूढ़ पक्ष से आवाज आई—योर फ्रेंड!)। फिलहाल तुम्हारे मित्र हैं, जो तुम्हारी बरबादी का सबब भी बन सकते हैं! (हँसी)

''सर, मि. हाशिम ने, नोआखाली और चाँदपुर में जो कुछ हुआ है, उसके लिए बंगाल सरकार को बधाई दी है। मि. हक ने सरकार की निंदा की है। मैं इन दोनों को इन चुनावी भाषणों के लिए शुभकामनाएँ देता हूँ, जो उन्होंने सदन में दिए हैं।

''मैं इस प्रस्ताव के साथ खुद को जोड़ना चाहता हूँ और सदन के माननीय सदस्यों से अनुरोध करता हूँ कि वे गंभीरता से इस प्रस्ताव पर विचार करें। अंतत: नोआखाली और चाँदपुर में जो हुआ, उसकी सभ्य सरकार के इतिहास में कोई तुलना नहीं है। सर, मेरा आरोप यह है कि नोआखाली और चाँदपुर में बहुसंख्यक समुदाय के लोग अल्पसंख्यकों का बचाव करने में नाकाम रहे, बल्कि उन्होंने उनका दमन किया। मुसलिम लीग, जो बेशक मुसलिम समुदाय में ताकतवर और लोकप्रिय है, वह भी अल्पसंख्यक समुदाय का बचाव करने में नाकाम रही। मेरा एक और आरोप है कि सरकार भी बुनियादी जिम्मेदारी निभाने में बुरी तरह नाकाम रही, जिसके अफसरों ने, जिन्हें पहले से ही पता था, अल्पसंख्यक लोगों की जान-माल की रक्षा के लिए कुछ नहीं किया। ऐसा कहा गया है कि लीग को इसकी कोई जानकारी नहीं थी। नोआखाली और चाँदपुर में जो कुछ हुआ है, उसमें लीग की कोई भूमिका नहीं थी। गुलाम सरवर, जिसकी चुनाव में जमानत जब्त हो गई थी (सत्तारूढ़ पक्ष की ओर से नो, नो की आवाजें) या किसी भी लिहाज से वह बुरी तरह हारा था (मि. मुहम्मद हबीबुल्ला चौधरी ने कहा, हालाँकि तुमने उसे 20,000 रुपए दिए थे)—मैंने कुछ नहीं दिया, लेकिन भुगतान के बावजूद, सरवर जो चुनाव में हारा था, अचानक ऐसा लोकप्रिय बन गया कि चंद महीनों बाद ही वह मुसलिम अवाम को हिंसा के लिए भड़का सकता था! (सत्तारूढ़ मेजों से आवाज आई—लेकिन वह लीग में शामिल नहीं हुआ)। जाओ और अरेबियन नाइट्स की कहानियों के नए संस्करण में इन कहानियों को भी शामिल करो। ऐसा सदन में कहने से पहले करो। सर, नोआखाली में क्या हुआ? यह अल्पसंख्यकों का सामूहिक धर्म-परिवर्तन कराने की जान-बूझकर और सोची-समझी योजना थी।

''आप बननेवाले पाकिस्तान का प्रयोग कर रहे थे। (सत्तारूढ़ मेजों से आवाज आई—हाँ)

किसी में 'हाँ' कहने की हिम्मत तो है! मुझे खुशी है कि इस सदन में कमोबेश एक आदमी ऐसा है, जो यह कह सकता है कि बननेवाला पाकिस्तान कैसा होगा। (सत्तारूढ़ मेजों से आवाज—नो) बीच में बोलनेवाले ने कहा कि उस तरफ ऐसा कोई ईमानदार आदमी नहीं है! (हँसी)। यह सामूहिक जनसंहार नहीं था। सामूहिक कत्लेआम की योजना नहीं थी। मैं मानता हूँ। मारे गए लोगों की संख्या सही तरह से दर्ज नहीं की गई। लेकिन लीग का कोई सदस्य यह नहीं कह सकता कि नोआखाली में जो हुआ, वह बर्बरतापूर्ण नहीं था। सामूहिक धर्म-परिवर्तन शारीरिक हत्याओं से ज्यादा भयावह था। जो भी सामने आया, उसका विरोध किया, उसकी हत्या कर दी गई। (सत्तारूढ़ बेंचों से 'सवाल' करने का शोर)। यहाँ तक कि हिंदू धर्म के प्रतीक नष्ट कर दिए गए। हर जगह लूट-ही-लूट थी। चारों ओर आगजनी थी। महिलाओं के साथ बलात्कार के भी मामले थे, जिनकी सही संख्या उपलब्ध नहीं है। कुछ सप्ताह पहले, जब मैं दिल्ली में था तो यह सूचना मिली कि नोआखाली की दो लड़कियाँ पंजाब से मिली थीं। इस सदन का कोई भी सदस्य कैसे बरदाश्त कर सकता है, जिसमें थोड़ी सी भी शालीनता हो, कि सभ्य संसार में 1946 जैसी घटनाएँ हों? मैंने सोचा था कि जिन सदस्यों को संबोधित कर रहा हूँ, वे एक के बाद एक उठकर उन घटनाओं पर खेद व्यक्त करेंगे, शर्मिंदा होंगे और अपनी नफरत बयान करेंगे, जो लीग की हुकूमत के तले बंगाल में हुईं।

"अब सर, तरीका क्या था, जो इस्तेमाल किया गया? यह साबित हो चुका है कि मुसलिम लीग के लिए चंदे की माँग की गई थी, जो नोआखाली में लोगों ने सैकड़ों और हजारों में दिया। वह पैसा कहाँ गया? यदि फजलुल हक और अबुल हाशिम को मौका मिले तो उन्हें नोआखाली की जिला मुसलिम लीग से हिसाब-किताब माँगना चाहिए और यह पता लगाना चाहिए कि पैसा कहाँ गायब हो गया? उन जिम्मेदार हिंदुओं के दस्तखतवाले इश्तहार छापकर बाँटे गए, जिनका जबरन धर्म-परिवर्तन कराया गया और उन्हें यह ऐलान करने को कहा गया कि उन्होंने स्वेच्छा से ही इसलाम धारण किया था। और दूसरों को भी उनका अनुसरण करने को कह रहे हैं। ऐसे हजारों इश्तहार बाँटे गए। ऐसी चीजें कैसे संभव थीं? वे संभव थीं, क्योंकि मुसलिमों ने महसूस किया और उन्हें उकसाने, भड़काने एवं सलाह देनेवाले नेताओं को भी महसूस करना था कि कलकत्ता में जो हुकूमत थी, वह कानून-व्यवस्था स्थापित करने को नहीं आएगी और कुछ भी नहीं करेगी। यह भी महसूस न था कि पाकिस्तान वाकई में बन चुका है! अबुल हाशिम ने लक्खी बाबू का उल्लेख किया। क्या वह जानता था कि पंचगाँव एक जला हुआ गाँव था? उसने हिंदुओं को बचाने के लिए कुछ नहीं किया। क्या वह ऐसा जानता था? जब सेना के एक अफसर को झाट गाँव से बचाया गया और सेना-शिविर में लाया गया, तब खुद मैं चौमुहानी में था और उसने जो बयान दिया, वह हिला देनेवाला था। किसी ने भी तब तक विश्वास नहीं किया जब तक उसने अपने कानों से अपमान, घोर दुःख, मुसीबत और उत्पीड़न की दुःखद कहानी नहीं सुनी।

"अब सर, इस सबको रोका जा सकता था। दरअसल अधिकारी अपने दायित्व की आपराधिक लापरवाही के दोषी थे। मैं सरकार के सही तौर-तरीकों को समझ सकता था, यदि सरकार ने उसे रोकने को तुरंत कदम उठाया होता। लेकिन सरकार ने कुछ भी नहीं किया। जो अफसर इस जनसंहार के लिए जिम्मेदार थे और जिंदगी व जायदाद को बचाने में नाकाम रहे, उन्हीं अफसरों

को वहाँ रहने दिया गया और कुछ अफसरों का तुरंत तबादला कर दिया गया। सोहरावर्दी ने 1,50,000 लोगों को बिहार से कलकत्ता लाने का श्रेय लिया।

''दो बातों पर ध्यान दीजिए—एक नीति ने बिहार के मुसलिमों को प्रभावित किया और दूसरी तरफ, एक और नीति ने नोआखाली व चाँदपुर में हिंदू अल्पसंख्यक को प्रभावित किया। सरकार ने राशन रोकने और राहत उपायों को वापस लेने की धमकी दी, जब तक कि शरणार्थी तुरंत अपने घरों को वापस नहीं चले जाते। विश्वास को बहाल नहीं किया गया था, लेकिन राशन रोकने और राहत शिविरों को बंद किए जाने की धमकी पर उन्हें वापस जाने को बाध्य किया गया। लेकिन बिहार से लाखों मुसलिमों को बंगाल में लाया जा रहा था (इस समय पर नीली लाइट जलाई गई)।

''सर, मैं सिर्फ 6 मिनट बोला हूँ। मैंने सोचा कि आप मुझे 15 मिनट देंगे। सर, मैं सरकार से एक सीधा सवाल पूछना चाहता हूँ। मेरे सामने 11 बिंदु हैं, जिनकी मुसलिम लीग की अखिल भारतीय कार्यसमिति ने सूची बनाई है और निर्देश दिए हैं कि बिहार में मुसलिम अल्पसंख्यकों को किस तरह राहत दी जानी है। यदि सरकार बंगाल में हिंदू अल्पसंख्यकों को बचाने में ईमानदार है तो मुसलिम लीग सरकार बिहार में मुसलिम अल्पसंख्यक के लिए सौ फीसदी इसी सिद्धांत का आग्रह कर सकती है। (मुसलिम लीग मेजों से 'श्योरली, श्योरली' की आवाजें) यदि इसका ऐलान किया जाता है तो मैं जानता हूँ कि नोआखाली और चाँदपुर में पुनर्वास करना हमारे लिए उतनी ही जल्दी संभव होगा, जितनी लोगों ने अपेक्षा भी न की होगी। मैं सोहरावर्दी से पूछना चाहता हूँ कि वह किसके खर्च पर 1,50,000 मुसलमानों को बिहार से बंगाल लाए हैं—बंगाल सरकार के खर्च पर? बंगाल के लोगों के खर्च पर? उन्हें उन जिलों में रखा गया है, जहाँ हिंदू बहुमत में हैं। इसमें बिहार के मुसलिमों को राहत देना ही मकसद नहीं है, बल्कि बंगाल के उन हिस्सों में मुसलिमों की आबादी बढ़ाना है, जहाँ वे अल्पसंख्यक हैं। क्या इससे ज्यादा दुष्टतापूर्ण कार्य कुछ हो सकता है? क्या इससे ज्यादा हास्यास्पद कुछ हो सकता है?

''सर, सरकार से मेरी यह माँग है कि सरकार उन सिद्धांतों का सख्ती से पालन करे, जो मुसलिम लीग की अखिल भारतीय कार्यसमिति ने बिहार के मुसलिम अल्पसंख्यक को बचाने के लिए तय किए हैं। मसलन—बहुसंख्यक समुदाय पर दंडात्मक कर थोपना, तमाम अपराधियों की गिरफ्तारी और जेल हिरासत तथा जमानत रद्द करना। मुसलिम लीग की भी यही माँग है। इसी तरह हम हिंदू अफसरों और हिंदू सशस्त्र पुलिस की प्रभावित इलाकों में नियुक्ति की माँग करते हैं। ऐसे बड़े क्षेत्रों की स्थापना की जाए, जहाँ हिंदू बाशिंदे नोआखाली और चाँदपुर में एकत्र होंगे। जाँच गैर-मुसलिम अफसरों के हाथों में होनी चाहिए। बड़ी जगहों में कमोबेश 10 फीसदी हिंदुओं को बंदूक, राइफल आदि के लाइसेंस दिए जाने चाहिए। नोआखाली और चाँदपुर में कमोबेश 50 फीसदी हिंदू पुलिस के समेत सशस्त्र हिंदू अफसरों की नियुक्ति की जाए। यदि सोहरावर्दी वाकई अल्पसंख्यकों के व्यवहार में एक निरंतरता की अपेक्षा करते हैं, जो कि मुसलिम लीग की अखिल भारतीय कार्यसमिति की माँग है, तो यही माँगें बंगाल में हिंदू अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए भी लागू की जाएँ।''

नोआखाली पर चर्चा करते हुए नरसंहार के प्रति गांधी और डॉ. मुकर्जी की प्रतिक्रिया की तुलना करना फायदेमंद होगा। 'प्रत्यक्ष काररवाई' के बाद गांधी कलकत्ता से दूर ही रहे; लेकिन

नवंबर 1946 में नोआखाली का दौरा किया और फरवरी 1947 तक वहाँ रहे। उन्होंने उस सर्वनाश और जनदाह की भर्त्सना करते हुए कोई सार्वजनिक बयान नहीं दिया, जैसा कि डॉ. मुकर्जी ने किया। गांधी का नोआखाली दौरा उस अस्पष्ट और अनजान इलाके को देश के हर अखबार के पहले पन्ने पर ले आया और वास्तव में दुनिया का ध्यान भी खींचा। गांधी का मिशन हिंदुओं में विश्वास बहाल करना था, ताकि वे अपने-अपने गाँवों में लौट सकें। उनका तरीका अपने साथ के लोगों से स्थायी और अंतहीन प्यार करने का था। उन्होंने अपने लिए एक बेहद दंडित कार्यक्रम तय किया था। दूर-दराज के गाँवों में गए और वहाँ प्रार्थना-सभाएँ आयोजित कीं तथा पैदल ही कुछ बेहद मुश्किल भू-भागों की ओर चले गए। अपनी चाल की अविश्वसनीय गति से उन्होंने तूमचार और काजिरखिल से अटखोड़ा और लामचर सरीखे अजनबी गाँवों का दौरा किया।

उन्होंने अपनी सहयोगी श्रीमती अशोक गुप्ता और अन्य लोगों को अभियान की शुरुआत पर ही बताया—''किसी के भी प्रति दुर्भावना न रखो। निर्भय होकर काम करो और गाँववालों के साथ घुल-मिल जाओ। तुम्हें सफलता तभी मिलेगी, यदि तुम पूरी तरह निर्भय रहते हो, सत्य के मार्ग पर चलते रहोगे और कमजोर आदमी के भीतर विश्वास की प्रेरणा जगाओगे। दंगाई तुम्हारा सम्मान करेंगे, जब वे तुम में सच्ची निर्भीकता देखेंगे, कोई नकली बहादुरी नहीं।''

लुइस फिशर—अमेरिकी पत्रकार, जो गांधी के साथ नोआखाली गए—के अनुसार वह 'प्रायश्चित्त की तीर्थयात्रा' थी। उस तीर्थयात्रा में उन्होंने कोई जूते नहीं पहने। विरोधी तत्त्वों ने, जाहिर है कि मुसलिम लीगवालों ने, टूटे काँच, झरबेरी और कूड़ा-कचरा उनके रास्ते में बिखेरे थे। एक बार वह मुसलिमों के बीच में एक झोंपड़ी के फर्श पर बैठे थे और अहिंसा पर प्रवचन दे रहे थे। सुचेता कृपलानी ने उन्हें एक नोट दिया और कहा कि उनके दाएँ बैठे व्यक्ति ने अनेक हिंदुओं को मारा था। महात्मा मुसकराए और बोलते रहे।

27 जनवरी को पल्ला गाँव में उनसे पूछा गया, ''एक औरत को क्या करना चाहिए, जब उसपर हमला हो? क्या उसे आत्महत्या कर लेनी चाहिए?''

उनका निर्देश सकारात्मक था। दोषियों के खिलाफ मामले दर्ज करने के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा। उसके बजाय वह बलात्कार पीड़ितों को खुद को मारने की सलाह दे रहे थे।

यह स्वीकार करना चाहिए कि गांधी का हिंदुओं को वापस उनके गाँवों में लाने का मुख्य उद्देश्य पूरी तरह नाकाम रहा। उन गाँवों में, जहाँ वे मुसलिमों के बहुसंख्यक समुदाय के साथ, उचित समरसता से, हमेशा खुशी-खुशी रहते। यह नहीं हुआ, अच्छे इरादे और संवेदनशील कार्यों के बावजूद। इतिहासकार मुशीरुल हसन ने टिप्पणी की है, ''इससे पहले कभी ऐसा नहीं हुआ कि एक गंभीर और सच्चे प्रयास ने इतना कम हासिल किया हो।''

वर्ष 2010 में, विभाजन के 63 साल बाद और स्वतंत्र बँगलादेश बनने के 39 साल बाद, अब नोआखाली में बहुत कम हिंदू (करीब 3 फीसदी, 1946 में 18 फीसदी से कम) हैं, जो ब्रिटिश भारत में इस जिले में हुआ करते थे। पूरे बँगलादेश में हिंदुओं का अनुपात अब 9 फीसदी है, जो 1947 में 29 फीसदी से कम था।

गांधी-प्रवास के दौरान वहाँ का दौरा करते हुए नेहरू ने राममनोहर लोहिया को एक निजी बातचीत में नोआखाली के बारे में दिलचस्प बात बताई। ''नेहरू ने पानी, लिसलिसे पदार्थ, झाड़-

झंखाड़ और वृक्षों के बारे में बताया, जो उन्होंने पूर्वी बंगाल में हर जगह पाए। उन्होंने कहा कि यह भारत नहीं था, जिसे वह और मैं जानते थे; चाहते थे कि कुछ हिंसा और प्रचंडता के साथ पूर्वी बँगाल भारत के मुख्य भू-भाग से कट जाए। वह एक असाधारण अवलोकन था।''

क्या गांधी ने समझा था कि जिन्ना, सोहरावर्दी और सरवर सरीखे लोग ग्रेट कलकत्ता और नोआखाली नरसंहारों के जरिए क्या करने की कोशिश कर रहे थे? यह कल्पना करना मुश्किल है कि गांधी जैसा आदमी बेहद तीक्ष्ण बुद्धिमत्तावाला और जीवन भर राजनीति में रहने के बावजूद नहीं समझ पाया। लेकिन उन्होंने समझा और किसी को संकेत तक नहीं दिया। वे गृहयुद्ध छेड़ने की कोशिश कर रहे थे, और यह कलकत्ता तथा नोआखाली पर ही समाप्त नहीं हुआ। विभाजन के मद्देनजर पंजाब में जो हुआ और बाद में 1950, 1964 और 1971 के भूतपूर्व पूर्वी बंगाल में गृहयुद्ध से कुछ कम नहीं था। कश्मीर में अब भी एक भिन्न तरह का गृहयुद्ध जारी है और आतंकवाद के रूप में पूरे भारत की मुख्यधारा में छितरा गया है—मुंबई में 26/11 हमले की तरह।

कोई गृहयुद्ध प्यार और अहिंसा से नहीं जीता जा सकता। खासकर जिन्होंने युद्ध छेड़ा है, उन्हें अच्छे-बुरे का विवेक नहीं है। स्वामी विवेकानंद ने इंग्लैंड में एक भाषण में कहा था, ''ईसाई मुसलिमों को कहते हैं, आपकी नैतिकता के कुछ हिस्से सही नहीं लगते। उदाहरण के लिए, आपके ग्रंथ कहते हैं कि एक नास्तिक, काफिर को, जबरन मुहम्मद के धर्म में परिवर्तित किया जा सकता है और यदि वह इसलाम धर्म कबूल नहीं करता है तो उसे मारा जा सकता है और कोई मुसलिम ऐसे नास्तिक, काफिर को मारता है तो उसे जन्नत में प्रवेश मिलता है, बेशक उसके अपराध और पाप कुछ भी हों।'' जिन्ना और उनकी मुसलिम लीग को पुख्ता जानकारी थी कि उनके अनुयायी जानते थे कि जेहाद के धार्मिक सिद्धांत ने उनके बरताव को मंजूरी दी हुई थी। गांधी की अहिंसा ओसामा बिन लादेन के खिलाफ 15 मिनट भी टिक नहीं सकती थी और वह जिन्ना, सोहरावर्दी व सरवर के खिलाफ भी नहीं टिकी।

बाद के 60 वर्षों ने दिखाया कि विभाजन से एक भी समस्या नहीं सुलझी। न भारत के लिए और न ही पाकिस्तान के लिए, और न हिंदू व मुसलिम के लिए। दूसरी तरफ, इसने दोनों देशों और समुदायों के लिए विकट समस्याएँ पैदा कर दीं। भारत ने किसी तरह इन समस्याओं से पार पाया, एकजुट रहा और संपन्न हुआ। लेकिन पाकिस्तान को टूटना पड़ा। आज उसे एक नाकाम देश माना जाता है। बँगलादेश को अकसर 'इंटरनेशनल बास्केट केस' कहा जाता है; हालाँकि बाद में उसने वसूली के कुछ उत्साहजनक संकेत दिखाए हैं। दरअसल माउंटबेटन पहले ही जानते थे कि यह एक तबाही और बरबादी होगी। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था—''विभाजन एक नितांत पागलपन है और इस बेतुके सांप्रदायिक पागलपन के लिए कोई भी मुझे राजी नहीं कर सका। यह पागलपन प्रत्येक पर सवार है और कोई रास्ता खुला नहीं छोड़ा है। दुनिया की निगाह में इस पागल निर्णय के लिए जिम्मेदारी भारतीय नेताओं के कंधों पर डालनी चाहिए। एक दिन वे इस फैसले पर अत्यधिक खेद जताएँगे।''

इस गृहयुद्ध और करीब एक शताब्दी पहले उत्तरी व दक्षिणी अमरीकियों के बीच जो हुआ, उन दोनों के नाटकीय पक्षों पर दृष्टि डाली जाए। अमेरिकी युद्ध भी विभाजन के सवाल पर हुआ था। दोनों ही दिलचस्प तथ्यों का खुलासा करते हैं। गांधी विभाजन के लिए मान गए और जिन्ना

अपने पाकिस्तान के साथ एक विजेता के रूप में उभरे। लिंकन ने विभाजन का विरोध किया और गृहयुद्ध में कूद पड़े। वह भी संयुक्त राज्यों को एकजुट रखने के साथ विजेता के रूप में उभरे। जिन्ना विभाजन के वक्त लाइलाज तपेदिक रोग से पीड़ित थे और करीब एक साल के बाद स्वाभाविक मौत मर गए; लेकिन उनके बाद दूसरे स्थान के नेता लियाकत अली खान की हत्या कर दी गई। ऐसा ही गांधी और लिंकन के साथ हुआ। तमाम संभावनाओं के मद्देनजर डॉ. मुकर्जी की मौत को स्वाभाविक माना जाता है। (अध्याय 15 देखें)

अब गृहयुद्ध पर—डॉ. मुकर्जी ने मधुपुर में स्वास्थ्य-लाभ करते हुए (पिछला अध्याय देखें) 10 जनवरी, 1946 को अपनी डायरी (बँगला में) में लिखा था—''यदि हिंदू और मुसलिम एक साथ भारतीय संस्कृति व परंपरा को बरकरार रखने और अपने विश्वासों के मुताबिक साथ-साथ रहते हैं तो फिर कोई समस्या नहीं होनी चाहिए। लेकिन यदि मुसलिम अपने मजहब के प्रति अत्यधिक समर्पण दिखाकर हिंदुओं पर प्रभावी होने की कोशिश करते हैं तो क्या हिंदुओं को यह सोचना नहीं चाहिए कि वे अपने को कैसे बचा सकते हैं? हिंदू-मुसलिम समस्या गृहयुद्ध के बिना सुलझाई नहीं जा सकेगी (लेखक ने इस पर जोर दिया)। हम गृहयुद्ध नहीं चाहते, लेकिन यदि दूसरा पक्ष खुद को इसके लिए तैयार करता है और हम ऐसा नहीं करते तो हम युद्ध हार जाएँगे।''

इससे पहले 4 जनवरी को उन्होंने अंग्रेजी में लिखा—''अंतिम विश्लेषण में बल के प्रत्युत्तर में बल का प्रयोग किया जाना चाहिए। सशस्त्र हिंसा का प्रतिरोध न करनेवाली आंतरिक नीति अंततः समाज का विघटन कर देती है।''

उस व्यक्ति की नितांत दूरदर्शिता और उत्कृष्ट बुद्धिमत्ता चमककर सामने आई। यह याद रखा जाना चाहिए कि ये शब्द तब लिखे गए थे, जब किसी भी हिंदू ने विश्वास नहीं किया था कि देश का विभाजन होगा। जब कलकत्ता और नोआखाली के नरसंहार नहीं हुए थे। किसी ने भी उनकी नहीं सुनी थी। उनकी अपनी पार्टी हिंदू महासभा चुनावों में बुरी तरह हार चुकी थी और देश में हिंदू चेतना एवं विवेक पर गांधी के नेतृत्ववाली कांग्रेस हावी थी। हिंदू वह सुनते थे, जो कांग्रेस उन्हें बताती थी और आज नतीजा सामने है। जॉन मेनार्ड केंस की एक कहावत के अनुसार, 'लोग समझदारी भरा कार्य करेंगे, लेकिन तमाम विकल्पों के खत्म होने के बाद।'

□

9

बंगाल का वास्तुकार

(1947)

अब कोलकाता के नाम से विख्यात कलकत्ता शहर भारत के पश्चिम बंगाल राज्य की राजधानी है और भारत में तीसरा सबसे बड़ा महानगर है। सन् 1911 तक यह भारत की राजधानी था। आजादी के वक्त यह देश का पहला बड़ा शहर और ब्रिटिश साम्राज्य का दूसरा शहर था। लेकिन डॉ. मुकर्जी के लिए इस शहर ने अपनी यात्रा 1947 के बाद शुरू की। विभाजन के समय बंगाल अपना स्वतंत्र संप्रभुत्व राज्य की चर्चा प्रारंभ हो गई थी। तब तमाम संभावनाओं को देखते हुए संयुक्त संप्रभु बंगाल का या तो पाकिस्तान में विलय हो जाता अथवा खुद को एक इसलामी गणतंत्र घोषित कर देता और उस गणतंत्र के सभी गैर-मुसलिम जहन्नुम के सुपुर्द कर दिए जाते। पूर्व पाकिस्तानी हिंदुओं को, काफी हद तक, ऐसा ही कोई नरक भोगना पड़ता। (अध्याय 11 देखें)। डॉ. मुकर्जी के कारण ही आज यह भारत का हिस्सा और एक राज्य की राजधानी है, जहाँ 73 फीसदी हिंदू एवं 27 फीसदी मुसलिम सिर उठाकर एक साथ रहते हैं और उनमें परस्पर दोस्ती भी है।

सन् 1940 के दशक की शुरुआत तक जिन्ना मजहब के नाम पर मुसलिमों का पूरी तरह ध्रुवीकरण कर चुके थे। प्रख्यात इतिहासकार आर.सी. मजूमदार के अनुसार—''जिन्ना के आह्वान ने रातोरात मुसलिमों का सियासी दृष्टिकोण बदल दिया। उन्होंने मुसलिमों की मजहबी भावनाओं के तार को छुआ, जो पहले ही मुसलिम सियासत में एक सशक्त कारक साबित हो चुका था। देहात में मुल्ला कांग्रेस प्रचारकों के विरोध में खड़े हो गए थे। उन्होंने अपने समर्थकों को बताया और कहा कि राजनीति शुद्ध रूप से एक धार्मिक मामला है। उन्होंने हिंदुओं के अपने विश्वास के प्रति, उनके पुराने संदेहों को दोबारा जगाया।'' कांग्रेस का जो जन-संपर्क आंदोलन कुछ आगे बढ़ा था, मुल्लाओं के हमले से ध्वस्त हो गया। कांग्रेस ने जिन्ना के प्रचार का प्रतिरोध और उसे बेअसर करने के लिए जी-तोड़ कोशिश की और अल्पसंख्यकों के पूरे हकों की गारंटी देनेवाले प्रस्ताव पारित किए तथा देश के दूसरे तत्त्वों के साथ उनकी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जिंदगी को विकसित करने के लिए व्यापक संभावनाएँ तय करने की बात कही। कांग्रेस ने मुसलिमों को कहा कि वे भारत के लोगों की साझा भलाई और विकास के लिए पार्टी का सहयोग

करें। लेकिन इन सभी बातों को अनसुना कर दिया गया।''

धीरे-धीरे जिन्ना के पाकिस्तान ने उनके दिमाग में आकार ग्रहण कर लिया था। जब सन् 1933 में रहमत अली ने इंग्लैंड के कैंब्रिज में पाकिस्तान की कल्पना की थी, तो जिन्ना के दिमाग में पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र, ब्रिटिश बलूचिस्तान और कश्मीर थे, जिनके पहले अक्षर के साथ उन्होंने 'पाकिस्तान' शब्द बनाया था। उसके मायने ये भी हैं—'पवित्र, खालिस लोगों की जमीन।' बेस्ट सेलर किताब 'फ्रीडम ऐट मिडनाइट' के लेखक लैपीरे और कॉलिंस के मुताबिक, यह सबसे अस्पष्ट विचार था, जिसका जिन्ना ने 'एक असंभव सपने' की तरह तिरस्कार किया था। जब सन् 1940 में कराची में जिन्ना का 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पारित हुआ, तब उन्हें पता नहीं था कि इसमें क्या शामिल होगा; लेकिन उसी वक्त मुसलिम बहुल बंगाल में मुसलिम लीग सरकार की स्थापना (कांग्रेस ने सन् 1937 में भारी भूल की, क्योंकि उसने हक के साथ गठबंधन नहीं बनाया था) ने निश्चित तौर पर बंगाल को जिन्ना के सपनों के दायरे में ला दिया। तब वे पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान को जोड़ते हुए 40 मील के कॉरिडोर की माँग से गुजरे थे। उन्होंने बंगाल और असम को भी पूर्वी पाकिस्तान में मिलाने की माँग की थी। उन्होंने और उनके साथी सोहरावर्दी ने 'प्रत्यक्ष कारखाई' के तहत कत्लेआम कराया था और कलकत्ता में चार दिनों के अंतराल में ही अनुमानतः 17,000 लोग मारे गए थे।

जैसा कि बाद के अवलोकनों से सामने आया कि 'प्रत्यक्ष कारखाई' के कई मकसद थे। खास मकसद यह साबित करना था कि स्वतंत्र संयुक्त भारत का रहना एक असंभव कार्य है। कांग्रेस और अंग्रेजों को यह दिखाया गया कि सभी मुसलमान लीग के साथ हैं और मुसलिम अपने लक्ष्य के प्रति कितने प्रतिबद्ध व सक्षम हैं। दूसरा मकसद यह था कि महत्त्वपूर्ण शहर कलकत्ता को पाकिस्तान में मिलाना तय किया जाए। उस शहर में इस योजना को कैसे लागू करना था, जहाँ करीब 70 फीसदी आबादी हिंदू थी और उनके इर्द-गिर्द भी हिंदू बहुल गाँव थे? वस्तुतः, यदि पूरे बंगाल को पाकिस्तान का हिस्सा बनाना तय कर लिया जाता तो कोई समस्या न होती। लेकिन उसकी भी निश्चितता नहीं थी। एक रास्ता हिंदुओं को डराकर उन्हें शहर छोड़ने को बाध्य करने का था। लिहाजा नरसंहार के पीछे का एक मकसद यह भी लगता है। शायद यह विचार वहाँ से मिला, जब बंगाल पर कुछ जापानी बम गिराए गए थे और बंगाली हिंदू शहर छोड़कर भाग गए थे।

दरअसल जिन्ना और सोहरावर्दी सरीखे लोगों ने क्या किया? पाकिस्तान हासिल करने के लिए उन्होंने गृहयुद्ध छेड़ दिया। वे जानते थे कि एक गृहयुद्ध अहिंसा के साथ नहीं जीता जा सकता। यही एक चीज थी, जिसमें हिंदू अक्षम लगते थे। लिहाजा मुसलिम जीत जाएँगे। उन्हें पूरा यकीन था कि श्रेष्ठ हिंदुओं की प्रचुर संख्या को तो जेहाद के विचार से भरे एक-तिहाई मुसलिम ही पीट देंगे। हिंदुओं को बेहद क्षीण कर दिया जाएगा और वे विरोध करने लायक नहीं रहेंगे। लिहाजा वे पाकिस्तान और साथ ही कलकत्ता के लिए मान जाएँगे। लॉर्ड माउंटबेटन ने भी लैपीरे और कॉलिंस को बताया कि वर्ष 1947 के शुरू में उनके सहायक जॉर्ज अबेल ने बताया था कि देश एक गृहयुद्ध की ओर बढ़ रहा है। युद्ध आजादी के साथ समाप्त नहीं हुआ। यहाँ तक कि पंजाब में आबादी की अदला-बदली पूरी होने के साथ भी वह समाप्त नहीं हुआ। पूर्वी

पाकिस्तान में वर्ष 1950, 1964 और 1971 में जो हुआ, वह किसी युद्ध से कम नहीं था। उनके द्वारा अब भी उससे भी बदतर और घृणित युद्ध कश्मीर में लड़ा जा रहा है।

इस गृहयुद्ध की भविष्यवाणी करीब आठ महीने पहले डॉ. मुकर्जी ने 10 जनवरी, 1946 को अपनी डायरी लिखते हुए की थी। वह उनकी उल्लेखनीय राजनीतिक दूरदृष्टि का नतीजा था। डॉ. मुकर्जी ने अपनी डायरी में तब लिखा था, जब कहीं भी ऐसे किसी नरसंहार की कोई सुगबुगाहट तक नहीं थी।

दरअसल जिन्ना और सोहरावर्दी की योजना ने आंशिक रूप से ही काम किया। भारत का विभाजन हो चुका था, लेकिन कलकत्ता में हिंदुओं ने न केवल विरोध किया, बल्कि पूरी ताकत से लड़े भी। नतीजतन, उस लड़ाई में ज्यादा मुसलिम मारे गए और हिंदुओं को शहर छोड़कर भागने को डराया नहीं जा सका। नोआखाली नरसंहार 80 फीसदी मुसलिमों के साथ शुरू हुआ। वह नरसंहार गुलाम सरवर के सियासी आसारों को आगे बढ़ाने के मंसूबों के साथ शुरू किया गया था। कुछ हजार मारने के अलावा, कुछ हजार औरतों के साथ बलात्कार भी किया गया और एक लाख से ज्यादा हिंदुओं का जबरन धर्म-परिवर्तन कराया गया। (व्यावहारिक तौर पर सभी को वापस हिंदू धर्म में परिवर्तित किया गया।), लेकिन कत्लेआम से कोई भी मकसद पूरा नहीं हुआ। प्रतिक्रिया स्वरूप यह नरसंहार बिहार में सर्वदाह और सर्वनाश लेकर आया।

तब सोहरावर्दी ने मुसलिम लीग के कुछ साथियों के साथ एक नई योजना बनाई। उसने सबसे पहले प्रबल बंगाली होने का ढोंग किया, फिर एक मुसलिम और कुछ भोले-भाले हिंदू सहायकों के साथ 'संप्रभु, स्वतंत्र अविभाजित बंगाल' की जोरदार माँग की। वह ऊँची आवाज में चीखा-चिल्लाया कि बंगाल और बंगाली एक ही थे, बेशक उनका धर्म कुछ भी हो और उन्हें बाँटा नहीं जा सकता। दरअसल, उसे एक तथ्य को छिपाना पड़ा कि कुछ महीनों पहले ही उसने हिंदू बंगालियों का सामूहिक जनसंहार कराया था। यदि वह स्वतंत्र बंगाल, दरअसल कलकत्ता के साथ हासिल कर लेता तो हमेशा मुसलिमों की हुकूमत होती और वे नीति तय करते, क्योंकि वे संख्या में ज्यादा थे। उसके बाद पाकिस्तान में शामिल होना महज वक्त की बात होती।

दरअसल, सोहरावर्दी ने इस जुए के लिए काफी पहले तैयारी कर ली थी। यहाँ तक कि 'प्रत्यक्ष कारवाई' शुरू करने से पहले ही। 9 अगस्त, 1946 को एक अति महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक बयान में उसने केंद्र से बंगाल की संपूर्ण आजादी के ऐलान की धमकी दी, जिसकी हिंदू प्रेस ने व्याख्या की कि यह तुरंत पूरे बंगाल के 'पाकिस्तानीकरण' की धमकी थी। उसका निजी आग्रह सदा ही कलकत्ता पर था, क्योंकि उसके कई कारण थे। मूलतः पश्चिम बंगाल का होने के कारण इस शहर के साथ उसका लगाव था। यह यकीन करने के पुख्ता आधार थे कि उसने शहर में विशाल 'बेनामी जायदाद' बनाई थी। यही कारण है कि जो शख्स पाकिस्तान के लिए जी-जान से लड़ा, वही 14 अगस्त, 1947 को ढाका या कराची में नहीं, बल्कि कलकत्ता में था। पाकिस्तान जाने से पहले उसने अपनी जायदाद बेचने की कोशिश की थी और अंततः वह 1948 में पाकिस्तान गया। संयोगवश, शहर के प्रति सोहरावर्दी के इस अत्यधिक लगाव के कारण ऐसे ही कई बंगाली मुसलिम भी आशास्पद थे, जबकि बंगाल का विभाजन भी घोषित हो चुका था। कलकत्ता के पाकिस्तान में शामिल होने का ऐलान हुआ था। यह शहर सोहरावर्दी को हिंदुस्तान के लोगों ने

कभी छीनने नहीं दिया। बंगाल के प्रख्यात अर्थशास्त्री भवतोष दत्त, जो उस वक्त सरकारी इसलामिया कॉलेज (अब मौलाना आजाद कॉलेज के रूप में) में पढ़ाते थे, ने ध्यान दिलाया है कि उनके मुसलिम साथी अपने 'विकल्प फॉर्मों' में लिख रहे थे—'पाकिस्तान', लेकिन प्राथमिकता के तौर पर 'कलकत्ता'। उनमें से एक ने दत्त को यह बताते हुए सांत्वना देने की कोशिश की कि अंततः हावड़ा हिंदुओं के साथ ही रहेगा।

डॉ. मुकर्जी, जिन्होंने देश का विभाजन रोकने के लिए इतना लंबा और अनथक अभियान चलाया था, ने इस वक्त महसूस किया कि भयावह विभाजन अपरिहार्य था। उनके दिमाग में कोई संदेह नहीं था कि यदि पूरा बंगाल पाकिस्तान में चला गया तो अविभाजित प्रदेश के 47 फीसदी हिंदुओं की स्थिति बद से बदतर हो जाएगी। (जैसा कि पूर्वी पाकिस्तान के हिंदुओं के साथ बरताव से यह सच साबित हो चुका था)। लिहाजा उन्होंने प्रदेश के विभाजन को देश के विभाजन का स्वाभाविक परिणाम मानना तय किया और इस संस्कृत उक्ति का संभावित पालन करते हुए—'सर्वनाशे समूलपाने अर्द्धं त्यजेत् पण्डिताः'। लिहाजा उन्होंने प्रदेश के विभाजन के समर्थन में पार्टी लाइन से अलग बंगाली हिंदुओं को लामबंद करना शुरू किया।

विभाजन-आंदोलन 1946 के अंत से पहले ही 'बंगाल पार्टीशन लीग' की स्थापना के साथ ही सक्रिय था। इसका घोषित उद्देश्य था कि पश्चिम बंगाल के हिंदू बहुल जिलों में हिंदुओं के हितों की रक्षा के लिए एक अलग प्रदेश की माँग करना। बंगाल पार्टीशन लीग के प्रोत्साहक 'हिंदू भद्रलोक' थे, जो एक बार फिर अपने ही घर में खुद अपनी मरजी के मालिक बनने को दृढ़ निश्चयी थे। इसीलिए आंदोलन को पूरी तरह शुरू किया गया था। कलकत्ता नरसंहार के महीनों बाद कलकत्ता और आसपास के जिलों के बंगाली हिंदुओं को यह कहकर लामबंद किया गया कि वे 'प्रत्यक्ष कारवाई दिवस' को न भूलें और प्रदेश के विभाजन की माँग करें। पश्चिम बंगाल के हिंदू बहुल जिलों, जहाँ भद्रलोक हिंदुओं ने मुसलिम हुकूमत के अत्याचार और उत्पीड़न को बेहद तीव्रता से महसूस किया था, वे विभाजन आंदोलन के अग्रिम मोरचे पर थे। विभाजन के लिए वे प्रेस बैठकें कर रहे थे और असंख्य याचिकाएँ दायर कर रहे थे। इन याचिकाओं में हमेशा ही जोर देकर यह कहा गया, चूँकि मुसलिम लीग सरकार बंगाली हिंदुओं की जिंदगी, मुक्ति और जायदाद बचाने में हमेशा नाकाम रही है इसलिए स्वतंत्र इंडियन फेडरेशन के भीतर ही पश्चिम बंगाल प्रदेश को एक अलग राज्य बनाना चाहिए, ताकि मुसलिम राज के तले जीने के अस्वीकार्य अपमानों से वे खुद को बचा सकें। जमींदार, पेशेवर, सम्मानजनक सफेदपोश, क्लर्क एवं व्यापारिक समूह आदि आंदोलन में प्रभावी रहे और याचिकाएँ या तो कांग्रेस अध्यक्ष जे.बी. कृपलानी को संबोधित होती थीं अथवा डॉ. मुकर्जी और महासभा को भेजी जाती थीं। दो साल से भी कम समय पहले डॉ. मुकर्जी की अपमानजनक चुनावी हार के बाद बंगाली हिंदुओं ने अचानक महसूस किया कि लीग की हुकूमत से मुक्ति दिलाने की उनकी सर्वश्रेष्ठ उम्मीद उनके अतिरिक्त कोई नहीं है?

जैसे ही डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया कि बंगाली हिंदुओं को मुसलिम हुकूमत में निश्चित विनाश से बचाने का एक ही रास्ता है कि बंगाल को विभाजित किया जाए तो उन्होंने उसके मुताबिक ही लोगों की राय को शिक्षित और लामबंद करने के लिए अपने सभी संसाधन लगा दिए। उनके नेतृत्व में हिंदू महासभा—मुसलिम बहुमत के इलाकों के एकत्रीकरण की संभावना

उ.प्र. के मुसलिम जमींदार, पाकिस्तान के प्रथम प्रधानमंत्री और सन् 1950 में पूर्वी पाकिस्तान में हुए हिंदुओं के भयंकर नरसंहार के मास्टरमाइंड लियाकत अली खान

अनुसूचित जाति के नेता जोगेंद्र नाथ मंडल, जो मुसलिम लीग से मिल गए और पाकिस्तान में विधि एवं श्रम मंत्री बने। सन् 1950 में हिंदुओं के नरसंहार का विरोध करने पर लियाकत अली ने उन्हें बंदी बनाने की धमकी दी, तब वे भागकर भारत आ गए
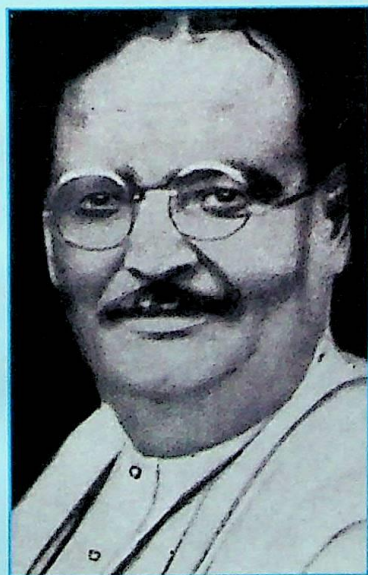
पश्चिम बंगाल से कांग्रेस के सांसद पं. लक्ष्मीकांत मैत्रा, जो पूर्वी पाकिस्तान के मसलों पर डॉ. मुकर्जी के प्रबल समर्थक थे

पश्चिम बंगाल के दो केंद्रीय मंत्री के.सी. नियोगी व डॉ. मुकर्जी, जिन्होंने नेहरू-लियाकत पैक्ट के विरोध में मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र दे दिया था

पश्चिम बंगाल के नदीया जिले के धुबुलिया के एक शरणार्थी शिविर में डॉ. मुकर्जी।
बालक संभवत: डॉ. मुकर्जी से पूछ रहा है, ''क्या पाकिस्तान में हिंदू होना इतना बड़ा गुनाह था कि उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया गया?''
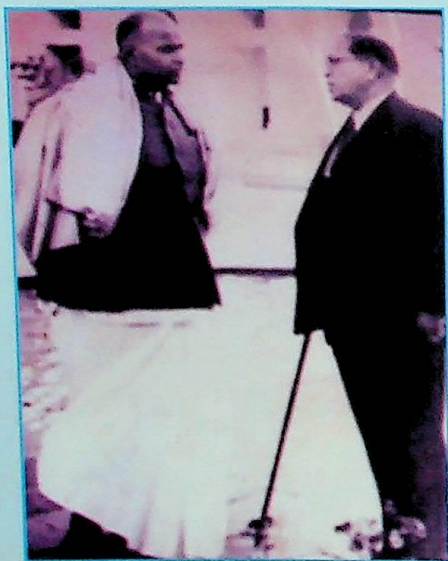
बाबा साहेब अंबेडकर के साथ डॉ. मुकर्जी
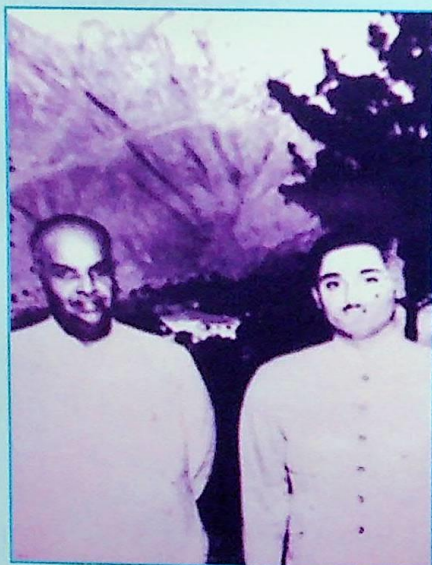
डॉ. मुकर्जी के साथ युवा डॉ. कर्ण सिंह

अप्रैल 1950 में केंद्रीय मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र देने के बाद हावड़ा स्टेशन पर उतरते डॉ. मुकर्जी

डॉ. बी.सी. रॉय (एकदम बाएँ), सरदार पटेल व कैलाश नाथ काटजू (सरदार पटेल के दाईं ओर) के साथ डॉ. मुकर्जी

मई 1953 में कश्मीर के अंतिम प्रवास पर जाते हुए लुधियाना में डॉ. मुकर्जी
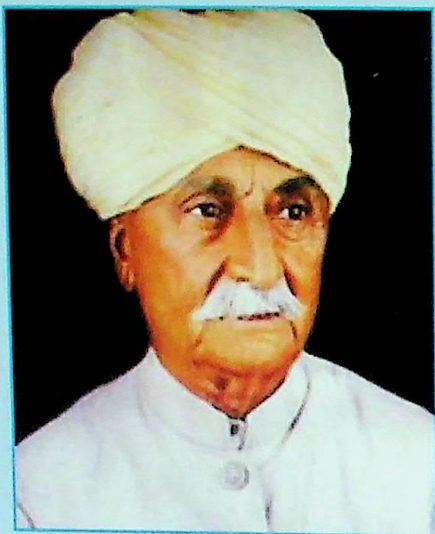
पं. प्रेमनाथ डोगरा
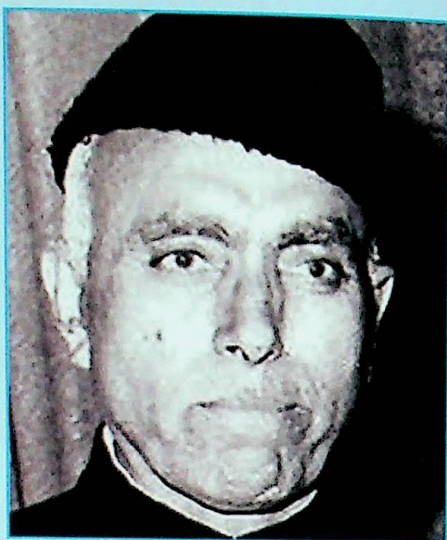
शेख अब्दुल्ला

श्रीनगर के निशात बाग की वह कॉटेज (जिसे नेहरू बँगला कहते थे), जहाँ डॉ. मुकर्जी ने अपने जीवन के अंतिम दिन बिताए
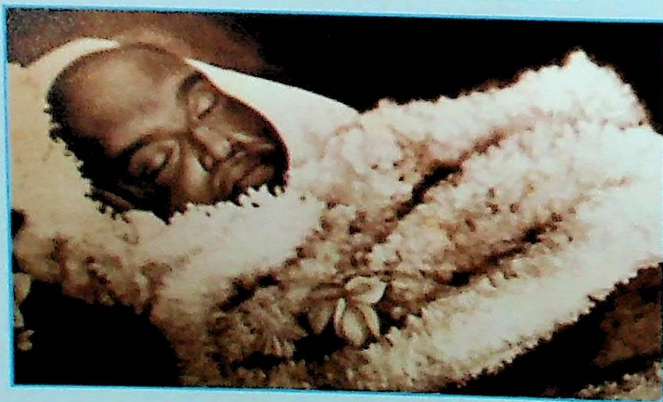
चिरनिद्रा में लीन
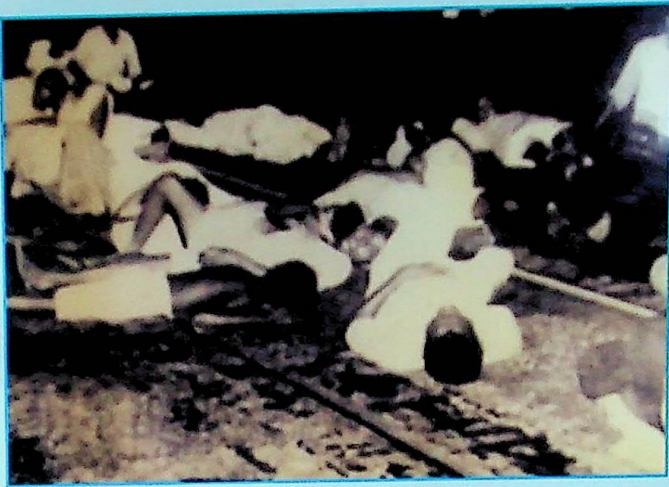
कलकत्ता में
मुकर्जी निवास
के समक्ष
डॉ. मुकर्जी के
शव के आगमन
की प्रतीक्षा में
ट्राम की पटरियों
पर सोए लोग

24 जून, 1953 को
दक्षिण कलकत्ता के
कालीघाट पोस्ट
ऑफिस के पास
डॉ. मुकर्जी की
शवयात्रा में उमड़ा
अपार जनसमूह
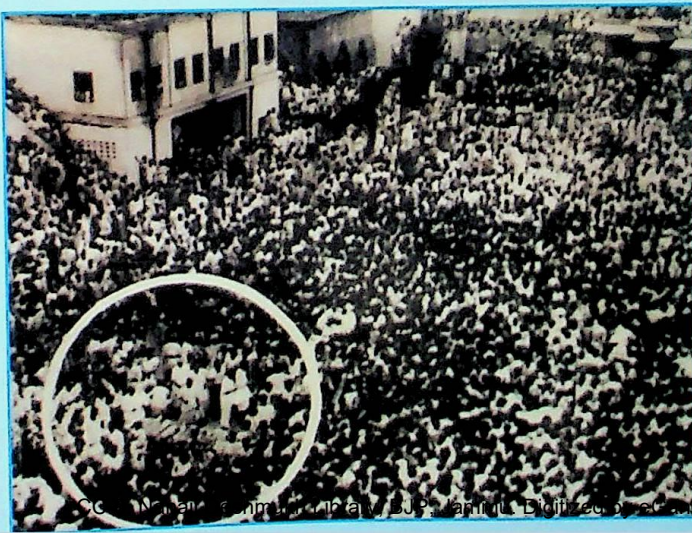
केवड़तला
शवदाह घाट
के निकट
का दृश्य
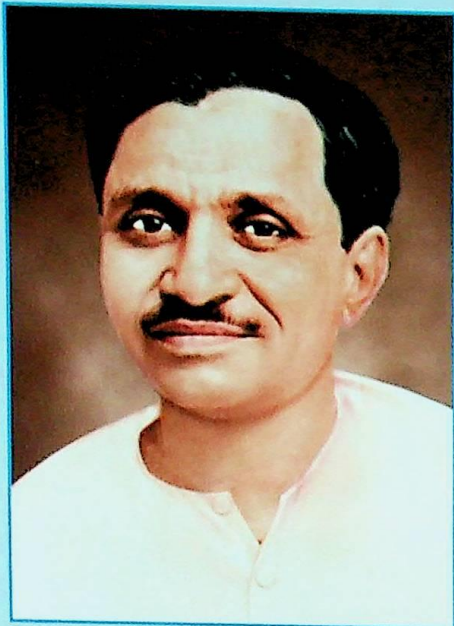
डॉ. मुकर्जी के उत्तराधिकारी
पं. दीनदयाल उपाध्याय

डॉ. मुकर्जी के सचिव
युवा अटल बिहारी वाजपेयी

बड़ी बेटी सविता बनर्जी का पुणे में अप्रैल 2010 में खींचा चित्र। एक साल बाद उनकी मृत्यु हो गई
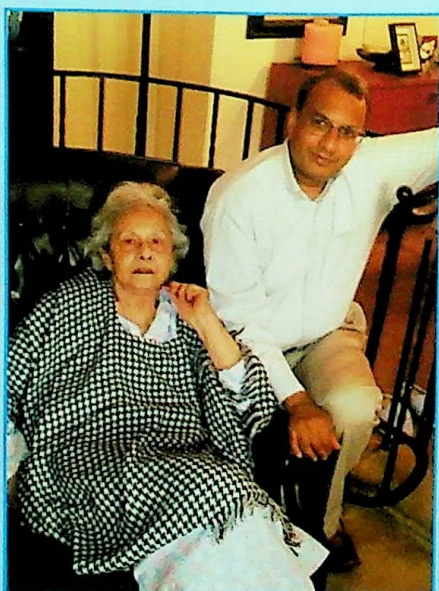
छोटी बेटी आरती भट्टाचार्जी व दौहित्र संदीप, 2011 में न्यूयॉर्क में खींचा चित्र

हिंदू महासभा के वरिष्ठ नेता निर्मलचंद्र चटर्जी (लोकसभाध्यक्ष रहे सोमनाथ चटर्जी के पिता), जिन्होंने संसद् में नेहरू और अब्दुल्ला पर उनके आचरण को लेकर तीखा हमला बोला

डॉ. मुकर्जी के निकट सहयोगी बलराज मधोक (2011 में उनके 91वें जन्मदिवस पर खींचा चित्र)
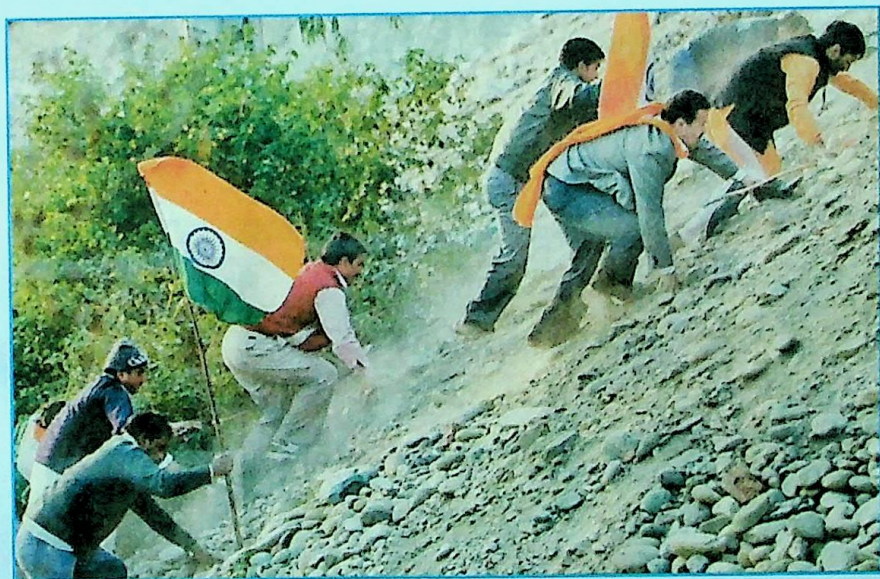
जनवरी 2011 में डॉ. मुकर्जी के पदचिह्नों पर चलते हुए रावी नदी के तट पर हाथ में राष्ट्रीय ध्वज लिये भारतीय जनता पार्टी के कार्यकर्ता खड़ी चढ़ाई चढ़ते हुए

"Independence" etc. should not blind the Hindus. The Hindu Mahasabha does not lag behind the Congress in its efforts for complete Independence of India. It too wants the British to "Quit". But, in the meantime, the Hindu Mahasabha does not want Hindus to commit political suicide and leave the field open to Moslem Communalists. Moreover, people should understand the ludicrous inconsistency of men who cry "Independence" and simultaneously strive for entry into legislatures where the first thing they will have to do is to take the pledge of loyalty to the King-Emperor. None but fools will be deceived by these mock-heroics.

But for Hindus, let the duty be understood clearly. They must show that in this moment of supreme crisis, in this life & death struggle, they are now determined to make the last effort for saving the Hindu nation by entrusting their interests in the hands of the representatives of the Hindu Maha-sabha. Now is the time for it. Now or never.

डॉ. मुकर्जी की हस्तलिपि

डॉ. मुकर्जी के गृहनगर कलकत्ता में लगी उनकी प्रतिमा

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के पिता सर आशुतोष मुकर्जी

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की माँ लेडी योगमाया
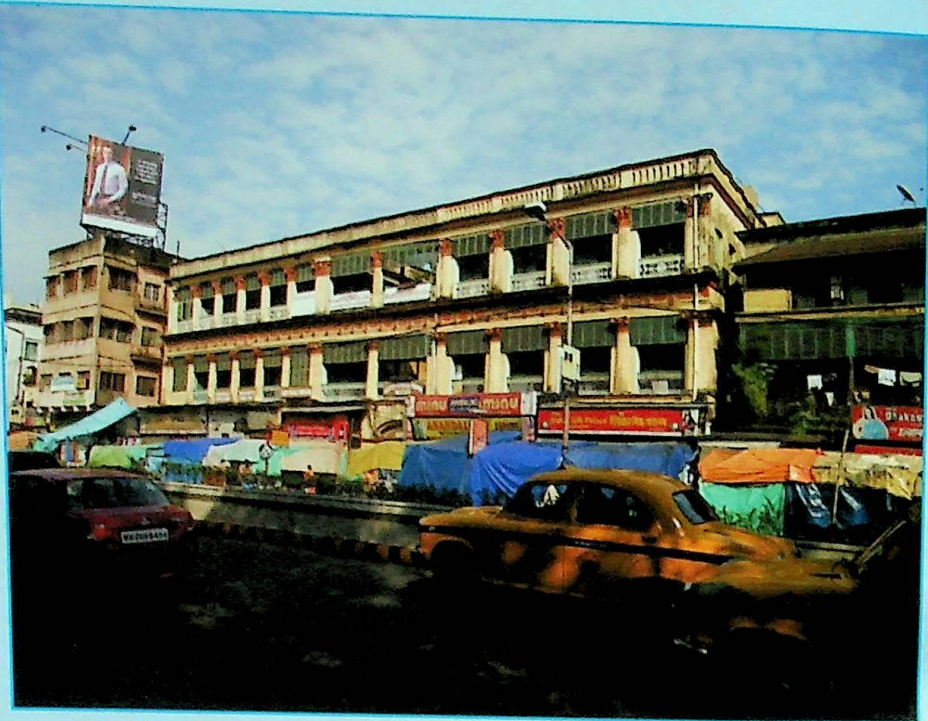
सर आशुतोष का 77 आशुतोष मुकर्जी रोड, कलकत्ता स्थित घर (डॉ. मुकर्जी का जन्मस्थान)
(यह चित्र सन् 2011 का है)

पिता-पुत्र : सर आशुतोष व
श्यामाप्रसाद, संभवत: 1910 में
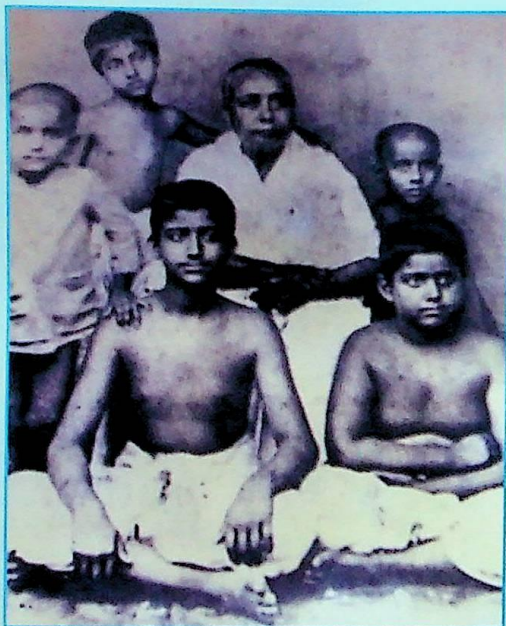
बाएँ से दाएँ पिछली पंक्ति : भाई बामाप्रसाद,
उमाप्रसाद, दादीजी जगततारिनी व बहन अमला
[illegible] प्रसाद, 1908

सन् 1919 में प्रेसिडेंसी कॉलेज, कलकत्ता के छात्र श्यामाप्रसाद

सन् 1922 में नववधू सुधा के साथ
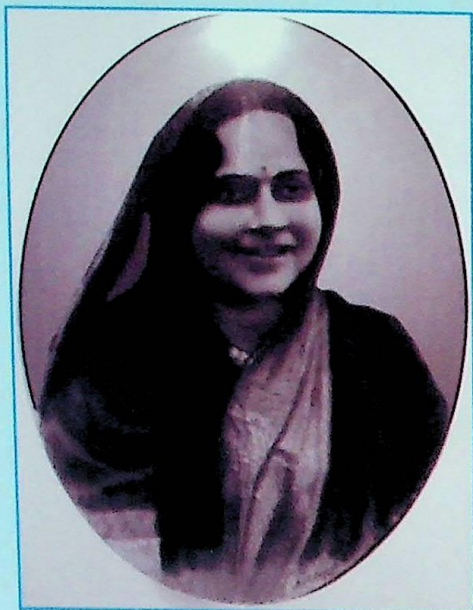
श्यामाप्रसाद की प्रिय पत्नी सुधा देवी,
इनका साहचर्य केवल 11 वर्ष रहा

भाभी तारा देवी, जिन्होंने श्यामाप्रसाद के
मातृविहीन बच्चों का लालन-पालन किया
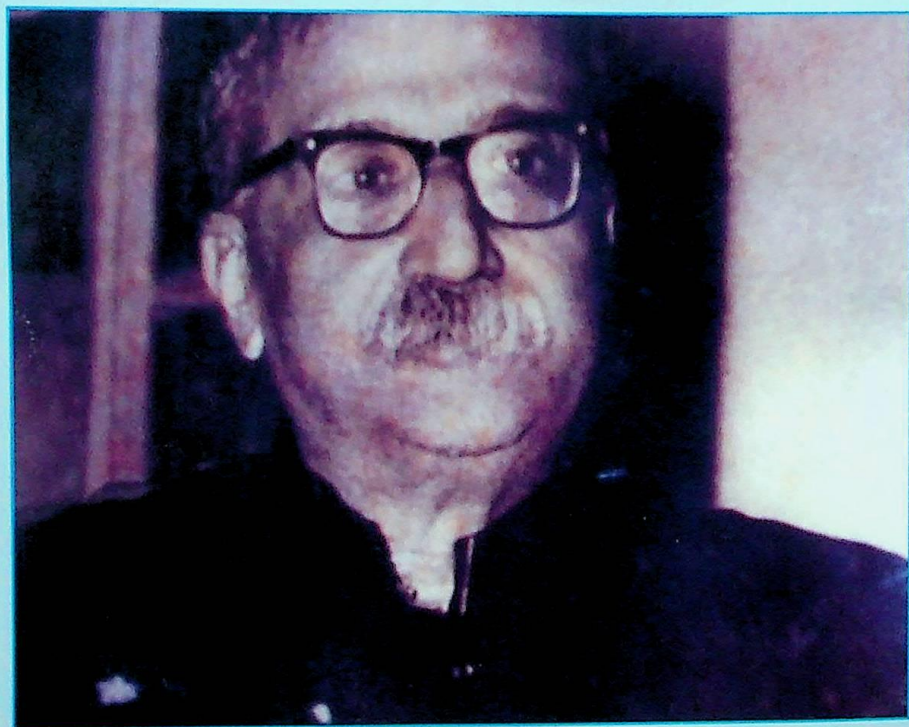
बड़े भाई जस्टिस रमाप्रसाद
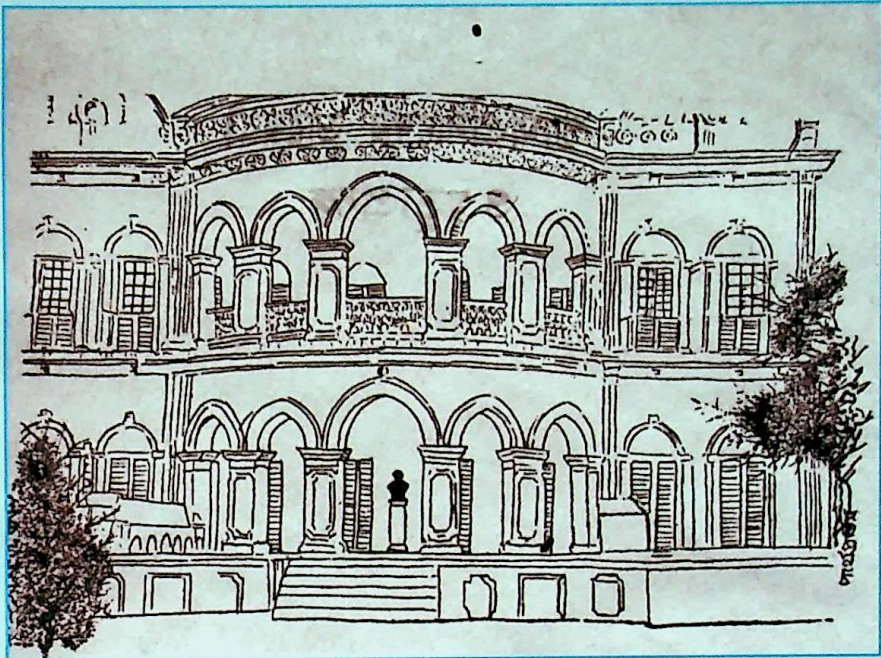
मधुपुर स्थित 'गंगाप्रसाद हाउस', जहाँ श्यामाप्रसाद ने अनेक वर्ष आनंद में बिताए। अब यह बिल्डिंग विद्यमान नहीं है

बाएँ से दाएँ, पिछली पंक्ति : अनुतोष, मनोतोष (बाद में जस्टिस), शिवतोष (बाद में प्रोफेसर)। बीच की पंक्ति : उमाप्रसाद, जस्टिस रमाप्रसाद, श्यामाप्रसाद, ललित कुमार चटर्जी (तारा देवी के पिता)। पहली पंक्ति : देवतोष, आरती, तारा देवी, सबिता, चित्ततोष (बाद में जस्टिस)
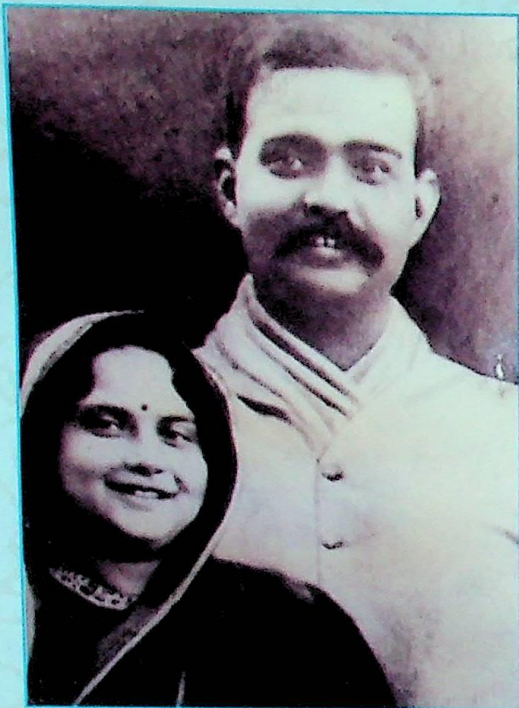
सुखद दिन : युवा दंपती श्यामाप्रसाद व सुधा देवी

इंग्लैंड में 'बार' की पढ़ाई करते समय
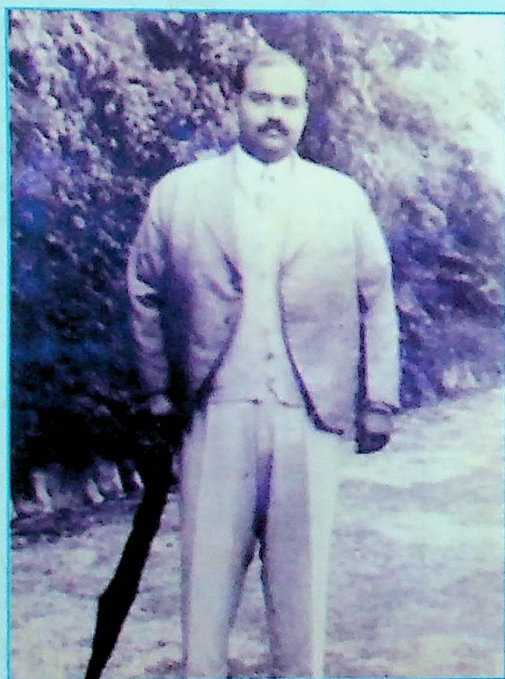
दार्जिलिंग में
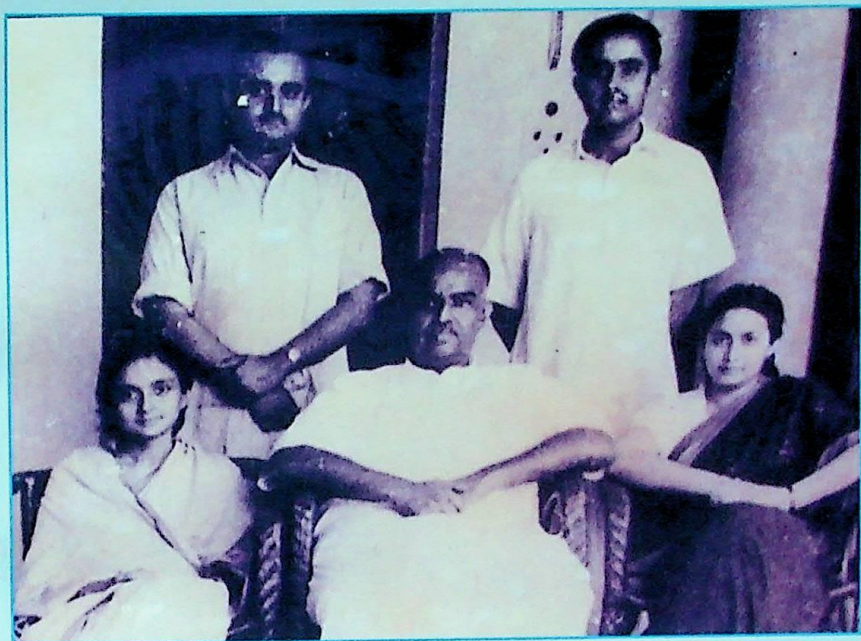
अपने बच्चों के साथ : बाएँ से दाएँ, खड़े हुए : अनुतोष, देवतोष,
बैठे हुए सविता, डॉ. मुकर्जी, आरती
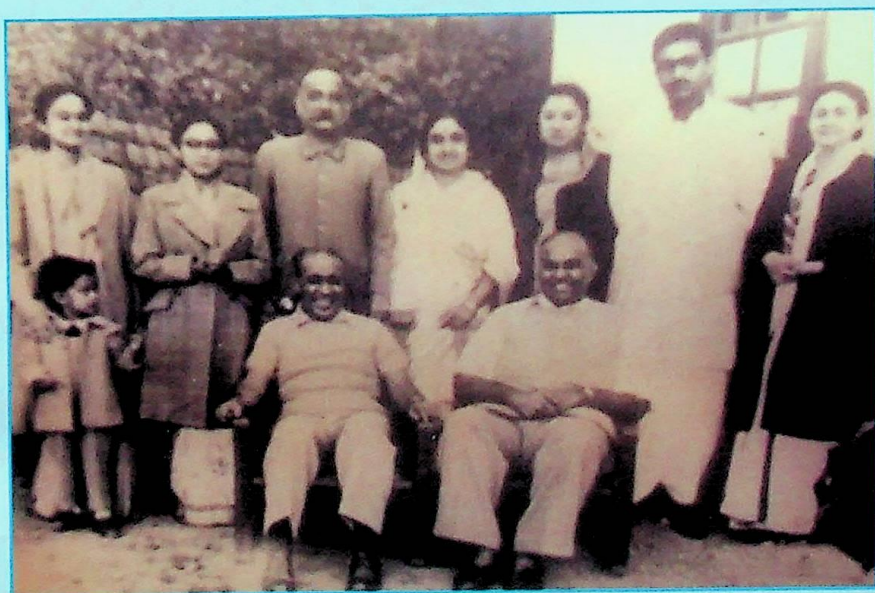
कसौली में आरती की बीमारी के दौरान : बाएँ से दाएँ, खड़े हुए : सविता बेबी मंजू के साथ, मीता (रमोला की बेटी), डॉ. अनंत नाथ चटर्जी (रमोला के पति), रमोला (बहन), इला (मनोतोष की पत्नी), मनोतोष (रमाप्रसाद के पुत्र), आरती; बैठे हुए : उमाप्रसाद, डॉ. मुकर्जी
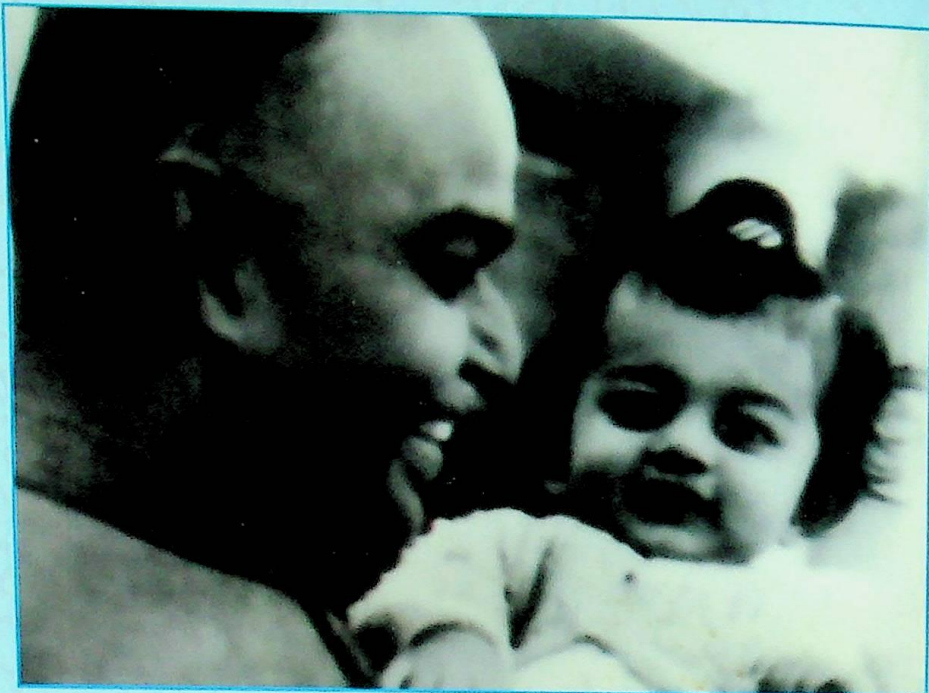
पौत्री मंजू के साथ
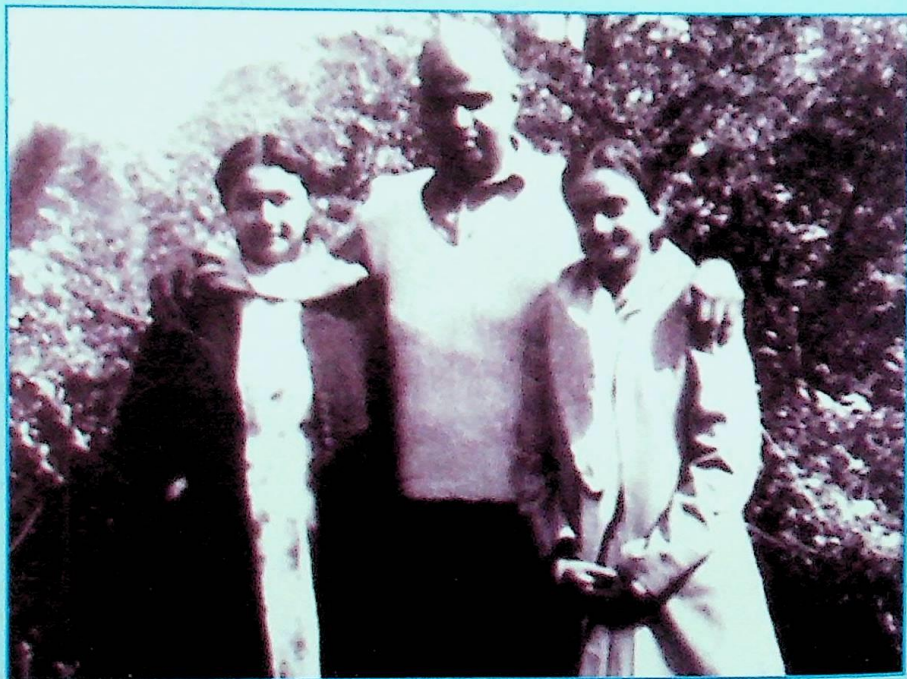
पुत्रियों सविता व आरती के साथ
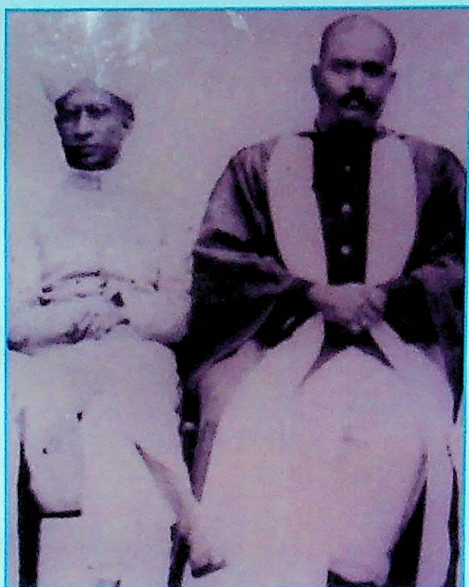
जीवन भर के पक्के मित्र :
डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन व डॉ. मुकर्जी

विश्वविद्यालय के परिधान में
सबसे युवा उपकुलपति

बॉम्बे यूनिवर्सिटी के दीक्षांत समारोह में हिंदू महासभा के अपने साथी एल.बी. भोपटकर
(डॉ. मुकर्जी के दाईं ओर) के साथ
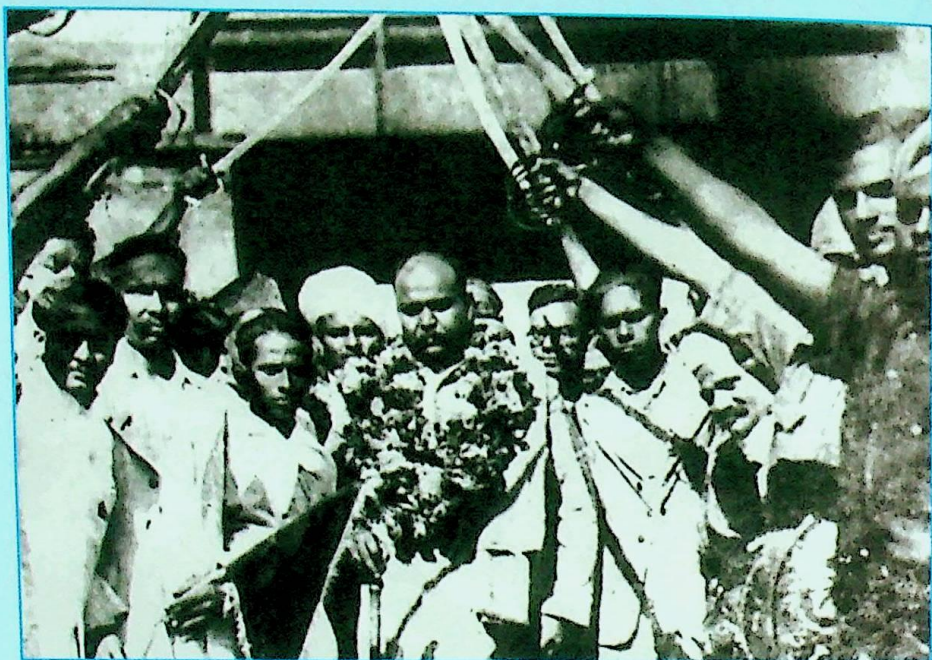
अमृतसर में हिंदू महासभा के सत्र में

सन् 1941 में भागलपुर में हिंदू महासभा की एक बैठक में स्वातंत्र्यवीर वि.दा. सावरकर के साथ

बंगाल में मुसलिम लीग सरकार के सेकंडरी एजुकेशन बिल के विरोध में एक बैठक में आचार्य प्रफुल्लचंद्र रॉय, जस्टिस मन्मथनाथ मुकर्जी व अन्यों के साथ

सन् 1943 में बंगाल में अकाल के समय कलकत्ता की गलियों के कुछ बीभत्स दृश्य
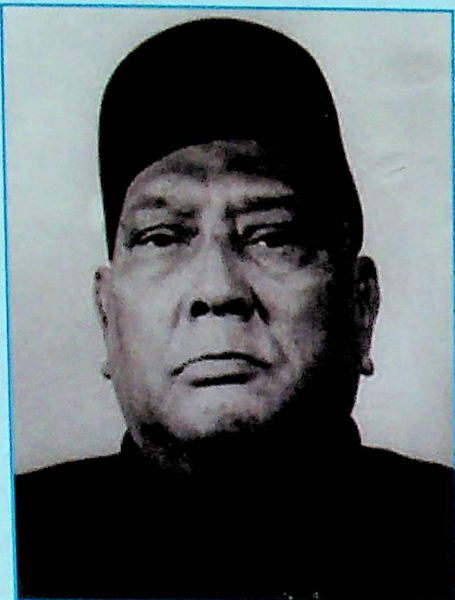
डॉ. मुकर्जी के विरोधी, पर कई बार कैबिनेट के सहयोगी अबुल कासिम मो. फजलुल हक

ख्वाजा नजीमुद्दीन, बंगाल में मुसलिम लीग सरकार के प्रमुख, जो बाद में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री बने
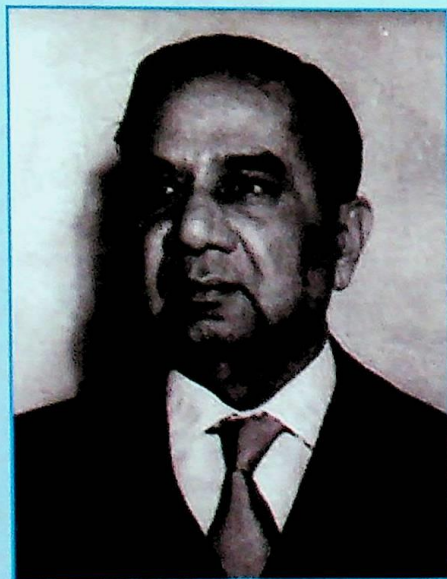
हुसैन शहीद सोहरावर्दी— मस्तमौला राजनीतिज्ञ। बंगाल में पड़े अकाल के समय खाद्य आपूर्ति मंत्री, बंगाल की मुसलिम लीग सरकार के प्रमुख, बाद में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री बने
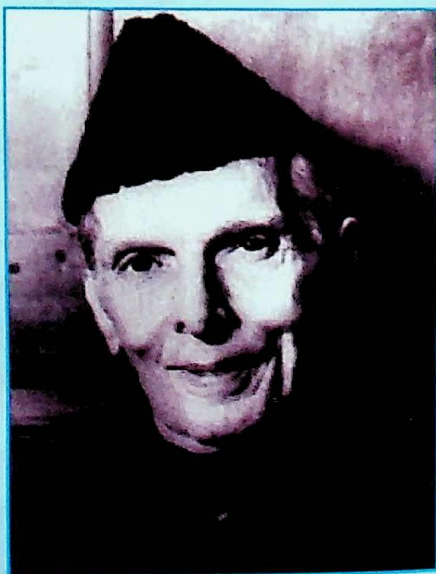
पाकिस्तान के जनक मोहम्मद अली जिन्ना, जिन्होंने 16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कारवाई' की घोषणा की
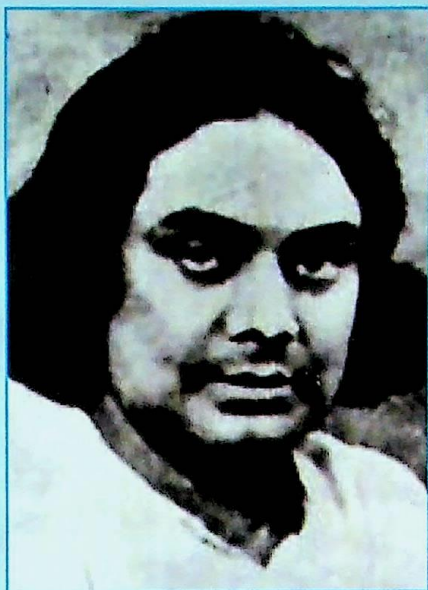
भारत व बँगलादेश में समान रूप से लोकप्रिय प्रसिद्ध बँगला कवि काजी नजरुल इसलाम, जिनकी डॉ. मुकर्जी ने काफी आर्थिक मदद की
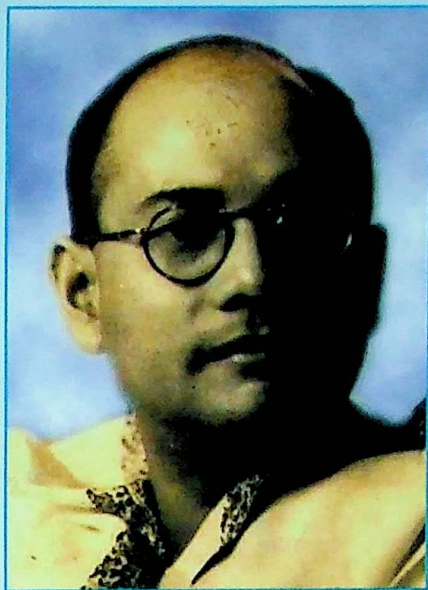
नेताजी सुभाषचंद्र बोस, जिनके प्रति डॉ. मुकर्जी का विशेष सम्मान था, पर डॉ. मुकर्जी की राजनीति उनसे एकदम भिन्न थी
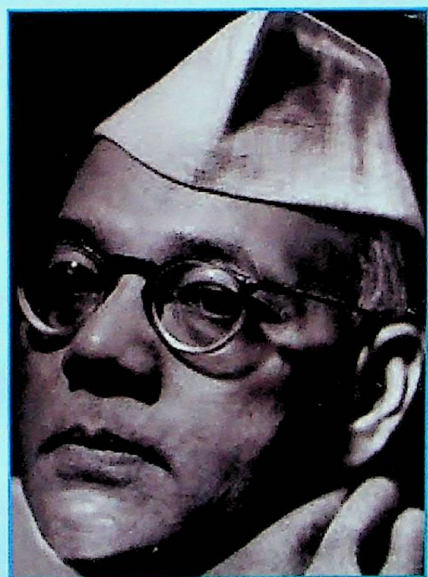
नेताजी सुभाषचंद्र बोस के बड़े भाई शरतचंद्र बोस
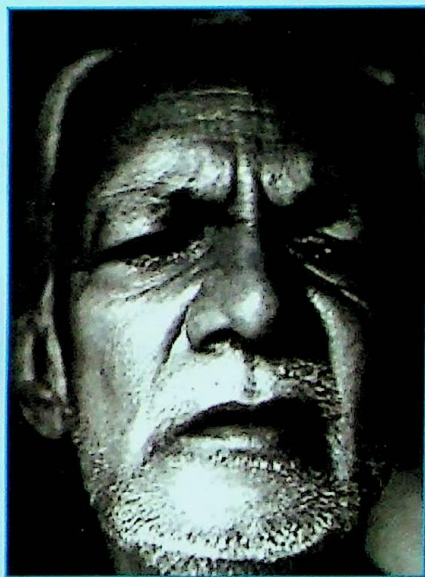
बर्दवान से मुसलिम लीग के नेता अबुल हाशिम

जिन्होंने मिलकर 'संयुक्त संप्रभु बंगाल' की योजना बनाई थी, जिसके विरुद्ध डॉ. मुकर्जी ने आवाज बुलंद की
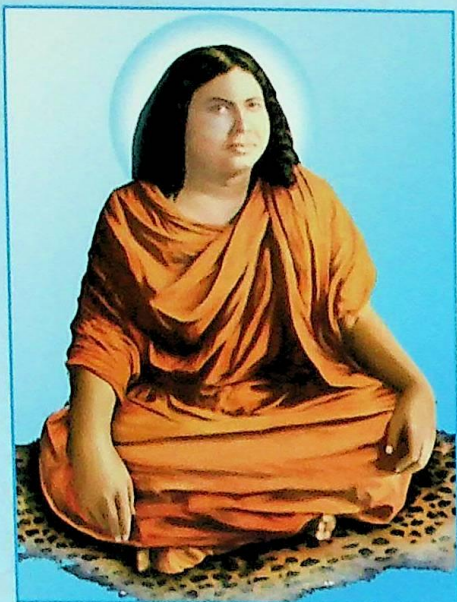
भारत सेवाश्रम संघ के संस्थापक पूज्य स्वामी प्रणवानंदजी, डॉ. मुकर्जी को राजनीति में जाने के लिए प्रेरित करनेवालों में प्रमुख
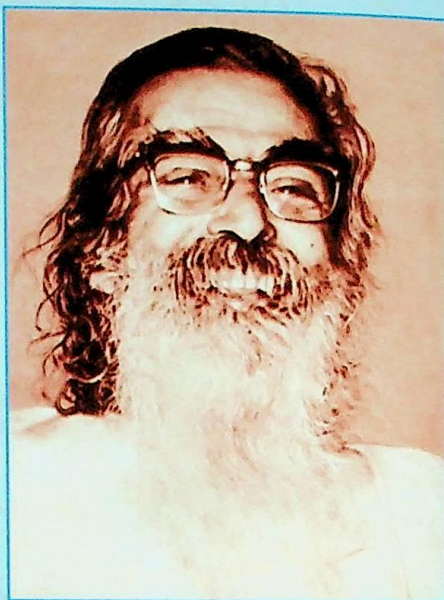
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्रीगुरुजी (गोलवलकरजी), जिन्होंने डॉ. मुकर्जी को एक राजनीतिक पार्टी दी

गोरक्षा समिति की एक बैठक में श्रीगुरुजी व अन्यों के साथ

केंद्रीय उद्योग एवं आपूर्ति मंत्री के रूप में डॉ. मुकर्जी एक सरकारी निरीक्षण के समय

महाबोधि सोसाइटी के प्रधान के रूप में डॉ. मुकर्जी व डॉ. राधाकृष्णन् महात्मा बुद्ध के शिष्य महामउग्गल्लना के अस्थि-कलश के साथ
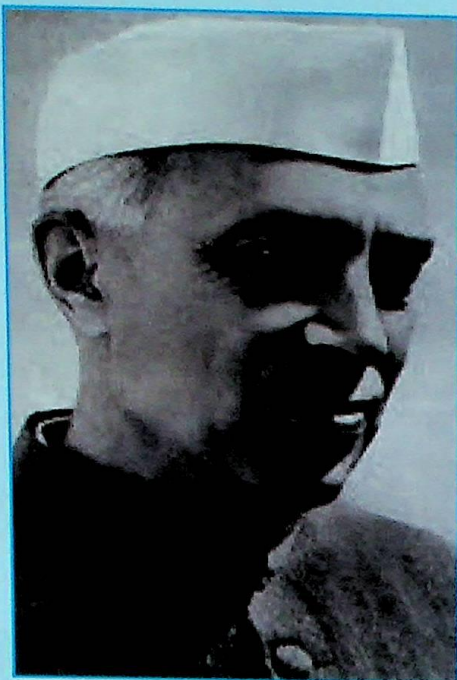
भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू; पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों के मुद्दे पर डॉ. मुकर्जी को नेहरू से कड़ी आपत्ति थी और उन्होंने अपना त्याग-पत्र दे दिया

...और भारत के प्रथम उप-प्रधानमंत्री लौह पुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल, जिनसे डॉ. मुकर्जी का कभी कोई मतभेद नहीं हुआ

स्वतंत्र भारत की प्रथम कैबिनेट, डॉ. मुकर्जी एकदम दाईं ओर बैठे हैं

सन् 1950 में पूर्वी पाकिस्तान से हिंदू शरणार्थियों को लाती ट्रेन

से भयभीत थी, जो खुद को पाकिस्तान में शामिल कर सकते थे—ने यह जाँच करने के लिए एक कमेटी गठित की कि पश्चिम बंगाल में एक अलग हिंदू प्रदेश की संभावना कितनी है। डॉ. मुकर्जी ने फरवरी 1947 तक इसी मुद्दे को लेकर आंदोलन शुरू कर दिया। उन्होंने पूरे बंगाल का तूफानी दौरा किया। जनसभाओं को संबोधित करते हुए उन्होंने बंगाल के विभाजन की अपनी योजना साहसपूर्वक आगे रखी। जैसे ही इस आंदोलन ने गति पकड़ी, यह आलोचना शुरू हो गई कि नए प्रदेश के सृजन से पाकिस्तान के मकसद को समर्थन मिलेगा। उन्होंने 9 मार्च, 1947 को एक विस्तृत बयान जारी करते हुए जवाब दिया कि बंगाल के एक क्षेत्र को पाकिस्तान से बचाने के मद्देनजर यह आंदोलन चलाया गया था, जोकि पाकिस्तान के उद्देश्य को समर्थन देने के लिए था। कुछ लोगों ने इस आधार पर आलोचना की कि धार्मिक आधार पर बंगाल का विभाजन राष्ट्रवाद के बुनियादी सिद्धांत के खिलाफ होगा तो उन्होंने मुँहतोड़ जवाब दिया कि जब पूरे बंगाल में मुसलिमों का सांप्रदायिक उन्माद प्रभावी होने जा रहा है, तब हिंदुओं का केवल अपने लिए क्षेत्र की माँग करना उचित है, जहाँ वे एक स्वतंत्र नागरिक की तरह रह सकें। यह भी आलोचना की गई कि मुसलिम लीग द्वारा उनकी योजना का कड़ा विरोध किया जाएगा। उन्होंने कहा कि उनकी अपेक्षा है कि यदि योजना सफल रही तो 'पूर्वी पाकिस्तान वाकई में समाप्त हो जाएगा।' इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि बंगाल में सभी हिंदुओं को इस महान् मुद्दे पर भावनाओं के बजाय संपूर्ण यथार्थ के साथ देखना चाहिए और एकजुट होकर खड़ा होना चाहिए। उन्होंने अपना महत्त्वपूर्ण बयान बंगाल में कांग्रेस पार्टी से अपील के साथ समाप्त किया कि राष्ट्रवादी बंगाल और भारत के व्यापक हितों में इस आंदोलन का समर्थन करे।

बंगाल-विभाजन की योजना के लिए डॉ. मुकर्जी की सुविचारित और सशक्त पैरवी एक बड़ी संख्या में कांग्रेसियों को अपनी ओर करने में सफल रही। 9 मार्च, 1947 को दिल्ली में एक बैठक में सेंट्रल एसेंबली के बंगाली हिंदू सदस्यों ने इसे ग्रहण कर लिया। महासभा के एन.सी. चटर्जी और आई.एन.ए. के जनरल ए.सी. चटर्जी की स्वीकृति से विभाजन की माँग वाला एक प्रस्ताव पारित किया गया। उसके बाद 15 मार्च, 1947 को कलकत्ता में दो दिवसीय सम्मेलन शुरू हुआ, जिसमें बंगाल के सभी हिस्सों से हिंदू प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन बंगाल क्षेत्रीय हिंदू महासभा के तत्त्वावधान में हुआ, जिसके अध्यक्ष डॉ. मुकर्जी थे। महासभा सदस्यों के अलावा आमंत्रित लोगों में लॉर्ड सिन्हा, डॉ. आर.सी. मजूमदार, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, भवतोष घटक, ईश्वर दास जालान और हेमेंद्रप्रसाद घोष जैसे गण्यमान्य लोग भी शामिल थे। सम्मेलन में सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया गया कि एक अलग प्रदेश बनाया जाए, जिसमें बंगाल के हिंदू बहुल इलाकों के लोग रहें। एक कमेटी का गठन भी किया गया, जो ज्ञापन तैयार करेगी, जिसे अगले सम्मेलन के सामने रखा जाएगा।

19 मार्च को डॉ. मुकर्जी ने एक बयान में जोर देकर यह कहा था कि उनके 'हिंदू बंगाल' के मौजूदा प्रस्ताव का उद्देश्य बंगाली हिंदुओं को बचाना था और राष्ट्रवाद के सिद्धांत की भी रक्षा करना था, जो कि उनका प्राण था। लॉर्ड कर्जन की विभाजन योजना, 1905 से इसकी बिलकुल भी समानता नहीं। उसका मकसद तो 'राजद्रोहवादी' बंगाली हिंदुओं पर जानलेवा प्रहार करना था। कांग्रेस का अभिमत इस समय बेहद विभाजित था। एक ओर 10 मार्च को नेहरू

अकेले में वावेल को बता रहे थे कि 'कैबिनेट मिशन योजना सबसे अच्छा समाधान है, यदि उसे लागू किया जा सके, पंजाब और बंगाल का विभाजन ही एकमात्र वास्तविक विकल्प है।' दूसरी ओर शरत बोस ने निंदा की और गांधी ने बंगाल विभाजन आंदोलन को स्वीकृति नहीं दी। बोस ने सोचा कि धार्मिक आधार पर प्रदेशों का विभाजन कांग्रेस की परंपराओं और सिद्धांतों से एक हिंसक प्रस्थान होगा। लिहाजा वह सांप्रदायिक समस्या के समाधान के लिए कोई आधार नहीं था। हालाँकि गांधी ने इस मुद्दे पर कोई गहरी एवं सशक्त सक्रियता नहीं दिखाई, क्योंकि और बहुत सी चीजें थीं, जिनकी चिंता करनी थी। बोस अपनी अधिकतर विश्वसनीयता खो चुके थे, क्योंकि उन्होंने 22 नवंबर, 1945 को छात्र-आंदोलन का नेतृत्व करने से इनकार कर दिया था।

उसी दौरान डॉ. मुकर्जी विभाजन-आंदोलन के कुशल प्रबंधन के जरिए वह करने में सफल रहे, जिसकी कोशिशें उन्होंने लंबे समय से की थीं—हिंदू हितों के लिए कांग्रेस महासभा के साथ मिलकर काम करेगी। जब 17 अप्रैल को महासभा की कार्यसमिति ने पंजाबी मुसलिम पुलिस वालों के दुर्व्यवहार के खिलाफ विरोध जताते हुए एक दिन की हड़ताल करने का फैसला लिया तो महासभा नेताओं ने साझा कार्य-योजना बनाने के लिए कांग्रेस नेताओं की सलाह ली। पश्चिम बंगाल को एक अलग प्रदेश बनाने की माँग पर प्रादेशिक कांग्रेस और हिंदू महासभा ने सहमति जताई थी। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने 22 अप्रैल, 1947 को एक ओपिनियन पोल कराया था, जिसमें विभाजन को वाकई एक सर्वसम्मत विश्वास मत मिला—98.6 फीसदी वोट विभाजन के पक्ष में और मात्र 0.6 फीसदी संयुक्त बंगाल के पक्ष में। डॉ. मुकर्जी ने 23 अप्रैल को वायसराय माउंटबेटन के साथ 'अति गोपनीय' मुलाकात की, जिसमें उन्होंने खुलासा किया कि उनके आगमन का मुख्य उद्देश्य बंगाल-विभाजन की अनिवार्यता पर वायसराय को यकीन दिलाना था। डॉ. मुकर्जी ने साथ में यह भी जोड़ा कि यदि कैबिनेट मिशन योजना नाकाम हो गई तो फिर यही एकमात्र विकल्प था। उन्होंने कई योजनाओं और कागजात का इस्तेमाल करते हुए मुद्दों पर लंबी चर्चा की और उन प्रपत्रों को वायसराय के चीफ ऑफ स्टाफ लॉर्ड इस्मई को दे दिया। मई 1947 में कलकत्ता में महासभा और कांग्रेस ने साझा तौर पर एक विशाल जनसभा का आयोजन किया। विभाजन के मुद्दे पर उस रैली की अध्यक्षता इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने की थी। बेशक वह किसी भी तरह डॉ. मुकर्जी के मित्र नहीं थे, लेकिन अब बंगाल-विभाजन के प्रबल समर्थक थे। बैठक में आनेवाले दिनों में 76 जनसभाओं का प्रारूप तय कर लिया गया, जो विभाजन के मुद्दे पर दोनों दलों द्वारा साथ-साथ मिलकर आयोजित की जानी थीं। यह तब तक चलता रहा, जब तक जुलाई में यह स्पष्ट नहीं हो गया कि वास्तव में बंगाल का विभाजन किया जाएगा।

2 मई, 1947 को डॉ. मुकर्जी ने बंगाल और भारत के दूसरे हिस्सों में हिंदुओं के एक बहुत बड़े वर्ग के प्रवक्ता के रूप में माउंटबेटन को एक लंबा पत्र लिखा और कहा कि यदि ब्रिटिश प्रशासन यह ऐलान कर दे कि वह कैबिनेट मिशन योजना के प्रमुख सिद्धांतों को छोड़नेवाला नहीं है तो मुसलिम लीग का इनकार और बाधक बनने का रवैया बदल जाएगा, हालाँकि इस समय में कैबिनेट मिशन योजना मृत के समान थी और देश का विभाजन लगभग एक अनिवार्यता थी। पाकिस्तान का विरोध करते हुए हिंदू दृष्टिकोण से और भारत के व्यापक हित में उन्होंने खुलासा

किया कि पंजाब और बंगाल का विभाजन क्यों होना चाहिए, बिना यह विचार किए कि भारत का विभाजन होगा या नहीं। यह उनकी सशक्त पैरोकारी ही थी, जो बंगाल के हिंदुओं को विभाजन के समर्थन में ले आई और ब्रिटिशों को बंगाल-विभाजन की अनिवार्यता का यकीन दिलाया। उन्होंने ही लीग की संयुक्त संप्रभु बंगाल की काल्पनिक योजना जो बंगाली हिंदुओं के लिए खतरनाक थी, को खारिज करने के लिए ब्रिटिश सरकार को तैयार किया।

उन्होंने दलील दी कि बंगाल के विभाजन का पहला कारण विशुद्ध रूप से प्रशासनिक है। करीब 78,000 वर्ग मील इलाकेवाला और 6 करोड़ से ज्यादा आबादी का बंगाल, ब्रिटिश भारत में, सबसे खराब प्रशासनवाला क्षेत्र था। बंगाल की मौजूदा सीमाओं में से ही दो प्रदेशों का सृजन संभव और अत्यधिक वांछनीय था। दूसरे, बीते 10 वर्षों के दौरान बंगाल के हिंदुओं ने न केवल सांप्रदायिक दंगों और गड़बड़ियों के कारण कष्ट झेले, बल्कि राष्ट्रीय गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में भी—चाहे वह शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक या यहाँ तक कि धार्मिक भी हो। बंगाल के विकास की ओर अपना असीम योगदान देने के बावजूद इनकी अपने ही प्रशासन में कोई आवाज नहीं है। तीसरे, बंगाल के अलगाव से बहुत कम विस्थापन हुआ, क्योंकि दोनों मुख्य समुदाय दो सघन क्षेत्रों में रहते थे। हिंदू बंगाल करीब 35,000 वर्गमील तथा करीब 2.4 करोड़ आबादीवाला प्रदेश होता और वह भारत के कुछ मौजूदा प्रदेशों एवं यूरोप, अमेरिका के कुछ राज्यों के बराबर और उनसे बड़ा ही होता। चौथे, दो-तिहाई से ज्यादा हिंदू आबादी, अनुसूचित जातियों की करीब 76 लाख में से करीब 45 लाख आबादी समेत, हिंदू बंगाल में ही रहेगी। इससे दो प्रदेशों में दोनों मुख्य समुदायों को मौका मिलेगा, जिन्हें भारतीय संघ के भीतर ही रहना चाहिए कि वे अपनी सर्वश्रेष्ठ योग्यता और परंपरा के मुताबिक विकसित करें। अपने बीच के द्वेष और संघर्ष को धीरे-धीरे खत्म करें और अंततः सीखें कि उनके प्रदेशों में अल्पसंख्यक समुदाय के उनके अपने हितों की अच्छी और पूरी तरह रक्षा की जानी चाहिए।

दूसरी तरफ उन्होंने यह भी दलील दी कि यदि भारत को सांप्रदायिक आधार पर विभाजित किया जाना था तो बंगाल का विभाजन अनेक कारणों से एक तात्कालिक अनिवार्यता बन गई। पहले जिन्ना का पाकिस्तान के लिए दावा इस परिकल्पना पर आधारित था कि हिंदू और मुसलिम दो अलग-अलग देश हैं। मुसलिमों की अपनी मातृभूमि और अपना देश होना चाहिए। बंगाल के हिंदू यह माँग कर सकते थे कि उन्हें मुसलिम देश या उनके प्रभाव-क्षेत्र के भीतर रहने को बाध्य न किया जाए और उस क्षेत्र को मुसलिम क्षेत्र से काटकर एक ऐसा क्षेत्र बनाया जाए, जो खुद को 'हिंदुस्तान संघ' के साथ जोड़ सके। जिन्ना ने इस माँग का कभी भी विरोध नहीं किया, जैसा कि 16 मई, 1946 की कैबिनेट मिशन योजना में बताया गया था कि जो तर्क-वितर्क पाकिस्तान पर लागू होते हैं, वही बंगाल के विभाजन पर भी होंगे। यदि भारत की आबादी के 24 फीसदी मुसलिम अल्पसंख्यक विश्वास करते हैं कि अलग मातृभूमि और अलग देश की उनकी माँग का प्रतिरोध नहीं किया जा सकता तो 45 फीसदी बंगाल हिंदू आबादी निश्चित तौर पर इससे बड़ी अल्पसंख्यक थी, जिसे अपने लोगों की इच्छा के खिलाफ पाकिस्तान में रहने को विवश नहीं किया जा सकता था। तीसरे, डॉ. मुकर्जी ने इस तर्क को 'विशुद्धतः शैक्षिक' माना कि यदि बंगाल और पंजाब के विभाजन किए गए तो भारत के दूसरे हिस्सों के भी उसी आधार पर विभाजन करने

पड़ेंगे। यदि भारत में अन्य क्षेत्र इतने विशाल होते कि सांप्रदायिक आधार पर अलग प्रदेश बनाए जा सकते थे तो उनके दावों को उनकी विशेषताओं के मद्देनजर उचित ठहरा दिया जाता। निश्चित रूप से पूर्वी बंगाल में हिंदू बहुल आबादीवाले अनेक कस्बे थे और हिंदुओं के कई अन्य छोटे-छोटे क्षेत्र भी थे; लेकिन उन्हें नए प्रदेशों के रूप में गठित करना न्यायसंगत नहीं माना गया। चूँकि हिंदू बहुल इलाके उनसे संबद्ध थे और इतने विशाल थे कि एक अलग प्रदेश बनाया जा सकता था, लिहाजा महासभा विभाजन के लिए उनके दावों को आगे रखने में सही थी।

चौथे, आबादी और जायदाद को स्थानांतरित करनेवाली जिन्ना की बात का उल्लेख करते हुए डॉ. मुकर्जी ने कहा कि अविभाजित बंगाल के पाकिस्तान के साथ मिलने पर करीब 2.6 करोड़ हिंदू भी स्थानांतरित होंगे, जो बिलकुल असंभव था। दूसरी तरफ, यदि बंगाल का विभाजन हुआ तो स्थानांतरण का सवाल, जो मुसलिम बंगाल में करीब 90 लाख हिंदुओं और हिंदू बंगाल में करीब 60 लाख मुसलिमों को प्रभावित करेगा, तुलनात्मक रूप से बेहद आसान होगा। अंततः संप्रभु अविभाजित बंगाल की कुछ 'कच्ची और गैर-जिम्मेदाराना बातचीत' कि असल में वह पाकिस्तान होगा और हिंदुओं को किसी भी तरह की राहत नहीं देगा। संप्रभु बंगाल का संविधान बनाने का मुख्य काम मुसलिम लीग के हाथों में छोड़ दिया जाएगा, जो एक अलग राष्ट्रवाद की धर्मांध धारणा से निर्देशित होगी, लिहाजा महासभा बंगाली हिंदुओं की नियति को उनके हवाले करने को तैयार नहीं और न ही वे चाहते थे कि किसी भी आधार पर उन्हें शेष भारत से काटा जाए। माउंटबेटन को बताया गया, चूँकि बंगाल में कानून के राज का स्थान गिरोहबाजी ने ले लिया है, लिहाजा हिंदुओं की तकलीफें अवर्णनीय हैं। डॉ. मुकर्जी ने वायसरॉय से विनती की कि उनकी दलीलों पर पूर्ण विचार करें और विभाजन का सवाल या तो खुद तय करें अथवा एक मशीनरी की स्थापना करें, जो लोगों के विचारों की अभिव्यक्ति को जानकर उनकी मदद कर सके। वायसराय से यह भी अनुरोध किया कि जैसे ही विभाजन का ऐलान किया जाए, बंगाल सरकार को तुरंत भंग कर दिया जाए, ताकि विनाशकारी नतीजों को रोका जा सके। अंत में, डॉ. मुकर्जी ने कहा कि बंगाली हिंदुओं, जिनकी भारतीय लोगों में एक महत्त्वपूर्ण संख्या थी और भारत की प्रगति व विकास में जिनका उल्लेखनीय योगदान था, को यह माँग करने का अधिकार था कि आनेवाले स्वतंत्र भारत में उनका अपना क्षेत्र हो, जहाँ वे निर्भीक होकर रह सकें; शांति व स्वतंत्रता के फलों का आनंद ले सकें और पहले से ही अपने प्रभाव के इलाके में बहुसंख्यक समुदाय अपने उचित हितों से वंचित हुए बिना ही यह आनंद ले सकें।

गवर्नर बरोज, जो निजी तौर पर विभाजन के खिलाफ थे और शुरुआत में जो निश्चित नहीं थे कि बंगाल का विभाजन सभी बंगाली हिंदुओं की सामूहिक माँग थी, 1 मई तक सहमत हो गए कि विभाजन-आंदोलन को गंभीरता से लिया जाए। गवर्नर इस तथ्य पर भी सहमत हुए कि डॉ. मुकर्जी ने बंगाली हिंदुओं के मनों पर विशेष असर छोड़ा था। यहाँ तक कि सोहरावर्दी, जिसने डॉ. मुकर्जी के प्रस्ताव को बेअसर करने के लिए संयुक्त संप्रभु बंगाल की योजना आगे रखी थी, ने 15 मई को कबूल किया कि हिंदू महासभा ने 'विभाजन को प्राप्त करने के लिए हिंदुओं के मन और कल्पना-शक्ति पर कब्जा कर लिया है।' एक ब्रिटिश स्वामित्ववाले और ब्रिटिश समर्थक कलकत्ता के एक अखबार 'द स्टेट्समैन' ने 24 अप्रैल, 1947 को 'बंगाल का

झुटपुटा' शीर्षक के तहत टिप्पणी की थी, ''बीते करीब 10 सप्ताहों के दौरान बंगाल के विभाजन के लिए आंदोलन पूरी तरह विकसित हो चुका है। जो आंदोलन कुछ लोगों तक सीमित था, वह पूरे प्रदेश और उसके बाहर तक फैल गया। हालाँकि उसका केंद्र कलकत्ता रहा है। शुरुआत में उसे हिंदू महासभा द्वारा पाला-पोसा गया। बाद में उसे पंजाब विभाजन पर कांग्रेस कार्यसमिति के 8 मार्चवाले प्रस्ताव से शक्ति मिली।''

मार्च 1947 में वायसराय के तौर पर माउंटबेटन के कार्यभार सँभालने के बाद उनकी शुरुआती कोशिशें थीं कि जिन्ना को संयुक्त भारत के लिए सहमत किया जाए। दूसरे तरीकों और रास्तों के बीच उनकी दलील थी कि पाकिस्तान बनाने के लिए जिन्ना जो दलीलें पेश कर रहे थे, उनसे पंजाब और बंगाल प्रदेशों के विभाजन भी अनिवार्य थे। यह कुछ ऐसा था, जो माउंटबेटन जानते थे कि जिन्ना उनसे बहुत ज्यादा डरते थे। माउंटबेटन को उम्मीद थी कि ऐसा करके जिन्ना पाकिस्तान की अपनी माँग को वापस ले लेंगे। डोमिनीक लैपीरे और लैरी कॉलिंस ने 'फ्रीडम एट मिडनाइट' में उल्लेख किया है कि वाद-विवाद कैसे चलता था? माउंटबेटन के विरोध में जिन्ना ने यह कहा, ''आह, लेकिन महामहिम नहीं समझते। एक आदमी हिंदू या मुसलिम होने के पहले पंजाबी या बंगाली है। उनका साझा इतिहास, भाषा, संस्कृति और अर्थव्यवस्था है। आपको उन्हें बाँटना नहीं चाहिए। आप अंतहीन खून-खराबे और मुसीबत का कारण बनोगे।''

इसपर माउंटबेटन ने कहा, ''मि. जिन्ना, मैं पूरी तरह सहमत हूँ।'' हैरान होते हुए जिन्ना ने पूछा, ''आप सहमत हैं?''

माउंटबेटन ने बोलना जारी रखा—''वास्तव में...एक आदमी पंजाबी या बंगाली ही नहीं है, एक हिंदू या मुसलिम होने के पहले—सबसे पहले—एक भारतीय है। आपने भारतीय एकता के लिए लाजवाब दलील पेश की है।''

''लेकिन आप बिलकुल नहीं समझते।'' जिन्ना ने प्रतिकार किया और तर्क-वितर्क शहतूत की झाड़ी के आसपास एक बार फिर शुरू हुए।

जिन्ना और सोहरावर्दी दोनों ही बंगाल विभाजन के विचार पर आतंकित थे; क्योंकि उससे पाकिस्तान को कलकत्ता से वंचित रहना पड़ता और बंगाल का आधा औद्योगिक हिस्सा भी वह ले जाता। उसके अलावा सोहरावर्दी के अपने निजी कारण थे, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जिन्ना ने एक बयान जारी किया कि पंजाब और बंगाल प्रदेशों के विभाजन का प्रस्ताव 'ईर्ष्या-द्वेष और कटुता का एक हानिकारक प्रयास' था। उसी दौरान सोहरावर्दी ने 'संयुक्त संप्रभु बंगाल' की अपनी योजना शुरू कर दी। उसका भी उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस मकसद के लिए उसने कुछ भोले-भाले हिंदू नेताओं को अपने सहयोग के लिए फाँस लिया और जो उसके साथ मिल गए। उनमें थके हुए वृद्ध और साख खो चुके नेता शरतचंद्र बोस और किरण शंकर राय थे। वे कभी बंगाल कांग्रेस में प्रतिद्वंद्वी समूहों का नेतृत्व करते थे, जिनको समाज में खादी और फॉरवर्ड के नाम से जाना जाता था। उस समय तक बंगाल कांग्रेस का नेतृत्व डॉ. बिधान चंद्र राय, नलिनी रंजन सरकार और निर्मल चंद्र चुंदर आदि को सौंपा जा चुका था। सोहरावर्दी के विचार की पैरवी में बूढ़े नेताओं ने देखा कि शायद यह खोए हुए आधार को पुन: प्राप्त करने का मौका है। किरण शंकर राय एक पूर्वी बंगाली थे और उन्हें आशंका थी कि विभाजन में वह ढाका

जिले के तेवता में अपनी विशाल जमींदारी खो देंगे। सोहरावर्दी की अपनी योजना में एक और विशेष समर्थक था—सर फ्रेडरिक बरोज़, जो पूर्व रेलवे गार्ड और ब्रिटिश रेलवे मजदूर संघ का नेता था। वह बंगाल का अंतिम ब्रिटिश गवर्नर भी था।

यह आश्चर्यजनक है कि शरत बोस और किरण शंकर राय सरीखे दूरदर्शी और अनुभवी हिंदू नेताओं को सोहरावर्दी सरीखे व्यक्ति पर अपना विश्वास जताते हुए जरा सी भी कठिनाई नहीं हुई। सोहरावर्दी ने ही एक साल से कम समय पहले 'प्रत्यक्ष काररवाई' के जरिए कलकत्ता के हिंदुओं पर असीम ज्यादतियाँ कराई थीं। संयुक्त संप्रभु बंगाल का विचार मूलत: सोहरावर्दी का था, लेकिन जिन्ना और लियाकत अली खान ने जिस तत्परता के साथ उस विचार का स्वागत किया, उससे यह मानना अतर्कपूर्ण नहीं होगा कि वे भी इस योजना को बनाने के पक्ष में थे। जिन्ना के जीवनीकार स्टैनले वॉल्पर्ट ने जिन्ना को उद्धृत किया है कि जब वायसरॉय माउंटबेटन ने जिन्ना को सोहरावर्दी की ताजा-ताजा व्यक्त की गई उम्मीद से सूचित किया कि "वह इस शर्त पर संयुक्त बंगाल को हासिल करने में कामयाब हो सकता था कि वह न तो पाकिस्तान में और न ही हिंदुस्तान में शामिल होगा।"

इसपर जिन्ना ने बेहिचक कहा, "मुझे खुश होना चाहिए। बिना कलकत्ता के बंगाल का क्या फायदा है; बेहतर है कि वह संयुक्त और आजाद रहे। मुझे यकीन है कि वे हमारे साथ दोस्ताना रहेंगे।" वॉल्पर्ट ने लियाकत अली खान को भी उद्धृत किया, जो खान ने सर एरिक मिविले को बताया था कि वह बंगाल के बारे में किसी भी तरह चिंतित नहीं थे; क्योंकि उन्हें पूरा यकीन था कि यह प्रदेश कभी भी विभाजित नहीं होगा। सोहरावर्दी ने अपने संयुक्त बंगाल की एक सुनहरी तसवीर खींची थी और कहा था—"यह एक महान् देश होगा—सबसे अधिक धनी और सर्वाधिक संपन्न...एक ऐसी जमीन, जो वास्तव में प्रचुर मात्रा में होगी।" और उसने यह सबकुछ 27 अप्रैल, 1947 को प्रेस के सामने रखा। उस भ्रामक प्रचार से प्रभावित हुए बिना ही प्रेस ने उससे बिंदुवार पूछा कि यदि अविभाजित बंगाल में हिंदू और मुसलिम ऐसी दोस्ती के साथ रह सकते हैं तो वे अविभाजित भारत में ही ऐसा क्यों नहीं कर सकते? सोहरावर्दी के पास इसका कोई जवाब नहीं था।

अप्रैल 1947 में ही सोहरावर्दी, किरण शंकर राय और गवर्नर बरोज अलग-अलग, स्वतंत्र बंगाल के प्रस्तावों सहित वायसराय माउंटबेटन से मिले। बरोज का अपना एजेंडा था। वह यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि कलकत्ता भारत का प्रमुख बंदरगाह रहे। उनका सुझाव था कि इसके लिए कुछ अंतरराष्ट्रीय बंदोबस्त किए जाएँ। अनुमानत: युद्धपूर्व मुक्त बंदरगाह 'डेनजिग' (अब पोलैंड में गडनस्क के नाम से चर्चित) के मॉडल पर, जो दोनों विश्वयुद्धों के बीच थी। बरोज के हिस्से की इतनी दिलचस्पी का कारण स्पष्ट नहीं है। शायद वह कलकत्ता में जूट (पटसन) के बड़े ब्रिटिश व्यापारियों के आधार पर ऐसा बोल रहे थे। व्यापारी उन मुश्किलों को लेकर आशंकित थे कि यदि पूर्व बंगाल के जूट क्षेत्र और कलकत्ता की जूट मिलों को अलग-अलग देशों में अब स्थित होना पड़ा तो फिर क्या होगा। माउंटबेटन ने कलकत्ता बंदरगाह के अंतरराष्ट्रीयकरण के विचार को तुरंत निरस्त कर दिया, क्योंकि विभाजन की उनकी योजना में यह उपयुक्त नहीं था। लिहाजा बरोज को अपनी योजना स्थगित करनी पड़ी।

उसी दौरान शरत बोस और अबुल हाशिम, बर्दवान से मुसलिम लीग नेता और पश्चिम बंगाल में लीग का प्रादेशिक सचिव, जिसने दंगों की पूर्व संध्या पर बेहद तीखी भाषा में हिंदुओं की हत्या की पैरवी की थी, अपनी योजना के साथ पूरी ताकत से जुटे हुए थे। उन्होंने अपने प्रस्तावित संयुक्त संप्रभु बंगाल के लिए 'संविधान' लिखने का दायित्व भी खुद अपने ऊपर ले लिया था। मई 1947 में शरत बोस ने 'संयुक्त और संप्रभु बंगाल' के एक प्रस्ताव की रूपरेखा तैयार की। वह साझा मतदाताओं, बालिग मताधिकार और आबादी के अनुसार सीटों के आरक्षण आदि के सिद्धांत को स्वीकार करने पर आधारित था। उसी माह की 22 तारीख को उसे प्रेस के सामने रखा गया। संयुक्त संप्रभु बंगाल की संविधान सभा में 30 सदस्य थे, जिनमें से 16 मुसलिम और 14 हिंदू थे। स्वतंत्र राज्य बंगाल की सरकार में हिंदू-मुसलिम मंत्रियों की संख्या एक समान होगी। अपवाद के तौर पर सरकार का मुखिया मुसलिम होगा, जबकि गृहमंत्री हिंदू होगा। मुसलिमों को सेवाओं में भी बराबर के हिस्से की गारंटी दी जाएगी। बंगाल का 'स्वतंत्र राज्य' एक 'समाजवादी गणतंत्र' होगा। इस मसौदे पर गांधीजी की टिप्पणी थी कि ''ड्राफ्ट में ऐसी कोई भी शर्त नहीं है कि महज बहुमत के जरिए ही कुछ नहीं किया जाएगा...यह स्वीकार करना चाहिए कि बंगाल की एक साझा संस्कृति और एक साझा मातृभाषा है—बँगला।'' हालाँकि सरदार पटेल इस प्रयास के अत्यधिक आलोचक थे और योजना घोषित करनेवाले दिन ही उन्होंने बोस को लिखा—''मुझे यह जानकर खेद हुआ है कि आपने अखिल भारतीय राजनीति से खुद को पूरी तरह अलग-थलग कर लिया है। यहाँ तक कि प्रादेशिक राजनीति में भी आप हमारे संपर्क में नहीं हैं। इस नाजुक घड़ी में हम अलग-थलग नहीं रह सकते...।'' शरत बोस ने इसका जवाब दिया और अपनी स्थिति के औचित्य से पटेल को विश्वास दिलाने की कोशिश की, लेकिन वे उनपर कोई प्रभाव नहीं डाल सके।

सोहरावर्दी-बोस-हाशिम की तिकड़ी के इन प्रयासों को नाकाम करने के लिए 11 मई, 1947 को डॉ. मुकर्जी ने अंतिम गतिविधियों के बारे में महासभा की अत्यधिक चिंता को पं. नेहरू और सरदार पटेल तक पहुँचाया। शरत बोस जिसके पास 'हिंदुओं से किसी भी तरह का समर्थन नहीं है और जिसने एक भी सार्वजनिक जनसभा को संबोधित करने का साहस नहीं किया, वह शख्स सोहरावर्दी के साथ संप्रभु बंगाल की संभावित रूपरेखा पर चर्चा की कोशिशें करता हुआ एक भयंकर शरारत कर रहा था। इसका खुलासा करते हुए डॉ. मुकर्जी ने उम्मीद जताई कि पं. नेहरू और सरदार पटेल संप्रभु बंगाल के इस विचार पर गंभीरता से विचार करने की किसी को भी अनुमति नहीं देंगे। हालाँकि एक शिथिल केंद्र, जैसा कि कैबिनेट मिशन योजना के तहत विचार किया गया, अंतिम चरण में स्थापित हो गया तो बंगाल में हिंदुओं की किसी भी तरह की सुरक्षा नहीं होगी। अतः डॉ. मुकर्जी ने उनसे विनती की कि बंगाल विभाजन के सवाल को खारिज करने की अनुमति न दी जाए। उन्होंने बंगाल की मौजूदा सीमाओं में से दो प्रदेशों के सृजन की माँग की। अंततः उन्होंने इसे बड़े महत्त्व का माना कि नई घोषणा में बंगाल सरकार को तुरंत भंग करने की घोषणा भी शामिल की जानी चाहिए, जिसने प्रदेश, खासकर कलकत्ता को नरक बना दिया था। यदि उनकी मौजूदगी जरूरी समझी जाए तो उन्होंने दिल्ली आने की पेशकश की। 13 मई को डॉ. मुकर्जी कलकत्ता के करीब सोदपुर में गांधी से मिले, ताकि संयुक्त संप्रभु बंगाल की

सोहरावर्दी की योजना पर उनके विचार जान सकें। गांधी ने कहा कि अभी उन्होंने अपना मन नहीं बनाया है; लेकिन वे यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि वास्तव में प्रस्ताव के मायने क्या हैं! पूछने पर डॉ. मुकर्जी ने जवाब दिया कि हालाँकि योजना को साफतौर पर सोहरावर्दी ने लिखा है, लेकिन असल में वह ब्रिटिश के व्यापारिक हितों द्वारा प्रायोजित है और माउंटबेटन ने प्रस्ताव पर सावधानी से विचार करने को कहा है। लेकिन डॉ. मुकर्जी को भय था कि सोहरावर्दी संयुक्त संप्रभु बंगाल के संदर्भ में तिकड़म कर सकता है और मुसलिम वोटों के बहुमत की मदद से पाकिस्तान के साथ उसका स्वैच्छिक गठबंधन करा सकता है। जब डॉ. मुक़र्जी ने उनसे पूछा कि क्या वे बंगाल को शेष भारत से अलग स्वतंत्र राज्य के रूप में विचार कर सकते हैं? तो गांधी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था।

डॉ. मुकर्जी को नेहरू का जवाब अस्पष्ट और टालनेवाला लगा, उन्होंने कहा कि जिन सभी विचारणीय बातों का उल्लेख उन्होंने किया था, वे सभी उनके सामने रही थीं, लेकिन वे निश्चित तौर पर नहीं कह सकते कि क्या होने वाला है। उन्होंने निजी तौर पर संप्रभु बंगाल के विचार की प्रशंसा नहीं की, जो भारतीय संघ से जुड़ा न हो। हालाँकि, पटेल पूरी तरह ईमानदार थे और अपने जवाब में उन्होंने डॉ. मुकर्जी को आश्वस्त किया (दोनों नेताओं के बीच संबंधों पर अधिक विवरण, अध्याय 11 देखें) कि उन्हें बिलकुल भी चिंता करने की जरूरत नहीं। हालात से प्रभावी व उपयुक्त तरीके से निपटने के लिए उनपर भरोसा किया जा सकता है। बंगाल में हिंदुओं का भविष्य बिलकुल सुरक्षित था, जब तक वे मजबूती से खड़े थे और उन्हें ऐसा समर्थन देना जारी रखे हुए थे, जैसा कि वे ही दे सकते थे। संप्रभु बंगाल की घोषणा को उन्होंने 'मुसलिम लीग में प्रवेश के लिए लोगों को 'मूर्ख को मनाने का एक जाल' जैसा बताया और जोर देकर कहा कि बंगाल को भारतीय संघ से अलग नहीं किया जा सकता। पार्टी के अनुशासनप्रिय नेता पटेल ने रूखेपन से शरत बोस, किरण शंकर राय को कांग्रेस की अधिकृत नीति पर ही एकजुट खड़े रहने की सलाह दी। कांग्रेस का लगातार आग्रह था कि गैर-मुसलिम आबादी के अस्तित्व के लिए बंगाल और पंजाब का विभाजन किया जाए। यहाँ तक कि गांधी भी विभाजन से किनारा करने के पक्ष में थे। उन्होंने 24 मई को शरत बोस को पत्र लिखा कि उन्हें अपना रुख बदलने को बाध्य किया गया। कार्यसमिति में उनके ही साथियों ने शरत बाबू के प्रस्ताव के विरोध में काम करने को कहा था।

कुछ अन्य लोग भी थे, जो प्रदेश के विभाजन का विरोध कर रहे थे। 'द स्टेट्समैन' के संपादकीय का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। संभवत: उसने कलकत्ता की ब्रिटिश व्यापारी जमात, बॉक्सवालों की भावनाओं को प्रतिध्वनित किया था। राजनेताओं के बीच एक उल्लेखनीय नाम था—जोगेंद्र नाथ मंडल, पूर्व बंगाल में बारिसाल से अनुसूचित जातियों का नेता, जो मुसलिम लीग में शामिल हो गया था, को अंतरिम सरकार में 'कानून सदस्य' बनाने का लालच दिया गया था। उसका मत था कि सांप्रदायिक समस्या विभाजन के जरिए नहीं सुलझाई जाएगी। उसने यह भी कहा कि पूर्वी बंगाल के हिंदुओं ने अपनी तमाम जायदाद खो दी है और वे प्रवास के लिए बाध्य हो जाएँगे। अपने इस अंतिम कथन के संबंध में वह बिलकुल सही साबित हुआ। वह पाकिस्तान कैबिनेट में केंद्रीय कानून और श्रम मंत्री बना। तब वर्ष 1950 के भीषण हिंदू-

विरोधी जनसंहार के दौरान (अध्याय 11 देखें) उसने अपने गृह जिले का दौरा किया और वापस कराची चला गया तथा लियाकत अली खान को रिपोर्ट किया। लियाकत ने उसे चुप रहने को कहा या जेल में ठूँस देने का जोखिम लेने को! मंडल खामोश रहा, उसने यात्रा की और उसी साल के आखिर में वापस भारत आ गया। भारत से ही उसने अपना इस्तीफा भेजा।

बोस बंधुओं के जीवनीकार लियोनार्ड गोर्डन ने अंततः यह कहते हुए डॉ. मुकर्जी को बधाई दी, ''शरत बोस और अबुल हाशिम ने जून 1947 में भी अपनी कोशिशें जारी रखीं; लेकिन नेहरू और पटेल द्वारा वीटो किया जाना भी निर्णायक और महत्त्वपूर्ण था, जैसा कि डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने विभाजन समर्थक गठबंधन का प्रारूप बनाया था…'' 'अमृत बाजार पत्रिका' ने मई के शुरू में हिंदुओं के सार्वजनिक मत का एक व्यापक सर्वेक्षण कराया, जिसमें जोरदार बहुमत, 97 फीसदी, ने विभाजन का समर्थन किया। बाद में ये निष्कर्ष 'बंगाली हिंदुओं के लिए मातृभूमि' नामक एक आलेख में पेश किए गए।

मुसलिम लीग को ताकत देने वाले, कलकत्ता नरसंहार के लिए लीपापोती करने वाले दल विभाजन के आंदोलन को फैलाने और डॉ. मुकर्जी की आलोचना करने में जुट गए। हालाँकि यह काम काफी देर से शुरू किया गया। उदाहरणार्थ, क्रिस्टोफ जाफरेलट ने यह कहते हुए इतिहास-लेखन का मजाक बनाया है कि डॉ. मुकर्जी को (जिन्हें वह 'श्यामाप्रसाद' कहते थे) खुद ही यकीन हो गया कि वह अब बंगाल विभाजन का कुछ नहीं कर सकते; जबकि असल में वह उस आंदोलन के सबसे सक्रिय नेता थे। उसने जोया चटर्जी का भी समर्थन किया, जो कलकत्ता-नरसंहार की जिम्मेदारी से मुसलिम लीग को दोष-मुक्त करने के अपने मत के लिए चर्चित थे। उसका कहना है कि वह विभाजन की डॉ. मुकर्जी की पैरवी को 'हिंदू संस्कृति के साथ भद्रलोक चिंता' के तौर पर मानती है, जिसे डॉ. मुकर्जी ऊँची जाति की ऊँची परंपरा मानते हैं। जो कुछ भी हो, जोया चटर्जी के विचारों का अमलेश त्रिपाठी और पार्था चटर्जी सरीखे समकालीन इतिहासकारों का तर्कपूर्ण खंडन किया।

तमाम संदेहों और अनिश्चितताओं पर अंततः विराम लग गया, जब 3 जून, 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में यह घोषणा करने को उठे कि राजशाही की सरकार ने देश के विभाजन की योजना को स्वीकृति दे दी है। इस आशय का राजशाही सरकार का एक बयान उन्होंने सदन के पटल पर रखा। कुछ जटिल भाषा में योजना की शर्त यह थी कि पंजाब एवं बंगाल के विभाजन उनकी संबद्ध विधानसभाओं में मत-विभाजन के अनुसार ही तय होंगे और उसी तरह असम प्रदेश के सिलहट जिले में जनमत-संग्रह के संदर्भ में होगा। 20 जून, 1947 को बंगाल विधानसभा के सदस्यों ने भारी बहुमत के जरिए अपने प्रदेश का विभाजन तय किया।

बंगाल के विभाजन की इस विजय के बारे में डॉ. मुकर्जी की नेहरू को यह टिप्पणी थी, जब नेहरू ने विभाजन के प्रस्ताव से सहमत होने का आरोप उनपर लगाया था—''आपने भारत का विभाजन कर दिया, मैंने पाकिस्तान का विभाजन कर दिया।'' फनी भूषण चक्रवर्ती, जो बाद में कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और कुछ समय के लिए पश्चिम बंगाल के अस्थायी राज्यपाल बने, ने टिप्पणी की थी, ''…डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने हस्तक्षेप किया और

जो शक्तियाँ उनके पास थीं, उसे संयुक्त संप्रभु बंगाल के षड्यंत्र को विफल करने में लगा दीं और उन्होंने विभाजन के भीतर ही एक विभाजन को बाध्य किया।''

अब सिर्फ सिलहट में जनमत-संग्रह का काम शेष था और उसके बाद विभाजन की रेखा खींचनी थी।

सिलहट का बँगला नाम 'श्रीहोत्तो' था। वह मौजूदा भारतीय राज्य मेघालय की खासी व जैंतिया पहाड़ियों, असम की उत्तरी कछार और मिकिर पहाड़ियों और भारतीय राज्य त्रिपुरा की पहाड़ियों के तल के साथ-साथ स्थित है। वर्षा से लदी दक्षिण-पूर्व मानसून की हवाएँ बंगाल की खाड़ी से घूम-फिरकर सबसे पहले इन्हीं पहाड़ियों से टकराती हैं। मौजूदा बँगलादेश के कम ऊँचे मैदानी इलाकों और अन्य हिस्सों में साल भर भारी बरसात होती रहती है। वह सारा पानी सिलहट जिले में बहता है और मेघना नदी के जरिए बाहर निकल जाता है। इस प्रक्रिया में 'होर', यानी झील जैसे बड़े जल-क्षेत्र पैदा हो जाते हैं। वे इतने बड़े होते हैं कि उन्हें पार करनेवाले नाविकों को नक्षत्रों की अवस्था के मुताबिक ही नौका-यात्रा तय करनी पड़ती है। इस विशिष्टता ने ही सिलहट को समुद्री यात्रा संबंधी परंपरा दी थी, समुद्र से बहुत दूर होने के बावजूद। इसने खुद को साहसिकता एवं जोखिम भरी यात्रा में परिणत कर लिया था और देश के दूसरे बँगलाभाषी हिस्सों के कई बंगाली इसे नहीं जानते। नतीजतन सिलहटी मुसलिम बंगाल के अन्य हिस्सों में रहनेवाले मुसलिमों के उलट, लचीली शिक्षा के लिए गए, हर कहीं की यात्रा की और दुनिया के तमाम हिस्सों में पाए जाते हैं। लंदन का पूर्वी सिरा ब्रिक लेन व्यावहारिक तौर पर अब एक सिलहटी कॉलोनी है। इसी तरह सिलहटी हिंदुओं ने शैक्षिक, नौकरशाही और कॉरपोरेट दुनिया में अपनी छाप छोड़ी। विभाजन के वक्त भी यह जिला खनिज और कृषि उत्पादन में समृद्ध था। त्रिपुरा पहाड़ियों के तल के साथ-साथ चाय की जागीरें थीं। छटक में एक सीमेंट प्लांट था तथा खासी पहाड़ियों से चूना पत्थर और कोयला अर्जित किया जाता था। बाद में प्राकृतिक गैस के प्रचुर भंडारों का पता लगाया गया।

जब सिलहट जनमत-संग्रह के लिए मतदाता सूचियाँ तैयार की जानी थीं तो एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि क्या मजदूर, व्यापार और वाणिज्य चुनाव क्षेत्रों के मतदाताओं, यानी मुख्यत: चाय जागीरों के मजदूरों, को वोट देने की अनुमति दी जाए या नहीं। वे तमाम मजदूर गैर-मुसलिम थे और मौजूदा झारखंड राज्य व उड़ीसा के आसपास के इलाकों से आए थे। अंतत: उन्हें शामिल नहीं किया गया और सामान्य मुसलिम एवं भारतीय ईसाई क्षेत्रों से ही जनमत-संग्रह किया गया। एक ओर मुसलिम लीग ने हिंदुओं को वोट देने से रोका, तो दूसरी ओर सरकारी मशीनरी भी यह काम करती रही। एक चश्मदीद का स्मरण करना है कि छटक शहर के आसपास ग्रामीण इलाकों में कई जगहों पर मुसलिम लीग कार्यकर्ताओं ने रास्ते में अवरोध खड़े किए, ताकि हिंदुओं को वोट देने के लिए पड़ोस के शहर में जाने से रोका जा सके। हिंदुओं को मताधिकार से वंचित रखने और अन्य बातों ने पाकिस्तान के पक्ष में पलड़ा झुका दिया। सिलहट पाकिस्तान में चला गया, बेशक बहुत कम बहुमत के साथ—2,39,619 और उसके मुकाबले 1,84,041 वोट। सिर्फ तीन पुलिस स्टेशन क्षेत्र—रतबाड़ी, पठारकंडी, बदरपुर और करीमगंज का एक हिस्सा भारत में ही रहे। इस जनमत-संग्रह में असम कांग्रेस की भूमिका के संबंध में एक विवाद आज भी बरकरार

है। यह आरोप है कि उसने जनमत-संग्रह जीतने या चाय बागान के मजदूरों को मताधिकार से वंचित करने का विरोध करने की कोई कोशिश नहीं की। व्यावहारिक तौर पर हिंदू महासभा की असम में कोई ताकत नहीं थी और हिंदू दो प्रमुख भाषाई समूहों में बँटे थे—असमी और बँगला। वे मजबूती से कांग्रेस के पीछे थे। बंगाली समूह के नेता बसंत दादा सिलहट के बहुत अमीर जमींदार थे, जिन्हें इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण निजी जिम्मेदारी उठानी पड़ी। दरअसल विभाजन के बाद वे सिलहट में ही रहे और वहाँ राजनीति करने की कोशिश की तथा पाकिस्तान में केंद्रीय मंत्री तक बने। आखिरकार 1958 में अयूब खान के मार्शल लॉ लागू करने के बाद सभी निर्वाचित संस्थाओं को अयोग्य करार दे दिया गया और अधिकतर हिंदू राजनेताओं की तरह उन्हें भी परेशान करके पूर्वी पाकिस्तान से निकाल दिया गया। उनका निधन कलकत्ता में हुआ।

डॉ. मुकर्जी यहाँ भी अनथक सक्रिय रहे। उन्होंने जिले का दौरा किया और पूरे बंगाल में हिंदू सिलहटियों को मनाया कि वे सिलहट चलें और जनमत-संग्रह में वोट दें। उनमें से कुछ तो सुदूर दिल्ली और बर्मा तक से आए। यह यकीन किया जाता है कि अपनी विभिन्न संस्कृतियों के कारण, मुसलिम आबादी के एक भाग ने भी भारत के पक्ष में मतदान किया। यदि असम कांग्रेस ने अपने हिस्से की थोड़ी सी कोशिश भी कर ली होती तो शायद भारत ने यह जिला न खोया होता।

अंतत: बंगाल (पंजाब भी) का विभाजन एक विशिष्ट अंग्रेज बैरिस्टर सर सिरिल (बाद में लॉर्ड) रेडक्लिफ के हाथों हुआ। उन्हें चुनने का कारण यह था कि भारत के साथ उनका कोई संबंध नहीं था। सर सिरिल को सीमा आयोग के चार अन्य सदस्यों ने भी सहयोग दिया, जिनके नाम बिजॉन मुखर्जी, सी.सी. बिस्वास, एम.ए. रहमान और एम.एम. अकरम थे। वे सभी वकील थे। नामों से ही स्पष्ट है कि पहले दो हिंदू और आखिरी दो मुसलिम थे। व्यावहारिक तौर पर ऐसा कुछ भी नहीं था, जिस पर वे आपस में सहमत थे। नतीजतन आजादी के दो दिन बाद 17 अगस्त, 1947 को जो अवॉर्ड प्रकाशित हुआ, वह पूरी तरह अकेले सर सिरिल का ही काम था। आयोग की संदर्भ-शर्तों के संबंध में एक बिंदु पर ध्यान दिया जाना चाहिए—आयोग को मुसलिम बहुल और गैर-मुसलिम बहुमत के इलाकों के आधार पर प्रदेश का विभाजन करना था, न कि मुसलिम बहुल और हिंदू बहुल इलाकों के आधार पर।

डॉ. मुकर्जी ने यहाँ तक हस्तक्षेप किया और रेडक्लिफ को यकीन दिलाया कि एक क्षेत्र विशेष को भारत या पाकिस्तान में शामिल करने के फैसले के लिए, आबादी का संतुलन तय करने के लिए थाना और पुलिस स्टेशन को इकाई के तौर पर माना जाए, न कि जिला या उपमंडल को। इसी आधार पर कई जिलों का विभाजन हुआ। नदिया जिले के कृष्णानगर और राणाघाट उपमंडल, मालदा जिले का अधिकतर भाग, दिनाजपुर जिले के बालुरघाट और रायगंज उपमंडल, जेस्सोर जिले का बन्नगाँव उपमंडल और कई अन्य हिस्से भारत में आए।

जैसा कि अपेक्षित था, न तो कांग्रेस (यानी हिंदू) और न ही लीग (यानी मुसलिम) उस अवॉर्ड से खुश थे। पश्चिम बंगाल को 36 फीसदी भू-क्षेत्र और 35 फीसदी आबादी मिली। कुल मुसलिम आबादी का सिर्फ 16 फीसदी ही पश्चिम बंगाल में रहा, लेकिन हिंदू आबादी का करीब 42 फीसदी हिस्सा पूर्वी बंगाल में रहा, जिसकी संख्या करीब 1.30 करोड़ थी। गैर-मुसलिम

बहुल, अधिकतर बौद्ध, के चित्तगोंग पहाड़ी इलाके पाकिस्तान को इन आधारों पर दे दिए गए, क्योंकि इसका मार्ग मुसलिम बहुल चित्तगोंग से ही गुजरता था। मुसलिम बहुल मुर्शिदाबाद जिला इन आधारों पर भारत को दे दिया गया, क्योंकि भागीरथी नदी की उद्गम जलधाराएँ यहाँ हैं, जो आगे चलकर हुगली नदी बन जाती है और वह कलकत्ता के बगल से बहती है। बदले में हिंदू बहुल ज्यादा बड़ा जिला खुलना पाकिस्तान को दे दिया गया। सन् 1941 की जनगणना के मुताबिक, पूर्वी बंगाल की आबादी में 28 फीसदी हिंदू, 70 फीसदी मुसलिम और 2 फीसदी अन्य थे। चित्तगोंग पहाड़ी इलाकों में मुख्यत: बौद्ध और तटीय जिलों में मुट्ठी भर ईसाई तथा मैमनसिंह की निचली पहाड़ियों में गारो आदिवासी लोग अन्यों में शामिल थे। इसके उलट, वर्ष 2001 की जनगणना के मुताबिक, मौजूदा बँगलादेश में 10 फीसदी हिंदू और 88 फीसदी मुसलिम हैं। इन्हीं आँकड़ों में बंगाली हिंदुओं के साथ किया गया घोर अन्याय भी निहित है। हालाँकि कुछ अन्याय खुद उन्हीं के द्वारा किया गया था। इस कहानी का हिस्सा, जो इस जीवनी के लिए प्रासंगिक है, अध्याय 11 में बताया गया है।

बंगाल-विभाजन के अपने कार्य के साथ-साथ डॉ. मुकर्जी ने उस संविधान सभा के सत्रों में भी उपस्थित रहना शुरू कर दिया था, जिसे कैबिनेट मिशन प्रस्तावों के परिणामस्वरूप 9 दिसंबर, 1946 को गठित किया गया था। जल्दी ही इस संस्था ने भी समझा-बुझा लेने की उनकी भाषण-कला का स्वाद चखा। सभा में 17 दिसंबर, 1946 को अपने भाषण में डॉ. मुकर्जी ने डॉ. जयकर द्वारा पेश किए गए संशोधन का विरोध किया। प्रस्ताव यह था कि संविधान का सामान्य प्रारूप कैसा होगा, इस आशय का प्रस्ताव तब तक प्रभावी तौर पर स्थगित कर देना चाहिए, जब तक मुसलिम लीग और भारतीय राज्यों का सभा में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित न हो जाए। यह आश्चर्यजनक है कि ऐसा संशोधन पेश किया गया था, क्योंकि तब तक यह लगभग तय हो चुका था कि जिन्ना अपने पाकिस्तान को हासिल करेंगे। लिहाजा लीग सभा में शिरकत नहीं कर रही थी। भारतीय राज्यों का भविष्य ज्यादा ही अनिश्चित था और उनके चैंपियन सर कोनराड कोरफील्ड उस हद तक उनका दर्जा बरकरार रखने के लिए कड़ी मेहनत कर रहे थे, जिस हद तक वह रखा जा सकता था। विंस्टन चर्चिल, ब्रिटिश संसद् में तत्कालीन नेता प्रतिपक्ष, ने टिप्पणी की थी कि संविधान सभा में मुसलिम लीग की गैर-मौजूदगी उस चर्च में दुलहन की अंनुपस्थिति सरीखी है, जहाँ शादी होने जा रही हो।

जवाब में डॉ. मुकर्जी ने अंग्रेजों को इतनी झाड़ पिलाई, जितनी वह पिला सकते थे। उन्होंने कहा, ''हमें ब्रिटिश लोगों को हमेशा के लिए यह कह देना चाहिए कि हम आपके साथ दोस्ती रखना चाहते हैं। आपने व्यापारियों के रूप में अपना कॅरियर शुरू किया। आप मुगलों से चिरौरी करनेवालों के तौर पर यहाँ आए। आप देश की धन-दौलत का शोषण करना चाहते थे। किस्मत आपके पक्ष में थी। जालसाजी, धोखाधड़ी और बल के जरिए आप देश में अपनी सरकार स्थापित करने में सफल रहे। ये तमाम इतिहास के विषय हैं। लेकिन आपने देश के लोगों के इच्छित सहयोग के साथ ऐसा नहीं किया। आपने अलग मतदाता पेश किए, आपने भारतीय राजनीति में धर्म को प्रस्तुत किया। वह भारतीयों ने नहीं किया था। आपने इस देश में अपने शासन को स्थायी बनाने के लिए ही यह सब किया।''

आखिरकार 15 अगस्त, 1947 को स्वशासी भारतीय संघ का जन्म हुआ, जो बाद में 'भारत का गणतंत्र' बना। पश्चिम बंगाल उसका एक राज्य बना और कलकत्ता उस राज्य की राजधानी। दो दिन बाद 17 अगस्त को रेडक्लिफ अवॉर्ड घोषित कर दिया गया। इसके बीच में ब्रिटेन के राष्ट्रीय ध्वज यूनियन जैक को उतारा गया और खुलना तथा रंगामती (चित्तगोंग पहाड़ी क्षेत्र) की कलक्टरी में भारतीय ध्वज और कृष्णानगर, मालदा एवं बेरहामपुर में पाकिस्तान का झंडा फहराया गया। इन्हें बाकायदा उलट दिया गया।

इस तरह अपनी मातृभूमि हासिल करने के बाद उन्होंने राहत की साँस ली गई। डॉ. मुकर्जी अविश्वसनीय संभावनाओं के विरुद्ध एक सफल व्यक्ति के तौर पर उभरे। वह जिन्ना के मुख से पश्चिम बंगाल को छीनने में कितने सही थे, वह पूर्वी बंगाल में बाद की घटनाओं से साबित हुआ।

□

10

केंद्रीय उद्योग एवं आपूर्ति मंत्री

(1947-50)

आजादी के बाद डॉ. मुकर्जी को केंद्रीय कैबिनेट में शामिल करना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। बंगाल का विभाजन कर जिन्ना के दाँतों तले से कलकत्ता समेत पश्चिम बंगाल को छीनने के बाद बंगाल के सर्वप्रमुख नेता के रूप में उनकी स्थिति अकाट्य थी। शरत बोस ही एकमात्र दूसरे नेता थे, जिनकी उनसे तुलना की जा सकती थी; लेकिन सन् 1945 की रामेश्वर बनर्जी घटना में वे अपना विश्वास गँवा बैठे थे। इसके अलावा उनका स्वास्थ्य खतरनाक स्थिति में था। उसी दौरान डॉ. मुकर्जी ने कांग्रेस के साथ एक उल्लेखनीय समझदारी भी हासिल कर ली थी। 10 जुलाई, 1947 को बंगाल विधानसभा ने उन्हें संविधान सभा के कांग्रेस प्रतिनिधि के रूप में चुना। उस सभा को भारत के लिए नया संविधान बनाना था। संविधान सभा में डॉ. मुकर्जी के प्रदर्शन, उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता, सम्मोहक भाषण-कला और संसदीय प्रक्रिया की पूर्ण निपुणता ने उनके लिए नई प्रतिष्ठा अर्जित की। एक सर्वोच्च सार्वजनिक व्यक्तित्व के तौर पर देश की आजादी के संदर्भ में जिसकी सेवाओं का उच्चतम स्थान था, दुनिया ने भी उन्हें मान्यता दी। वे बंगाल के निर्विवाद नेता और प्रवक्ता बने। लिहाजा यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि उनका नाम उन कांग्रेस नेताओं के पास पहले से ही था, जो 15 अगस्त, 1947 को बनाई जानेवाली राष्ट्रीय सरकार के लिए सक्षम लोगों को चुनने में संलग्न थे।

हालाँकि उनके चयन में गांधीजी की आवाज बहुत महत्त्वपूर्ण थी। डॉ. मुकर्जी की ओर सदा ही उनका कृपालु झुकाव रहा था और उन्होंने एक बार टिप्पणी की थी—उनकी इच्छा थी कि "पं. मदन मोहन मालवीय के बाद वह 'कांग्रेसी मानसिकता के साथ हिंदू नेता' बनें, जैसा कि पटेल हिंदू सोच के साथ कांग्रेसी नेता थे।" प्रशांतो चटर्जी ने डॉ. मुकर्जी पर अपने एक निबंध में टिप्पणी की है कि गांधी ने महसूस कर लिया था कि देश की तमाम राष्ट्रवादी ताकतों की साझा कोशिशों के जरिए ही आजादी प्राप्त हुई थी, न कि अकेली कांग्रेस के द्वारा। लिहाजा वे चाहते थे कि आजाद भारत की प्रथम सरकार सच्चे मायनों में एक राष्ट्रीय सरकार हो, जो देश में विश्वास प्रेरित करनेवाली और लोगों में उत्साह पैदा करनेवाली हो। उन्होंने आग्रह किया कि पहली कैबिनेट बड़े स्तर की होनी चाहिए। उनके इसी आग्रह पर कई गैर-कांग्रेसियों को, जो

राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रख्यात थे, कैबिनेट में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया गया। डॉ. मुकर्जी के अलावा उनमें सर जॉन मथाई (प्रख्यात अर्थशास्त्री एवं उद्योगपति) तथा बी.आर. अंबेडकर (प्रसिद्ध न्यायविद् एवं अनुसूचित जाति नेता) को भी शामिल किया गया। कांग्रेसियों के साथ काम करने में डॉ. मुकर्जी को जो थोड़ा सा संकोच था, उसे हिंदू महासभा के साथियों, खासकर सावरकर ने दूर किया और उन्हें कैबिनेट में शामिल होने की सशक्त सलाह दी।

डॉ. मुकर्जी के एक युवा प्रशंसक सुधीर बेरा वहाँ मौजूद थे और उन्होंने ही फोन उठाया था, जब नेहरू ने डॉ. मुकर्जी को फोन किया था। उन्होंने पहले तो पेशकश स्वीकार करने से इनकार कर दिया और कहा कि इतने सारे मुद्दों पर हमारे और आपके भिन्न-भिन्न विचार हैं, जिनके कारण नेहरू के साथ उनका काम करना मुश्किल होगा। कहा जाता है कि नेहरू ने उन्हें बताया कि वह चमचों से घिरे हैं, लिहाजा वह असहमति व्यक्त करनेवाले सही व्यक्ति की सलाह को सम्मान देंगे। डॉ. मुकर्जी ने नेहरू की इस मुद्रा की सराहना की, फोन नीचे रख दिया और सुधीर से मजाक में पूछा, ''वे मुझे कैबिनेट में लेने की पेशकश कर रहे हैं; क्या मैं उसे ले लूँ?'' बेचारा सुधीर यह सुनकर अवाक् सा रह गया और इतना ही बुदबुदा सका, ''मैं आपको सलाह देनेवाला कौन होता हूँ?''

डॉ. मुकर्जी को उद्योग और आपूर्ति के महत्त्वपूर्ण विभाग दिए गए थे। संभवतः उनकी निजी प्राथमिकता शिक्षा थी, जो युवावस्था से ही उनका विशेष क्षेत्र रही थी। वह देश के सर्वश्रेष्ठ हित में भी होता। वह एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति की ठोस बुनियाद रख सकते थे और देश की नई पीढ़ी को रचनात्मक तरीके से ढाल सकते थे। उन्हें एक ऐसी बौद्धिक क्रांति के लिए तैयार किया जा सकता था, जो किसी भी सामाजिक और आर्थिक क्रांति से पहले होनी चाहिए।

बलराज मधोक दुःख व्यक्त करते हैं—''लेकिन ऐसा होना नहीं था। मौलाना आजाद, जो शिक्षा, भारतीय संस्कृति या विरासत के बारे में बहुत कम जानते थे, एक खास मकसद के साथ शिक्षा मंत्रालय को अपनी पकड़ में रखने को दृढ़ निश्चयी थे।'' फिर भी, डॉ. मुकर्जी को उद्योग और आपूर्ति मंत्रालय दिया गया। इससे स्पष्ट हुआ कि कांग्रेस नेताओं को उनकी ईमानदारी व निष्ठा में तथा देश की मुख्य औद्योगिक व आर्थिक समस्याओं के बारे में उनकी समझदारी पर पूरा भरोसा था। अविभाजित बंगाल के वित्त मंत्री के तौर पर उनका अनुभव और उनकी समझ भी निर्धारक कारकों में एक थी। इस दायित्व से डॉ. मुकर्जी को भारत की औद्योगिक नीति की बुनियाद सीखने का अवसर मिला और आनेवाले वर्षों में देश के औद्योगिक विकास के लिए आधार तैयार करने का भी मौका मिला। मधोक कहते हैं, ''इस प्रकार शिक्षा और सांस्कृतिक क्षेत्रों का नुकसान अर्थव्यवस्था और उद्योग के लिए लाभकारी बन गया।''

ऐसा नहीं है कि वर्ष 1947 तक भारत में कोई प्रमुख उद्योग नहीं थे। टाटा और मार्टिन बर्न के इस्पात संयंत्र क्रमशः जमशेदपुर (बिहार) और बर्नपुर (पश्चिम बंगाल) में थे। हावड़ा और बर्नपुर में मार्टिन बर्न के ही वैगन और इंजीनियरिंग के कारखाने थे। इसी के साथ हुगली नदी के दोनों ओर उनके सहायक उद्योग और पटसन की मिलें भी थीं। कलकत्ता की औद्योगिक पट्टी और बंगाल के आसनसोल क्षेत्र में दूसरे इंजीनियरिंग उद्योग स्थापित थे। बंबई, अहमदाबाद और

नागपुर में कागज व सूत के कुछ कारखानों ने शुरुआत में ही भारत को एक ठोस, हालाँकि छोटा, औद्योगिक आधार प्रदान किया। कलकत्ता के निकट कोसीपुर और इशापुर में तथा जबलपुर और देहरादून सरीखे कई अन्य स्थानों पर रक्षा के स्वामित्ववाली युद्ध सामग्री निर्माणशालाएँ भी थीं। हालाँकि भारत सरीखी बड़ी अर्थव्यवस्था की जरूरत की तुलना में ये कारखाने और फैक्टरियाँ कम थीं और इसके अलावा वे अधिकतर पूर्वी भारत में ही केंद्रित थीं, क्योंकि वहाँ कोयले और लौह अयस्क की उपलब्धता थी। लिहाजा डॉ. मुकर्जी ने इस आधार को विस्तार देने का निश्चय किया। उद्योग और आपूर्ति मंत्री के तौर पर ढाई वर्षों का उनका रिकॉर्ड उस विश्वास और भरोसे को प्रचुर मात्रा में न्यायसंगत करार देता है, जो उनमें व्यक्त किया गया था। वे कृषि-प्रधान देश में अपनी ठोस बौद्धिक समझ और औद्योगिकीकरण की समस्याओं की यथार्थवादी समझदारी को लाए और वह कार्य किया, जो उन्हें सौंपा गया था। सबसे पहले उस कलकत्ता यूनिवर्सिटी के मुख्य कार्यकारी के तौर पर, जो उस समय श्रेष्ठ बौद्धिकों और वैज्ञानिकों की सबसे बड़ी नियोक्ता साबित हुई और फिर अविभाजित बंगाल के वित्त मंत्री के तौर पर उनका अनुभव उनके लिए बेहद उपयोगी साबित हुआ। चूँकि वे अपने साथ किसी प्रमुख वैचारिकता को नहीं ले गए थे, लिहाजा वह अपना काम एक तरोताजा यथार्थवाद के साथ कर सके। उनकी बौद्धिक कुशलता, मानसिक सतर्कता और चट्टान सी निष्ठा के कारण ब्रिटिश प्रशिक्षित नागरिकों से उन्हें लगातार सम्मान और संपूर्ण सहयोग मिला। जिस तरह उन्होंने औद्योगिक समस्याओं को काबू में किया और स्वतंत्र भारत के बेहद निर्माणकारी वर्षों में नीतियाँ बनाईं, उसके लिए उनके राजनीतिक विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते थे।

स्वतंत्र भारत की पहली केंद्रीय कैबिनेट में मंत्री के रूप में उनके कामकाज का आकलन करने से पहले हमें दूसरे क्षेत्रों की उन दो गंभीर समस्याओं को देखना पड़ेगा, जो उस समय उन्हें घेरे हुए थीं। इनमें से एक तो पूरी तरह राजनीतिक थी—अपनी पार्टी हिंदू महासभा, जिससे वे पिछले नौ वर्षों से जुड़े थे, के साथ उनके संबंध। दूसरी समस्या बेहद निजी थी—सबसे छोटी संतान बेटी आरती, जिसे 'हसी' भी कहते थे, की गंभीर बीमारी।

आजादी और विभाजन के बाद के राजनीतिक परिदृश्य में डॉ. मुकर्जी की धारणा के मुताबिक, हिंदू महासभा एक विश्वस्त और निष्ठावान् हिंदू राजनीतिक दल की भूमिका नहीं अदा कर सकती थी, जैसा कि विभाजन से पहले उसने किया था। विभाजन से पहले काफी हद तक उसकी भूमिका मुसलिम लीग के कुकर्मों का विरोध और बेनकाब करने की थी। उसे लीग के भीषण आक्रमणों से हिंदुओं की रक्षा के लिए राजनीतिक संघर्ष भी जारी रखना था। ऐसा कांग्रेस ने न तो किया और न ही करेगी। इसके अलावा मतदाता भी एक अन्यायपूर्ण अवार्ड के जरिए सांप्रदायिक तौर पर बँटे हुए थे और कुछ मामलों में मुसलिमों को अनुचित लाभ मिला था। चूँकि अब मुसलिम लीग नामक दुश्मन जा चुका था, सांप्रदायिक मतदाता भी जा चुके थे और पार्टी देश का विभाजन रोकने में नाकाम रही थी, हालाँकि वह उसका मुख्य उद्देश्य था। वह पंजाब और बंगाल का विभाजन हासिल करने में सफल रही थी, जो उसकी पीठ दिखाकर पीछे लौटने जैसी स्थिति थी। अब वे चाहते थे कि महासभा अकेले हिंदुओं तक सीमित न रहे और सभी लोगों की सेवा के लिए अराजनीतिक समूह के तौर पर काम करे। किंतु सावरकर इससे सहमत नहीं थे और

उन दोनों के बीच दूरी बढ़ती गई।

स्वतंत्रता अपने साथ असंख्य समस्याएँ लाई। उनमें देशी रियासतों का भारत संघ के शासनाधिकार में समावेश करने की समस्या छोटी नहीं थी। हालाँकि ज्यादातर राज्य, बिना किसी दिक्कत के, भारत या पाकिस्तान के साथ मिल गए। सरदार वल्लभभाई पटेल का धन्यवाद, जिन्होंने अत्यंत कुशलता से इस समस्या का प्रबंध किया। कुछेक राज्यों ने मुसीबत खड़ी की थी। उनमें त्रावणकोर, हैदराबाद, जूनागढ़ और जम्मू व कश्मीर आदि रियासतें थीं। इनमें पहली तीन को तो सरदार पटेल की दक्षतापूर्ण रणनीति के कारण भारतीय संघ में आना पड़ा, क्योंकि उनके इर्द-गिर्द भारतीय संघ ही मौजूद था। दरअसल सरदार पटेल ने इस अकेले काम के जरिए ही अपने उपनाम 'लौह पुरुष' को पूरी तरह सार्थक किया। इस अकेले काम के बिना ही भारत पूर्णत: टुकड़े-टुकड़े हो गया होता। हालाँकि जम्मू व कश्मीर बिलकुल अलग ही मामला था। इसकी अधिकतम सीमा पाकिस्तान के साथ थी। इसका सामान्य रास्ता पाकिस्तान से होकर गुजरता था और इसके अधिकतम नागरिक, खासतौर पर कश्मीर घाटी क्षेत्र के लोग, मुसलिम थे; जबकि उसका शासक एक हिंदू राजपूत था। उसने विलय के दस्तावेज पर प्रारंभ में हस्ताक्षर नहीं किए। इस प्रकार यह राज्य अधर में ही रहा। पाकिस्तान ने इसका फायदा उठाया और कबाइलियों का स्वाँग रचते हुए उसने अपनी सेना भेजी, ताकि राज्य पर कब्जा किया जा सके। लुटेरे राज्य में भीतर तक घुस गए और महाराजा की सेना उनका मुकाबला करने में नाकामयाब रही। खूब लूटपाट की और बलात्कार किए। महाराजा ने अंतत: विलय के दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए और जम्मू व कश्मीर का राजसी राज्य तब भारत का एक अदेय हिस्सा बन गया। भारतीय सेना और वायुसेना ने तब राज्य में प्रवेश किया और अजेय विषमताओं के खिलाफ लड़ाई का रुख उलट दिया तथा खदेड़कर कबाइलियों का पीछा किया।

जब सेना इस प्रकार लुटेरों का पीछा कर रही थी और अगले 48 घंटों से भी कम समय में उन्हें कशमीर घाटी से बाहर और पश्चिमी पाकिस्तान के पंजाब के मैदानी इलाकों में खदेड़ दिया होता, तब आजाद भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने ऐसा कुछ कर दिया, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। उन्होंने बढ़ती सेना को रोक दिया और मीरपुर, मुजफ्फराबाद पट्टीवाले राज्य के कुछ हिस्से को लुटेरों के कब्जे में ही रहने दिया। यही हिस्सा अब 'पाक अधिकृत जम्मू कश्मीर' (पी.ओ.के.) के तौर पर जाना जाता है। पाकिस्तान घाटी के उत्तरवाले इलाकों—गिलगिट, हुंजा और बाल्टिस्तान को भी कब्जाने में कामयाब रहा, क्योंकि भारत ने इन्हें मुक्त करके अपनी सेना नहीं भेजी। पाकिस्तान इन इलाकों को अब 'उत्तरी क्षेत्र' (नॉर्दर्न एरियाज) कहता है। तभी से पाकिस्तान इन इलाकों को औपचारिक तौर पर अपने साथ मिलाने की बातें करता आया है। वहाँ के बाशिंदों को पाकिस्तान अलग मानता है और यह ऐलान करता है कि उनका जम्मू व कश्मीर से कोई लेना-देना नहीं है। पाकिस्तान ने कराकोरम पार के इलाकों में अपने कब्जेवाले क्षेत्र को चीन को भेंट कर दिया है।

इस प्रकार नेहरू ने न केवल अपना क्षेत्र दूसरे देश को समर्पित कर दिया, बल्कि इस मुद्दे का हमेशा के लिए गुड़-गोबर कर दिया। इसके अलावा अपने ही भूक्षेत्र के संबंध में विवाद पैदा कर दिया। इस विवाद को संयुक्त राष्ट्र में ले जाकर उसका अंतरराष्ट्रीयकरण भी कर दिया।

जबकि ऐसा विवाद बिलकुल भी नहीं होना चाहिए था। राजनीतिक भोलेपन के ऐतिहासिक अभिलेखों में इस काम की दुनिया भर में बेहद कम तुलनाएँ होंगी।

हालाँकि यह बिलकुल अलग कहानी ही होती, जिसका इस पुस्तक के विषय से कोई सरोकार नहीं। यदि जम्मू व कश्मीर वह स्थान न होता, जहाँ डॉ. मुकर्जी को मात्र छह साल बाद ही अपनी जिंदगी गँवानी पड़ी। जम्मू के ही डोगरा लोगों की सहायता के लिए उन्होंने संघर्ष किया था। यह अजीब लग सकता है कि डोगरा पूरे राज्य के भारत में विलय को लेकर आंदोलन कर रहे थे और शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में न केवल प्रभावशाली कश्मीरी मुसलिमों ने उसका प्रतिरोध किया, बल्कि नेहरू के नेतृत्ववाली भारत सरकार ने भी उस माँग का विरोध किया। इस पहलू को विस्तार से अध्याय 14 और 15 में दिया गया है। इस अध्याय के लिए प्रासंगिक उनके जीवन के इस चरण में डॉ. मुकर्जी अपने मंत्री पद की जिम्मेदारियों में अति व्यस्त थे (उनकी राजनीतिक और निजी समस्याओं का उल्लेख नहीं)। लिहाजा वे कश्मीर की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दे सके।

तब 30 जनवरी, 1948 का वह त्रासद दिन आया, जब अत्यधिक गुमराह नौजवान नाथूराम गोडसे ने एक प्रार्थना सभा में गांधी पर गोलियाँ चलाकर उनकी हत्या कर दी। अपनी ही धारणा के मुताबिक वह गुस्से में था कि कश्मीर के सशस्त्र संघर्ष के दौरान गांधी ने देश के साथ विश्वासघात किया था। इस घटना और उसकी पीड़ा से देश मानो अवाक् रह गया। हालाँकि नाथूराम गोडसे हिंदू महासभा का सदस्य था और सावरकर के करीब था, लेकिन यह यकीन करने का कोई कारण नहीं था कि महासभा के नेतृत्व का इस हत्या से कोई लेना-देना होगा। फिर भी सरकार को कड़ी काररवाई करके दिखानी थी। लिहाजा हिंदू महासभा को प्रतिबंधित कर दिया गया और सावरकर पर मुकदमा चलाया गया। इसी तरह के पूर्णत: गैर-राजनीतिक हिंदू सामाजिक सुधार आंदोलन के संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (रा.स्व. संघ) पर भी पाबंदी लगा दी गई। इस संगठन का घोषित उद्देश्य हिंदुओं को, उनकी जाति और भाषा कुछ भी हो, एकजुट व संगठित करना था और उनमें 'व्यक्ति निर्माण' करना था। हालाँकि गोडसे और इस हत्या से उसका कोई भी सरोकार नहीं था। उसके बावजूद पाबंदी चस्पाँ की गई। बाद में जाँच होने पर सावरकर या रा.स्व. संघ के खिलाफ कुछ भी नहीं मिल सका, लिहाजा सरकार को सावरकर को रिहा करने और रा.स्व. संघ पर से पाबंदी उठाने को बाध्य होना पड़ा। नाथूराम एवं उसके एक सहयोगी को फाँसी पर लटकाया गया और कुछ अन्य को जेल हुई। डॉ. मुकर्जी ने असंदिग्ध रूप से इस हत्या की निंदा की।

पार्टी पर पाबंदी और सावरकर तथा अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के बाद महासभा के जो नेता जेल से बाहर थे, उन्होंने डॉ. मुकर्जी की सलाह लेना तय किया कि पार्टी का स्वरूप बदला जाए और गैर-हिंदुओं को भी साथ लिया जाए। हालाँकि अगस्त 1949 में सावरकर की रिहाई और महासभा पर से प्रतिबंध उठाने के बाद पार्टी अपने प्रस्ताव पर लौटी और तय किया कि वे राजनीति जारी रखेंगे। महासभा के इस रुख से जोरदार असहमति जताते हुए डॉ. मुकर्जी ने पार्टी के तमाम पदों से इस्तीफा दे दिया। अब वे बिना पार्टी के नेता थे, लेकिन फिर भी केंद्र सरकार में एक कैबिनेट मंत्री थे।

अब आते हैं उनकी निजी समस्याओं पर। नई दिल्ली में रहते हुए डॉ. मुकर्जी एक केंद्रीय मंत्री की अपनी नई जिम्मेदारियों से जूझने की कोशिश कर रहे थे। तभी उनकी सबसे छोटी संतान

और बेटी आरती (हसी) बुखार के अकसर होनेवाले हमलों से पीड़ित थी। वह एक अति सुंदर लड़की के रूप में बड़ी हुई थी, लेकिन अपेक्षाकृत अंतर्मुखी और गुमसुम सी थी। अपनी बड़ी बहन सविता (बुआ) के बिलकुल विपरीत, जो चुलबुली, शोख और बहिर्मुखी लड़की थी। डॉ. मुकर्जी उस थोड़े समय में ही अपनी मातृहीन बेटी को खूब प्यार करते थे, जो समय वे उसके लिए निकाल पाते; लेकिन वास्तव में वह समय बहुत थोड़ा होता था। उसने अपनी ताई और दूसरे संबंधियों से अपना बुखार जरूर छिपाया होगा, क्योंकि जब बीमारी का क्षय रोग के तौर पर निदान किया गया तो वह बहुत बढ़ चुकी थी। इसके अलावा बीमारी इतनी तेज हो गई थी कि बहुत जल्दी घातक हो सकती थी, यदि उसका उचित इलाज न किया जाता! फरवरी 1948 के आखिरी दिन थे और डॉ. वाक्समैन की करिश्माई दवा स्ट्रेप्टोमाइसिन भारत में नहीं आई थी। शायद तब भी उस औषधि का परीक्षण चल रहा था।

डॉ. मुकर्जी ने क्षय रोग पर भारत सरकार के तत्कालीन सलाहकार डॉ. बेंजामिन की सलाह ली। क्षय रोग उस दौर की राष्ट्रव्यापी गंभीर स्वास्थ्य समस्या थी। डॉ. बेंजामिन ने उन्हें सलाह दी कि बिना वक्त गँवाए बेटी को कसौली (हिमाचल प्रदेश) के स्वास्थ्य-सुधार गृह ले जाएँ। डॉ. जोसेफ द्वारा संचालित उस स्वास्थ्य-सुधार गृह को भारत में इस रोग के इलाज का सर्वोत्तम केंद्र माना जाता था। डॉ. मुकर्जी विमान से कलकत्ता पहुँचे और कैप्टन वी. सुंदरम को फोन किया। सुंदरम मैसूर के महाराजा का 'डकोटा' विमान उड़ाया करते थे। डॉ. मुकर्जी ने उनके साथ एक बार नई दिल्ली से बंगलौर की उड़ान भरी थी, जब वह 'हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट' की फैक्टरी का निरीक्षण करने गए थे। वह सुंदरम और उनकी सह पायलट-पत्नी उषा के साथ उड़ान भरना पसंद करते थे। सुंदरम ने तुरंत जवाब दिया। वह कलकत्ता हवाई अड्डा दमदम में था। विमान और उषा भी साथ ही थे। बंगलौर और कलकत्ता के बीच बिना रुके सात घंटे की उड़ान से वे अभी लौटे थे। वे मरीज के साथ तुरंत नई दिल्ली की उड़ान भरने को तैयार थे।

लेकिन डॉ. मुकर्जी ने उन्हें बताया कि मेडिकल सलाह यह है कि 3,000 फीट से ज्यादा ऊँचाई पर उड़ान न भरी जाए। सुंदरम ने कहा कि ऐसे मामले में वह अगले दिन सुबह उड़ान भरना पसंद करेंगे, क्योंकि 3,000 फीट की ऊँचाई पर गरजते-चमकते बादल होंगे और उड़ान बड़ी हिचकोलेवाली होगी। डॉ. मुकर्जी सहमत हो गए और उन्हें ग्रैंड होटल में ठहरा दिया।

डॉ. मुकर्जी ने सुंदरम को बताया कि उन्हें शाम का वक्त एक औद्योगिक प्रदर्शनी में गुजारना चाहिए। सुंदरम कहते हैं कि होटल से ही एक सज्जन उनके साथ प्रदर्शनी तक गए, जिन्होंने खुद को 'डॉ. मुकर्जी का भाई' बताकर परिचय दिया। जब वे प्रदर्शनी में पहुँचे तो उन्होंने पाया कि आयोजकों ने उनके गाइड का असाधारण आदर-सम्मान किया। सुंदरम ने इधर-उधर पूछा और जानकारी मिली कि वह भाई कलकत्ता उच्च न्यायालय के जज, कोई और नहीं, रमा प्रसाद थे। सुंदरम ने आत्मकथा 'एक विमान चालक की कहानी' में लिखा है कि "उषा और मैं ऐसे आडंबरहीन, सीधे-सादे व्यक्ति से उससे पहले कभी भी नहीं मिले थे।"

आरती को सुबह बहुत जल्दी ले आया गया, जबकि वह ऑक्सीजन पर थी। वे बिना किसी समस्या के उड़ान को नई दिल्ली ले आए। हालाँकि रास्ते में गरजते-चमकते बादल भी थे और सुंदरम को कुछ दूरी तक विमान को 4,000 फीट की ऊँचाई तक उड़ाना पड़ा। उषा ने उड़ान के

दौरान सह-पायलट और नर्स की दोहरी भूमिकाएँ निभाईं और बताया कि मरीज बिलकुल ठीक-ठाक रही। आरती को सफदरजंग हवाई अड्डे से एक एंबुलेंस के जरिए तुरंत कसौली भेजा गया।

सुंदरम आगे लिखते हैं—''डॉ. मुकर्जी ने हमें धन्यवाद दिया। उड़ान के दौरान उषा ने आरती का जो ध्यान रखा और चिंता जताई, उसके लिए वे भावुक हो उठे। उषा न केवल एक अच्छी सह-पायलट है, बल्कि वह एक दयालु और सज्जन इनसान भी है। यह कहते हुए उन्होंने जोड़ा कि वह निजी कोष से ही इस उड़ान का भुगतान करेंगे और वह खूबसूरत विमान मुहैया कराने के लिए उन्होंने महाराजा को भी धन्यवाद देने को कहा।''

डॉ. मुकर्जी ने अपने रिश्तेदारों के लिए कसौली में एक बँगला किराए पर लिया, ताकि वे आरती के पास रह सकें। कुछ माह बाद वे आरती को स्विट्जरलैंड में दावोस और लेसिन ले गए। क्षय रोग के इलाज के लिए उस दौर में वहाँ दुनिया में सबसे अच्छा बंदोबस्त था। उसी दौरान स्ट्रेप्टोमाइसिन बाजार में आई और आरती तक भी पहुँची। एक साल में उसकी बीमारी ठीक हो गई और उसने एक सामान्य जिंदगी दोबारा से शुरू की।

दुर्भाग्यवश, इसी स्ट्रेप्टोमाइसिन ने सिर्फ पाँच साल बाद ही डॉ. मुकर्जी की असामयिक मृत्यु में अपना योगदान दिया होगा।

अब हम डॉ. मुकर्जी के सार्वजनिक जीवन की ओर लौट सकते हैं। भारत के औद्योगिक विकास में निजी पूँजी की भूमिका और पूँजी तथा श्रम के बीच के संबंधों पर भी डॉ. मुकर्जी के बेहद स्पष्ट विचार थे। उन्हें यकीन था कि भारत सरीखे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश में, जो हाल ही में स्वतंत्र हुआ हो, प्राथमिक काम यह था कि तमाम संसाधनों, निजी और सरकारी, को लामबंद किया जाए, ताकि देश को उन आवश्यक चीजों में आत्मनिर्भर बनाने की सहयोगी कोशिश की जाए, जिनकी देश की सुरक्षा के लिए बहुत जरूरत है। वे सरकार के कानूनों और नियंत्रण में निजी उद्यमों को पूरा क्षेत्र दिए जाने के पक्ष में थे, ताकि वे भारत के औद्योगीकरण में अपनी भूमिका अदा कर सकें। वे चाहते थे कि सरकार औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए अपने संसाधनों का इस्तेमाल करे, देश की रक्षा के लिए जिसका विकास अनिवार्य था, लेकिन उसके लिए निजी पूँजीवाले सहजता से आगे आने को तैयार नहीं थे। लिहाजा देश में जो असल स्थितियाँ थीं, उनके मद्देनजर वे एक विवेकपूर्ण समन्वय चाहते थे—निजी और सार्वजनिक उद्यमों के बीच गतिशील समन्वय, ताकि देश का औद्योगीकरण हो सके। इस नीति को बनाने में देश की जरूरतों और हालात के वास्तविक आकलन ने ही उनका मार्गदर्शन किया, न कि सामान्य और अस्पष्ट सिद्धांतों ने, जिनसे उनका कोई भी जुड़ाव न था।

समग्र राष्ट्रीयकरण पर बुनियादी आपत्तियों के अलावा उन्हें यकीन था कि सभी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए भारत में अपेक्षित संसाधनों, अनुभव एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव था और फिर भी उन्हें सक्षमता से चलाया जा रहा था। लिहाजा वे सभी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के संदर्भ में गैर-जिम्मेदाराना बातचीत करने के खिलाफ थे, क्योंकि उससे निजी क्षेत्र शत्रु बनता था। वह अनुभव से भी यह जानते थे कि सरकार द्वारा संचालित उद्योग सामान्यत: अपनी क्षमता से कम काम कर रहे थे, क्योंकि उनमें कार्यरत सरकारी कर्मचारियों के लिए प्रोत्साहन और कोई पहल करने की कमी थी। उनमें सरकारी कायदे-कानूनों, औपचारिकताओं और भारी-भरकम

प्रशासन का अत्यधिक इस्तेमाल होता था। लिहाजा उन्होंने निगमों के जरिए सरकारी नियंत्रण के उद्योगों के प्रबंधन की नीति का सूत्रपात किया। यह साझा स्टॉक कंपनियों की तर्ज पर आयोजित किया गया। मुख्य हिस्सा सरकार का हो या पूरी शेयर पूँजी उसकी हो और उसके कुछ प्रतिनिधि निदेशक मंडल में हों तथा साथ में निजी उद्योगपतियों की एक संख्या हो। बाद के वर्षों में भारत में सार्वजनिक उपक्रमों को चलाने की यह सामान्य पद्धति बन गई।

उन्होंने उद्योग पर अपने विचारों को एक भाषण में स्पष्ट किया, जो भाषण उन्होंने 21 अप्रैल, 1948 को कलकत्ता में दिया। उन्होंने ग्रैंड होटल में आयोजित ईस्टर्न चैंबर्स ऑफ कॉमर्स की सालाना आम बैठक में यह भाषण दिया था। बंगाली दैनिक 'युगांतर' में छपी उनके भाषण की प्रतिलिपि के अनुसार, उन्होंने कहा कि उद्योगपतियों को समय के साथ कदम मिलाकर चलना पड़ेगा और अप्रत्याशित मुनाफों के बारे में भूलना होगा, जो युद्ध के दौरान उन्होंने कमाए। कुछेक हाथों में धन के संचय पर उन्होंने आपत्ति उठाई; लेकिन वे बहुत स्पष्ट थे कि मुनाफे का मकसद देश के विकास में निहित रखना पड़ेगा और एक प्रमुख भूमिका अदा करनी पड़ेगी। उन्होंने सतत वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धांत को यह कहते हुए बेकार कहा कि उद्योग के विकास के लिए पूँजी एवं श्रम के बीच सहयोग अनिवार्य है और एक ऐसा माहौल पैदा करना पड़ेगा, जहाँ दोनों ही शिविर पूरक भूमिकाएँ अदा कर सकें।

डॉ. मुकर्जी के विचार भारत सरकार की औद्योगिक नीति में झलकते थे, जो 6 अप्रैल, 1948 को एक प्रस्ताव के जरिए घोषित की गई। इस प्रस्ताव के जरिए मिश्रित अर्थव्यवस्था के साथ-साथ योजनाबद्ध विकास और राष्ट्रीय हितों में उद्योगों के सरकारी नियमन को तय करने की कुल जिम्मेदारी का सपना सँजोया गया। जबकि इसमें सार्वजनिक हित में एक औद्योगिक उपक्रम के अधिग्रहण का अधिकार सरकार को देने का समर्थन किया गया, लेकिन निजी उद्यम के लिए एक उचित क्षेत्र को आरक्षित रखा गया। उस भूमिका के मुताबिक, उद्योगों को तीन वर्गों में रखा गया, जो उनके विकास के लिए सरकार को अदा करनी थी। पहले वर्ग में हथियार और गोला-बारूद, परमाणु ऊर्जा, नदी घाटी परियोजनाएँ एवं रेलवे को रखा गया और इन्हें सिर्फ सरकार की ही जिम्मेदारी माना गया। दूसरे वर्ग में वे उद्योग रखे गए, जो सरकारी स्वामित्व के होंगे, लेकिन जिनमें निजी उद्यमी भी सरकार के प्रयासों को बढ़ाएँगे। इनमें कोयला, लौह एवं इस्पात, विमानन, टेलीफोन, टेलीग्राफ, वायरलेस, समुद्री जहाज निर्माण और खनिज तेलों को शामिल किया गया। तीसरे वर्ग में शेष उद्योगों, मसलन उर्वरक, सूती और ऊनी वस्त्र, कागज और न्यूज प्रिंट आदि को शामिल किया गया। इन्हें निजी उद्यमों के लिए खुला रखा गया, लेकिन सरकारी नियमन और नियंत्रण के अधीन। कुटीर और लघु उद्योगों के समन्वय को भी केंद्र सरकार की जिम्मेदारी का एक हिस्सा माना गया। सन् 1948 और 1950 के बीच ऑल इंडिया हैंडीक्राफ्ट्स, ऑल इंडिया हैंडलूम बोर्ड तथा खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड की स्थापना की गई, ताकि बहुत जरूरतमंद संगठनों को आपूर्ति की जा सके और कुटीर एवं लघु उद्योगों के अस्तित्व व विकास के लिए आर्थिक मदद दी जा सके। जुलाई 1948 में 'भारतीय औद्योगिक वित्त निगम' (आई.एफ.सी.आई.) की स्थापना की गई, जो सरकार द्वारा प्रायोजित संस्थान था और एक निवेश बैंकर के रूप में काम करता था। वापसी की सरकारी गारंटी पर यह निजी बचतें इकट्ठा करता है और उन्हें पेशगी व दीर्घावधि

के कर्ज के रूप में औद्योगिक ऋण लेनेवालों में बाँट देता है।

यहाँ सर एम. विश्वेश्वरैया, प्रख्यात इंजीनियर एवं ऑल इंडिया मैन्यूफैक्चरर्स ऑर्गेनाइजेशन के अध्यक्ष द्वारा व्यक्त किए गए विचारों पर ध्यान देना प्रासंगिक होगा। जुलाई 1949 में बंबई से प्रकाशित उनके इश्तहार 'औद्योगिकीकरण की योजना' में उन्होंने कहा था कि कुछ मुख्य उद्योगों और रक्षा मशीनरी के उत्पादन से जुड़े उद्योगों को छोड़कर किसी भी उद्योग को सरकार द्वारा ग्रहण नहीं करना चाहिए, तुरंत सार्वजनिक हितों द्वारा माँगे गए विशेष कारणों के लिए उन्हें बचाना चाहिए। उन्होंने आगे उल्लेख किया कि 10 सालों के बाद उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नीति की घोषणा ने उद्योगपतियों और व्यापारियों को हतोत्साहित किया। पूँजी निवेश करने में संकोच बढ़ा और औद्योगिक क्रियाकलाप में विश्वास को नष्ट किया। अंततः उन्होंने उम्मीद की कि 25 महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर नियंत्रण और ग्रहण के लिए केंद्र सरकार को अधिकृत करनेवाला अवांछित बिल, जो संविधान सभा में विचाराधीन था, को आगे नहीं बढ़ाया जाएगा।

सरकार की औद्योगिक नीति के अनुसार, चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स (चित्तरंजन, प. बंगाल में), हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट फैक्टरी (बंगलौर), सिंदरी फर्टिलाइजर फैक्टरी (सिंदरी, बिहार, अब झारखंड) और दामोदर वैली कॉरपोरेशन—इन चारों अति सफल और विराट् सरकारी प्रतिष्ठानों की कल्पना तथा उनका आयोजन डॉ. मुकर्जी ने ही किया।

रेलवे इंजन में आत्मनिर्भरता हासिल करने की योजना के लिए वर्ष 1948 के शुरू में सरकार ने 15 करोड़ रुपए की लागत से भाप इंजन बनाने का एक कारखाना चित्तरंजन, पश्चिम बंगाल में आरंभ किया। अनेक हिस्सों को जोड़कर पहला भारत निर्मित रेलवे इंजन 'देशबंधु' 1950 में सामने आया। कार्यशाला इस तरह बनाई गई कि एक साल में 120 इंजन और 50 अतिरिक्त बॉयलर उत्पादित किए जा सकें।

हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड कोवालचंद-हीराचंद ने दिसंबर 1940 में मैसूर सरकार के सहयोग से बंगलौर में शुरू किया। जून 1942 में भारत सरकार ने दो-तिहाई शेयर पूँजी का अधिग्रहण कर लिया और प्रबंधन को अपने हाथ में ले लिया। मैसूर सरकार के पास एक-तिहाई शेयर पूँजी रही। दिसंबर 1945 तक अमेरिकी वायुसेना ने प्रबंध एजेंट के तौर पर कारखाने का प्रबंध देखा। युद्ध के दौरान अमेरिकी सशस्त्र सेनाएँ उस दौरान भारत में ही मौजूद थीं। सन् 1947-48 के दौरान निदेशक मंडल का पुनर्गठन किया गया। भारत सरकार के उद्योग एवं आपूर्ति मंत्री को अध्यक्ष और मैसूर के दीवान को उपाध्यक्ष रखा गया। कारखाने को पुनर्गठित करके एक लिमिटेड कंपनी का प्रारूप दिया गया और उसने भारतीय वायुसेना के लिए 'वैंपायर जेट फाइटर' का संयोजन एवं निर्माण करना आरंभ किया। एच.टी.-2 (नागरिक और रक्षा उद्देश्यों के लिए एक प्रशिक्षक विमान) बनाया। रेलवे के लिए पूर्णतः इस्पात के रेलवे डिब्बों का निर्माण किया और विभिन्न सरकारी तथा निजी परिवहन प्राधिकरणों के लिए बसें बनाईं।

अगस्त 1952 में दिल्ली से पठानकोट तक रेलवे के तीसरे दर्जे में सफर करते हुए उन्होंने 'वैध गौरव' के साथ बलराज मधोक को बताया, ''मैं खुद बैठा, सोचा और इधर-उधर चला, जब पहला कोच बनाया गया। मैं यह देखना चाहता था कि यह भारतीय रेलवे के आम यात्री के अनुकूल है या नहीं।''

भिलाई में इस्पात का प्लांट स्थापित करने की योजना भी डॉ. मुकर्जी की ही कल्पना थी। रायपुर के पश्चिम में 16 मील और दुर्ग के पूर्व में 9 मील दूर भिलाई तब केंद्रीय प्रदेश का हिस्सा था। बाद में उसका नाम 'मध्य प्रदेश' कर दिया गया। आज यह छत्तीसगढ़ राज्य का हिस्सा है। 1955 में उनका सपना साकार हुआ, जब भिलाई इस्पात प्लांट के लिए सोवियत सहायता के साथ एक समझौता हुआ, वह आगे बढ़ा और उसके बाद क्रमशः राउरकेला (उड़ीसा) और दुर्गापुर (पश्चिम बंगाल) के संयंत्र स्थापित हुए। उद्योग मंत्री के रूप में उनके कार्यकाल में ही न्यूज प्रिंट उत्पादन का पहला कदम उठाया गया, जब केंद्रीय प्रदेश के नेपानगर (अब मध्य प्रदेश) में नेशनल न्यूज प्रिंट ऐंड पेपर मिल्स लिमिटेड की स्थापना की गई। 1954 में न्यूज प्रिंट का उत्पादन भी शुरू हो गया था।

खाद्यान्न की बेहद कमी और बढ़ती जनसंख्या के संदर्भ में बड़े स्तर की उर्वरक फैक्टरी की स्थापना का विचार भारत में ब्रिटिश राज के बुरे वर्षों का था। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले और कुछ हद तक युद्ध के वर्षों के दौरान भारत ने बड़ी मात्रा में कृत्रिम उर्वरकों का आयात किया। लेकिन पहले तो नाइट्रोजन संबंधी उर्वरकों की विश्वव्यापी कमी के कारण और दूसरे समुद्री जहाज में स्थान की कमी के कारण यह जरूरी हो गया कि कृत्रिम उर्वरकों के स्वदेशी उत्पादन पर ही विचार किया जाए। इस पक्ष में एक बिंदु महत्त्वपूर्ण था कि स्वदेशी उर्वरकों के जरिए देश में भारी रसायन उद्योग की नींव रखी जा सकेगी, जो कि अनिवार्य था, यदि भारत किसी भी दिशा में औद्योगिकीकरण चाहता है तो! दामोदर नदी के किनारे पर स्थित बिहार के एक छोटे से गाँव सिंदरी को चुना गया, जो धनबाद से करीब 14 मील बहाव की ओर है। 35,000 टन अमोनियम सल्फेट के उत्पादन की योजना में उप-उत्पाद कैल्शियम कार्बोनेट से 1 लाख 5 हजार टन सीमेंट के सालाना उत्पादन को भी जोड़ लिया गया। एक थर्मल पॉवर प्लांट बनाना भी तय हुआ, न केवल प्लांट को ऊर्जा देने के लिए, बल्कि बिहार ग्रिड को 20 हजार किलोवाट बिजली की आपूर्ति के लिए भी। डॉ. मुकर्जी के कर्मठ नेतृत्व के कारण ही यह विशाल और अत्याधुनिक फैक्टरी अक्तूबर 1951 में उत्पादन शुरू कर सकी। यह तय तिथि के मुताबिक था, जिसका पूर्वानुमान दिसंबर 1947 में ही लगा लिया गया था। हालाँकि तब तक डॉ. मुकर्जी ने मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया था। चूँकि यह सरकार द्वारा स्थापित किए गए बिलकुल पहले कारखानों में से एक था, लिहाजा उन्हें नौकरशाही वाली कई सिलवटों को समतल करना पड़ा। उन्होंने यह सब बहुत अच्छी तरह से किया, एक शानदार और भव्य नवीनता का प्रदर्शन करते हुए।

अमेरिका की 'टेनेस्सी वैली अथॉरिटी' (टी.वी.ए.) की स्थापना सन् 1930 के मंदी के वर्षों के दौरान की गई थी। उसने सार्वजनिक कार्यों के जरिए सरकारी उद्यम के लिए एक मॉडल पूरी दुनिया को उपलब्ध कराया। अमेरिका सरीखे देश में टेनेस्सी घाटी के विभिन्न राज्यों के बीच सहयोग सुनिश्चित करना भी इसका एक उल्लेखनीय लक्षण था। अमेरिका में तो प्रत्येक राज्य बेहद उत्साहपूर्वक अपने अधिकारों की रक्षा करता है और वहाँ सरकार के किसी जोखिम भरे कार्य पर उपेक्षापूर्ण तरीके से देखा जाता है। बहूद्देश्यीय दामोदर नदी घाटी परियोजना, जो अमरीकी मॉडल पर बनाई गई, डॉ. मुकर्जी की एक और उत्कृष्ट उपलब्धि है। अलबत्ता यह परियोजना टी.वी.ए. की अपेक्षा ज्यादा पेचीदा थी। इसकी जरूरत खासतौर से तब महसूस की

गई, जब वर्ष 1943 में दामोदर नदी में विनाशकारी बाढ़ आई। जान-माल के जबरदस्त नुकसान जैसी अन्य तबाहियों के अलावा उसने पूर्वी भारतीय रेलवे की मुख्य लाइन ही काट दी, जो युद्ध के प्रयासों के लिए अनिवार्य थी। केंद्र सरकार और बिहार, पश्चिम बंगाल की प्रादेशिक सरकारों के इस साझा उपक्रम का स्वामित्व और प्रबंधन एक सार्वजनिक निगम के द्वारा होता था। दामोदर घाटी निगम अधिनियम, जिसे 27 मार्च, 1948 को गवर्नर जनरल ने स्वीकृति दी, के तहत एक निगम की स्थापना की गई, जो बिहार व पश्चिम बंगाल में दामोदर घाटी का विकास देख सके। इस अधिनियम के पीछे कुछ उद्‍देश्य ये थे—बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई, पनबिजली और थर्मल ऊर्जा, आंतरिक जल परिवहन, वनरोपण, भू-क्षरण को रोकना, भूमि का अच्छे-से-अच्छा उपयोग, विस्थापित आबादी का पुनर्वास, स्वच्छता, जन स्वास्थ्य उपाय और लोगों का आर्थिक-सामाजिक कल्याण। दामोदर घाटी परियोजना में मूलत: आठ भंडारण-बाँधों की कल्पना की गई थी, लेकिन पूरे चार बाँध ही बन सके। दामोदर नदी की सहायक नदियों—तिलैया, कोणार और मैथॉन—पर तथा दामोदर की पाँचेट पहाड़ी पर बाँध बनाए गए। बाँधों पर पनबिजली संयंत्र भी थे और बोकारो तथा दुर्गापुर में दो थर्मल पावर के स्टेशन, एक विस्तृत बिजली प्रसारण ग्रिड और दुर्गापुर में सिंचाई का एक बाँध। बोकारो-कोणार परियोजना के लिए विश्व बैंक ने 18 अप्रैल, 1950 को डॉलर में एक ऋण स्वीकृत किया। दामोदर घाटी निगम की परियोजना, केंद्रीय कैबिनेट से डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे के एक दशक से भी कम समय में, अपनी संपूर्णता के साथ पूरी हुई।

एक बार फिर डॉ. मुकर्जी के मंत्रित्वकाल के दौरान उड़ीसा में संबलपुर के पास महानदी नदी पर हीराकुड बाँध परियोजना की पहल वर्ष 1948 में की गई। ऐसा नदी को नियंत्रित करने और पश्चिमी उड़ीसा के संबलपुर व बोलंगीर जिलों की 67,00,000 एकड़ भूमि को सिंचाई उपलब्ध कराने के लिए सोचा गया। जून 1950 तक भूमि, भवन, सड़कों, रेलवे, बिजली घर और कार्यशाला आदि से जुड़े प्राथमिक काम ही पूरे हुए थे। बाँध वर्ष 1957 में बनकर पूरा हुआ और उसने राजगंगपुर सीमेंट फैक्टरी तथा पिछले पश्चिमी उड़ीसा के कई इलाकों में बिजली की आपूर्ति भी की।

डॉ. मुकर्जी ने अपने मंत्रालय के कामों में बहुत दिलचस्पी ली। 2 सितंबर, 1948 से अक्तूबर 1948 के तीसरे सप्ताह तक उन्होंने अमेरिका, ब्रिटेन, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, बेल्जियम और नीदरलैंड का तूफानी दौरा किया। सिंदरी में उर्वरक फैक्टरी और इस्पात की नई परियोजनाओं से जुड़े मुद्दों पर चर्चा की। अमेरिकी और ब्रिटिश इस्पात के आयात पर भी विचार किया। किस हद तक विदेशी एजेंसियों द्वारा खरीद को विदेशी निर्माताओं और सप्लायरों के स्थानीय एजेंटों द्वारा बदल देना चाहिए। उस प्रवास के दौरान डॉ. मुकर्जी हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड के लिए उच्च कोटि के कर्मचारियों और नए शुरू हुए टेक्सटाइल अनुसंधान संस्थान के संबंध में एक सूती वस्त्र विशेषज्ञ की भरती भी करना चाहते थे।

व्यापक राष्ट्रीय भलाई के इसी विचार ने, जिसने अपने मंत्रालय के कामों के भिन्न-भिन्न पहलुओं में गहरी जाँच करने को उन्हें प्रेरित किया और निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों के बीच सहयोग व समन्वय की नीति की पैरवी की, उसी ने औद्योगिक श्रम के सवाल पर उनके रुख का मार्गदर्शन किया। उन्होंने उत्पादन बढ़ाने के हित में श्रम और पूँजी के बीच सहयोग का समर्थन

किया। वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धांत ने प्रगति के एक अभिप्राय के तौर पर उनके बौद्धिक और तार्किक मानस को कभी आकर्षित नहीं किया। लेकिन वह नियोक्ता की शर्तों पर मजदूर का सहयोग नहीं चाहते थे। वह पूँजी और श्रम के बीच लाभ को बाँटने के पक्षधर थे, क्योंकि उससे उद्योग में मजदूर की दिलचस्पी विकसित होगी। जबकि मजदूर के कल्याण की उनकी चिंता ने मजदूरों में विश्वास को प्रेरित किया और पूँजी की समस्या के प्रति उनके यथार्थवादी व व्यावहारिक रुख ने नियोक्ताओं को दोबारा आश्वस्त किया। नतीजतन 1948 का फैक्टरी अधिनियम था, जिसने डी.आर. रेगे कमेटी के सुझावों का अनुपालन किया। इस कमेटी को द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत में औद्योगिक मजदूरों की स्थितियों की जाँच के लिए नियुक्त किया गया था। यह अधिनियम ब्रिटिश फैक्टरीज ऐक्ट, 1937 की तर्ज पर बनाया गया था। नए अधिनियम ने सबसे पहले पुराने अंतरराष्ट्रीय सिद्धांत को संहिताबद्ध किया कि कर्मचारी की सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण के संबंध में विस्तृत प्रावधानों के बिना किसी भी औद्योगिक प्रक्रिया में किसी भी कर्मचारी की नियुक्ति नहीं होनी चाहिए। अधिनियम के दंड संबंधी प्रावधान पहले की अपेक्षा ज्यादा कड़े थे। विशाखापट्टनम स्थित हिंदुस्तान शिपयार्ड कंपनी, जिसे मार्च 1952 में सरकार द्वारा प्रायोजित एक कंपनी ने ग्रहण कर लिया था, के कर्मचारियों ने डॉ. मुकर्जी में अपना विश्वास जताया, जब उन्हें पेशकश की गई कि उन्हें उस फैसले का अनुपालन करना होगा, जो प्रबंधन के साथ उनके विवाद के संबंध में डॉ. मुकर्जी देंगे। यह कश्मीर की उनकी त्रासद अंतिम यात्रा की पूर्व संध्या पर हुआ।

डॉ. मुकर्जी ने न केवल अपने विभागों के लिए उचित नीतियाँ स्थापित कीं, बल्कि पूरी सरकार के लिए वह एक शक्ति-स्रोत भी साबित हुए। उन मुद्दों पर उन्होंने अपनी योग्य पैरवी की, जिनपर राष्ट्रहित में हस्तक्षेप करना जरूरी था; लेकिन उसी वक्त उन्होंने यह सतर्कता भी बरती कि कोई अनावश्यक टाँग न अड़ा पाए। उद्योग एवं आपूर्ति मंत्री के तौर पर डॉ. मुकर्जी उस ज्ञापन को पढ़कर बहुत क्षुब्ध हुए थे, जो हथियार फैक्टरियों के यूरोपीय कर्मचारियों ने ब्रिटिश संसद् सदस्य सर वाल्ड्रेन स्मिथर्स को संबोधित किया था। यह ज्ञापन विभाजन की घोषणा करने से कुछ समय पहले का था। उस पत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले भारतीय हथियार फैक्टरियों के सभी योग्य और सक्षम यूरोपीय तकनीशियन थे, जिन्हें इंग्लैंड में भारतीय आयुध विभाग ने भरती किया था। उन्हें राजसत्ता के अधीन ही काम करना था और ईशापुर, कोसीपुर एवं कलकत्ता में वे स्थित थे। वे एक बैठक में शामिल हुए, जिसमें ऐसे कार्मिकों के लिए सरकार के निर्देशों पर चर्चा हुई कि वे भारत या पाकिस्तान की नवगठित सरकारों के साथ काम करने के एक अनुबंध पर हस्ताक्षर करें। सेवा-शर्तों को बिना जाने ही उन्हें ये हस्ताक्षर करने थे, जब भी सत्ता अंतिम तौर पर भारत और पाकिस्तान को दी जाएगी। डॉ. मुकर्जी खासतौर से यह जानकर बेहद गुस्सा हुए और उस सरकार के प्रति अपना अविश्वास व्यक्त किया, जिसके वे कर्मचारी थे। उन्होंने एक ऐसी सरकार के तले नौकरी करने के प्रति अपना विरोध प्रकट करने में संकोच नहीं किया, जिसके सदस्य पिछले युद्ध के दौरान ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ राजद्रोह करने के आरोप में जेल में डाले गए थे। उनका स्पष्ट संकेत अंतरिम सरकार के कांग्रेस सदस्यों की ओर था।

13 अक्तूबर, 1947 को डॉ. मुकर्जी ने एक पत्र केंद्रीय कैबिनेट में गृहमंत्री सरदार वल्लभभाई

पटेल को लिखा और सर वाल्ड्रेन को संबोधित ज्ञापन की एक प्रति संलग्न कर दी तथा भारतीय आयुध फैक्टरियों पर एक संक्षिप्त नोट भी लिखा। डॉ. मुकर्जी ने दावे के साथ कहा कि हालाँकि भारत की रक्षा-व्यवस्था में हथियार फैक्टरियों का महत्त्वपूर्ण संबंध है। यूरोपीय अफसरों में कई बेहद प्रतिक्रियावादी व अत्यधिक पूर्वग्रही थे और व्यावहारिक तौर पर वे ही इन फैक्टरियों के प्रशासन एवं प्रबंधन को नियंत्रित कर रहे थे, जिससे उन्हें राष्ट्रीय हितों को कुंठित करने और उनके महत्त्व को निरस्त करने की ताकत मिली। वह पटेल से मिले, ताकि किसी योजना पर विचार किया जा सके। डॉ. मुकर्जी सोच रहे थे कि जितना जल्दी हो सके, प्रत्येक अस्थायी गैर-भारतीय युद्ध रंगरूट के बिना काम चलाया जा सके, ताकि हथियार फैक्टरियों को भारतीय हितों के माकूल तरीके से बचाया जा सके। तब यही एक विभाग था, जिसमें यूरोपीय कर्मचारियों का महत्त्वपूर्ण शक्ति-बल था। उनकी मौजूदगी बहुत बड़ी बाधा पैदा करेगी, जब भारत और पाकिस्तान के बीच हथियार फैक्टरियों की परिसंपत्तियों के विभाजन का महत्त्वपूर्ण सवाल आएगा। अंततः जब अस्त्र-शस्त्र फैक्टरियों में, भारी माँगवाली उपभोक्ता चीजों के उत्पादन के लिए, औद्योगिक गतिविधियों की खूब गुंजाइश थी तो हथियारों की फैक्टरियों को सामूहिक स्तर पर नागरिक उत्पादन में बदलने की नई नीति को वे आदमी ही लागू कर सकते थे, जिनके राष्ट्रीय हित इस योजना की कामयाबी से अनिवार्य तौर पर जुड़े हों। वे इस नीति का पालन नहीं कर सकते, जिनके दाँव शून्य हों और हित आधा-दिली हों।

उद्योग एवं आपूर्ति मंत्री के रूप में डॉ. मुकर्जी के कार्यों में उन समस्याओं के समाधान भी शामिल थे कि एक उद्योग को विकास का सामना करना पड़ सकता है और वही विकास को सुनिश्चित कर सकता है। ऐसी ही एक समस्या माचिस उद्योग की थी, जो वर्ष 1926 में भारत में अपने मूल के लिए एक स्वीडिश उद्यम का आभारी है। अंबरनाथ, मद्रास, बरेली, कलकत्ता और धुबरी में माचिस बनानेवाली फैक्टरियों के साथ सभी का स्वामित्व और संचालन 'विमको' नामक स्वीडिश कंपनी के साथ मिलकर था। करीब 200 लघु कुटीर फैक्टरियों में हाथ से माचिस बनाई जाती थी। अधिकतर फैक्टरियाँ मद्रास (अब तमिलनाडु) के शिवकासी इलाके में थीं। प्रमुख फैक्टरियाँ ही कुल उत्पादन का ज्यादा हिस्सा पैदा करती थीं, लिहाजा कुटीर फैक्टरियाँ अपनी नाजुक स्थितियों के बारे में शिकायत करती थीं। एक तो उन्हें बड़ी फैक्टरियों के साथ कड़ी प्रतियोगिता करनी पड़ती थी और दूसरे, भारत के विभाजन के बाद पश्चिमी पाकिस्तान के बाजार उन्हें खोने पड़े थे। दक्षिण भारतीय कुटीर माचिस निर्माताओं ने अपनी शिकायतें आगे रखीं। हाथ से बनाई गई माचिसों पर उत्पाद शुल्क में पर्याप्त राहत देते हुए अधिकतर शिकायतों की क्षतिपूर्ति की गई। पोटैशियम क्लोरेट, सल्फर और फॉस्फोरस सरीखे कच्चे माल के आयात के लिए कई प्रावधान किए गए। लघु स्तर के उत्पादकों को अपना माल सभी गंतव्यों तक ले जाने के लिए परिवहन व्यवस्था को सरल और सुविधाजनक बनाया गया। कच्चे माल की थोक खरीद के लिए उचित वित्तीय संसाधन और तैयार माल के अनुकूल दरों पर भंडारण को भी उपलब्ध कराया गया। कभी-कभार पारिवारिक झगड़ों के कारण कुछ इकाइयाँ बंद हो जाती थीं। लिहाजा मद्रास सरकार को निर्देश दिए गए कि इन कुटीर उद्योग कामगारों को एक सहकारी संगठन के तहत लाया जाए और उनके कच्चे माल की आपूर्ति को सरल बनाने तथा तैयार माल के वितरण के लिए उन्हें

वित्तीय मदद दी जाए, ताकि उनकी 90 फीसदी समस्याएँ समाप्त हो सकें।

डॉ. मुकर्जी ने अपने मंत्रित्वकाल के दौरान ऊनी हथकरघा, सूती वस्त्र और सूती हथकरघा उद्योगों की ओर भी अत्यधिक ध्यान दिया। उनका उद्देश्य इनको सरकार की पूरी सहायता उपलब्ध कराना था, ताकि उद्योग खुद अपने पाँव पर खड़े हो सकें और उसके बाद वाणिज्यिक आधार पर समृद्ध हो सकें। इन उद्योगों के विकास के लिए उन्होंने जो कुछ कदम उठाए, उनका विवरण इस प्रकार है—

ऊनी हथकरघा उद्योग के संबंध में, जो अन्य कामों के साथ में कंबल, कालीन, रंग-बिरंगे ऊनी परिधान, शॉल, स्कार्फ, जुराबें, स्वेटर, जर्सी आदि का उत्पादन कर रहा था। इसी प्रक्रिया में वह रक्षा सेवाओं और निर्यात व्यापार की जरूरतों को भी पूरा कर रहा था। उन्होंने तय किया कि कामगारों की अधिकतम संख्या को सहकारी सोसाइटियों के अंतर्गत लाया जाए। उन्होंने यह भी बंदोबस्त किया कि 'सेंट्रल वूल टेक्नोलॉजिकल इंस्टीट्यूट' एवं 'सेंट्रल कॉटिज इंडस्ट्रीज इंपोरियम' की स्थापना के जरिए तकनीकी और बिक्री-कला का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया जाए।

सूती हथकरघा उद्योग भी बेदम सा होकर मुरझा रहा था। करीब 25 लाख बुनकरों का इससे रोजगार जुड़ा था, लेकिन युद्ध के दौरान धागे की कमी के कारण लगातार यह उद्योग परेशान रहा। आजादी के बाद भी इसने उन इलाकों में अपने बाजार खो दिए, जो अब पाकिस्तान और बर्मा बन गए। निर्यात के कुछ ताजा बाजार हासिल करने के लिए डॉ. मुकर्जी ने विदेशों में व्यापार आयुक्तों को नमूने भेजने का प्रबंध किया। सूती कपड़ा इस्तेमाल करनेवाली प्रादेशिक और राज्य सरकारों को भी हथकरघा इस्तेमाल करने को राजी कर लिया गया। रेलवे को भाड़े में छूट देने को मनाया गया। सरकार ने अलीगढ़ के पास हरदुआगंज में 'केंद्रीय कुटीर उद्योग इंस्टीट्यूट' की भी स्थापना की, ताकि अनुदेशकों और मास्टर बुनकरों को उत्पादन की बेहतर तकनीक एवं नए डिजाइनों का प्रशिक्षण दिया जा सके।

150 से ज्यादा वर्ष पुराने सूती वस्त्र उद्योग की पूँजी अनुमानतः 127 करोड़ थी और करीब 7 लाख कामगार थे। उसके बावजूद उसकी स्थिति ठीक नहीं थी। डॉ. मुकर्जी ने 30 जुलाई, 1948 को नई दिल्ली में एक प्रेस कॉन्फ्रेंस के दौरान नई 'वस्त्र-नीति' की घोषणा की थी। उसके तहत मूल्य, उत्पादन और कपड़े के वितरण पर दोबारा इस तरह नियंत्रण करने का सपना सँजोया गया, ताकि जनता को अधिकतर कपड़ा उचित दामों पर सप्लाई किया जा सके। डॉ. मुकर्जी ने सूती वस्त्र कोष अध्यादेश (1944) के तहत एक 'सूती वस्त्र कोष समिति' की नियुक्ति की, ताकि सूती कपड़े और धागे के निर्यात की देखरेख तय की जा सके। इसके साथ ही सूती वस्त्र उद्योग से जुड़ी तकनीकी शिक्षा और शोध का विकास सुनिश्चित किया जा सके। डॉ. मुकर्जी के लंबे-चौड़े प्रयास व्यवहार और यथार्थ पर आधारित थे—उद्योग को विकसित करना और विदेशी मुद्रा को कमाना पड़ेगा, जिसके लिए कुछ हद तक नियंत्रण थोपा गया था।

उद्योग एवं आपूर्ति मंत्री के तौर पर डॉ. मुकर्जी की आखिरी यादगार उपलब्धि सूती वस्त्र उद्योग को विकसित करना थी। 150 से अधिक वर्षों पुराने इस उद्योग का भारत के संगठित उद्योगों में सर्वप्रमुख स्थान था। वर्ष 1938-39 में इसकी अनुमानित पूँजी 127 करोड़ और कामगारों की संख्या करीब 7 लाख थी। यह सालाना 473.70 करोड़ गज कपड़े और 161.40 करोड़ पौंड

धागे का उत्पादन करता था, जिसकी कीमत करीब 450 करोड़ रुपए होती थी। नवंबर 1949 तक नई मिलें स्थापित की गईं और 12 मिलें निर्माणाधीन थीं। यह ब्रिटिश भारतीय सरकार द्वारा एक कमेटी की रपट (नवंबर 1945) को स्वीकृत करने के बाद हुआ। वह कमेटी भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के विकास के लिए एक योजना तैयार करने के लिए नियुक्त की गई थी। मिलों के ऐसे विस्तार से बुनाई की कुल क्षमता 643.70 करोड़ गज कपड़ा सालाना होनी तय थी। हालाँकि मिल-निर्मित कपड़े की कीमत अब भी अनुचित रूप से ज्यादा थी। 30 जुलाई, 1948 को नई दिल्ली में डॉ. मुकर्जी द्वारा 'नई वस्त्र नीति' घोषित करने के बाद करीब 400 कपड़ा मिलों के भंडारों पर रोक लगा दी गई। उस भंडार के कपड़े पर तदर्थ कीमतें छापने का प्रस्ताव था। थोक और खुदरा व्यापारियों को बिना छपे कपड़े की बिक्री करने की 31 अक्तूबर तक अनुमति दी गई। केंद्र, प्रादेशिक और राज्य सरकारों को थोक विक्रेताओं व खुदरा डीलरों से उचित कीमतों पर कपड़ा अधिग्रहण करने की शक्तियाँ दी गईं।

कपड़े का उत्पादन सूत की उचित आपूर्ति पर टिका था। भारत विभाजन के कारण सूत का एक विशाल क्षेत्रफल—पाकिस्तान—खो दिया और केंद्रीय प्रदेशों व बिरार में सूत का इलाका कम होने के कारण सूत की स्थिति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया। भारत सूत के मध्यम और लंबे मुख्य उत्पाद को लेकर घाटे में था। लिहाजा केंद्र सरकार ने 12 सितंबर, 1949 के सूत नियंत्रण आदेश के तहत कच्चे सूत की कीमतों पर नियंत्रण के लिए शक्तियाँ ग्रहण कर लीं। डॉ. मुकर्जी ने यह देखने के लिए अक्तूबर 1949 में नागपुर का दौरा किया कि केंद्रीय प्रदेशों और बिरार मिलों के पास सूती वस्त्र के भंडार, तात्कालिक आधार पर, साफ किए गए या नहीं। अंततः कपड़े और धागे की जो कीमतें 1 जुलाई, 1949 से 4 फीसदी घटा दी गईं और वितरण का मुनाफा, कपड़े के संदर्भ में, 6 फीसदी और धागे के संदर्भ में 2.5 फीसदी घटा दिया गया। 'सूती वस्त्र कोष' के प्रबंधन के लिए डॉ. मुकर्जी ने 'सूती वस्त्र कोष कमेटी' की वर्ष 1944 के अध्यादेश के तहत नियुक्ति की। डॉ. मुकर्जी की समस्याओं की गहरी समझदारी ने कई मौकों पर प्रकट रूप में नाउम्मीद स्थितियों से बचाया। उदाहरणार्थ, वर्ष 1949 में एक दिन सरकारी क्षेत्र इस सूचना पर बेहद क्षुब्ध थे कि कुछ महत्त्वपूर्ण सदस्य, जिन्हें वस्त्र नियंत्रण मामलों में अथॉरिटी माना जाता था, सरकार की नियंत्रण नीति पर ही हमला करने जा रहे थे। डॉ. मुकर्जी पहले बोले और तीन घंटे के अपने भाषण में उन्होंने सरकार का पक्ष इतने सशक्त एवं विश्वसनीय तरीके से रखा कि जो हमले की तैयारी से आए थे, वे सबसे पहले बधाई देनेवालों में थे।

उद्योग मंत्री के तौर पर काम करते हुए डॉ. मुकर्जी को एक दुर्भाग्यपूर्ण बुराई से डटकर मुकाबला करना पड़ा, जो भारतीयों के भीतर ही मौजूद था—क्षेत्रीय उग्र राष्ट्रवाद। डॉ. मुकर्जी को लिखे 1 दिसंबर, 1948 के एक गोपनीय पत्र में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि संविधान सभा में और आम जनता के बीच यह महत्त्वपूर्ण चर्चा है कि आपने अपने मंत्रालय को बंगाल की 'लघु प्रतिकृति' में बदल दिया है। उन्होंने इस मुद्‍दे पर डॉ. मुकर्जी की टिप्पणी माँगी। नेहरू ने उनके मंत्रालय के संबंध में संविधान सभा के एक सदस्य के पत्र की प्रति भी भेजी। यह ध्यान देना बेहद जरूरी है कि शिकायत इस आशय की नहीं थी कि उद्योग स्थापित करने के संबंध में वे पश्चिम बंगाल का पक्ष ले रहे थे अथवा बंगालियों के लिए ही रोजगार के ज्यादा अवसर पैदा कर रहे थे;

शिकायत महज यह थी कि वे अधिकतर बंगाली अफसरों के साथ अपना मंत्रालय चला रहे थे। दरअसल बीमार दिमागों की संकीर्ण सोच किसी भी स्तर तक नीचे जा सकती है।

4 दिसंबर, 1948 को इसी तरह गोपनीय पत्र के जरिए डॉ. मुकर्जी ने नेहरू को जवाब दिया कि पत्र में उनके मंत्रालय के 'अत्यधिक असंतुष्ट प्रशासन' का आम संदर्भ दिया गया है और इस पत्र में किसी 'सुस्पष्ट और सुनिश्चित उपलब्धि की कमी' का भी संदर्भ नहीं। पत्र में कोई विशेष ब्योरे भी नहीं हैं। दूसरी तरफ भारत के शेष हिस्सों और विदेश से भी आनेवाले लोग, अधिकृत और अनधिकृत रूप से, उनके मंत्रालय के संपर्क में रहे हैं। उन्होंने मंत्रालय की कार्यशैली के संबंध में बधाई दी थी। पत्र-लेखक ने सिर्फ एक ही विशेष मुद्दा उठाया है कि मंत्रालय में बंगालियों की नियुक्ति को उनका 'गुनाह का काम' माना है। यह तथ्यात्मक दृष्टि से गलत था। यह कथन कि जब से डॉ. मुकर्जी ने प्रभार सँभाला है, मंत्रालय के 8 विभागाध्यक्षों में से 7 बंगाली हैं, आश्चर्यजनक रूप से गलत था। उनके मंत्रालय के सबसे महत्त्वपूर्ण तीन अफसर, एक सचिव और दो संयुक्त सचिव—जो पूरा प्रशासन नियंत्रित करते थे—दक्षिण भारतीय थे। दो अन्य महत्त्वपूर्ण पदों—महानिदेशक, उद्योग एवं आपूर्ति तथा महानिदेशक, निपटान—पर क्रमशः डॉ. जे.सी. घोष (एक बंगाली) नियुक्त थे, जिनका चयन कैबिनेट ने मंजूर किया था और शिवशंकर (एक दक्षिण भारतीय) जिन्हें उन्होंने (डॉ. मुकर्जी ने) चुना था। अगले तीन महत्त्वपूर्ण अफसरों में से वस्त्र आयुक्त बंगाली था, जिसकी संयुक्त वस्त्र आयुक्त के दफ्तर से पदोन्नति हुई थी। उस पद पर डॉ. मुकर्जी के मंत्री बनने से पहले उन्होंने बहुत अच्छा काम किया था। दूसरा अधिकारी लौह एवं इस्पात नियंत्रक एक पारसी था। तीसरा, कोयला आयुक्त एस.के. सिन्हा थे, जो सेवानिवृत्त आई.सी.एस. अफसर थे। उनका चयन भी कैबिनेट की स्वीकृति से हुआ था। डॉ. मुकर्जी ने जोर देकर कहा कि किसी के साथ सिर्फ इसलिए पक्षपात नहीं किया गया है कि वह बंगाली है। उन्होंने एक नोट भी संलग्न किया कि उनके मंत्रालय में अफसरों की नियुक्ति के लिए क्या तरीका अपनाया गया था। वह ऐसा ही था, जैसी प्रक्रिया दूसरे मंत्रालयों में अपनाई गई थी। उन्होंने संघ लोक सेवा आयोग और गृह मंत्रालय से जुड़े चयन बोर्ड की किसी भी सिफारिश को खारिज नहीं किया था। यह कैबिनेट की सहमति से ही था कि डॉ. जे.सी. घोष और एस.के. सिन्हा की विशेष नियुक्तियाँ की गईं। अन्य अधिकतर मामलों में नियुक्तियाँ सिफारिशों के आधार पर की गईं। वे वरिष्ठता के नियम पर आधारित थीं। मंत्रालय में गठित विभागीय पदोन्नति समिति की सिफारिशों पर ही नियुक्तियाँ और तैनाती की जाती हैं, लिहाजा जान-बूझकर प्रादेशिक पूर्वग्रह का सवाल ही पैदा नहीं होता। अस्थायी पदों को तदर्थ आधार पर भरना होता है। वे करीब-करीब पश्चिमी पाकिस्तान के शरणार्थियों को दिए गए, जबकि पूर्वी पाकिस्तान से भी कुछ शरणार्थियों को चुना गया। दरअसल, डॉ. मुकर्जी को बंगालियों से इस संदर्भ में बहुत शिकायतें थीं। उन्होंने जोड़ा कि चयन बोर्ड अन्य प्रदेशों की अपेक्षा पश्चिम बंगाल सरकार से अधिकारी ले सकता था, क्योंकि विभाजन के बाद पश्चिम बंगाल में ज्यादा गैर-मुसलिम अफसर थे।

डॉ. मुकर्जी ने दो बंगालियों—डी.एन. मुकर्जी की साल्ट नियंत्रक और एम.के. सेनगुप्ता की महाप्रबंधक, हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड, बंगलौर—की नियुक्तियों के संबंध में दो अलग नोट भी संलग्न किए। नेहरू द्वारा भेजे गए पत्र में उन्हें 'प्रथम दर्जे का घोटाला' करार दिया गया था।

दोनों ही नोट्स में उन्होंने आरोपों को पूरी तरह खारिज कर दिया, जो सुनी-सुनाई बातों पर आधारित थे और तथ्यों के भी उलट थे। नोट्स में उन्होंने स्पष्ट किया कि कैसे सक्षम अधिकारियों में से प्रत्येक की नियुक्ति की गई। पूरी तरह स्थापित प्रक्रिया के अनुसार और संबद्ध अधिकारियों से उचित सलाह के बाद ये नियुक्तियाँ की गईं। उन्होंने यह भी खुलासा किया कि साल्ट नियंत्रक के मामले में मौजूदा अधिकारी गंभीर बाधा बना था और मंत्रालय ने विपरीत टिप्पणी की थी; जबकि हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट लि. के मामले में एक उपयुक्त अधिकारी को ढूँढ़ना बेहद मुश्किल साबित हुआ था। डॉ. मुकर्जी ने यह भी जोड़ा कि दोनों ही अफसरों ने अपने नए पदों पर बहुत अच्छा काम किया है।

अब मंत्रियों के आधार पर क्षेत्रीय पूर्वग्रह का सवाल उठाया गया था। डॉ. मुकर्जी ने नेहरू से अनुरोध किया कि तुरंत एक बयान जारी किया जाए, जिसमें 15 अगस्त, 1947 से सभी मंत्रालयों में तमाम बड़े पदों पर की गई नियुक्तियों की पूरी सूची दी जाए। प्रत्येक मामले में अपनाई गई प्रक्रिया और विभिन्न प्रदेशों के लोगों के प्रतिशत का खुलासा किया जाए। अपने मंत्रालय में सभी प्रदेशों को निष्पक्ष और समान प्रतिनिधित्व मिले। इस चिंता के मद्देनजर डॉ. मुकर्जी ने प्रादेशिक सरकारों से खासतौर पर अनुरोध किया कि वे कुछ सक्षम अफसरों की सेवाएँ मुक्त कर दें; लेकिन अधिकतर उन्हें उपकृत करने में नाकाम रहीं। अपने मंत्रालय के संबंध में डॉ. मुकर्जी ने संविधान सभा के ऐसे सदस्यों और अन्यों से मिलने की पेशकश की, जो इस मुद्दे पर नेहरू तक गए और जो खुला दिमाग रखते थे। चुने गए अधिकारी की नियुक्ति और उसकी योग्यता के तरीकों को लेकर वे किसी को भी संतुष्ट कर सकते थे। जब उनका एक साथी इसी तरह के एक अनुचित हमले का शिकार हुआ तो उन्होंने पूरे संरक्षण के लिए प्रधानमंत्री की ओर देखा, क्योंकि ऐसे हमले न केवल संबद्ध मंत्री के लिए, बल्कि पूरी सरकार के लिए भी खतरनाक साबित हो सकते थे।

इस शिकायत को निरस्त किए अभी एक साल ही बीता था कि डॉ. मुकर्जी को प्रधानमंत्री नेहरू की ओर से एक और गोपनीय पत्र 13 फरवरी, 1950 का लिखा प्राप्त हुआ। प्रधानमंत्री ने 15 अगस्त से 22 दिसंबर, 1949 तक उद्योग एवं आपूर्ति मंत्रालय और उससे जुड़े संगठनों में राजपत्रित नियुक्तियों के संदर्भ में एक बयान भेजा था। नेहरू के अनुसार, बयान के स्पष्ट संकेत थे कि कुल नियुक्तियों के संदर्भ में नियुक्त किए जानेवाले बंगालियों की संख्या बहुत महत्त्वपूर्ण थी और कुछ वरिष्ठ नियुक्तियाँ सेवानिवृत्त लोगों की थीं। जबकि प्रादेशिक और सांप्रदायिक औसत में नेहरू की दिलचस्पी नहीं थी, लिहाजा बार-बार ऐसी आलोचना के संदर्भ में उन्होंने सोचा कि डॉ. मुकर्जी को योग्यता के मानकों के भीतर संतुलन बनाए रखने के प्रति हमेशा सावधान रहना चाहिए। योग्यता ही मुख्य आधार होना चाहिए। 15 फरवरी, 1950 को नेहरू के पत्र का जवाब देते हुए डॉ. मुकर्जी ने कहा कि उन्हें दुःख है कि उनके मंत्रालय में बंगालियों के प्रति कथित पक्षपात का सवाल एक बार फिर उठाया गया है; जबकि वे इस सवाल का प्रभावपूर्ण जवाब पहले ही दे चुके थे। तब उन्होंने रिकॉर्ड भी दिखाए कि 15 जुलाई, 1947 और 15 दिसंबर, 1949 के बीच कुल 605 राजपत्रित नियुक्तियाँ की गईं। उनमें से 188 बंगाल से, 115 मद्रास से और शेष पूरे भारत के अन्य हिस्सों से थीं। ये नियुक्तियाँ बाकायदा गठित की गई विभागीय चयन

समितियों ने कीं, जिनमें संघीय लोक सेवा आयोग (मौजूदा संघ लोक सेवा आयोग) का एक सदस्य शामिल होता था। एक भी मामले में डॉ. मुकर्जी इन समितियों की सिफारिशों से असहमत नहीं हुए। मंत्री ने निजी तौर पर जो नियुक्तियाँ कीं, वे तीन या चार से ज्यादा नहीं थीं। वे तमाम अफसर उत्कृष्ट योग्यता के थे और वे सभी बंगाली भी नहीं थे।

डॉ. मुकर्जी चाहते थे कि निंदा और बदनामी का यह अभियान हमेशा के लिए थम जाए, लिहाजा नेहरू से अनुरोध किया कि विभिन्न मंत्रालयों में प्रादेशिक प्रतिनिधियों के वितरण संबंधी पूरी सूचना को इकट्ठा करें और उनकी नियुक्तियों में अपनाई गई प्रक्रिया का भी ब्योरा एकत्रित किया जाए। उनके मंत्रालय में कुछ असंतुष्ट लोग और कुछ सचिवालय में अपने निहित स्वार्थों के साथ सांसदों से मिलकर बनावटी शिकायतें देते रहे थे और मुसीबतें पैदा करते रहे थे। वह चिंतित थे कि ऐसी अनुशासनहीनता, साजिश और चुगलखोरी का कोई-न-कोई नतीजा होगा, यदि इन प्रवृत्तियों पर प्रभावी तौर से निगरानी न रखी गई। ऐसी अनुभूति थी (उन्होंने यह नहीं कहा कि वह अनिवार्य रूप से तर्कसंगत थी) कि बंगालियों की नियुक्ति के खिलाफ कुछ पूर्वग्रह थे, हालाँकि कुछ क्षेत्रों में वे योग्य थे। अंतत: डॉ. मुकर्जी ने ऐसी कोई भी सूचना देने की पेशकश की, जिसे नेहरू माँगना चाहते हों।

एक और अवसर पर कुछ दिलचस्पी रखनेवाले लोगों ने एक कानाफूसी अभियान शुरू किया कि आपूर्ति विभाग के स्टोर विभाग के कुछ अफसरों ने एक धोखाधड़ी वाला लेन-देन किया था। उनपर आरोप थे कि उन्होंने टूथ-ब्रशों और कंघियों के विशाल भंडार एक नगण्य रकम पर बेच दिए, जबकि उनकी कीमत उससे बहुत ज्यादा थी। इस मुद्दे पर संसद् में सवाल रखे गए। इस मामले की फाइलें, जिनमें ये सामान्य नोट थे कि भंडार में अच्छे व बुरे टूथ-ब्रश थे और जो रकम ली गई, वह वाकई बेहद कम थी, सुबह करीब 9.30 बजे उनके स्टाफ ने डॉ. मुकर्जी को प्रस्तुत कर दीं। करीब 10.30 बजे वह संसद् गए और इस संदर्भ में उठाए गए सवालों के जवाब तुरंत देने शुरू कर दिए। तीन सवालों का जवाब देते हुए उन्होंने कहा कि इन चीजों की बड़ी मात्रा के लिए बहुत कम कीमत ली गई। उनमें से कुछ अच्छी स्थिति में थीं; लेकिन दूसरी चीजें इतनी खराब थीं कि उनकी अच्छी कीमत मिल ही नहीं सकती थी और तुरंत उन्होंने जेब से ऐसे टूथ-ब्रश निकाले, जिनके बिलकुल भी बाल नहीं थे! सांसदों ने उन बेकार ब्रशों को देखा। वे समझ नहीं पा रहे थे कि उन्हें बेचने के लिए कैसे पेश किया जा सकता था। उनके अपने विभाग के अफसर हैरानी और उलझन में थे कि इतने थोड़े समय में ऐसी प्रभावी सामग्री उन्होंने कैसे मुहैया कर ली।

इस तरह डॉ. मुकर्जी अपनी प्रशासनिक प्रखरता के साथ मंत्रालय चलाते रहे और संसद् में बहस के लिए अपनी सहज वृत्ति के साथ अपनी काररवाइयों का बचाव करते रहे। देश लाभान्वित होता, खासतौर पर उद्योग विभाग का फायदा होता, यदि डॉ. मुकर्जी कुछ और समय के लिए अपने पद पर रहते। लेकिन ईश्वर की कृपा ने कुछ और ही तय किया। जनवरी 1950 में या उसके आसपास, जब देश गणतंत्र की स्थापना और संविधान धारण करने की खुशियाँ मना रहा था तो पूर्वी पाकिस्तान में सरकार द्वारा प्रायोजित हिंदुओं के खिलाफ भीषण जनसंहार शुरू हुआ, जिसके बारे में विश्व अब भी बहुत कुछ नहीं जानता। डॉ. मुकर्जी प्रतिक्रिया दिए बिना नहीं रह सके।

उस दौर में डॉ. मुकर्जी ने दो और दायित्व भी ले लिये। एक, वह कलकत्ता आधारित 'महाबोधि सोसाइटी' के अध्यक्ष चुने गए। यह भारत में बौद्धों का प्रमुख संगठन था। डॉ. मुकर्जी को बेहद करीब से देखनेवाले बलराज मधोक ने गौर किया कि यह उनका दृढ़ विश्वास था कि बौद्ध विचार और संस्कृति ही बौद्ध विश्व को एक साथ बाँध सकती है। खासतौर से भारत के साथ दक्षिण-पूर्व एशियाई और पूर्व एशियाई देशों को। यह संस्कृति बुनियादी तौर पर भारतीय प्रेरणा और सारतत्त्व थी और भारत में रूढ़िवादी हिंदू विश्वास से इसने अपना विषयांतर किया। वेदों को स्वीकार नहीं किया, लेकिन फिर भी पुनर्जन्म सरीखे हिंदू विश्वासों के व्यापक ढाँचे में काम किया। डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया कि भगवान् बुद्ध के विचार और उनकी संस्कृति का ज्ञान आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्र में मतभेदों की हदें पार कर रहे देशों और भारत के बीच स्थायी एकता पैदा करेगा। उन्होंने ध्यान दिया कि बौद्ध धर्म सभी ओर है, लेकिन अपने उद्‌गम राष्ट्र भारत से गायब है। वैसे उसने प्राचीन हिंदू संस्कृति का अपने में समावेश कर लिया था। यह तथ्य है कि बुद्ध को भगवान् विष्णु के दस अवतारों (या पुनर्जन्म) में से एक के तौर पर हिंदुओं ने स्वीकार किया है।

ऐसा करते हुए उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह किया। उन्होंने सोसाइटी द्वारा आयोजित एक समारोह में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से बौद्ध संतों और बुद्ध के शिष्यों, महासभा एवं महामौगलाना की अस्थियाँ और स्मृति-चिह्न प्राप्त किए। यह समारोह कलकत्ता मैदान पर जनवरी 1949 में आयोजित किया गया। इन अस्थियों का एक दिलचस्प इतिहास था। इन्हें साँची (मध्य प्रदेश) के प्राचीन स्तूप से 1851 में एक जनरल कुनिंघम ने इंग्लैंड भेज दिया था और ब्रिटिश म्यूजियम में रखा गया था। भारत की आजादी के बाद उन्हें भारत को लौटा दिया गया। प्रधानमंत्री नेहरू ने भारतीय महाबोधि सोसाइटी के अध्यक्ष के तौर पर 14 जनवरी, 1949 को कलकत्ता में समारोही मंगलध्वनि के बीच वे स्मृति-चिह्न डॉ. मुकर्जी को सौंप दिए।

उन्हें भारत और बौद्ध-विश्व के बीच विचारों व संस्कृति का यह संबंध प्रदर्शित करने का एक मौका मिला, जब वे भगवान् बुद्ध के इन दो शिष्यों की पवित्र अस्थियों के साथ बर्मा और फ्रेंच इंडो-चायना गए। उसके बाद सीलोन (अब श्रीलंका), बर्मा (अब म्याँमार), कंबोडिया और तिब्बत आदि देशों ने अनुरोध किया कि साँची में पुनः प्रतिष्ठित करने से पहले वे अपने देश में उन अस्थियों के दर्शन करना चाहते हैं। उनके निमंत्रण पर डॉ. मुकर्जी ने मार्च में बर्मा और अक्तूबर 1952 में कंबोडिया व इंडो-चायना की यात्रा पवित्र अस्थियों के साथ ही की। दरअसल बर्मी लोगों ने यह सोचना शुरू कर दिया था कि डॉ. मुकर्जी उन्हीं में से एक हैं और एक संत के तौर पर वह उनके भीतर उनके आस्था-विश्वासों को दोबारा जगाने आए हैं। कहा जाता है कि कंबोडिया में 10 लाख से ज्यादा बौद्ध भिक्षु और आम आदमी नोमपेन्ह एयरपोर्ट से लेकर सिल्वर पगोडा तक के रास्ते में बिछ गए थे। उन्होंने विश्व-प्रसिद्ध हिंदू मंदिरों, महलों और अंकोरवाट का दौरा किया। वह बैंकॉक और कोलंबो भी गए, जहाँ तालियों की गड़गड़ाहट के साथ उनका स्वागत हुआ।

उनकी जिंदगी के इस चरण का आखिरी काम था—नवंबर 1952 में भोपाल (मौजूदा मध्य प्रदेश की राजधानी) के पास साँची के नए विहार में अस्थियों की पुनः प्रतिष्ठा करना। समारोह की

अध्यक्षता भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति एवं डॉ. मुकर्जी के पुराने निजी मित्र डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने की। बर्मा के प्रधानमंत्री थकिन नू भी समारोह में शामिल होने साँची आए और डॉ. मुकर्जी को बताया, ''आप नहीं जानते कि आपने मेरे देश की क्या सेवा की है। अस्थियों के साथ आपके प्रवास ने मेरे लोगों में एक चमत्कारिक परिवर्तन ला दिया है। उन्हें अपनी आत्मा मिल गई है।''

अंतत: डॉ. मुकर्जी के जीवन के इस चरण का वर्णन एक संदर्भ के बिना पूरा नहीं होगा कि संविधान सभा के एक सदस्य के तौर पर उन्होंने क्या काम किया। सभा में उनके यादगार भाषणों में से एक यह भी था, जो उन्होंने हिंदी के संबंध में दिया। उनका आग्रह था कि देश की अधिकृत भाषा के तौर पर हिंदी को ही धारण किया जाए। डॉ. मुकर्जी हिंदी के एक महान् पैरोकार थे, जो उल्लेखनीय है; क्योंकि जिस सामाजिक जमात—यानी बंगाली मध्यवर्गीय भद्रलोक—से वे आते थे, उसका एक अच्छा-खासा हिस्सा पक्के अंग्रेजी-भक्तों में था। वे हिंदी को हेय समझते थे (उनमें से कुछ अब भी समझते हैं)। हालाँकि यह कहा जाना चाहिए कि बंगाल में हिंदी-विरोध को लेकर उस तरह का उन्माद, दुराग्रह और हिंसा नहीं हुई, जैसी बाद में तमिलनाडु में देखी गई थी।

डॉ. मुकर्जी का हिंदी पर भाषण इसका उदाहरण है कि इस सवाल के प्रति संतुलित रुख क्या होना चाहिए। हिंदी को प्रगतिशील रूप से अपनाने की पैरवी करते हुए उन्होंने उत्साही लोगों को सावधान किया कि हिंदी बहुत बोझिल नहीं होनी चाहिए और इस तरह अपने ही उद्देश्य को नुकसान न पहुँचाएँ। उनकी तेज निगाह ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि देवनागरी के बजाय अंतरराष्ट्रीय अंकों का इस्तेमाल क्यों किया जाए। प्रस्तुत है 13 दिसंबर, 1949 को संसद् में दिए गए उनके भाषण का सारांश—

''भारत कई भाषाओं का देश रहा है। यदि हम अतीत में देखें तो पाएँगे कि इस देश में सभी लोगों द्वारा एक ही भाषा को स्वीकार किया जाए, ऐसा किसी के लिए भी संभव नहीं रहा है। मेरे कुछ मित्र धाराप्रवाह रूप से बोलते थे कि एक दिन ऐसा जरूर आएगा, जब भारत की सिर्फ एक ही भाषा होगी। स्पष्ट बोल रहा हूँ, मैं इस विचार को नहीं मानता...यदि कोई यह दावा करता है कि भारत के संविधान में एक अनुच्छेद पारित करा, एक ही भाषा को सभी लोग स्वीकार कर लेंगे, जोर-जबरदस्ती की प्रक्रिया के जरिए, तो मेरा कहना है कि वह हासिल करना भी संभव नहीं होगा। 'विविधता में एकता' भारत का केंद्रीय विचार है और उसे आपसी समझ व सहमति की प्रक्रिया के जरिए ही हासिल किया जा सकता है। मैं आज गर्व महसूस करता हूँ कि उस समझौते को सदन के सभी सदस्यों ने व्यावहारिक तौर पर और स्वेच्छा से पेश किया है कि वे आजाद भारत की अधिकृत भाषा के तौर पर देवनागरी लिपि में हिंदी को स्वीकार कर रहे हैं। मुझ पर छोड़ दिया जाता तो निश्चित तौर पर संस्कृत मेरी प्राथमिकता होती। हम हिंदी को स्वीकार क्यों करते हैं? इसलिए नहीं कि यह सभी भारतीय भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ है, बल्कि मुख्य कारण यह है कि यही एक भाषा है, जिसे आज देश में एक विशाल बहुमत समझता है। यदि आज 32 करोड़ लोगों में से 14 करोड़ लोग एक विशेष भाषा को समझते हैं और यह प्रगतिशील विकास में सक्षम भी है तो हमें उस भाषा को, समग्र भारत के उद्देश्यों के लिए, स्वीकार कर लेना चाहिए। लेकिन इस ढंग से किया जाए कि अंतरिम समय में हमारे अधिकृत कामकाज या प्रशासन

की स्थिति बिगड़ न जाए और तुरंत ही भारत तथा उसकी अन्य महान् भाषाओं का विकास अवरुद्ध न कर दे। आपके पास करीब 15 साल हैं, इस दौरान अंग्रेजी को प्रतिस्थापित करना पड़ेगा। यह प्रतिस्थापन कैसे होगा? यह प्रगतिशीलता से करना पड़ेगा। क्या हिंदी के आंदोलनकारी नेता यह कहने के लिए मुझे माफ कर देंगे, यदि वे अपनी माँगों और हिंदी को लागू करने में शायद इतने आक्रामक न होते तो उन्होंने वह हासिल कर लिया होता, जो वह चाहते थे। शायद उनकी अपेक्षाओं से भी ज्यादा भारत की संपूर्ण आबादी के स्वाभाविक और इच्छित सहयोग के जरिए सबकुछ प्राप्त कर लिया होता। लेकिन दुर्भाग्यवश, एक भय व्यक्त किया जा रहा है और कुछ इलाकों में वह भय क्रियाकलाप में बदलता जा रहा है, जहाँ लोग दूसरी भाषाएँ बोल रहे हैं, किसी भी तरह हिंदी से हीन नहीं, वही सुविधाओं की अनुमति नहीं है, ब्रिटिश शासन ने भी जिससे वंचित रखने का साहस नहीं किया था···अंत में मैं अंकों के बारे में कुछ शब्द कहूँगा। अंकों के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है। लेकिन यह सुझाव दक्षिण भारत से आनेवाले लोगों के स्थानीय हित में नहीं है। इस बिंदु को इस सदन के प्रत्येक वर्ग को जरूर समझना चाहिए। जब तक कुछ और तय नहीं हो जाता, तब तक इन अंतरराष्ट्रीय अंकों की निरंतरता हमारे अपने हितों में बेहद जरूरी है—कमोबेश आनेवाले कई सालों तक। ये अंक कुछ संशोधित रूप में अपनी ही 'जन्मभूमि' में लौट आए हैं।''

15 के बजाय 65 साल बीत चुके हैं, लेकिन अंग्रेजी का हिंदी के जरिए प्रतिस्थापन अभी तक शिथिल रहा है। वह अधिकतर हिंदी भाषी राज्यों तक ही सीमित रहा है। क्यों? एक कारण यह है, क्योंकि केंद्रीय स्तर पर इसमें बहुत कम लोगों की गंभीर दिलचस्पी है। लेकिन दूसरा कारण यह है कि बीते दो दशकों में अंतरराष्ट्रीय इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और संचार में जो विस्फोट हुआ है, उसने अंग्रेजी को अपरिवर्तनीय बना दिया है। दरअसल एक तथ्य यह भी है कि हम भारतीय अच्छी अंग्रेजी जानते हैं और चीन सरीखे अन्य देश नहीं जानते। लिहाजा कुछ विशेष मामलों में, अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में, हमारी स्थिति बेहद फायदेमंद हो गई है।

□

11

पूर्वी बंगाल में जनसंहार और कैबिनेट से इस्तीफा

(1950)

जनवरी-मार्च 1950 के दौर ने पहले के पूर्वी बंगाल या पूर्वी पाकिस्तान के भीषण हिंदू विरोधी जनसंहारक रूप को देखा, जिसने श्यामाप्रसाद मुकर्जी की जिंदगी में वाटरशेड के तौर पर काम किया। यह अनुमान है कि करीब 50,000 हिंदुओं ने अपनी जानें गँवाईं और दसियों हजार हिंदू औरतों के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया गया। उन्होंने इस मुद्दे पर जवाहरलाल नेहरू के साथ गंभीर बातचीत की और अंतत: केंद्रीय कैबिनेट से इस्तीफा दे दिया। इस्तीफे के बाद उन्होंने 'भारतीय जन-संघ' नाम की नई पार्टी बनाई, जो अंतत: उनकी मृत्यु के काफी बाद भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के रूप में बदल गई। भाजपा ने 1998 से मई 2004 तक केंद्र सरकार में सत्तारूढ़ गठबंधन का नेतृत्व किया और आज भी (2012 में) भारत की प्रमुख विपक्षी पार्टी है। छह राज्यों में भाजपा की अकेली अपनी सरकारें हैं और तीन अन्य राज्यों में क्षेत्रीय दलों के साथ गठबंधन सरकारें हैं। लिहाजा इस जनसंहार और उसके बाद की स्थितियों का अध्ययन सावधानी से किया जाना चाहिए, ताकि डॉ. मुकर्जी की जिंदगी में आए बाद के मोड़ों को भी समझा जा सके।

यह जनसंहार दुनिया में दो तरह से अनूठा है। पहले, इतने आयामों का कोई भी जनसंहार, इतनी देर तक दुनिया की आँखों से इतना छिपा नहीं रहा। दूसरे, किसी भी जनसंहार में पीड़ितों ने ही, जनसंहार करनेवालों ने नहीं, इसे छिपाने में इतनी तत्परता और ऐसी असाधारण उत्सुकता दिखाई। यह जनसंहार पहले के पूर्वी पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिंदुओं का पाकिस्तानी हुकूमत का प्रायोजित उत्पीड़न था। तब उस क्षेत्र को 'पूर्वी बंगाल' के नाम से भी जानते थे। जनसंहार का प्राथमिक उद्देश्य हिंदू अभिजात और बौद्धिक वर्गों को देश के बाहर निकालना लगता है। देश को उनके अत्यधिक प्रभाव से साफ करना और उनकी जायदादें छीनने तथा जबरन हथिया लेने का भी इरादा था। इस प्रक्रिया में विनम्र हिंदू किसान, दस्तकार-कारीगर और मछुआरों का उत्पीड़न किया गया। उनकी हत्या कर दी गई और उन्हें बाहर निकाल दिया गया।

यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि वर्ष 1947 तक अध्यापक, वकील, चिकित्सक, नागरिक

प्रशासन, क्लर्क, पत्रकार, व्यापारी और ऐसे ही पदों व पेशों में जो लोग थे, पूर्वी बंगाल में वे ज्यादातर हिंदू थे। उनकी संख्या करीब 1.35 करोड़ थी, यानी आबादी का करीब 29 फीसदी। लेकिन करीब 80 प्रतिशत राष्ट्रीय संपत्ति पर उनका मालिकाना हक था और 95 प्रतिशत शैक्षिक संस्थानों की वे आर्थिक मदद करते थे। ढाका शहर में करीब 75 प्रतिशत भूमि और जायदाद के मालिक वे थे। इसका कारण यह था कि इस क्षेत्र के हिंदुओं ने पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की थी, जिसे ब्रिटिश बेहद तत्परता से लाए थे। यहाँ तक कि इस इलाके के हिंदुओं ने पश्चिम बंगाली हिंदुओं की अपेक्षा ज्यादा शिक्षा प्राप्त की थी और नतीजतन वे ज्यादा समृद्ध हुए। जबकि मुसलिमों ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने अतीत की गरिमा में ही बंद रहना चुना। लॉर्ड कार्नवालिस के 'स्थायी समझौते' के जरिए पैदा हुए सामंती जमींदारों में से भी अधिकांश हिंदू थे। इसके अलावा अधिकतर शहरों में हिंदू बहुमत में थे और वहाँ की जमीन के अधिकांश हिस्से के मालिक थे। इन स्थितियों ने हिंदुओं के भीतर श्रेष्ठता की भावना भरने में योगदान दिया। दूसरी ओर, देहात में अधिकतर मुसलिम थे, जिनमें अधिसंख्य गरीब किसान थे। हालाँकि पूरे प्रदेश में हिंदुओं के छोटे-छोटे क्षेत्र भी थे।

इसमें से कुछ भी बहुसंख्यक मुसलिमों की पसंद नहीं हो सकता था। पाकिस्तान बनने के बाद उन्होंने ऐसी सियासी ताकत हासिल कर ली थी कि वे अब उसका बदला ले सकते थे, जो हिंदुओं ने गलत और सही उनके साथ किया था। हिंदुओं के उत्पीड़न में कत्लेआम, अंग-भंग का अपराध, तोड़-फोड़ और उनकी जायदाद हड़पने जैसे तरीके इस्तेमाल किए गए और सबसे बढ़कर हिंदू औरतों का बलात्कार व बर्बरतापूर्ण व्यवहार। कहा जाता है कि हिंदू औरतें मुसलिम पुरुषों को बेहद मोहक व लुभावनी लगती थीं। बंगाल के आखिरी ब्रिटिश गवर्नर सर फ्रेडरिक बरोज ने इस कहावत को अधिकृत मान्यता दी थी और समकालीन बँगलादेशी लेखक हुमायूँ आजाद ने इसे साहित्यिक मान्यता दी थी। हिंदू अल्पसंख्यक तब आबादी के 29 प्रतिशत थे और तमाम बौद्धिक क्रियाकलापों व पेशों में एक बड़े भू-भाग पर उनका वर्चस्व था।

दूसरी ओर, पाकिस्तान की सरकारी मशीनरी में पंजाबी मुसलिमों का प्रभाव था और वह इस हकीकत को मिटा देना चाहती थी। ऐसी ही प्रवृत्ति के पूर्वी बंगाली मुसलिम नेताओं की मदद से काम शुरू कर दिया गया। जनता को मजहब के नाम पर जान-बूझकर भड़काया गया और उन्हें भी हत्या, अंग-भंग विनाश तथा बलात्कार के खेल में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया गया। एक बार शुरू हुआ तो इस खेल ने खुद अपनी गति पकड़ ली और रुक-रुककर होनेवाली प्रक्रिया बन गया। उसके जरिए एक नियमित अंतराल पर हिंदुओं को परेशान करना जारी रहा। कभी-कभार यह प्रक्रिया ज्यादा बढ़ने लगती (जैसा वर्ष 1950, 1964, 1971, 1988, 1992 और 2001 में हुआ) और कभी बिलकुल कम होकर थम-सी जाती। उस प्रक्रिया की प्रचंडना बीच-बीच में बदलती रही। उल्लेख किए गए साल स्पष्ट संकेत करेंगे कि यह प्रक्रिया पूर्वी पाकिस्तान के बँगलादेश बनने के बाद भी नहीं थमी। हिंदुओं के साथ-साथ कुछ गैर-मुसलिम—ईसाई, बौद्ध और अहमदिया, कादियान के तौर पर भी चर्चित मार्ग से हटनेवाला एक मुसलिम संप्रदाय भी एक हद तक प्रभावित हुए।

जनसंहार का दूसरा पहलू बेहद भ्रमित और अनिर्वचनीय है। पूर्वी बंगाल की जड़ोंवाले हिंदू,

जो पश्चिम बंगाल में बस गए, उन्हें बोली से 'बांगल' के तौर पर जाना जाता है। (गोटियों के विपरीत, जो पश्चिम बंगाल के देशी हिंदू, जिस वर्ग के खुद श्यामाप्रसाद थे)। बँगलों में कथित सवर्ण आज पश्चिम बंगाल के अधिकांश बौद्धिक क्रियाकलापों और पेशों में अच्छी तरह स्थापित हैं, जबकि तथाकथित निम्न वर्गों ने खुद को पूरे भारत में फैला लिया है। उपन्यासकार सुनील गंगोपाध्याय, इतिहासकार तपन रायचौधरी और अर्थशास्त्री एवं कम्युनिस्ट राजनीतिक अशोक मित्रा—इन तीन बेहद प्रतिष्ठित व्यक्तियों को क्रमशः फरीदपुर, बारिसाल और ढाका से निकाल बाहर किया गया था। इन्होंने उस दौर पर बँगला में व्यापक तौर से लिखा है, लेकिन मुसलिमों के कुकर्मों पर लीपापोती करते हुए बड़ी सावधानी बरती है। संयोगवश तीनों ही कम्युनिस्ट या कम्युनिस्टों के हमदर्द हैं, जो इस घिसे-पिटे सच की ओर संकेत करता है कि भारतीय इतिहास को कम्युनिस्टों ने तोड़ा-मरोड़ा है। लीपापोती और गड़बड़ी की हद यह है कि आज तक कोई भी अधिकृत आँकड़ा उपलब्ध नहीं है कि इस जनसंहार की निरंतरता में कितने हिंदुओं को बाहर निकाल दिया गया, कितने मारे गए या कितनों के साथ बलात्कार हुआ। जिलेवार आँकड़े भी उपलब्ध नहीं हैं। इस घोर मानवाधिकार दुर्व्यवहार को रिकॉर्ड करने के लिए इस विषय पर बहुत कम पुस्तकें मौजूद हैं। कुछ अंग्रेजी में भी हैं। इस संदर्भ में इस जीवनीकार की एक पुस्तक 'ए सपरेस्ड चैप्टर इन हिस्टरी : द एकसोड्स ऑफ हिंदूज फ्रॉम ईस्ट पाकिस्तान एंड बँगलादेश, 1947-2006'।

पंजाब के उलट बंगाल के विभाजन के तुरंत बाद किसी भी पक्ष ने कोई बड़ा दंगा नहीं किया। 15 अगस्त, 1947 को कलकत्ता में हिंदुओं ने जुलूस निकाले, जहाँ से उन्होंने आम मुसलिमों पर गुलाबजल छिड़का। महात्मा गांधी आए और बेलियाघाट में शिविर लगाकर बैठ गए। तब यह कलकत्ता का पूर्वी उपनगर था और अविभाजित बंगाल के आखिरी मुख्यमंत्री हुसैन सोहरावर्दी का बचाव किया। उसके करीबी साथी और कलकत्ता के तत्कालीन मेयर एस.एन. उसमान की भी हिफाजत की। हालाँकि वे उस ग्रेट कलकत्ता हत्याकांड के मुख्य सरगना थे, जिसने एक साल पहले शहर को खून से नहला दिया था। बहरहाल हालात ऐसे भी नहीं थे मानो पूर्णतः शांति हों। सितंबर को एक कांग्रेस नेता सचिंद्र मित्रा की नखोदा मसजिद (कलकत्ता में सबसे बड़ी मसजिद) के सामने कुछ मुसलिम गुंडों ने छुरा घोंपकर हत्या कर दी। वह एक जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे, जिसका नारा था—'हिंदू-मुसलिम एक हों।' इसी तरह तीन अन्य कांग्रेसियों—स्मृतीश बनर्जी, सुशील दासगुप्ता और बिरेस्वर घोष—को लगभग उसी समय मुसलिमों ने निर्दयतापूर्वक मार दिया, जब वे हिंदू-मुसलिम मैत्री का प्रचार कर रहे थे। हालाँकि सीमा के दूसरी तरफ स्थिति अल्पसंख्यक हिंदुओं के लिए बिलकुल भी सुखद नहीं थी। दबाव डालने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी और एक बेहद कट्टर समर्थक सरकार ने इसे प्रोत्साहित किया। उस स्तर पर कई धनी और मध्य वर्गीय पूर्वी बंगाली हिंदुओं ने पश्चिम बंगाल को उन मुसलिमों के साथ अपनी जायदादों की अदला-बदली करने का बंदोबस्त किया, जो पाकिस्तान आना चाहते थे। दबाव की प्रक्रिया के नतीजतन सभी हिंदू डरे हुए महसूस कर रहे थे। हालाँकि यह डर सामूहिक निष्कासन की हद तक नहीं था, फिर भी कुल 23 लाख हिंदू 31 दिसंबर, 1949 तक भारत में पहुँचे और उन्होंने सरकारी पुनर्वास के लिए प्रयास किए। इसमें वे शामिल नहीं हैं, जिन्होंने अपने रिश्तेदारों के जरिए अपना पुनर्वास किया या अपने हुनर के जरिए, जिसमें रोजगार

मिल सकता था। कई स्वरोजगारी लोगों ने ऐसा किया।

जनवरी 1948 तक, आजादी और विभाजन के सिर्फ पाँच माह बाद, पंजाब में 'द्विपक्षीय सामूहिक प्रस्थान' लगभग समाप्त हो चुका था। व्यावहारिक तौर पर पूर्वी पंजाब में कोई भी मुसलिम और पश्चिमी पंजाब में कोई हिंदू या सिख नहीं रह गया था। 15 अगस्त, 1947 को अपने प्रसिद्ध भाषण 'नियति के साथ मिलन' में जवाहरलाल नेहरू ने त्रस्त अल्पसंख्यकों का संदर्भ देते हुए कहा था, "हम अपने भाइयों और बहनों के बारे में भी सोचते हैं, जो राजनीतिक सीमाओं द्वारा हमसे कट गए हैं और वे फिलहाल उस आजादी को नाखुशी से साझा नहीं कर सकते, जो हमें मिली है। वे हमारे हैं और हमारे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी हो जाए और हम उनके अच्छे व बुरे भाग्य में एक समान भागीदार होंगे।" अन्य पाँच महीनों में उन्होंने पूर्वी बंगाली हिंदुओं के बारे में ही सोचा। काफी विचित्र है, क्योंकि यह ऐसा काम था, जिसे करने को वह अत्यधिक अनिच्छुक लगते थे। जब उनका भाग्य नेहरू के ध्यान में लाया गया तो जो उन्होंने किया, वह यह था कि पाकिस्तानियों के संपर्क में रहें। अप्रैल और दिसंबर 1948 में उन्होंने दो 'अंतरराज्यीय समझौतों' पर बेपरवाही से हस्ताक्षर किए। उन समझौतों की पावन प्रतिबद्धता यह थी कि वे एक-दूसरे के अल्पसंख्यकों की रक्षा करेंगे। बिलकुल भोले-भाले तरीके से यह कल्पना करते हुए कि पाकिस्तान उनका सम्मान करेगा।

सन् 1950 के जनसंहार की प्रक्रिया 20 दिसंबर, 1950 को पूर्वी पाकिस्तान के खुलना जिले के एक गाँव हुलशीरा में एक घटना के साथ शुरू हुई, लेकिन वह तो साफतौर पर दिखने वाला कारण था। हकीकत में यह एक सुविचारित काररवाई थी, जिसका प्रमुख लेखक अजीज अहमद था। पूर्वी पाकिस्तान का पंजाबी (पश्चिमी पाकिस्तानी) मुख्य सचिव, भारतीय सिविल सेवा का एक स्थायी अफसर, जिसे क्षेत्र में अत्यधिक (लगभग असीमित) ताकत हासिल थी। विभाजन के जख्म अभी बहुत हरे थे और पश्चिम बंगाल में कुछ सामान्य घटनाओं का प्रतिशोध लेने के नाम पर जनसंहार शुरू किया गया। उनके पश्चिम बंगाल में थोड़े समय में ही गड़बड़ियों पर काबू पा लिया गया। पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री डॉ. बी.सी. राय ने अपने मुख्य सचिव (स्थायी) कुमार सेन, आई.सी.एस. को ढाका भेजा, ताकि पूर्वी बंगाल के मुख्य सचिव अजीज अहमद के साथ मामलों को तय किया जा सके। सेन एक बहुत बुरी खबर के साथ वापस आए कि 10 लाख से भी ज्यादा हिंदू शरणार्थियों का एक विशाल प्रवाह कुछ ही दूरी पर है। अंतत: वह संख्या 1 करोड़ को भी पार कर गई।

ढाका में मौजूद रहते हुए सेन के एक विचित्र घटना देखी, जिसने जनसंहार में सरकार के शामिल होने का प्रमाण दिया। 7 फरवरी, 1950 को खून के धब्बों से सने कपड़ों में मुसलिम औरतों के एक बड़े समूह की, सचिवालय के भीतर ही, उनके सामने परेड कराई गई। 6 और 7 फरवरी को रेडियो पाकिस्तान पर बार-बार ऐलान करते हुए प्रत्यक्ष आह्वान किया गया कि तैयार हो जाओ और काररवाई करो। ऐलान इस प्रकार था—"भाइयो! तुमने उन अमानवीय ज्यादतियों के बारे में सुना है, जो भारत और पश्चिम बंगाल में हमारे मुसलिम भाइयों पर अब की जा रही हैं! क्या तुम ताकत को इकट्ठा नहीं करोगे?" रेडियो पाकिस्तान ने आगे फिर ऐलान किया कि 10,000 मुसलिमों को कलकत्ता में मारा जा चुका है। एक स्थानीय दैनिक अखबार 'पाशबन' ने

इस आँकड़े को 1 लाख तक बढ़ा दिया। बाद में नेहरू-लियाकत करार पर दस्तखत करने के वक्त रेडियो पाकिस्तान ने इन आँकड़ों को सही किया और मारे जानेवाले मुसलिमों की संख्या सिर्फ 20 बताई।

जयंत कुमार के मौलिक कार्य 'डेमोक्रेसी ऐंड नेशनलिज्म ऑन ट्रायल : ए स्टडी ऑफ ईस्ट पाकिस्तान' ने '50 और '60 के दशक के दौरान पूर्वी बंगाली हिंदुओं के लगभग सर्वनाश के अंदर की तसवीर उपलब्ध कराई है। खासतौर से संहार करने में पाकिस्तानी सरकार की प्रेरणा और अपनी आबादी के एक बड़े हिस्से को बाहर निकालना—यह ऐसा काम था, जिसकी आधुनिक समय में यहूदी, आर्मेनिया और कंबोडिया के सर्वनाशों से ही तुलना की जा सकती है। पुस्तक में इस प्रख्यात विद्वान् ने बड़ी कुशलता से इसका विश्लेषण किया है। संयोगवश, उन्होंने भी कीथ कालार्ड और अबुल मंसूर अहमद सरीखे लेखकों के उन प्रयासों को खारिज किया है, जिनमें उन लेखकों ने पूर्वी पाकिस्तान सरकार और लोगों के कुकर्मों पर लीपापोती की है। माइकल ब्रेशर सरीखे बाद के कुछ लेखकों को उस दौर की बड़ी समझ थी, लिहाजा उन्होंने जनसंहार को दोतरफा आंदोलन दिखाने की कोशिश की और 'संप्रदायवादी' (और क्या होगा) के तौर पर डॉ. मुकर्जी की आलोचना की कि उन्होंने पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों का मुद्दा उठाया।

उन्हें हिंदुओं को बाहर खदेड़ना क्यों पड़ा? दरअसल इसके वैचारिक, ऐतिहासिक और धार्मिक कारण थे; लेकिन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण राजनीतिक थे। रे के मुताबिक, पाकिस्तानियों के बीच सबसे प्रभावशाली जातीय जमात पंजाबी मुसलिम थे। नागरिक और सैन्य प्रतिष्ठानों में उनका भारी बहुमत था। उन्होंने सोचा कि औपचारिक प्रशासनिक मशीनरी उनके कब्जे में होनी चाहिए। इस तरह पूर्वी पाकिस्तान की हर रोज की प्रशासनिक व्यवस्था पर वे अपने नियंत्रण को मजबूत करना चाहते थे। उनके वर्चस्व के रास्ते में सिर्फ दो ही बाधाएँ थीं—पहली, पूर्वी पाकिस्तान के बंगालियों की संख्यागत श्रेष्ठता और दूसरी, पूर्वी व पश्चिमी बंगाल के बीच भाषाई एवं सांस्कृतिक बंधन। उन्होंने कल्पना की कि यह बंधन नए देश पाकिस्तान की सियासी ताकत पर उलटा असर डाल सकता है (ऐसा किया भी)। हिंदुओं का जो भी बौद्धिक वर्ग पाकिस्तान में रह गया था, वह पंजाबी वर्चस्व को रोकने या उसे विफल करने के लिए बंगाली मुसलिमों के साथ मिल सकता था।

25 फरवरी, 1948 को कुछ अशुभ संकेत पहले ही देखे जा चुके थे, जब पाकिस्तान की संविधान सभा के एक हिंदू सदस्य धीरेंद्र नाथ दत्ता ने माँग की थी कि सभा की कार्यवाही में उर्दू के साथ-साथ बँगला का भी इस्तेमाल किया जाना चाहिए और बंगाली मुसलिमों ने भारतीय एजेंट के तौर पर दत्ता की भर्त्सना करने के बजाय इस दृष्टिकोण का समर्थन किया। रे के इस दृष्टिकोण के सच की संपुष्टि जनरल ए.ए.के. नियाजी ने अपने लेखन में की है। नियाजी पंजाबी मुसलिम प्रतिष्ठान के एक प्रमुख सदस्य थे और बँगलादेश के मुक्ति संग्राम के पराजित पाकिस्तानी जनरल भी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'पूर्वी पाकिस्तान का विश्वासघात या द्रोह' (द बिट्रेयल ऑफ ईस्ट पाकिस्तान) में लिखा है—''वे (पश्चिमी पाकिस्तानी) भी बंगाली राजनीति पर हिंदू प्रभाव के बारे में आशंकित थे। शिक्षित हिंदुओं की 20 प्रतिशत आबादी और जीवन के सभी क्षेत्रों में उनके वर्चस्व के मद्देनजर उन्हें राष्ट्रीय नीतियों को तय करने से कौन रोक सकता था? सरकार बंगाली

बनाएँगे, जबकि उसे संचालित और नियंत्रित हिंदू करेंगे।''

पूर्वी बंगाल के रक्षाहीन और त्रस्त हिंदुओं के बारे में पश्चिमी पाकिस्तानियों की यह भ्रांति थी। लिहाजा यह कोई हैरानी वाली बात नहीं थी कि उन्होंने वर्ष 1950 के भयावह जनसंहार को मुक्त कर दिया।

यह हिंदुओं को लूटने, जलाने, बलात्कार और उनकी हत्या का एक सिलसिला था। आम मुसलिम, जो अभी तक अपने हिंदू पड़ोसी के साथ आपसी समरसता से रह रहा था, उसे रेडियो पाकिस्तान के ऐलानों के जरिए कट्टरपंथी पाकिस्तानियों के आह्वानों ने एक खास तरह के उन्माद की ओर धकेल दिया। सरकार द्वारा प्रायोजित इसलामी स्वयंसेवकों 'अंसार' की मदद से उन्होंने पूर्वी बंगाल को हिंदुओं के खून से नहला दिया। लूट, बलात्कार, हत्या के घूमते हुए गिरोहों में कई मुसलिम थे, जो बिहार से पूर्वी पाकिस्तान में आए थे। उन्होंने भागते हुए हिंदुओं पर झपट्टे मारे, हिंदू औरतों के साथ बर्बरता की और मारने के पहले उनकी हरेक चीज छीन ली। 12 फरवरी, 1950 को मेघना नदी पर भैरव या एंडरसन पुल पार करती सभी यात्री रेलगाड़ियों को लुटेरे गिरोहों ने रोक लिया। वे पिछले स्टॉप पर गाड़ी में चढ़ गए थे। तब उन गिरोहों ने हिंदुओं को छाँट लिया, उनके गले काट दिए और उन्हें नदी में फेंक दिया। तटीय जिले बारिसाल ने एक ऐसे ही बदतरीन नरसंहार को देखा था। बारिसाल वाकई में बारहमासी नदियों, नहरों और जलमार्ग की भूल-भुलैया है। नतीजतन हिंदुओं को उस जगह से बचकर जाना बहुत मुश्किल लगा और उन्हें विवश होकर अपना भाग्य झेलना पड़ा। कुछ सबसे भयानक कत्लेआम के दृश्य जिले के गाँवों—मुलाडी, माधवपाशा और लकुटिया—में थे। एक महत्त्वपूर्ण नदी संबंधी बंदरगाह का गाँव मुलाडी कई सैकड़ों हिंदुओं का घर था। जब हिंदुओं के घर जलाने शुरू किए गए तो सभी हिंदू झुंड बनाकर शरण के लिए पुलिस स्टेशन गए। तब भी उनपर हमला किया गया और पुलिस स्टेशन के अहाते में ही उन सभी को मार दिया गया। प्रभारी अफसर के पास काफी मात्रा में जेवरात पाए गए और ऐसी ही कीमती चीजें अभागे हिंदुओं से लूट ली गई थीं। एक बूढ़े हिंदू स्कूल अध्यापक, जो अविवाहित था, को उसके अपने छात्रों—मुसलिम लड़कों—ने ही जिंदा भून डाला। वे खुशी में आग के चारों ओर नाचे। माधवपाशा में, बाबूगंज पुलिस स्टेशन के तहत, खून की प्यासी एक मुसलिम भीड़ ने करीब 200-300 हिंदुओं को घेर लिया और उन्हें एक पंक्ति में बिठाया, फिर रामदा (एक खास तरह की कुल्हाड़ी) से एक-एक करके सभी के सिर काट डाले।

बंगाल के पूर्व मुख्यमंत्री सर आशुतोष के जूनियर और डॉ. मुकर्जी के बारी-बारी से दुश्मन और दोस्त, फजलुल हक, के बारे में एक कहानी इस चरण में सामयिक होगी। हक पूर्वी पाकिस्तान चले गए थे। यह उनके लिए स्वाभाविक भी था, लेकिन कलकत्ता के साथ उनके संबंध फिर भी अलग नहीं हुए थे। वे फरवरी 1950 के शुरू में कलकत्ता आए। उन्हें पार्क सर्कस क्षेत्र में झौटाला रोड पर अपनी जायदाद बेचनी थी। उनकी इस शहर से जुड़ी कई प्यारी यादें थीं, कई दोस्त थे, लिहाजा वह काफी समय तक इधर-उधर घूमते रहे, पुराने दोस्तों और साथियों से मिले। पश्चिम बंगाल सरकार ने अच्छी तरह विचार करके उन्हें एक विशेष कार और सुरक्षा उपलब्ध कराई। उसी समय बारिसाल और आसपास के गाँवों में एक खबर फैल गई कि कलकत्ता में हिंदुओं द्वारा हक की हत्या कर दी गई है। सुखरंजन सेनगुप्ता का अनुमान था कि इस अकेली अफवाह के नतीजतन

ही बारिसाल, पटुआखाली, पिरोजपुर और भोला में 5,000 से 7,000 हिंदुओं को मार दिया गया। यह महसूस करने पर फजलुल हक ने अपनी जायदाद बेचने की योजना स्थगित कर दी और जल्दबाजी में बारिसाल लौट गए। कहा जाता है कि उन्होंने बारिसाल और अड़ोस-पड़ोस के हिस्से में उसी दिन कोई 16 बैठकें लीं। वह भीड़ के सामने चीत्कार उठे—''ओह, मेरे खुदा! आप लोगों ने यह क्या कर दिया! आओ और देखो, मैं मरा नहीं हूँ।''

अपने भाड़े के और प्रायोजित गुंडों के जरिए जलाने, लूटने, हत्या करने और बलात्कार के अलावा पूर्वी बंगाल सरकार ने एक और चाल चली। हिंदुओं को यातना देनेवाली चाल यह थी कि बिना नोटिस के उनके घरों का अधिग्रहण किया जाए और रातोरात उन्हें बेघर कर दिया जाए। अजीज अहमद के प्रधान सहायक के तौर पर इस सर्वनाश योजना के सह-लेखक के रूप में कुख्यात अब्दुल माजिद को मैमनसिंह का जिला मजिस्ट्रेट नियुक्त किया गया था, तो उन्होंने तुरंत 700 हिंदू घरों का अधिग्रहण किया। समकालीन सूत्रों के जरिए जयंत कुमार रे लिखते हैं—''यहाँ तक कि अधिग्रहण का तरीका बीभत्स था। एक बीमार बूढ़े आदमी या औरत, जिसके पास कोई दूसरी शरण नहीं, उन्हें एक क्षण के नोटिस पर ही अपना घर छोड़ने को बाध्य किया गया। सरकारी अधिग्रहण के अलावा उन अंसारों और गुंडों ने जबरन बेदखली की, जिन्हें सरकारी समर्थन हासिल था। इस तरह सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियों द्वारा हिंदुओं के घर कब्जाना, अधिग्रहण के किसी आदेश सहित या उसके बिना हिंदू मध्य वर्ग के सदस्यों को धीरे-धीरे तथा निरंतर निष्कासित करने का एक सशक्त हथियार साबित हुआ।

डॉ. बी.सी. राय के नेतृत्व में पश्चिम बंगाल सरकार ने हिंदुओं को सुरक्षित पश्चिम बंगाल लाने के लिए असाधारण कदम उठाया। कलकत्ता स्थित ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेवीगेशन कंपनी और टीवर्स स्टीम नेवीगेशन कंपनी के 15 विशाल वाष्पचालित जलयानों को पूर्वी बंगाल के नदी संबंधी हिस्सों से मुसीबत में फँसे और त्रस्त हिंदुओं को लाने के लिए लगाया गया। खासतौर से खुलना, बारिसाल और फरीदपुर जिलों के दक्षिणी हिस्से से हिंदुओं को उठाया जाता था। यह वाष्पचालित जलयान सुंदरवन डेल्टा के जरिए आए अपने दयनीय लोगों को बाबू घाट और शालीमार घाट, हुगली के दोनों तरफ के जदाज-घाट पर उतार दिया। विशेष रेलगाड़ियों का भी बंदोबस्त किया गया और विशेष विमान भी सेवा में लगाए गए। बहुत कम लोग हवाई यात्रा करने में समर्थ थे, फिर भी विमान से आनेवाले कुछ लोगों को आपातकालीन उपचार दिया जाना था, क्योंकि ढाका हवाई अड्डे तक के रास्ते में मुसलिम गुंडों के हमलों से वे घायल हो गए थे। कलकत्ता हवाई अड्डे पर उनके लिए एक चिकित्सा केंद्र खोलना पड़ा।

डॉ. राय को मिली खुफिया रपटें ये थीं कि सैकड़ों हजार हिंदू बारिसाल, चाँदपुर, नारायणगंज, गोलुंडो, खुलना व पार्वतीपुर के रेलवे और इनलैंड वाटखे केंद्रों पर जमा हो गए थे। वहाँ से परिवहन की कमी के कारण मुसीबत में फँसे थे। इस समय तक (फरवरी 1950 का आखिरी सप्ताह) हत्याएँ और बलात्कार कुछ-कुछ कम हो गए थे। हालाँकि किसी भी हालत में वे रुके नहीं थे। लेकिन सुरक्षा की तमाम भावनाएँ पूर्वी बंगाल के हिंदुओं के दिमाग से उड़ गई थीं, उन्होंने पूर्वी बंगाल छोड़ना तय कर लिया, चाहे कुछ भी हो; नतीजतन परिवहन पर दबाव यकीनन बहुत बढ़ गया। डॉ. राय ने इनलैंड वाटर ट्रांसपोर्ट ऑपरेटर्स से बातचीत की और बारिसाल से कलकत्ता

तक स्टीमर की सीधी सेवा का बंदोबस्त किया। उनके स्टीमर इस मार्ग पर करीब एक महीने चले। यह स्टीमर-यात्रा करीब 72-75 घंटे की थी। स्टीमर कलकत्ता आते थे और जगलाथ घाट तथा मैन-ऑफ-वार जेटी पर लंगर डालते थे। इन स्टीमरों का आगमन हर बार एक हृदय-विदारक दृश्य होता था—दयनीय आदमियों का वाहन पहुँचता था और समान रूप से दयनीय संबंधी, जो उनमें से कुछेक को लेने आते थे और अपने घरों तथा प्रियजनों को खोने के असीम गुस्से से कुत्तों की तरह चीखते-विलाप करते थे। डॉ. राय इस हद तक भी गए कि केंद्र सरकार की अनुमति की प्रतीक्षा किए बिना ही ढाका से कलकत्ता तक लोगों को लाने के लिए कलकत्ता स्थित निजी एयरलाइंस को 16 डाकोला (डीसी-3) विमान भाड़े पर लिये।

मार्च 1950 में पश्चिम बंगाल के ग्रामीण इलाकों, खासकर नदिया जिले के टेहरा और कटीकपुर, 24 परगना जिले के बागदा और बन गाँव से कुछ मुसलिम पूर्वी पाकिस्तान चले गए। ये सीमाई इलाके हैं और उनमें से अधिकतर लोगों ने पैदल ही सीमा पार की, जबकि दूसरे लोग रेलगाड़ी से गए। बाद में उसी महीने हावड़ा शहर में भयंकर दंगे हुए, लिहाजा सेना तैनात करनी पड़ी। नतीजतन हावड़ा और आसपास के जिलों से भी कुछ मुसलिम चले गए। ये ही मुसलिमों के ज्ञात उदाहरण हैं कि कष्ट और परेशानी में वे सामूहिक रूप से पश्चिम बंगाल से पूर्वी पाकिस्तान चले गए। इसके अलावा, दोनों बंगालों के बीच आना-जाना, दोनों पंजाबों के बीच आवागमन के विपरीत, कड़ाई से एक दिशी था। डॉ. मुकर्जी ने इसी पर आपत्ति की और संसद् में अनेक शब्दों में अपनी बात रखी।

दरअसल पूर्वी बंगाल के अधिकांश हिंदू आनेवाली मुसीबत को देखने में नाकाम रहे और गांधी, पटेल सरीखे कांग्रेस नेताओं के आश्वासनों पर भरोसा करने के कारण मारे गए। डॉ. मुकर्जी भी ऐसे आश्वासनों के पक्षधर थे (यह उम्मीद करते हुए कि कांग्रेस नेतृत्व विभाजन से सबक सीखेगा और पाकिस्तान के प्रति एक सख्त नीति अपनाएगा) और पूर्वी बंगाल के हिंदुओं ने भारतीय कैबिनेट में उनके समावेश को उनकी सुरक्षा और कल्याण की गारंटी के तौर पर देखा। लेकिन जल्दी ही डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया कि नेहरू भी पाकिस्तान की ओर पराजयवाद और तुष्टीकरण की उसी नीति के पीछे चलने के हिमायती लगते हैं, मुसलिम लीग की ओर कांग्रेस ने जिस नीति का अनुसरण किया था। वह ऐसी नीति थी, जिसका नतीजा भारत के विभाजन के रूप में हुआ। दो 'अंतर-शासित क्षेत्र समझौतों' के बावजूद (अप्रैल और दिसंबर 1948) करीब 23 लाख हिंदुओं को, पाकिस्तान बनने के पहले दो सालों के दौरान, पूर्वी बंगाल में जबरन अपने घर छोड़ने पड़े। इसमें उन हिंदुओं को नहीं जोड़ा गया है, जिन्होंने खुद ही भारत में पुनर्वास कर लिया या पूर्वी बंगाली मूल के वे हिंदू, जो विभाजन के वक्त भारत में थे और लौटकर कभी नहीं गए। लेकिन 1950 के शुरू में बदतरीन वाकया सामने आया, जब अजीज अहमद और उसके संगी-साथियों की योजना के मुताबिक, व्यापक स्तर पर हिंदुओं का कत्लेआम शुरू हुआ। यह पाकिस्तान सरकार की मिलीभगत से पूरे पूर्वी बंगाल में किया गया।

हत्याओं, बलात्कार और हिंदुओं को पूर्वी पाकिस्तान से बाहर खदेड़ने से असंतुष्ट सरकार ने पश्चिम बंगाल में मुसलिमों के काल्पनिक उत्पीड़न की अफवाहें फैलाना शुरू कर दिया। पूर्वी पाकिस्तान के मुख्यमंत्री नुरुल अमीन ने रेडियो पाकिस्तान पर कहा कि पश्चिम बंगाल से सीमा

पार जेस्सोर और खुलना में लाखों मुसलिम दाखिल हो रहे हैं और ये हालात को बिगाड़ रहे हैं। डॉ. बी.सी. राय ने तुरंत उन्हें चुनौती दी कि उन मुसलिमों के नाम व पते देकर इसे साबित करें। उसी दौरान डॉ. मुकर्जी और सरदार पटेल कैबिनेट के भीतर नेहरू पर जबरदस्त दबाव डालने की कोशिश कर रहे थे कि सख्त कदम उठाए जाएँ—या तो पाकिस्तान के साथ युद्ध किया जाए अथवा पंजाब मॉडल पर दोनों बंगालों के बीच आबादी की अदला-बदली की नीति घोषित की जाए या पूर्वी बंगाली हिंदुओं के लिए मातृभूमि की माँग की जाए। कैबिनेट में रहते हुए वे किसी भी तरह का सार्वजनिक बयान नहीं दे सकते थे। पश्चिम बंगाल में कलकत्ता और मुसलिम बहुल मुर्शिदाबाद जिले में, एक सीमित स्तर पर, बदले की काररवाई भी शुरू हो गई थी।

इस दबाव के नतीजतन और कलकत्ता व मुर्शिदाबाद की घटनाओं से हतोत्साहित नेहरू ने 10 फरवरी को एक प्रेस वक्तव्य जारी किया तथा शरणार्थियों की दुर्दशा के बारे में बहुत चिंता व्यक्त करते हुए 15 फरवरी को डॉ. राय को लिखा। 23 फरवरी को राज्यसभा में एक लंबे भाषण में उन्होंने कहा कि अब आगे से पूर्वी बंगाल का शरणार्थी मामला वह निजी तौर पर देखेंगे।

10 फरवरी के प्रेस वक्तव्य में एक बेहद महत्त्वपूर्ण वाक्य है, जिसमें पाकिस्तान और सरकार द्वारा प्रायोजित हिंदुओं के उत्पीड़न की ओर नेहरू के रुख की समग्रता निहित है। नेहरू अपने पूर्णत: पराजयवादी रुख को व्यक्त करते हैं, जब वह कहते हैं, ''यह स्पष्ट है कि हम पूर्वी बंगाल की घटनाओं को काबू नहीं कर सकते, सिवाय पाकिस्तान की केंद्र सरकार और पूर्वी बंगाल की सरकार से सलाह करने के।...'' क्या यह इतना स्पष्ट है? डॉ. मुकर्जी और पटेल नेहरू की कैबिनेट का हिस्सा होने के कारण सार्वजनिक रूप से इसका मुँहतोड़ जवाब नहीं दे सके। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, शिमला के इतिहासकार जयंत कुमार राय ने हालाँकि वर्ष 1968 में शोध के जरिए यह पता लगाया कि 1950 का जनसंहार पूर्वी बंगाल सरकार, खासतौर से इसके मुख्य सचिव अजीज अहमद का ही काम था। यह करीब छह महीने बाद और भी ज्यादा हो गया, जब अक्तूबर 1950 में पाकिस्तान के केंद्रीय कानून एवं श्रम मंत्री जोगेंद्र नाथ मंडल दल-बदल कर भारत आ गए और अपना इस्तीफा भेज दिया। उन्होंने उत्पीड़न के विभिन्न पहलुओं का सजीव विवरण दिया, जो कुछ उन्होंने अपनी आँखों से देखा था और मंत्री के नाते अपनी स्थिति के जरिए जाना था। रे वर्ष 1968 में जिस निष्कर्ष पर पहुँच सके, तय है कि नेहरू 1950 में ही अपने खुफिया नेटवर्क के जरिए जानते होंगे, फिर भी वह अपने रुख में पूर्व निर्धारित धारणा और समझ पर ही डटे रहे। क्षेत्रीय संप्रभुता का सम्मान करना और उस सरकार से सहयोग की अपेक्षा करना, जिसने जनसंहार को खुला छोड़ दिया था, यही नेहरू की धारणा और समझ थी। यह राजनीतिक भोलेपन या नासमझी की पराकाष्ठा हो सकती है। इसी रुख के साथ उन्होंने बाद में लियाकत अली खान के साथ कुख्यात करार पर दस्तखत किए। उसके कारण डॉ. मुकर्जी को कैबिनेट से इस्तीफा देना पड़ा। अपने इस्तीफे के भाषण में डॉ. मुकर्जी ने इस रुख की खूब भर्त्सना की।

नेहरू ने 23 फरवरी को संसद् के सामने अपने बयान में यह कहने की कोशिश की कि ''इन दिनों में पूर्वी बंगाल पर एक तरह का लौहावरण गिर पड़ा और सही सूचना नहीं आई, थोड़ी-थोड़ी मात्रा के सिवाय।'' बाद में उन्होंने अपने भाषण में कहा, ''हमें बड़ी संख्या में टेलीग्राम,

पत्र और अन्य विवरण मिले हैं उन लोगों से, जो पूर्वी बंगाल के विभिन्न हिस्सों से आए हैं और उन्होंने बीभत्स घटनाओं का खुलासा किया है। मैंने उनका उल्लेख करने से खुद को रोक रखा है, क्योंकि सामान्यत: जो लोग बड़े कटु या दु:खद अनुभवों से गुजरकर आते हैं, वे अपने अनुभव का सही विवरण नहीं दे सकते और बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं।'' दो बेकार अंतर-शासित क्षेत्र समझौतों पर हस्ताक्षर करने का अनुभव उन्हें हो ही चुका था। यह निश्चित है कि उन्हें खुफिया सूचनाएँ मिली होंगी और अब उनके सामने चश्मदीद विवरण थे, जिन सभी को टालना उन्होंने सुना। यही सबकुछ नहीं था। उसी भाषण में उनका कहना जारी रहा कि ढाका में उप-उच्चायुक्त को पाकिस्तानी अफसरों ने सलाह दी थी कि वह अपने घर में ही रहे, कि लियाकत अली ने साझा तथ्य-खोजी मिशन और दो प्रधानमंत्रियों द्वारा पूर्वी बंगाल के दौरे की उनकी पेशकश को खारिज कर दिया, कि पूर्वी बंगाल सरकार ने पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री की इस पेशकश को खारिज कर दिया कि एक राहत-दल, दवाओं एवं आपूर्ति के साथ, को ढाका के शिविरों में भेजा जाए। उन्होंने पंजाब मॉडल पर आबादी की अदला-बदली करने का सुझाव इन आधारों पर खारिज कर दिया कि ''भारत और पाकिस्तान दोनों में ताकत व क्षमता होनी चाहिए कि वे अपने दायित्व का निर्वाह कर सकें और अपने लोगों को, वे कोई भी हों, सुरक्षा तथा विश्वास देने का प्राथमिक काम कर सकें।'' कोरी उम्मीद, झूठे व्यक्ति का एक आदर्श उदाहरण।

नेहरू ने अभी तक पश्चिम बंगाल का दौरा नहीं किया था, जहाँ सभी शरणार्थी आए थे। उसी दौरान शहर में भावनाएँ बहुत उत्तेजित, आवेग में भी थीं। पोस्टर साफ कह रहे थे—''नेहरू पाकिस्तान के खिलाफ युद्ध घोषित करो या इस्तीफा दो।'' अंतत: उन्होंने कलकत्ता आने और खुद ही हालात का जायजा लेने का फैसला किया। 6 मार्च की शाम को अपनी बेटी इंदिरा गांधी एवं मृदुला साराभाई के साथ वे कलकत्ता पहुँचे। इस तारीख तक जनसंहार पूर्वी पाकिस्तान में कमोबेश एक महीने से जारी था, जिसके दौरान डॉ. मुकर्जी और सरदार पटेल ने कारवाई करने के लिए नेहरू पर जबरदस्त दबाव बनाया था। वे उसी शाम राजभवन में विधानसभा के कांग्रेसी सदस्यों से मिले। मुख्यमंत्री डॉ. बी.सी. राय और प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष अतुल्य घोष भी साथ में थे। नेहरू ने विधायकों को संक्षेप में बताया कि केंद्र सरकार ने क्या किया है और इस समस्या के संदर्भ में और क्या करने की योजना थी। दरअसल ऐसा बेशकीमती काम बहुत कम था, जो नेहरू सरकार ने अभी तक किया था। डॉ. राय ने जो कदम उठाए थे, उन्हें जरूर समर्थन दिया था और शरणार्थियों को झूठी सहानुभूति दी थी। इस स्थिति में अनुभवी पत्रकार सुखरंजन सेनगुप्ता के मुताबिक, कुछ कांग्रेसी विधायकों ने उनसे पूछा कि क्या पंजाब मॉडल पर आबादी की अदला-बदली पर विचार किया जा सकता है और निस्संदेह बिना हिंसा के? नेहरू ने टिप्पणी की थी कि यह बहुत मुश्किल काम है और इसके तमाम निहितार्थों में इसपर सावधानी से विचार करना पड़ेगा। सभी स्तरों पर डॉ. मुकर्जी उनके साथ जाते थे, लेकिन साफतौर पर डॉ. मुकर्जी ने कोई बयान नहीं दिया। शायद औचित्य और मर्यादा के सरोकार के मद्देनजर ऐसा किया गया।

नेहरू का यह अवलोकन बेहद दिलचस्प था, क्योंकि—यदि सच है—यह दिखाता है कि नेहरू ने भी आबादी की अदला-बदली की संभावना को खारिज नहीं किया था। हालाँकि संसद् में वे इसके विपरीत बयान दे चुके थे। 7 मार्च को कलकत्ता के 'द स्टेट्समैन' में भी इसी आशय

की एक रपट थी। एक पत्र में उन्होंने आबादी के इस विचार को अव्यावहारिक बताते हुए खारिज कर दिया था। कुछ दिनों के बाद 17 मार्च को संसद् में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि उन्होंने इसके खिलाफ अपना निश्चय कर लिया है। ऐसा अनिश्चय क्यों और क्या कारण था कि अंततः उन्हें निश्चय करना पड़ा? इसी अध्याय के बाद में इस अदला-बदली पर चर्चा की गई है। फिलहाल हम कलकत्ता में नेहरू पर लौटते हैं।

अगले दिन नेहरू पश्चिम बंगाल के पूर्व और सबसे पहले मुख्यमंत्री डॉ. पी.सी. घोष से मिले। डॉ. घोष ढाका जिले के मूल निवासी थे और ढाका के विशेष उच्चारण के साथ बँगला बोलते थे। उनके अपने कई रिश्तेदार ढाका छोड़ गए थे या इस प्रक्रिया में ऐसा कर रहे थे। नेहरू ने हिंदू महासभा के आशुतोष लाहिड़ी के साथ भी हालात पर चर्चा की। सेनगुप्ता के मुताबिक, चर्चा से माहौल हलका होने के बजाय गरम हुआ। तब 8 मार्च की सुबह नेहरू ने डॉ. मुकर्जी और डॉ. बी.सी. राय की संगत में सीमाई नगर बनगाँव का दौरा किया, जिसके जरिए बारिसाल, खुलना और जेस्सोर से शरणार्थी आ रहे थे। ये तीन जिले जनसंहार से बुरी तरह प्रभावित हुए थे। शरणार्थियों की एक बड़ी संख्या जेस्सोर रोड के दोनों ओर उकड़ूँ या पालथी मारे बैठी थी। यह राजमार्ग बनगाँव से गुजरता हुआ पाकिस्तान की ओर जाता था। जब नेहरू ने उनसे सवाल किए तो डॉ. मुकर्जी ने उनके लिए अनुवाद किया। नेहरू ने एक बालक को उठाया, प्यार से गले लगा लिया और कहा, 'जिंदा रहो बेटे।' उसी दौरान इंदिरा और मृदुला साराभाई ने शिविरों में महिलाओं से बातचीत की और उन ज्यादतियों के बारे में सवाल किए, जो उनपर बीती थीं। तब नेहरू ने शरणार्थियों को संबोधित करते हुए एक भाषण दिया और समस्या के बारे में अपनी आशंकाएँ जताईं तथा उससे निपटने के अपने रास्ते भी बताए—कोई ठोस कदम नहीं, सिर्फ घिसी-पिटी बातें।

अगले दिन 9 मार्च को वह वापस दिल्ली उड़ गए और 10 मार्च को एक पत्र लियाकत अली खान को लिखा। उसे 'नवाबजादा' संबोधन दिया। छह साल पहले वर्ष 1944 में, गांधी ने जिन्ना को 'कायदे आजम' का संबोधन दिया था और पत्र गुजराती में लिखा था। नतीजतन बातचीत निष्फल रही। वही घुटने टेकना और वही निरर्थकता उनके बाद के सभी कार्यों में स्पष्ट है—मार्च 1950 से ही लेकर। पत्रों का आदान-प्रदान, आरोप-प्रत्यारोप लगाना, तब चिरौरी और गिड़गिड़ाना, लियाकत अली खान के साथ पूर्वी पाकिस्तान का दौरा करने की नेहरू की पेशकश और लियाकत का साफ इनकार करना। अंततः लियाकत अली 2 अप्रैल को दिल्ली आए और दोनों प्रधानमंत्रियों द्वारा 8 अप्रैल को घातक समझौते पर हस्ताक्षर, जिसे 'नेहरू-लियाकत समझौता' या 'दिल्ली करार' कहा गया।

एक तर्कशील दिमाग का उस मानसिक प्रक्रिया को समझना बेहद मुश्किल है, जिसके जरिए नेहरू इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि लियाकत अली के साथ करार के जरिए पाकिस्तान में हिंदुओं पर ज्यादतियाँ रुक सकती थीं। एक समझौते पर कारगर करने के लिए न्यूनतम राजनीतिक इच्छा की जरूरत होती है। यह नेहरू समेत प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट था कि लियाकत अली की राजनीतिक इच्छा उलटी दिशा की ओर थी, जैसा कि 1950 के जनसंहार से ही साबित नहीं हुआ, बल्कि दोनों समझौतों की नाकामी ने भी यह साबित किया था। उन्होंने हिंदुओं को परेशान करनेवाले ... मलिक फिरोज खान नून को पूर्वी पाकिस्तान का गवर्नर नियुक्त किया और

फिर वे तमाम घटनाएँ घटीं, जिनका पहले उल्लेख हो चुका है। इस दिमाग की एक चाबी बिनॉय मुखोपाध्याय ने मुहैया कराई थी, जो तब मुख्य प्रेस सलाहकार और भारत सरकार के रजिस्ट्रार समाचार-पत्र थे। उन्होंने नेहरू को बेहद करीब से देखा था। दुर्भाग्यवश, मुखोपाध्याय सिर्फ बँगला में ही लिखते थे। नतीजतन उनके अत्यधिक ग्रहणशील दिमाग की उपज अपेक्षाकृत कम लोगों को ही उपलब्ध है। बँगला पाक्षिक 'देश' को दिए एक साक्षात्कार में मुखोपाध्याय ने नेहरू को 'निद्राचर' कहा था—एक ऐसा व्यक्ति, जो राजनीतिक बहानों के अपने ही स्वप्न-संसार में रहता है। उन्होंने 1950 के दशक के नेहरू के नारे 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' का संस्मरण सुनाया, जिसकी पराकाष्ठा 1962 में भारत पर चीन के हमले के रूप में सामने आई। हमले से पहले चीनी मैकमोहन सीमा-रेखा से लगातार धावे बोलते रहे, लेकिन नेहरू ने उनकी अनदेखी करना तय किया, क्योंकि यह उनकी 'हिंदी-चीनी दोस्ती' की धारणा में फिट नहीं बैठता था। इसी तरह नेहरू ने कल्पना की, बल्कि खुद को विश्वस्त किया कि लियाकत अभी 'ईमानदार मंसूबों' वाला आदमी है और जब तक नेहरू ने समझौते (जो उन्होंने किया था) का पालन किया, लियाकत अभी भी करेंगे। यह बिलकुल ऐसा था, जैसे एक शुतुरमुर्ग पीछा करते हुए शेर को देखकर करता है—रेत में बिल खोदकर अपना सिर छिपा लेता है और यह सोचता है, चूँकि वह शेर को देख नहीं सकता, लिहाजा शेर भी उसे देख नहीं सकता। इस राजनीतिक नासमझी या भोलेपन के उदाहरण के तौर पर इसकी तुलना नेहरू के एक और तात्कालिक निर्णय से की जा सकती है। उन्होंने जम्मू व कश्मीर में एक तरफा युद्ध-विराम की घोषणा की, जबकि पाकिस्तानी लुटेरे लगातार लूटमार कर रहे थे।

1950 के जनसंहार की प्रचंडता को रेखांकित करने के लिए यह लंबा सा परिचय देना जरूरी था। यही अप्रैल 1950 में केंद्रीय कैबिनेट से डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट करता है। वर्ष 1950 की शुरुआत तक डॉ. मुकर्जी ने अपने मंत्रालय को संचालित करने में खुद को पूरी तरह व्यस्त रखा; लेकिन जो चल रहा था, उससे भी खुद को अवगत रखा। दो बंगाली कैबिनेट मंत्रियों में से एक डॉ. मुकर्जी ने ब्रिटिश भारत में हिंदुओं का मुद्दा उठाने में कभी संकोच नहीं किया। वह पूर्वी पाकिस्तान में जारी गतिविधियों से अप्रभावी नहीं रह सके। यहाँ तक कि 1947-50 के अपेक्षाकृत शांत समय के दौरान भी। (हालाँकि इस दौरान 23 लाख हिंदुओं ने पूर्वी पाकिस्तान छोड़ा और राजकीय पुनर्वास प्राप्त किया।) उस अपेक्षाकृत शांत समय में भी डॉ. मुकर्जी इस मुद्दे की ओर नेहरू तथा पटेल का ध्यान बार-बार खींचते रहे। दो 'अंतर-शासित क्षेत्र करार' में नेहरू के जवाब का उल्लेख पहले किया जा चुका था। उसके बाद वर्ष 1950 का जनसंहार, अंततः नेहरू-लियाकत समझौता और डॉ. मुकर्जी को जाना ही पड़ा।

हालाँकि उस भाषण का विवरण देना और 17 मार्च, 1950 को लोकसभा में क्या आदान-प्रदान हुआ, उसको जानना जरूरी है। यह समझना भी जरूरी है कि नेहरू का दिमाग कैसे काम कर रहा था और कोरी उम्मीद तथा पराजयवाद के उनके जुड़वाँ दोस्तों ने उन्हें कैसे जकड़ लिया था। आबादी की अदला-बदली का विचार, जिसके साथ बीते एक महीने में वह समय-समय पर खेलते रहे थे, 17 मार्च तक जा चुका था। हालाँकि आज वर्ष 2012 में यह विचार हमें हास्यास्पद, बेतुका, फूहड़, गैर-धर्मनिरपेक्ष या राजनीतिक तौर पर गलत लग सकता है। लेकिन ऐसी अदला-

बदली निश्चित तौर पर 1950 में अशोचनीय थी; 1947-48 में पंजाब में ऐसी अदला-बदली के सिर्फ दो साल बाद ही। इसके अलावा एक अदला-बदली ने पूर्वी बंगाल के हिंदू शरणार्थियों को सकल कंगाली से बचा लिया होता और 1950 व 60 के दशक में एक अमानवीय अस्तित्व के तौर पर दंडित किया होता अथवा 1978 के मारीचझाँपी के नरसंहार की तरह नृशंसता के लिए भी। लेकिन इस तारीख तक नेहरू की ऐसी मानसिकता बन गई थी, जो उन्हें समझौते की राजनीतिक बेवकूफी तक ले गई और डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे की ओर भी।

17 मार्च, 1950 को डॉ. मुकर्जी अब भी कैबिनेट में थे और आबादी की अदला-बदली या पाकिस्तान के साथ युद्ध पर सहमत होने को नेहरू को राजी करने की अनथक कोशिश कर रहे थे। हालाँकि कैबिनेट की साझा जिम्मेदारी का सम्मान करने के कारण वे अपने विचारों को सार्वजनिक रूप से प्रकट करने की स्थिति में नहीं थे। यह भूमिका पं. लक्ष्मीकांत मैत्रा ने ली। वे एक कांग्रेस सदस्य और शांतिपुर नदिया से एक प्रख्यात विद्वान् थे। यह किसी रिकॉर्ड में नहीं है, लेकिन बिलकुल विश्वसनीय है कि डॉ. मुकर्जी ने मैत्रा से बात की थी और सदन में वह भूमिका निभाने को राजी किया था।

पश्चिम बंगाल प्रवास के दौरान नेहरू ने राणाघाट के शरणार्थी शिविर का भी दौरा किया था। इस नगर में महत्त्वपूर्ण रेलवे जंक्शन था और नगर पूर्वी पाकिस्तान के बहुत करीब था। वहाँ उन्होंने देखा कि कुछ परिवारों के पास कुछ सूटकेस थे, कुछ औरतों की कलाइयों पर कुछ चूड़ियाँ थीं और तुरंत इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि हालात बेहतर हो रहे हैं। 17 मार्च को उन्होंने कहा, "...मैं सोचता हूँ कि यह (हिंदुओं का उत्पीड़न) अब बहुत कम हो रहा है। मैंने परसों राणाघाट के एक बड़े शिविर का दौरा किया, जहाँ हर रोज ये लोग पहुँच रहे हैं...और मैंने पाया कि उनमें से कई लोग अच्छी मात्रा में सामान अपने साथ लाने में सफल रहे हैं। स्पष्ट है कि वहाँ ढील दी गई थी।"

मैत्रा ने तुरंत नेहरू की नासमझी और भोलेपन की ओर संकेत करते हुए कहा, "...पिछले कुछ दिनों में, जब पं. जवाहरलाल नेहरू बंगाल गए थे, तो पाकिस्तान सावधान हो गया था। वे अच्छी तरह जानते थे कि भारत का प्रधानमंत्री कलकत्ता में मौजूद है और उन्होंने इसमें कुछ ज्यादा सतर्कता बरती कि कुछ जगहों से लोगों को उनके सामान के साथ भारत में आने की अनुमति दी गई। लेकिन ऐसे दूसरे अनेक स्थल हैं, जहाँ से लोग दुर्गम लंबी यात्रा करते हुए पाकिस्तान से भारतीय क्षेत्र में आ रहे हैं। उन लोगों ने जो हमें बताया है, उसके मुताबिक न केवल हर स्तर पर उन्हें हर चीज से वंचित किया गया है, बल्कि उनकी महिलाएँ छीन ली गईं या उन्हें बेइज्जत किया गया। आज मैंने अखबारों में देखा कि महिलाएँ ऐसी ज्यादतियों से पीड़ित थीं। उन्हें अलग-थलग, निर्जन जगहों पर ले जाया गया, जहाँ उनके संबंधियों के जाने की इजाजत नहीं थी और उनके आदमियों की तलाश का बहाना बनाकर उनके साथ सभी तरह की अपमानजनक हरकतें की गईं। अनेक पत्र आ रहे हैं, जो ऐसी कहानियों का वर्णन करते हैं, जो मैं नहीं जानता कि दुनिया के किसी देश के इतिहास में ऐसा हुआ हो। महिलाओं का ऐसे व्यापक स्तर पर अपमान, व्यापक स्तर पर महिलाओं का अपहरण, सामूहिक बलात्कार और स्त्रीत्व के साथ अन्य अपमानजनक हरकतें कहीं भी नहीं हुई हैं। मैं नहीं जानता कि माननीय प्रधानमंत्री ने इसके बारे में पता किया या नहीं?"

मैत्रा पूरी तरह डॉ. मुकर्जी की भावनाओं को प्रतिध्वनित कर रहे थे, जब उन्होंने कहना जारी

रखा—"उन्होंने (नेहरू ने) संयम न बरतने पर भारतीय प्रेस पर असामान्य रूप से हमला किया। आप अच्छी तरह जानते हैं कि पाकिस्तान के उस क्षेत्र पर एक लौहावरण डाल रखा था। कोई खबर नहीं आती और जो कोई खबर बूँद-बूँद आती है, उसकी सख्ती से जाँच की जा रही है। भारतीय प्रेस का हमेशा ही संयमी स्वभाव रहा है और उसे कुछ भी छापने की अनुमति नहीं थी। हाल ही में भारत सरकार—मेरा मानना है कि सूचना विभाग—ने कुछ निश्चित खबरें बाँटी हैं, जिन्हें प्रेस ने छापना शुरू किया; लेकिन फिर भी कोई अतिशयोक्ति या टिप्पणी नहीं, सिर्फ तथ्यात्मक वक्तव्य हैं। मैं प्रधानमंत्री का यह कहना समझ सकता हूँ कि ऐसा कुछ भी नहीं कहना चाहिए, जो भावावेश को और भी आग लगाए। लेकिन क्या उनका यह मतलब है कि इस देश में कुछ भी नहीं छापना चाहिए। कोई भी खबर कि पूर्वी बंगाल में क्या हो रहा है। वहाँ जो भयावह घट रहा है, क्या वह कुछ भी सामने नहीं आने दिया जाना चाहिए? क्या उनका यही दृष्टिकोण है? मैं हैरान हूँ।"

और अंततः मैत्रा ने (ऐसा लगा मानो उनकी आवाज के जरिए डॉ. मुकर्जी बोल रहे थे) नेहरू की कार्य-योजना को बेनकाब व बेकार साबित करते हुए और पाकिस्तान के मंसूबों के बारे उनकी नासमझ, भोलेपन और कोरी उम्मीद को भी बेनकाब करते हुए कहा, "...वह (नेहरू) किसी वक्तव्य का संदर्भ दे रहे थे, जिसे वह और शायद पाकिस्तान के प्रधानमंत्री तात्कालिक तनाव को कम करने के लिए देंगे। मैं नहीं जानता कि उनका अभिप्राय क्या है। क्या उन्हें वाकई यकीन है कि भारत के साथ कोई समझौता, कोई आश्वासन या लिखित वचन, जो पाकिस्तान ने तय किया हो, क्या वह उसका सम्मान करेगा? दिन-प्रतिदिन सदन में पाकिस्तान के बारे में सवाल उठाए जा रहे हैं कि उसने भारत के साथ इस या उस समझौते का उल्लंघन किया। यह बिलकुल स्पष्ट है कि प्रत्येक समझौता, जो पाकिस्तान करता है, भारत पाकिस्तान द्वारा उसका पालन करने के बजाय उल्लंघन से ज्यादा सम्मानित होगा। क्या उन्हें वाकई यकीन है कि उन्होंने हाल ही में पाकिस्तान को जो पेशकश की हैं, उन्हें ठुकरा दिया गया है; लेकिन यदि अब कोई समझौता होता है तो पाकिस्तान उसका सम्मान करेगा? उन्होंने सुझाव दिया कि दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों को दोनों ओर के प्रभावित इलाकों का साझा दौरा करना चाहिए; लेकिन पाकिस्तान ने कहा, 'नो'। दोनों ओर के दो आयोगों को उन इलाकों का दौरा करना चाहिए। जवाब था—'नो।' रेडक्रॉस सोसाइटी के लोग जाएँ और प्रभावित इलाकों का दौरा करें—'नो'। भारत के प्रधानमंत्री ने जो भी प्रस्ताव रखा, पाकिस्तान उसे ठुकराता रहा है। मैं पूछता हूँ, वे ईमानदारी से कैसा महसूस करते हैं कि यदि साझा घोषणा या बयान, जिस पर वह विचार कर रहे हैं, जारी किया जाता है तो क्या पाकिस्तान द्वारा उसे लागू किया जाएगा? सिर्फ एक ही अवसर देगा कि मौजूदा मुश्किल स्थिति से टेढ़े-मेढ़े किसी तरह निकला जाए। मुझे जरा भी संदेह नहीं है कि ऐसा कर प्रधानमंत्री मेरे प्रदेश और दुःखी-संतप्त लोगों की सेवा के बजाय निश्चित अनिष्ट करेंगे। यह बिलकुल गैर-इरादतन है, लेकिन ऐसा ही मैं महसूस करता हूँ कि वास्तव में यह निश्चित नुकसान होगा। पिछले 11 दिनों में दो बार उनके कलकत्ता जाने से बहुत उम्मीदें की गईं। लोग उत्सुकता से अपेक्षा कर रहे थे कि बहुत जल्दी ही सरकार द्वारा कुछ किया जाएगा और उनके कष्ट समाप्त होंगे। अब जख्मी दिलों पर मरहम लगाने के बजाय उनका बयान, जो आज उन्होंने दिया है, उनके लिए घाव पर नामक मलने सरीखी होगा। मैंने इस सदन को चेतावनी-दर-चेतावनी दी है, क्योंकि पाकिस्तान खुलेआम धर्मतंत्रीय एक इसलामी देश है। आप

गैर-मुसलिम अल्पसंख्यकों को बचाने के लिए उनके न्याय-बोध पर भरोसा कैसे कर सकते हैं? हम जानते हैं कि यदि दोनों ओर से अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की गारंटी दी जाती है तो हम उसे संतोषजनक रूप से कार्यान्वित करेंगे और इसे बदले की भावना के साथ करेंगे। लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूँ, और इस सम्मानीय सदन में कोई भी ईमानदार आदमी जानता है कि पाकिस्तान सरकार जो भी आश्वासन दे, लेकिन उसे वह लागू नहीं करेगी। मेरी बड़ी इच्छा है कि झूठी उम्मीदें देने के बजाय हमें करार न निभाते हुए खड़ा होना चाहिए और पाकिस्तान की तरह ईमानदारी से हम कहें—पाकिस्तान एक विदेशी भू-भाग है। यदि उसके नागरिकों से छेड़छाड़ की जाती है तो वह भारत में हमारी चिंता नहीं है। यह असीम रूप से ज्यादा ईमानदार बात होगी। ईश्वर की खातिर अब उम्मीदों को और नहीं बढ़ाना चाहिए।''

इसके बाद मैसूर से एक सदस्य के. हनुमंथैया भी आबादी की अदला-बदली के औचित्य के बारे में बोले। लेकिन उनकी अनसुनी कर दी गई। नेहरू को उनके अजीब भोलेपन, नासमझी, पाकिस्तान के अच्छे मंसूबों पर उनके बाल सुलभ यकीन और उसके साथ-साथ उनके पराजयवाद, खरे व्यवहार के उनके विचारों और पाकिस्तान की संप्रभुता के सम्मान आदि के लिए उन्हें झकझोरा नहीं गया और पूर्वी बंगाल में अल्पसंख्यकों की नियति पर मुहर लगा दी।

मैत्रा ने जो कहा था, उसके जवाब में नेहरू ने कहा, ''अब मेरी दलील यह है कि यदि ऐसा कहा जाए। मैंने बताया था कि हालिया महीनों में शरणार्थी आते रहे हैं। मैंने एक घोषणा का उल्लेख किया था। वह घोषणा होगी या नहीं, मैं नहीं जानता। यह दूसरी बातों पर आश्रित है। दूसरा पक्ष वही दोहराता रहा है, जो हम कहते रहे हैं—कि वे लागू करते हैं या नहीं, यह अलग मामला है। दरअसल, कुछ हद तक अब उसे लागू किया गया है। यह मेरा अभिप्राय है। लक्ष्मीकांत मैत्रा ने जो कहा था, वह बिलकुल सच था और अभी तक जो मैंने कहा, वह भी पूरी तरह सच था। मेरा कहना है, जो चीजें हुई हैं, उनके बिना मौजूदा चीजें नहीं हो रही हैं। वे कल होंगी या नहीं, यह एक अलग मामला है। अब, ऐसे ही, मैंने आपके सामने यह बात रखने की कोशिश की थी कि मौजूदा स्थिति क्या है।...वह पिछले ढाई सालों के इतिहास का सिलसिला है और मैंने उसका उल्लेख किया। यदि आप याद करेंगे कि पंजाब की घटनाओं के बाद सिंध में क्या हुआ और पिछले दो सालों या उससे ज्यादा के दौरान पूर्वी बंगाल में क्या हुआ, उसकी एक निश्चित प्रक्रिया थी।

''कुछ लोग कहते हैं, यह जान-बूझकर किया गया और योजनाबद्ध है। कुछ लोग कहते हैं कि यह शीर्ष पर जानबूझकर किया हुआ नहीं है, लेकिन निम्न या मध्य में कहीं भी ऐसा है। वह कुछ भी हो सकता है। जो मुख्य बात मुझे करानी है, वह यह है कि देश की अवधारणा में पाकिस्तान सरकार ने उन्हें हीनता का दर्जा दिया है, जो उसमें फिट नहीं बैठते, जो बहुसंख्यक समुदाय के नहीं हैं और अन्य घटनाओं व अतीत के इतिहास के नतीजतन सरकार ने उन्हें हर समय असुरक्षा की एक निश्चित भावना दी, विशेष घटनाओं से बिलकुल अलग। जब ऐसी व्यापक असुरक्षा है और कोई विशेष घटना घटती है, तब तुरंत ही असुरक्षा और खतरे की भावना बढ़ जाती है, क्योंकि वे दमन के एक निश्चित माहौल में रहते हैं और इसी के कारण यह एक खतरनाक स्थिति में तब्दील हो जाती है, जो अन्यथा नहीं होगी या एक स्थानीय घटना होगी। अब यही समस्या है, हम पूर्वी बंगाल में उन लोगों के आभारी हैं, जो खतरे में हो सकते हैं। हम उनके आभारी हैं, जिन्होंने उनका बचाव

किया। हमारे अपने भू-भाग में या उनके क्षेत्र में उन्होंने उनकी हिफाजत की।''

अभी तक की प्रगति संतोषजनक है। यह स्पष्ट था कि नेहरू और भारत सरकार पूर्वी पाकिस्तान में हिंदुओं के उत्पीड़न, यहाँ तक कि नरसंहार को, बेकार बैठी नहीं देख सकती थी। फिर भी समस्या का समाधान ढूँढ़ने की बात आई तो वह बाधा पैदा करते या जिद करते हैं और अपनी ही पराजयवादी सोच में शरण लेते हैं। उनके आगे के भाषण पर गौर करें—''अब यह स्पष्ट है कि जो रक्षा और हिफाजत वे अपने क्षेत्र में हासिल कर सकते हैं, वह उस क्षेत्र को नियंत्रित करनेवाली सरकार के जरिए ही उन तक आ सकती है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। आप इसे पसंद करें या न करें, इसके वायदे पर भरोसा करें या न करें कि सरकार अपनी इच्छा और उन हालात के मुताबिक काम करती है, जिन हालात में यह होती है और अन्य घटनाओं से जो हालात बनते हैं। वे घटनाएँ कुछ भी हो सकती हैं। यह दोस्ताना दबाव हो सकता है, यह हमारी ओर से दोस्ताना दबाव से कुछ ज्यादा हो सकता है अथवा यह कुछ भी हो सकता है। यह काम करती है, तुम्हें सरकार के जरिए ही काम करना पड़ता है...यह बहुत अच्छा नहीं है, जैसा मेरे आदरणीय मित्र हनुमंथैया ने आबादी की अदला-बदली के बारे में कहा था। उनसे तमाम मतभेदों के साथ मैं कह सकता हूँ कि यदि उन्होंने इस समस्या पर और विचार किया होता तो उन्होंने ऐसा नहीं बोला होता, जैसा कि बोला है। यह काम करने का ऐसा ढंग है, जिसमें बौद्धिक विचार की पूरी तरह कमी है। मैं हैरान हूँ कि किसी अन्य को ऐसी बेवकूफी वाली बात करनी चाहिए, जैसी इस विषय में उन्होंने की थी।...क्या आप पाशविकता के विस्तार, सभ्यता के अभाव और बर्बरता से लड़ने जा रहे हैं? यदि ये फैलती हैं तो हमें इनसे लड़ना पड़ेगा, क्योंकि ये हमसे मिलने आ रही हैं। आप इसके साथ लड़ाई को टाल नहीं सकते। लेकिन आप बुराई के जरिए बुराई से नहीं लड़ सकते; बर्बरता द्वारा बर्बरता से नहीं लड़ सकते। आपको एक सभ्य स्थिति लेनी पड़ेगी और अपनी पूरी ताकत के साथ बुराई से लड़ना पड़ेगा।''

बेतरतीब, भ्रमित और ऊटपटाँग बोलना, आत्म विरोधाभासी और कोई जवाब नहीं, मैत्रा ने पाकिस्तान सरकार की बेवफाई के संबंध में जो सवाल उठाए थे और सबसे बढ़कर पूर्ण पराजयवाद पर भी कोई स्पष्टीकरण नहीं। इसके अलावा, इस तथ्य को स्वीकार करने की जिद्दी हुंकार कि जिस सरकार ने जनसंहार को संचालित किया (नेहरू जिससे अनजान नहीं हो सकते थे, लौहावरण या कुछ भी के बावजूद), अब उन्हें बचाने के लिए उस पर कभी भी भरोसा नहीं किया जा सकता और 'तुम्हें सरकार के जरिए ही काम करना पड़ता है', एक विसंगति, एक बेतुकापन है और वह तो नेहरू थे। हनुमंथैया के प्रति उनकी अनभ्यस्त, सख्त भाषा का इस्तेमाल, शायद उनकी अपनी पार्टी के किसी व्यक्ति पर उनकी झुँझलाहट के कारण होगा और वह भी बंगाल से दूर का कोई व्यक्ति होगा और पूर्वी बंगाल के हिंदुओं की दुर्दशा से भावनात्मक दौर से प्रभावित नहीं होगा। उसने उन्हें गलत समझ लिया।

और यहाँ से 8 अप्रैल के समझौते तक...घातक नेहरू-लियाकत करार या दिल्ली समझौता। और इसी के साथ नेहरू ने पूर्वी बंगाल के शेष हिंदुओं को एक 'जीवित नरक' के सुपुर्द कर दिया।

लियाकत अली, जो अभी तक नेहरू की 'साझा काररवाई' की तमाम कोशिशों का विरोध करते रहे, यहाँ तक कि साझा बयान के लिए भी तैयार नहीं हुए, उन्होंने खुद को भारी मुसीबत में

पाया, जब पूर्वी बंगाल में जनसंहार के खिलाफ पश्चिम बंगाल में बदले की काररवाई के कारण करीब 5 लाख मुसलिम पश्चिम बंगाल को पार कर पाकिस्तान में दाखिल हुए। लिहाजा उन्होंने दिल्ली आने का नेहरू का न्योता स्वीकार कर लिया। वे यह जानते थे कि नेहरू बड़ी उत्सुकता से उन्हें अपनाएँगे, जो नेहरू ने किया भी और इस प्रकार वह करार हुआ।

अंततः नेहरू की समस्या के प्रति कायराना सोच के कारण डॉ. मुकर्जी के उनसे सीधे टकराव की शुरुआत हुई। अभी तक शायद वे निराशा में भी उम्मीद कर रहे थे कि पटेल की मदद से वे नेहरू को उनकी बहानावादी योजना को लागू करने से रोकने में कामयाब होंगे। लेकिन उनकी तमाम उम्मीदें चूर-चूर हो गईं, जब उन्हें जानकारी मिली कि नेहरू ने एक और समझौते के लिए लियाकत अली को न्योता भेजा है और अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए करार किया जाएगा। उन्होंने इसका विरोध किया और नेहरू को पिछले समझौतों की नियति की याद दिलाई। बताया जाता है कि उन्होंने दंड संबंधी एक धारा जोड़ने की माँग की, जिसमें समझौते का सम्मान करने में नाकाम रहनेवाले किसी भी देश के खिलाफ प्रतिबंध लगाने का प्रावधान हो। इस वैध माँग के अलावा पाकिस्तान के अतीत के बरताव के लिए डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया था कि इससे आसन्न बातचीत, निश्चित तौर से ध्वस्त हो जाएगी और यदि ऐसा हुआ तो पाकिस्तान के असली मंसूबे प्रकट हो जाएँगे। अंततः 1 अप्रैल, 1950 की कैबिनेट बैठक में डॉ. मुकर्जी के भिड़ने पर जब नेहरू उनके तर्कों का जवाब नहीं दे पाए तो उन्हें गुस्सा आ गया और डॉ. मुकर्जी की दलीलों को निरस्त कर दिया, जिन्होंने उनके सामने ही उन्हें बताया था कि वह कैबिनेट की साझा जिम्मेदारी की तमाम परंपराओं का उल्लंघन और अनादर कर रहे हैं—और वह भी पूर्वी बंगाल के हालात सरीखे राष्ट्रीय सवालों पर।

उसके बाद डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया कि कैबिनेट में रहते हुए वह न तो देश का भला कर सकते हैं और न ही पूर्वी बंगाल के अल्पसंख्यकों को दिए अपने वचन निभा सकेंगे। लिहाजा उनके लिए जो एकमात्र सम्मानजनक विकल्प खुला था, वह कैबिनेट मंत्री के पद से इस्तीफा देना था और उन्होंने ढाई साल पहले यह पद मातृभूमि की सेवा करने के लिए स्वीकार किया था। डॉ. मुकर्जी ने नेहरू को 1 अप्रैल की शाम को यह बता दिया, क्योंकि लियाकत अली के साथ उनकी बातचीत 2 अप्रैल को शुरू हुई। नेहरू तुरंत सहमत हो गए और उन्हें अपने फैसले पर पुनर्विचार करने को भी नहीं कहा। तब डॉ. मुकर्जी ने नेहरू को आश्वस्त किया कि बातचीत के दौरान उन्हें परेशानी या संकट में डालने का उनका कोई इरादा नहीं है और उनका इस्तीफा लियाकत की विदाई के बाद प्रभावी हो सकता है। 3 अप्रैल की सुबह डॉ. मुकर्जी ने नेहरू को कहा कि उनके विचाराधीन इस्तीफे के कारण कैबिनेट की बैठक में आना उनके लिए उपयुक्त नहीं होगा; लेकिन नेहरू ने उन्हें कैबिनेट की बैठकों में आना जारी रखने को कहा।

6 अप्रैल, 1950 को नेहरू को लिखे पत्र में डॉ. मुकर्जी ने अपना इस्तीफा दे दिया और यथाशीघ्र उस दायित्व से मुक्त करने का अनुरोध किया। उन्होंने कहा कि उनके इस्तीफे के कारण भारत-पाकिस्तान संबंधों के बारे में नेहरू की नीति में से पैदा हुए; खासकर बंगाल को लेकर उनकी नीतियों के कारण इस्तीफा देना पड़ा, क्योंकि उन नीतियों की असफलता तय थी। (और वे असफल रहीं, जैसा कि बाद की मार-काट से स्पष्ट है। मसलन फरवरी 1951 में सांताहर जंक्शन पर असम

मेल में नरसंहार।) किन्हीं भी हालात में डॉ. मुकर्जी उस समझौते का पक्ष नहीं बन सकते थे, जिसे 6 अप्रैल को अंतिम रूप दिया जाना लगभग तय हो गया था और जो समस्या के मर्म को संबोधित नहीं करता था, कोई समाधान पेश करना असंभव सा था, पीड़ितों को थोड़ी सी तसल्ली देगा। इससे अनदिखे नतीजों के साथ भारत में नई सांप्रदायिक और राजनीतिक समस्याओं को बढ़ावा देना निश्चित था। उन्होंने आजाद भारत की पहली कैबिनेट में ढाई साल तक मौका देने के लिए नेहरू का धन्यवाद करते हुए पत्र का समापन किया। उन्होंने अपने इस्तीफे की एक प्रति 6 अप्रैल को उप-प्रधानमंत्री सरदार पटेल को भी भेज दी और उस विश्वास व स्नेह के लिए उनका आभार व्यक्त किया, जो उन्हें हमेशा मिलता रहा।

वह करार निराशाजनक रूप से किस हद तक नाकाम था और पूर्वी पाकिस्तान में हिंदुओं की 'मौत की घंटी' बजा दी थी, सिर्फ एक ही आँकड़े से वह प्रमाणित है। 20 मार्च, 1951 को 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' में छपी एक रपट के मुताबिक, भारत सरकार ने स्वीकार किया था कि 7 फरवरी, 1950 से कमोबेश 41,89,847 हिंदुओं ने पूर्वी पाकिस्तान छोड़ दिया था।

उसी दौरान, 'बंगाल में एक और कैबिनेट मंत्री, वाणिज्य मंत्री क्षितीश चंद्र नियोगी ने 6 अप्रैल को प्रधानमंत्री नेहरू को पत्र लिखा और कहा कि उन्होंने उस करार की शर्तों पर अत्यधिक सोच-विचार किया था, जो नेहरू ने लियाकत अली के साथ किया था। किसी भी पूर्वी बंगाली से (जो नियोगी थे, डॉ. मुकर्जी नहीं) वहाँ हुई भयावह घटनाओं के बाद पाकिस्तान की ईमानदारी पर भरोसा करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह उम्मीद करना विसंगति और बेतुकेपन की पराकाष्ठा है कि जो लोग आए हैं, वे पाकिस्तान के इन आश्वासनों पर कभी भी भरोसा करेंगे कि भविष्य में वह अच्छा व्यवहार करेगा और जो खाली कर देने का इंतजार कर रहे थे, वे अपने रास्ते से मुड़ जाएँगे। मलिक फिरोज खान नून सरीखे एक ज्ञात हिंदू-विरोधी व्यक्ति को पूर्वी बंगाल का गवर्नर नियुक्त करना और वह भी नेहरू-लियाकत वार्त्ता की पूर्व संध्या पर, यह भी पाकिस्तान के मंसूबों का एक अतिरिक्त सबूत था। वह अपने प्रति ईमानदार नहीं होंगे, यदि वह पूर्वी बंगाल में अब भी छूट गए अपने मित्रों और संबंधियों को कहेंगे कि नेहरू की योजना की परख की जाए, जबकि उनका महसूस करना है कि यह बेकार साबित होगी। और कैसे एक मंत्री अपने पद पर बरकरार रह सकता है, यदि वह उस योजना का समर्थन न करे, जिसका वह बतौर मंत्री एक पक्ष है? नियोगी हैरान थे कि क्या नेहरू ने जानबूझकर उन्हें उन अनौपचारिक मुलाकातों से अलग रखा, जो प्रधानमंत्री ने पाकिस्तानी प्रतिनिधिमंडल में आए अपने कुछ साथियों और अफसरों के साथ की थीं। इसके बावजूद कि उनके वाणिज्य मंत्री को पूर्वी बंगाल की प्रत्यक्ष जानकारी थी और जिनका पहले भारत-पाकिस्तान करार की बातचीत में हाथ था, क्योंकि वह करार उन समस्याओं के बारे में था, जो मौजूदा समस्याओं से संबद्ध थीं। प्रधानमंत्री के क्रियाकलाप से नियोगी ने निष्कर्ष निकाला कि वह (नेहरू) उनमें विश्वास खो चुके थे और इस्तीफा देने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। उन्होंने उन्हें दायित्व से यथाशीघ्र मुक्त करने का अनुरोध किया।

सरदार पटेल डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे की पराकष्ठा तक पहुँची घटनाओं से बेहद नाखुश थे। ये दो नेता उससे प्रभावित नहीं थे, जिसे बिनॉय मुखोपाध्याय ने नेहरू का 'राजनीतिक निद्राचार' करार दिया था और पूर्वी बंगाल के हिंदुओं के भविष्य के बारे में उनके समान विचार थे और पाकिस्तान

के असली मंसूबों के बारे में उनकी आशंकाएँ, यहाँ तक कि निश्चिंतताएँ भी, समान थीं। लेकिन यह सरदार पटेल की शैली नहीं थी कि प्रधानमंत्री ने जिन मामलों से उन्हें अलग रखा है, उनमें बेमतलब की पूछताछ की जाए। उन्होंने तमाम रियासतों को पूरी राजनीतिक कुशलता के साथ भारत में मिलाने का बंदोबस्त किया, सिर्फ जम्मू व कश्मीर को छोड़कर। नेहरू ने उस राज्य को अपने पास रखा था, लेकिन पटेल ने दूर से ही निगाह रखी कि वहाँ क्या हो रहा है। 6 अप्रैल को डॉ. मुकर्जी को लिखे एक 'पूर्णत: निजी' पत्र में उन्होंने कहा था कि डॉ. मुकर्जी ने पहली कैबिनेट बनने से कठिन, विकट और विक्षुब्ध समय के दौरान तक देश की सेवा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने घटनाओं पर बड़ी नाखुशी महसूस की। नेहरू से उस मुद्दे पर अभी तक उनकी कोई चर्चा नहीं हुई और वे नहीं जानते कि उनके फैसलों को किसने प्रोत्साहित किया। जबकि उन्हें बहुत डर था कि डॉ. मुकर्जी के कैबिनेट से बाहर जाने पर उस समय देश में प्रतिक्रिया हो सकती थी। फिर उन्हें उम्मीद थी कि वे बहुत विलंब होने से पहले ही बंगाल की समस्या सुलझाने में सफल होंगे। उसी दौरान वे निश्चिंत थे कि डॉ. मुकर्जी की किसी भी काररवाई से भारत, खासकर उनके पीड़ित और संतप्त बंगाल, को कोई नुकसान नहीं होगा।

ऐसा परस्पर सम्मान और आपसी समझ उन दोनों में थी एक-दूसरे के लिए। जब 13 अप्रैल को डॉ. मुकर्जी सरदार पटेल से मिले तो उन्होंने उनपर बहुत दबाव डाला और कहा कि अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें। 14 अप्रैल की रात को भी पटेल ने डॉ. मुकर्जी से दोबारा निवेदन किया कि पुनर्विचार करें और उस दिन डॉ. मुकर्जी रात भर सो नहीं सके। 15 अप्रैल को डॉ. मुकर्जी को लिखे एक निजी पत्र में वल्लभभाई पटेल ने कहा था कि वे 'बहुत व्यथित' और बेहद नाखुश हैं, क्योंकि डॉ. मुकर्जी इस्तीफा देने के अपने निर्णय पर अब भी अड़े हुए थे। वे उम्मीद कर रहे थे कि डॉ. मुकर्जी उनके साथ कलकत्ता जाएँगे और एक 'बेहद मुश्किल काम में उनके भारी बोझ और उस जबरदस्त प्रयास में' साझा करेंगे। इसके बजाय उन्होंने पाया कि डॉ. मुकर्जी और नियोगी दोनों के इस्तीफों के प्रभाव की 'पूरी शक्ति' को उन्हें ही झेलना पड़ेगा। हालाँकि यह कुछ तसल्ली थी कि पटेल के अनुरोध पर डॉ. मुकर्जी ने संसद् में अपना बयान देना स्थगित कर दिया था। 15 अप्रैल को ही जवाब देते हुए डॉ. मुकर्जी ने कहा कि वे खुद व्यथित हैं कि इस विशेष अवसर पर सरदारजी के अनुरोध के अनुसार काम नहीं कर सकते और उम्मीद की कि वह उनके दृष्टिकोण की कद्र करेंगे और उन्हें माफ कर देंगे।

इसी समय डॉ. मुकर्जी ने नियोगी से इस मुद्दे पर चर्चा की, जो अपना इस्तीफा वापस लेने के अनिच्छुक थे। उन्होंने पहले जो कारण दिए थे, उनके अलावा नियोगी बड़ी मजबूती से महसूस करते थे कि आसन्न व्यापार-वार्त्ताओं को करीब दो माह के लिए न तो अंतिम रूप दिया जाए और न ही कैबिनेट उन्हें लागू करे। इस समय के दौरान सरकार को खुद को संतुष्ट करना चाहिए कि राजनीतिक समझौते को पाकिस्तान वाकई लागू कर रहा है। अपहृत की गई औरतों की बहाली को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए। ढाका से उप उच्चायुक्त ने दिल्ली को तार भेजे और बताया कि पूर्वी बंगाल के कुछ हिस्सों में अब भी कितनी गंभीर गड़बड़ियाँ जारी हैं, ढाका के अंदरूनी हिस्से में भी। सीमांत घटनाओं के अलावा पश्चिम बंगाल सरकार ने जो अलग से रिपोर्ट की, करीब 50 औरतों के अपहरण की रपट थी। 12 अप्रैल को चित्तगोंग मेल पर तीन बार हमला किया गया। नेहरू से

यह विचार करने का अनुरोध किया गया कि इसे समझौते के उल्लंघन के तौर पर माना जाए।

अंत में अपरिहार्य घटित हुआ। नेहरू ने पाकिस्तान के अनुचित कार्यों की तमाम रपटें परे कर दीं और लियाकत अली के अच्छे मंसूबों में अपने भरोसे का 'आँख मूँद कर समर्थन' जारी रखा व हकीकत को नजरअंदाज किया। 19 अप्रैल, 1950 को सवेरे-सवेरे डॉ. मुकर्जी बंबई से लौटे, नेहरू के 15 तारीख वाले पत्र का तुरंत जवाब दिया और संसद् में प्रश्नकाल के बाद बयान देने का प्रस्ताव रखा।

उसके लिए स्पीकर की अनुमति पहले ही ले ली गई थी। जैसा कि पहले ही सहमति हो गई थी कि उनका इस्तीफा 19 तारीख से प्रभावी होगा और 20 की सुबह वह दिल्ली से कलकत्ता रवाना हो जाएँगे।

इस जीवनीकार के अनुसार, डॉ. मुकर्जी का इस्तीफा भाषण, जो उन्होंने 19 अप्रैल, 1950 को खचाखच भरे लोकसभा सदन में दिया था, उनके सर्वश्रेष्ठ और बेहद मार्मिक भाषणों में से एक था। उसमें पाकिस्तान के मकसद की उनकी स्पष्ट समझ निहित थी और इस समझ के पक्ष में उन्होंने ठोस तर्क दिए। यह भाषण पाकिस्तान की संप्रभुता और उसके मंसूबों पर भरोसा करनेवाली नेहरू की अस्पष्ट नीति के खिलाफ था। यह राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में एक शक्तिशाली भाषण था, जिसमें महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संदेश भरे हुए थे। फिर भी उस समय के मुसलिम कट्टरवादियों द्वारा बदनसीब पीड़ितों के प्रति गहरी सहानुभूति प्रकट करने में यह भाषण बेहद मार्मिक था। इस दृष्टि से भाषण के कुछ खास हिस्सों को उद्धृत करना और उन पर टिप्पणी करना उपयुक्त रहेगा।

डॉ. मुकर्जी ने अपना भाषण इस भूमिका के साथ शुरू किया, ''सर, संसदीय परंपरा के अनुसार मैं एक वक्तव्य देने के लिए खड़ा हुआ हूँ, ताकि उन कारणों का खुलासा कर सकूँ, जिन्होंने कैबिनेट से इस्तीफा देने के लिए मुझे बाध्य किया। सदन को आश्वस्त कर दूँ कि मैंने एकाएक यह कदम नहीं उठाया, बल्कि गहरे सोच-विचार के बाद यह निर्णय लिया। यह निजी किस्म का कुछ भी नहीं है, जिसने मुझे इस्तीफा देने को प्रेरित किया और मैं आशा करता हूँ कि जिनके साथ मैं असहमत था, वे मेरी धारणाओं की गहराई की कद्र करेंगे; क्योंकि मैंने बेहिचक उनकी धारणाओं की कद्र की है। मेरे मतभेद बुनियादी हैं और मेरे लिए उस सरकार के एक सदस्य के तौर पर जुड़े रहना निष्पक्ष और सम्माननीय नहीं होगा, जिसकी नीति को मैं स्वीकार नहीं कर सकता।''

उन्होंने कहना जारी रखा—''मैंने पाकिस्तान के प्रति हमारे रुख को लेकर कभी भी खुशी महसूस नहीं की। यह कमजोर, लँगड़ाता हुआ और बेमेल रहा है। हमारी अच्छाई या निष्क्रियता की व्याख्या पाकिस्तान ने कमजोरी के तौर पर की है। जिन हालात के कारण मुझे इस्तीफा देना पड़ा, वे मूलतः पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के साथ बरताव से जुड़े हैं। बंगाल समस्या कोई प्रादेशिक नहीं है। यह अखिल भारतीय स्तर का मुद्दा है और इसके उचित समाधान पर ही शांति व संपन्नता टिकी है—पूरे देश की आर्थिक व राजनीतिक शांति और संपन्नता...।'' अंतिम वाक्य में वह लगभग पैगंबर सरीखे हो गए थे, जैसा कि आज पाकिस्तान द्वारा भारत पर कराए जानेवाले आतंकी हमलों की अधिकता से स्पष्ट है। हिंदुओं और मुसलिमों को समान रूप से निशाना बना रहे हैं आतंकी हमले। डॉ. मुकर्जी आगे बोलते हैं, ''भारत और पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों की समस्या के प्रति रुख में भारी अंतर हैं। भारत में मुसलिमों का व्यापक बहुमत, सांप्रदायिक आधार पर, देश का

विभाजन चाहता था। हालाँकि मैं खुशी-खुशी मान्यता देता हूँ कि राष्ट्रवादी मुसलिमों का भी एक छोटा वर्ग था, जिसने निरंतर राष्ट्रीय हितों के साथ अपनी पहचान बनाई और इसके लिए कष्ट भी झेले। दूसरी तरफ, हिंदू निश्चित तौर पर एकजुट होकर विभाजन के खिलाफ थे।'' अंतिम हिस्सा आज शायद पूर्णत: 'राजनीतिक तौर पर गलत' माना जाएगा, लेकिन क्या यह सत्य नहीं है? क्या यह एक समझदार नीति बनाने की बुनियाद नहीं है?

तब वे विभाजन-प्रक्रिया में अपनी निजी भूमिका का वर्णन करते हैं, ''जब भारत का विभाजन अपरिहार्य बन गया तो मैंने बंगाल के विभाजन के पक्ष में जनमत तैयार करने में एक बहुत बड़ी भूमिका अदा की, जिसके लिए मैंने महसूस किया कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो पूरा बंगाल—और शायद असम भी—पाकिस्तान में चले जाएँगे। तब मैं नहीं जानता था कि मैं पहली केंद्रीय कैबिनेट में शामिल होऊँगा। मैंने अन्य लोगों के साथ पूर्वी बंगाल के हिंदुओं को आश्वासन दिए कि यदि भावी पाकिस्तान सरकार के हाथों उन्होंने कष्ट झेले तो आजाद भारत मूक दर्शक नहीं रहेगा और उनके सरोकारों को भारत की सरकार और उसके लोगों द्वारा साहसपूर्वक उठाया जाएगा। बीते ढाई सालों के दौरान उनकी व्यथाएँ काफी कुछ त्रासदी सरीखी हैं। आज मुझे यह स्वीकार करने में जरा सा भी संकोच नहीं है कि तमाम प्रयासों के बावजूद मैं अपना वचन निभाने में सफल नहीं रहा हूँ और सिर्फ इसी आधार पर, यदि किसी दूसरे आधार पर नहीं, मुझे भारत सरकार से अब और जुड़े रहने का कोई भी नैतिक अधिकार नहीं है।''

अब डॉ. मुकर्जी समझौते पर आते हैं, जिसकी निरर्थकता उन्हें बिलकुल स्पष्ट थी—''मेरा मानना है कि हाल ही में किया गया समझौता बुनियादी समस्या का कोई समाधान पेश नहीं करता। बुराई और भी बाहरी है और किसी भी पैबंद से शांति स्थापित नहीं हो सकती। यदि कोई पाकिस्तान बनने से लेकर आज तक की घटनाओं का विश्लेषण करे तो यह स्पष्ट होगा कि उस देश के भीतर हिंदुओं के लिए कोई सम्मानजनक स्थान नहीं है। समस्या सांप्रदायिक ही नहीं है, यह निश्चित रूप से राजनीतिक है। समझौता एक इसलामी देश के निहितार्थों को नजरअंदाज करने की दुर्भाग्यपूर्ण कोशिश करता है, लेकिन जिसने पाकिस्तान की संविधान सभा द्वारा पारित 'उद्देश्य प्रस्ताव' को सावधानी से पढ़ा व देखा है और प्रधानमंत्री का भाषण सुना है, वह पाएगा कि एक तरफ अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा की बात की जा रही है, तो दूसरी ओर प्रस्ताव यह ऐलान करता है कि ''लोकतंत्र, आजादी, समानता, सहिष्णुता और विशेष न्याय के सिद्धांतों, जैसाकि इसलाम ने प्रतिपादित किए हैं, का पूरी तरह पालन किया जाएगा।'' प्रस्ताव पेश करते हुए पाकिस्तान के प्रधानमंत्री इस प्रकार बोले—

''आप यह भी ध्यान देंगे कि सरकार को महज एक तटस्थ पर्यवेक्षक की भूमिका अदा नहीं करनी है, जिसमें मुसलिमों को अपना मजहब स्वीकार करने और अमल करने की आजादी है, क्योंकि सरकार का ऐसा रुख उन आदर्शों को इनकार करना होगा, जिन्होंने पाकिस्तान की माँग को प्रेरित किया और यही आदर्श उस सरकार की नींव के पत्थर होने चाहिए, जो हम बनाना चाहते हैं। सरकार ऐसे हालात पैदा करेगी, जो एक सच्चा इसलामी समाज बनाने के माकूल हो। इसके मायने हैं कि सरकार को इस कोशिश में एक सकारात्मक भूमिका अदा करनी पड़ेगी। आपको याद होगा कि कायदे आजम और मुसलिम लीग के दूसरे नेताओं ने हमेशा ऐसी स्पष्ट

घोषणाएँ की थीं कि पाकिस्तान के लिए मुसलिम माँग इस तथ्य पर आधारित थी कि मुसलिमों की अपनी जीवन-शैली और आचार-संहिता है। दरअसल, इसलाम ने सामाजिक व्यवहार के लिए कुछ खास निर्देश स्थापित किए हैं और रोजाना की समस्याओं की ओर समाज के रुख के लिए इसलाम ने समाज को रास्ता दिखाने की कोशिश की है। इसलाम महज निजी विश्वास और व्यवहार का ही विषय नहीं है। मुझे तमाम गंभीरता के साथ पूछना चाहिए कि ऐसे समाज में क्या कोई हिंदू अपने सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ, सुरक्षा की भावना के साथ रहने की अपेक्षा कर सकता है?''

डॉ. मुकर्जी ने तब विभाजन से लेकर पूर्वी पाकिस्तान के हिंदुओं के अनुभव का विवरण दिया, जिसकी नेहरू ने सहजता से अनदेखी की, क्योंकि जैसा कि बिनॉय मुखोपाध्याय ने कहा था, 'यह उनकी पहले से ही तय धारणा और समझ में फिट नहीं बैठता।'

''पाकिस्तान की विचारधारा ही केवल अशांत नहीं करती है। पाकिस्तान का प्रदर्शन उसकी विचारधारा के मुताबिक रहा है। अल्पसंख्यकों को उसका कटु अनुभव करना पड़ रहा है; एक इसलामी देश की जैसी छवि होनी चाहिए थी, सर्वथा उसके खिलाफ है पाकिस्तान का चरित्र। इस बुनियादी समस्या से निपटने में यह करार पूरी तरह नाकाम रहा है।

''जनता की याददाश्त बहुत छोटी होती है। कई जगह यह धारणा है कि करार अल्पसंख्यकों की समस्या हल करने का अपनी तरह का एक महान् प्रयास है। मैं फिलहाल पंजाब की बरबादी और तबाही को एक तरफ रख रहा हूँ। तमाम आश्वासनों और गारंटी के बावजूद वहाँ प्रशासन पूरी तरह धवस्त हो गया था। वहाँ अत्यंत बर्बर तरीके से समस्या हल की गई। उसके बाद हमने पूर्वी बंगाल के हिंदुओं का क्रमिक संहार और विनाश देखा। करीब 1.30 करोड़ हिंदू अब भी वहाँ रह रहे हैं। उनका भविष्य भारत में हम सबके लिए बेहद गंभीर चिंता का विषय है। अगस्त 1947 और मार्च 1948 के बीच करीब 5 लाख हिंदू पूर्वी बंगाल से बाहर खदेड़े जा चुके हैं। वहाँ कोई ऐसी प्रमुख घटना नहीं हुई, लेकिन हालात अपने आप ऐसे बने कि उन्हें पाकिस्तान सरकार से कोई सुरक्षा नहीं मिली और शरण के लिए उन्हें पश्चिम बंगाल आने को बाध्य होना पड़ा। उस दौर में भारत की ओर से किसी भी तरह की उत्तेजना का सवाल नहीं था, जहाँ हालात सामान्य हो चुके थे। मुसलिमों को भारत से पाकिस्तान जबरन भेजने का भी सवाल नहीं था। अप्रैल 1948 में पहला अंतर-क्षेत्रीय समझौता कलकत्ता में हुआ, जो खासतौर से बंगाल की समस्याओं से ही संबद्ध था। यदि कोई मौजूदा करार के साथ उस करार के प्रावधानों का विश्लेषण और तुलना करे तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि तमाम जरूरी मुद्दों पर दोनों ही करार एक समान हैं। हालाँकि इस करार ने कोई प्रभावी नतीजे नहीं दिए।

''भारत ने सामान्यत: करार की शर्तों का पालन किया, लेकिन पूर्वी बंगाल से सामूहिक पलायन बदस्तूर जारी रहा। यह एकतरफा मामला है, जैसा कि पाकिस्तान चाहता था। पत्रों का आदान-प्रदान हुआ, अफसरों और मुख्यमंत्रियों की बैठकें हुईं और दोनों शासित क्षेत्रों के मंत्रियों में सलाह-मशविरा हुए। लेकिन वास्तविक नतीजों का आकलन करें तो पाकिस्तान के रुख में कोई बदलाव नहीं आया। दिसंबर 1948 में दूसरा अंतर-शासित क्षेत्र सम्मेलन दिल्ली में हुआ तथा एक और करार पर दस्तखत किए गए, उसपर मुहर लगा दी गई। यह भी उसी समस्या से जुड़ा था—

खासकर बंगाल में अल्पसंख्यकों के अधिकार से।

''दरअसल यह भी पहले करार की पुनरावृत्ति थी। सन् 1949 के दौरान पूर्वी बंगाल में हालात और भी खराब हुए और असहाय लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या के पलायन के हम साक्षी बने। वे लोग अपने घर-परिवार से विस्थापित हुए थे और बेहद दयनीय स्थितियों में भारत में खदेड़े गए थे। इस प्रकार तथ्य यह है कि दो समझौते के बावजूद करीब 16 से 20 लाख हिंदुओं को सिंध से यहाँ भेजा गया। इस दौरान मुसलिमों की भी एक बड़ी संख्या, मुख्यत: आर्थिक सोच-विचार से प्रभावित, पाकिस्तान से आई। पश्चिम बंगाल की अर्थव्यवस्था को आकस्मिक व तेज झटका लगा और हम एक विषादमय त्रासदी के असहाय दर्शक बने रहे।

''आज वहाँ एक सामान्य धारणा है कि अल्पसंख्यकों की हिफाजत में भारत और पाकिस्तान दोनों ही नाकाम रहे। हालाँकि तथ्य इसके बिलकुल उलट है। विदेशी प्रेस के कुछ भागों में एक विरोधी प्रचार भी जारी रहा। यह भारत की मानहानि है और सच उन सभी को बताना चाहिए, जो इसे जानना चाहते हैं। भारत सरकार—केंद्र एवं प्रदेशों, राज्यों में—ने पंजाब और दिल्ली उपद्रवों के शांत होने के बाद देश भर में शांति व सुरक्षा बरकरार रखी और यह पाकिस्तान की ओर से बेहद गंभीर व दुराग्रही उत्तेजना के बावजूद किया गया। दरअसल पाकिस्तान सिंध और पूर्वी बंगाल में ऐसे हालात पैदा करने में नाकाम रहा था, जिनके जरिए अल्पसंख्यक वहाँ शांतिपूर्ण और सम्मानजनक तरीके से रह सकते थे। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि पूर्वी बंगाल या सिंध से जो लोग आए, ये वे नहीं थे, जिन्होंने विभाजन के वक्त एक काल्पनिक भय के कारण भारत में बसना तय किया था। वे लोग पाकिस्तान में ही रहने को तत्पर थे—यदि उन्हें एक अच्छा और शांतिपूर्ण जीवन जीने का मौका दिया गया होता।''

उसके बाद डॉ. मुकर्जी ने हिंदुओं के उत्पीड़न के उदाहरण बताए और अपने इस्तीफे के कारणों का सारांश पेश किया—

मैंने निम्नलिखित मुख्य कारणों से खुद को समझौते का एक पक्ष बनने के अयोग्य पाया—

- पहला—विभाजन से अब तक हमने बंगाल समस्या के हल के लिए दो समझौते किए और हमारे लिए कोई रास्ता खुला रखे बिना ही पाकिस्तान ने उन समझौतों का उल्लंघन किया। ऐसा समझौता, जिसे कोई स्वीकृति न मिली हो, कोई समाधान नहीं दे सकता।
- दूसरे—समस्या का मर्म इसलामी देश और उस पर आधारित धुर-सांप्रदायिक प्रशासन की पाकिस्तानी अवधारणा थी। समझौता इस बुनियादी मुद्दे को नजरंदाज करता है और आज हम वहीं हैं, जहाँ समझौते से पहले थे।
- तीसरे—भारत और पाकिस्तान दोनों को बराबर का दोषी करार दिया गया है, जबकि पाकिस्तान स्पष्ट रूप से आक्रामक है। करार के अनुसार, दोनों देशों की क्षेत्रीय निष्ठा और एकता के खिलाफ किसी भी तरह के प्रचार की इजाजत नहीं दी जाएगी और उनके बीच युद्ध के लिए भी कोई उकसावा नहीं होगा। यह लगभग तब तक बेतुका और हास्यास्पद है, जब तक पाकिस्तान के सैन्य दस्तों का कश्मीर के हमारे भू-भाग के एक हिस्से पर कब्जा है और पाकिस्तान के हिस्से पर युद्ध सरीखी तैयारियाँ जारी हैं।
- चौथे—घटनाओं ने साबित किया है कि हिंदू पाकिस्तान के सुरक्षा संबंधी आश्वासनों के आधार

पर पूर्वी बंगाल में नहीं रह सकते। हमें इसे एक बुनियादी समस्या के तौर पर स्वीकार करना चाहिए। दूसरी तरफ, मौजूदा करार अल्पसंख्यकों से पाकिस्तानी सरकार की ओर देखने की अपील करता है, ताकि उनकी सुरक्षा व सम्मान बरकरार रखा जा सके। यह उनके जख्मों पर नमक छिड़कने जैसा है और हमने अतीत में जो आश्वासन दिए थे, उनके विपरीत है।

- पाँचवें—उनकी क्षतिपूर्ति का कोई भी प्रस्ताव नहीं है, जिन्होंने कष्ट झेले हैं और न ही दोषी को कभी सजा होगी, क्योंकि पाकिस्तान अदालत के सामने गवाही देने की जरा भी हिम्मत नहीं करेगा। यह अतीत के कड़वे अनुभव के अनुरूप है।
- छठे—हिंदू बड़ी संख्या में यहाँ आना जारी रखेंगे और जो आ गए हैं, लौटने को तैयार नहीं होंगे। दूसरी तरफ जो मुसलिम चले गए थे, अब वे लौटेंगे और करार को लागू करने के हमारे निश्चय के अनुसार मुसलिम भारत को नहीं छोड़ेंगे। इस प्रकार हमारी अर्थव्यवस्था बिखर जाएगी और हमारे देश के भीतर संभावित टकराव बड़ा और भयंकर हो जाएगा।
- सातवें—भारत में अल्पसंख्यकों की हिफाजत के लिबास में करार ने भारत में मुसलिम अल्पसंख्यक की समस्या को दोबारा खोल दिया है। लिहाजा अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न करनेवाली उन ताकतों को पुनर्जीवित करने की कोशिशें जारी हैं, जिन्होंने पाकिस्तान का निर्माण किया। यह सिद्धांत अपने तार्किक निष्कर्ष तक हमारे लिए नई समस्याएँ पैदा करेगा। कठोरता और मजबूती से बोलते हुए कहूँगा कि वे हमारे संविधान के खिलाफ हैं।
- छठे और सातवें बिंदु एक बार फिर आज राजनीतिक तौर पर गलत, उग्रतापूर्ण सांप्रदायिक माने जाएँगे 'अनिष्ट' करार दिए जाएँगे। यह दृष्टिकोण पर आश्रित है। फिर भी वे उन स्थितियों को प्रतिबिंबित करते हैं, जो आज पश्चिम बंगाल और असम के हिस्सों में विकसित हो चुकी हैं, जहाँ हिंदू-मुसलिम संतुलन प्रचंडता से मुसलिमों के पक्ष में बदल चुका है। वहाँ बढ़ा उत्पीड़न और बँगलादेश से अत्यधिक घुसपैठ के कारण ऐसा हुआ है। पश्चिम बंगाल में मुसलिमों का अनुपात वर्ष 1951 में 19.46 प्रतिशत था, जो 2001 में 25.25 प्रतिशत हो गया और असम में यह 24.68 से बढ़कर 30.92 प्रतिशत हो गया। ये आँकड़े वर्ष 2011 तक कमोबेश 5 या 6 प्रतिशत बढ़ गए होंगे। डॉ. मुकर्जी ने अपने सातवें बिंदु में अस्त-व्यस्त करनेवाली जिन ताकतों और उनके द्वारा की गई घटनाओं की भविष्यवाणी की थी, वे 1980 के दशक में शुरू हुईं और अब भी उनके बढ़ते रहने के बारे में सुना जा रहा है।
- इनमें से असम की घटनाएँ, मसलन—1983 के नेली और गोहपुर के नरसंहार, अच्छी तरह से समझी जाती हैं। पश्चिम बंगाल में क्या हो रहा है, वह तुलनात्मक रूप से संयत है, लेकिन कम गंभीर नहीं है। दरअसल वे संयत इसलिए लगती हैं, क्योंकि पश्चिम बंगाल के मीडिया ने, मानो किसी अनकही साजिश के तहत, मुसलिम ज्यादतियों की तमाम खबरों को दबाने का फैसला किया है और यह अपने आप में चिंता का एक कारण है। यदि मवादवाले अंग पर सिर्फ पट्टी की जाएगी और उसे छिपाया जाएगा तो उससे न केवल उसका उपचार सफल नहीं होगा बल्कि पूरे शरीर में संक्रमण फैल जाएगा और अंततः यह मौत का कारण भी बन सकता है।

. फतवे का मुद्दा भी चर्चा का विषय है। बँगलादेशी विद्रोही कवि तसलीमा नसरीन को अपने देश से खदेड़े जाने के बाद पश्चिम बंगाल में तत्कालीन सत्तारूढ़ सी.पी.एम. ने नवंबर 2007 में बहाना बनाकर दंगा करवाया था। कलकत्ता के अंग्रेजी दैनिक 'द स्टेट्समैन' के दफ्तर पर फरवरी 2009 में मुसलिम कट्टरपंथियों द्वारा किया गया हमला भी विशेष उद्धरणीय है। 'द स्टेट्समैन' ने लंदन के अखबार 'दि इंडिपेंडेंट' से साभार लेकर नास्तिकता के योद्धा जोहान हरी द्वारा लिखित एक लेख छापा था। इस मामले में दैनिक के संपादक को गिरफ्तार किया गया था। फिर भी उनके तमाम साथी पत्रकारों ने इस मामले को दबाए रखा। पश्चिम बंगाल में ही उत्तर 24 परगना जिले के देगगा नामक गाँव में सितंबर 2010 में हिंदुओं पर हमला तो बिलकुल ताजा मामला है। वह हमला बसीरहट से तृणमूल कांग्रेस के सांसद हाजी नूरुल इसलाम के नेतृत्व में एक भीड़ ने किया था।

□

12

भारतीय जन संघ का जन्म

(1951)

डॉ. मुकर्जी का केंद्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफा देकर खुद को अखिल भारतीय मुख्य विपक्षी राजनीति में उतारना न केवल उनकी अपनी जिंदगी में वाटरशेड साबित हुआ, बल्कि देश के लिए भी। स्वतंत्रता तक वह एक प्रादेशिक राजनेता थे, हालाँकि उन्होंने अखिल भारतीय हिंदू महासभा के अध्यक्ष पद को विभूषित किया। केंद्रीय कैबिनेट मंत्री के रूप में उनकी नियुक्ति के बाद वह राष्ट्रीय और केंद्र के स्तर पर प्रकाश में आए; लेकिन उनकी छवि एक स्टेट्समैन या राजनीतिज्ञ की अपेक्षा एक कुशल प्रशासक की ज्यादा थी। परंतु उनके इस्तीफे ने सबकुछ बदल दिया। यदि उन्होंने इस्तीफा न दिया होता तो भारतीय जन संघ का कभी भी जन्म न होता और कांग्रेस का कोई राष्ट्रवादी प्रतिपक्ष भी तैयार न हो पाता। लेकिन उस विपक्ष का गठन हुआ और जैसा कि आज हम जानते हैं, जन संघ के ही सृजन भारतीय जनता पार्टी ने कांग्रेस का विकल्प बन केंद्र में वर्ष 1998 से 2004, यानी छह साल तक शासन किया।

इस्तीफा देने के बाद 11 अप्रैल, 1950 की सुबह डॉ. मुकर्जी कालका मेल से हावड़ा रेलवे स्टेशन पहुँचे तो स्टेशन के भीतर और उसके आसपास मानो मानव-समुद्र उमड़ आया था। न केवल स्टेशन के प्लेटफॉर्म और परिसर में, बल्कि उनसे सटे हुगली नदी पर, हावड़ा पुल पर मानव-सिरों का समुद्र हिलोरें मार रहा था। इस भीड़ में अधिकांश लोग पूर्वी बंगाल के शरणार्थी थे, जिनके लिए डॉ. मुकर्जी ने लड़ाई लड़ी और कैबिनेट मंत्री का पद भी त्याग दिया। अब जन साधारण के समर्थन के साथ एक नेता थे, लेकिन बिना किसी दल और सरकारी पद के। हालाँकि वह लोकसभा सदस्य जरूर थे।

कलकत्ता लौटने पर डॉ. मुकर्जी तुरंत ही सार्वजनिक जीवन में कूद पड़े और 'दिल्ली समझौते' (नेहरू-लियाकत करार) तथा पाकिस्तान के मामले में भारत सरकार की जो कमजोरी उन्होंने देखी, उसकी कड़ी आलोचना शुरू कर दी। 21 मई को कलकत्ता में आयोजित एक सार्वजनिक स्वागत-समारोह को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि पूर्वी बंगाल में हिंदुओं का उत्पीड़न सांप्रदायिक उन्माद की अचानक भड़ास का नतीजा नहीं था। यह न केवल उस कुशासन का, जिसने 10 वर्षों या ज्यादा समय से बंगाल को दु:खी कर रखा था; बल्कि यह उस क्रूर साजिश की सावधानी से बनाई

गई योजना और उसे लागू करने का नतीजा था, जिसे बाद में जयंत कुमार रे ने बेनकाब किया। भारत सरकार की कायर एवं घुटने टेक नीति तथा पं. नेहरू की पाकिस्तान के मंसूबों के संबंध में कोरी उम्मीद ने ही पूर्वी बंगाल के हिंदुओं को इस भयावह एवं असहाय स्थिति में पहुँचा दिया था। उन्होंने यह भी विवरण दिया कि करार के बाद 30 अप्रैल, 1950 तक पूर्वी बंगाल के 10 जिलों में हिंदुओं पर दमन के 502 मामले सामने आए थे, जिनमें हिंदू महिलाओं के अपहरण के 18 मामले भी शामिल थे। यहाँ तक कि विवाहित हिंदू महिलाओं की मुसलिमों के साथ शादी कराने के भी मामले थे। हत्या, आगजनी, सेंधमारी और डकैती के 292 मामलों में हिंदू ही लगातार कुचले गए थे। 140 मामले हिंदुओं के दमन, अपमान, परेशानी और फिरौती के थे, जो निचले दर्जे के मुसलिम सरकारी और गैर-सरकारी लोग करते थे। 17 मामले घरों पर जबरन कब्जा करने के थे और 22 मामले ऐसे थे कि पुलिस में शिकायत के बाद स्थानीय लोगों ने हमले किए। उन हिंदुओं की गलत गिरफ्तारी और हिरासत के भी मामले थे, जो करार के बाद पूर्वी बंगाल लौटे थे, यह देखने कि उनकी जमीन-जायदाद की स्थिति क्या है। हिंदू मंदिरों को अपवित्र करने के मामले भी दर्ज किए गए।

जब डॉ. मुकर्जी दिल्ली वापस आए, क्योंकि उन्हें संसद् में अपने इस्तीफे का भाषण देना था, तो फिरोजशाह कोटला में उनका भव्य स्वागत हुआ। इस जीवनीकार ने बलराज मधोक का साक्षात्कार लिया था, जो उस समारोह के संयोजक थे और डॉ. मुकर्जी की मृत्यु तक वह उनके बेहद करीब रहे। अब वह दिल्ली में एक निजी आवास में अकेली जिंदगी जी रहे हैं और राज़नीति से उनका बहुत कम सरोकार है। मधोक करीब 90 साल के थे, जब उनका इंटरव्यू लिया गया। उनसे प्रफुल्ल गोराडिया के जरिए मुलाकात हुई थी। दोनों ही अब नाममात्र को भारतीय जन संघ के साथ हैं। डॉ. मुकर्जी के बारे में बात करते हुए इस बूढ़े आदमी ने संस्मरण सुनाए, क्योंकि उन्होंने डॉ. मुकर्जी के साथ काफी अंतरंग समय गुजारा था, ''दरअसल मैं उनकी हर चीज का आभारी हूँ। वे मेरे गुरु, मेरे मार्गदर्शक थे। 8 अप्रैल, 1950 को कैबिनेट से इस्तीफा देने के बाद उन्होंने एक पार्टी बनाने के अपने इरादे की घोषणा की थी। उन्होंने 19 अप्रैल को लोकसभा में अपना बयान दिया। यह एक अद्‌भुत दस्तावेज था और उसके बाद दिल्ली के नागरिकों ने फिरोजशाह कोटला मैदान पर उनके लिए एक स्वागत-समारोह आयोजित किया। मैं उस समारोह का संयोजक था। लोगों ने भाषण दिए। उन्हें खूब सराहा गया।

जब अंत में वह बोले तो उन्होंने अपना इरादा स्पष्ट किया कि वह एक पार्टी बनाना चाहते हैं। उन्होंने कहा, ''हमें कांग्रेस के राष्ट्रवादी विकल्प की जरूरत है।'' इस घोषणा को हाथोहाथ लिया गया और भाषण खत्म करने के बाद उन्होंने मुझे बुलाया। उनकी हिंदी अच्छी नहीं थी, लिहाजा अंग्रेजी में ही बोलते थे। उन्होंने कहा कि बेहतर होगा कि तुम चुनाव घोषणा-पत्र लिखो। मैंने कहा, ''डॉक्टर साहब, आपने कहा कि आप पार्टी बनाना चाहते हैं तो आपने स्पष्ट रूप से सोच लिया होगा कि पार्टी किस तरह की होगी ? कौन लोग इस पार्टी में आएँगे ? वे कैसे विचार रखेंगे ? घोषणा-पत्र किस तरह का होगा··· ?''

तब उन्होंने मुझे बताया, ''बलराज, तुम अपने बचपन से ही आर्यसमाज से जुड़े रहे हो और आर्यसमाज इस देश में एक बड़ा आंदोलन था। तुम आर्यसमाज के विचारों को जानते हो। तुम कॉलेज के दिनों से रा.स्व. संघ से भी जुड़े रहे हो और रा.स्व. संघ का विचार जानते हो, और तुम मेरा विचार

भी जानते हो।'' इस आखिरी वाक्य पर जोर दिया गया—तुम मेरा विचार भी जानते हो। लिहाजा इससे ज्यादा तुम और क्या जानना चाहते हो? लेकिन वह भावना, उनकी सोच सावरकर की ही सोच थी। उनकी सोच हिंदुत्ववादी सोच थी। वे राष्ट्रवादी थे और ऐसे शख्स थे, जब वे संसद् में गरजते थे तो नेहरू डूब जाया करते थे। लिहाजा तब मैंने घोषणा-पत्र लिखना तय किया और यह छोटी सी कुटिया मुझे आवंटित की गई। तब मैंने यहीं बैठकर घोषणा-पत्र लिखा। मुझे करीब दो माह लगे। लिहाजा उनका मुझमें ऐसा अगाध विश्वास था। यह उनकी भावनाएँ थीं, पार्टी के बारे में उनके विचार, जो उनके दिमाग में थे। जब घोषणा-पत्र तैयार हो गया तो कई लोगों ने सावधानी से उसका निरीक्षण किया। हम इकट्ठा बैठा करते थे। वहाँ मैंने ये शब्द इस्तेमाल किए थे—नई पार्टी हिंदू भारत के लिए होगी, हिंदू राष्ट्र बनाने के लिए। 'हिंदू राष्ट्र' शब्दों का विशेष रूप से उसमें इस्तेमाल किया गया और उन्होंने इसे स्वीकृति दे दी। अन्य लोगों ने भी मंजूरी दे दी। जब रा.स्व. संघ की ओर से कोई जवाब नहीं आया तो उन्होंने तय किया कि एक पार्टी होनी ही चाहिए। लिहाजा वह कलकत्ता वापस चले गए और वहाँ उन्होंने घोषणा की—''इंडियन पीपुल्स पार्टी?'' बेशक अंतिम हिस्सा कालक्रमानुसार बिलकुल सही नहीं है, लेकिन यह समझना चाहिए कि करीब 90 वर्षीय मधोक करीब 60 वर्ष पुरानी घटनाओं का विवरण देने की कोशिश कर रहे थे। दरअसल, डॉ. मुकर्जी ने पहले इसका नाम 'यंग इंडिया पार्टी' रखना तय किया था, लेकिन बाद में बदलकर यह नाम दिया—'इंडियन पीपुल्स पार्टी'।

11 जून, 1950 को डॉ. मुकर्जी ने कलकत्ता यूनियन इंस्टीट्यूट में अखिल बंगाल शरणार्थी सम्मेलन की अध्यक्षता की। उस बैठक में उन्होंने पूर्वी बंगाल में हिंदुओं के उत्पीड़न, सिर्फ मई 1950 के महीने में ही, के उदाहरण पेश किए। उन्होंने जो सूची रखी थी, वह इस प्रकार है—

हत्या	—	32
अपहरण	—	23
बलात्कार	—	5
युवा महिलाओं का लापता होना	—	4
सार्वजनिक अपमान	—	6
डकैती	—	202
लूटपाट	—	35
चोरी	—	15
फिरौती	—	76
जलाना	—	16
छुरा घोंपना	—	56
अतिक्रमण	—	123
परेशान करना	—	19
गलत तरीके से हिरासत	—	2
हिंदू मंदिरों का अपवित्रीकरण	—	16
कुल		630

इस तारीख तक हिंदुओं का सरकारी आँकड़ा, जो पश्चिम बंगाल से आए थे और जिनका सरकारी पुनर्वास माँगा गया था, करीब 35 लाख था; लेकिन डॉ. मुकर्जी का अनुमान था कि कुल संख्या करीब 50 लाख थी। उन्होंने यह भी बताया कि इस दौर में पश्चिम बंगाल में कानून-व्यवस्था की स्थिति पूर्णत: शांतिपूर्ण थी। दरअसल जो बंगाली मुसलिम फरवरी-मार्च 1950 में पूर्वी पाकिस्तान चले गए थे, वे पश्चिम बंगाल लौटने को काफी उत्सुक महसूस कर रहे थे और अपनी जायदाद दोबारा हासिल करना चाहते थे। नतीजतन पश्चिम बंगाल की अर्थव्यवस्था भीषण दबाव में थी। सारांश यह है कि उन्होंने भारत सरकार से आग्रह किया कि वह पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों के लिए ज्यादा सुनिश्चय दिखाए और लोगों से अपील करे कि वे इस संदर्भ में अपनी भूमिका निभाएँ।

7 अगस्त, 1950 को संसद् में दिए अपने भाषण में डॉ. मुकर्जी ने भारत सरकार के विचारार्थ तीन वैकल्पिक प्रस्ताव रखे। उन्होंने कहा कि यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान सरकार उस देश के हिंदुओं को सुरक्षा मुहैया कराने में नाकाम रही है। विभाजन के आधार शून्य पर निश्चित थे। गवर्नर जनरल जिन्ना ने शपथ ग्रहण करते हुए कराची में लंबे-चौड़े वायदे किए थे। लिहाजा भारत को पाकिस्तान के खिलाफ युद्ध का ऐलान करना चाहिए, ताकि हिंदुओं की सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके। वैकल्पिक तौर पर भारत को माँग करनी चाहिए कि पाकिस्तान अपने पूर्वी भाग में से एक-तिहाई भू-भाग छोड़ दे, ताकि हिंदू शरणार्थियों का पुनर्वास संभव हो सके। तीसरा व्रिकल्प यह था कि दो बंगालों के बीच आबादी की शांतिपूर्ण अदला-बदली उसी तरह की जाए जैसे दो पंजाबों के बीच की गई थी। उन्होंने राष्ट्रकुल के दस्तावेज 'यूरोपीय आबादी स्थानांतरण, 1930-45' को उद्धृत किया कि ऐसे आदान-प्रदान को अंतरराष्ट्रीय कानून में मान्यता दी गई है। इन विकल्पों के पक्ष में अपनी दलीलें आगे बढ़ाते हुए और खासकर प्रथम प्रस्ताव पर उन्होंने कहा, "मैं इसका खतरा जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि इसके मायने क्या हैं। इसका मतलब है—युद्ध। यह एक ऐसा तरीका है, जिस पर खुद महात्मा गांधी ने चरम स्थितियों में विचार किया था।"

जैसा कि आज हम सब जानते हैं कि नेहरू ने डॉ. मुकर्जी के इन विकल्पों को पूरी तरह नकार दिया और कुछ नहीं किया। नतीजतन पूर्वी बंगाल (बाद में 'पूर्वी पाकिस्तान' नाम हुआ) के हिंदू बदतर हालात में रहे। भारत से भी कोई मदद नहीं आ रही थी। दरअसल, नेहरू-लियाकत समझौते की कामयाबी प्रधानमंत्री नेहरू के लिए प्रतिष्ठा का विषय बन गई थी। नतीजतन सभी सरकारी अधिकारियों ने नेहरू की सोच को संदेह-मुक्त साबित करने में अपने को उपकृत महसूस किया या ऐसा महसूस करने के उन्हें निर्देश दिए गए थे। क्योंकि यह सब सिर्फ ऐसा ढोंग रचाकर ही किया जा सकता था कि पाकिस्तानी अपने हिंदू अल्पसंख्यकों की अच्छी देखभाल कर रहे हैं, जबकि वे इससे बिलकुल उलट कर रहे थे। वहाँ हर समय दबाव डालनेवाली स्थितियाँ बनी हुई थीं। मुख्यत: दयनीय भेदभाव, सामाजिक बहिष्कार और मनमानी, दमनकारी सरकारी कारवाई की स्थितियाँ थीं। मसलन—हिंदू जमीन-जायदाद का जबरन अधिग्रहण। इन निरंतर दबावों के बीच ही समय-समय पर गंभीर जनसंहार किए जाते थे। ये जनसंहार कुछ घटनाओं का फायदा उठाते हुए किए जाते थे। जैसे 1964 का जनसंहार श्रीनगर (कश्मीर) की हजरतबल दरगाह से पैगंबर मुहम्मद का 'बाल' कथित रूप से गायब होने पर हुआ था और अंतत: वर्ष 1971 में

बँगलादेश मुक्ति संग्राम से पहले वाला बीभत्स जनसंहार। तब तक डॉ. मुकर्जी को गुजरे काफी समय हो गया था और पूर्वी पाकिस्तान यानी बँगलादेश के हिंदुओं को भारतीय आबादी ने सहजता से भुला दिया था, जिनमें पश्चिम बंगाल में रहनेवाले उनके निकट संबंधी भी शामिल थे। लेकिन लोकतांत्रिक बँगलादेश में भी जनसंहार जारी रहा। 1988, 1992 और 2001 में तीन ऐसे जनसंहार किए गए, जिन्होंने बँगलादेश में हिंदुओं का औसत वर्ष 1947 में 29 फीसदी से 2010 में करीब 9 फीसदी तक गिरा दिया।

उसी दौरान नेहरू-लियाकत करार की बिलकुल नाकामी की खबरें आने में ज्यादा वक्त नहीं लगा। फरवरी 1951 में असम मेल, जो असम में अमीन गाँव से कलकत्ता में सियालदह तक (पूर्वी बंगाल के जरिए) चलती है, को बिहारी मुसलमानों के एक समूह ने रास्ते में रोक लिया। वे बिहार से पूर्वी बंगाल गए थे। यह घटना सांताहर जंक्शन के बाहर हुई और गाड़ी में सवार तमाम हिंदुओं की हत्या कर दी गई। एक नौजवान ने आँखों देखा बताया था, जो बचने में कामयाब रहा। वह आँखों देखा खुलासा इस पुस्तक के 'इतिहास का एक दमित अध्याय' में दिया है।

3 सितंबर, 1950 को कलकत्ता में एक बैठक के दौरान डॉ. मुकर्जी ने कहा, ''पाकिस्तान के तुष्टीकरण की मौजूदा नीति को समाप्त करना चाहिए। बेशक हम आर्थिक पाबंदी की तय योजना से शुरू करें या सैन्य काररवाई को तेज करें। यह प्रक्रिया और रणनीति का एक मामला है।''

डॉ. मुकर्जी ने एक लेख लिखा था, जो बंगाली पाक्षिक 'स्वस्तिक' के दुर्गा-पूजा (अक्तूबर) विशेषांक में 1952 में छपा था। उसमें डॉ. मुकर्जी ने पूर्वी बंगाली हिंदुओं की दुर्दशा का ब्योरेवार वर्णन किया था और उनके बारे में पाकिस्तानी सरकार व मीडिया के झूठे प्रचार का भी खुलासा किया था। उन्होंने इसे हिंदुओं के जख्मों पर नमक छिड़कने सरीखा बताया। हजारों हिंदू महिलाओं का अपहरण किया गया। पाकिस्तान ने व्यापक तौर पर यह दुष्प्रचार किया कि इन हिंदू औरतों ने अपनी स्वतंत्र इच्छा से अपने परिवारों को छोड़ा और मुसलिम पुरुषों से शादी की तथा इसलाम धारण किया। डॉ. मुकर्जी ने टिप्पणी की कि विभाजन से पहले इस रुझान की कोई भी जानकारी नहीं थी, लेकिन पाकिस्तान बनने के बाद इस रुझान ने स्पष्ट तौर पर एक 'भयंकर बीमारी' का रूप धारण कर लिया। पूर्वी बंगाल के एक अखबार ने तो यहाँ तक की 'खबर' छाप दी थी कि हिंदू औरतें बाद में मुसलिम पुरुषों से शादी करने में ऐसी तत्परता दिखा रही थीं कि ऐसे पुरुषों को, उनकी अनिच्छा के बावजूद, हिंदू औरतों को पत्नियों के तौर पर कबूल करने को उन्हें बाध्य किया जा रहा था।

पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्टों की उस दौर में भी ठोस और महत्त्वपूर्ण मौजूदगी थी। उन्होंने पूर्वी बंगाल में हिंदुओं के उत्पीड़न को मुसलिमों (विपन्न जमात) की हिंदुओं (संपन्न जमात) के खिलाफ बगावत करार देने की कोशिशें की। बेशक यह उनके वैचारिक सिद्धांत के अनुरूप था कि मनुष्य एक आर्थिक पशु होता है और तमाम लड़ाइयाँ 'वर्ग-संघर्ष' हैं, बेशक वे धर्म के नाम पर लड़ी जाती हैं। डॉ. मुकर्जी ने अपने लेख में इस सिद्धांत को प्रभावी रूप से खारिज कर दिया। इस लेख में उन्होंने पूर्वी बंगाल में फिरोजपुर (करार पर दस्तखत के बाद) के एक शरणार्थी के अनुभव का खुलासा किया था। उसने डॉ. मुकर्जी को बताया कि सिर्फ एक ही पुलिस स्टेशन के अधिकार-क्षेत्र में, एक ही महीने के भीतर, डकैती के 60 मामले आए। यह लूटपाट

सिर्फ पाँच या कुछ ज्यादा लोगों ने की। उनमें से किसी की भी अच्छी स्थिति नहीं है और कुछ किसान व मछुआरे हैं। ये डकैतियाँ मुख्य रूप से हिंदुओं को डराने के विचार से की गई थीं, ताकि वे देश छोड़ दें। उस शरणार्थी ने डॉ. मुकर्जी को यह भी बताया कि हिंदुओं के लिए पूर्वी बंगाल में रहना अब और संभव नहीं है और न ही अपनी महिलाओं की इज्जत को बचाए रखना संभव है। डॉ. मुकर्जी ने उस लेख में यह भी खुलासा किया कि कैसे हिंदू औरतों को डराना, अपमानित करना और बर्बरतापूर्ण बरताव करना मुसलिमों की मुख्य कार्यशैली बन गई थी, ताकि हिंदुओं को वहाँ से बाहर खदेड़ा जा सके। उन्होंने भारत में हिंदुओं के बीच उन क्षमावादियों की मौजूदगी के लिए खेद व्यक्त किया, जिन्होंने संवेदनहीनता और मूर्खता से यह टिप्पणी की थी कि औरतों की तरफ से भी कुछ उत्तेजित किया गया होगा या उसके बिना ऐसी घटनाएँ नहीं हो सकती थीं।

इसका उल्लेख किया जाना चाहिए कि पाकिस्तान के प्रति नेहरू की इस नरमी के खिलाफ लड़ाई में डॉ. मुकर्जी बिलकुल अकेले नहीं थे। उनके सामान्य विचार कि सरकार को पाकिस्तान से कैसे निपटना चाहिए, कांग्रेस के उन 'हिंदू परंपरावादियों' सरीखे थे, जिन्होंने पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष पद के लिए पुरुषोत्तमदास टंडन की उम्मीदवारी का समर्थन करते हुए नेहरू की 'धर्मनिरपेक्ष' नीतियों को नापसंद किया। टंडन उत्तर प्रदेश से कांग्रेस के दिग्गज नेता थे। हालाँकि उनकी प्रेरणा और मार्गदर्शन के स्रोत कोई और नहीं, सरदार पटेल थे, जिनकी सोच साफतौर पर यथार्थवादी थी, जो देख सकते थे कि कैसे पाकिस्तान और उसके कुकर्मों के प्रति नेहरू की नरम मौन स्वीकृति के जरिए देश एक असंभव स्थिति की ओर धकेला जा रहा था। टंडन ने हिंदी के उद्देश्य के लिए कठोर परिश्रम किया और विभाजन का सख्त विरोध किया। एक हिंदू परंपरावादी की स्थिति से वर्ष 1948 में कांग्रेस अध्यक्ष का पिछला चुनाव भी लड़ा। एक बार टंडन के चुनाव लड़ने के इरादे की जानकारी मिलने पर नेहरू ने उन्हें एवं पटेल को अगस्त में पत्र लिखा और दो प्रमुख कारणों से उनकी उम्मीदवारी के बारे में संकोच व्यक्त किया कि उनका चुनाव संप्रदायवाद को निश्चित तौर पर बढ़ावा और ताकत देगा, जो 'बिलकुल गलत और नुकसानदायक' है। दूसरे, चूँकि हिंदू महासभा और रा.स्व. संघ के सदस्य व्यापक तौर पर उनका समर्थन कर रहे है, बहरहाल चुनाव में पुरुषोत्तमदास टंडन ने कड़े मुकाबले में जे.बी. कृपलानी को हराया। कृपलानी एक सिंधी हिंदू थे और एक शरणार्थी थे। नेहरू की स्थिति ही उनकी पहचान थी। हिंदू परंपरावादियों की टंडन की सफलता से पहले तो हिम्मत बँधी, लेकिन दिसंबर 1950 में पटेल के निधन के साथ ही मानो उन्होंने पूरी ऊर्जा खो दी। अंततः कांग्रेस के भीतर 'धर्मनिरपेक्षवादियों' या 'नेहरूवादियों' ने उन्हें पूरी तरह परास्त कर दिया। वास्तव में, पटेल की मौत से लेकर 1962 के चीनी आक्रमण के बाद कृष्ण मेनन को लेकर उनकी घबराहट तक, नेहरू का दर्जा और उनका काम-काज लगभग एक तानाशाह का था; हालाँकि तुलनात्मक रूप से वह सज्जन व्यक्ति थे—कांग्रेस के भीतर। मुख्यतः देश में वह जो भी कहते थे, व्यावहारिक रूप से वह कानून होता था।

लिहाजा डॉ. मुकर्जी ने समय की जरूरत को महसूस किया कि सर्वप्रमुख सार्वजनिक मत तैयार किया जाए और भारत सरकार को कहा जाए कि भारत-पाक समझौते के असल प्रभावों का तटस्थता से आकलन किया जाए और पूर्वी पाकिस्तान से हिंदुओं के एकतरफा पलायन की निरंतरता को रोका जाए। उन्होंने जोर दिया कि पूर्वी पाकिस्तान से यह सामूहिक पलायन न केवल

पश्चिम बंगाल की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर देगा, बल्कि भारतीय राष्ट्र की स्थिरता को गंभीर रूप से खतरा पैदा हो जाएगा। वह अपने तीन विकल्पों में से एक के लिए पहले ही माँग कर चुके थे। अब उन्होंने भारत सरकार से अपील की कि शरणार्थियों की राहत और उनके पुनर्वास की एक व्यापक योजना को लागू किया जाए, जो इतनी समन्वित होनी चाहिए कि पश्चिम बंगाल की समग्र बंगाली आबादी का उद्देश्य पूरा कर सके। इस प्रकार उन्होंने उम्मीद की कि वह एक ऐसा नया बंगाल दोबारा बनाने में कामयाब होंगे, जो स्वस्थ, संपन्न व सबल होगा।

लेकिन डॉ. मुकर्जी जैसा शख्स सिर्फ माँग रखने से ही संतुष्ट नहीं हो सकता था। बेशक जनता के सामने और संसद् में वे माँग की गई हों। पूर्वी बंगाल व हिंदुओं के प्रति नेहरू के पूरी तरह अनादर से वे भीतर-ही-भीतर क्रोध और रोष से जल रहे थे। हालाँकि नेहरू ने अपने भाषण 'नियति से मिलन' में लंबे-चौड़े वादे किए थे। सच है कि डॉ. मुकर्जी एक संविधानवादी थे, लेकिन वह नेहरू द्वारा हुए बहुमत के निर्मम इस्तेमाल को भी स्वीकार नहीं कर सकते थे। पाकिस्तान के साथ संबंधों के संदर्भ में नेहरू ने जो घुटना टेक और रक्षात्मक नीति अपनाई थी, उसके लिए वह बहुमत का इस्तेमाल करते थे, जो डॉ. मुकर्जी को पूर्णत: अस्वीकार था। उसी दौरान उनके दिमाग में एक और समस्या ने आकार ग्रहण करना शुरू कर दिया, जिसमें पाकिस्तान भी शामिल था। वह समस्या थी कश्मीर की। शेख अब्दुल्ला की धोखेबाज और बेईमान सियासत के सामने नेहरू के आत्मसमर्पण ने डॉ. मुकर्जी को एक नीतिपरायण और न्यायसंगत क्षोभ से भर दिया। लेकिन उनकी एक समस्या थी। उनकी हैसियत थी, स्वीकार्यता थी, लोकप्रियता थी और उनके पास कई ज्वलंत मुद्दे भी थे; लेकिन उनकी कोई पार्टी नहीं थी।

हिंदू महासभा में वापसी का कोई सवाल ही नहीं था, जिसने उनके सुझावों का अनुसरण करने से इनकार कर दिया था। इसके अलावा उन्होंने ही हिंदू महासभा को राजनीति से परहेज करने की सलाह दी थी। महासभा ने ऐसा साबित भी कर दिखाया, जैसा कि लॉर्ड बावेल ने उसके बारे में सटीक टिप्पणी की थी—''एक जिज्ञासु संस्था, उसके कई नेता और कार्यकर्ता कांग्रेसी प्रतीत होते थे, और बड़े राजनीतिक मुद्दों पर उन्होंने श्यामाप्रसाद मुकर्जी या सावरकर का अनुसरण करने के बजाय गांधी का किया।''

दरअसल कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टी में जाने का भी सवाल नहीं उठता था। एक पार्टी 'रामराज्य परिषद्' ने राजस्थान और मध्य प्रदेश में कुछ प्रगति की थी, लेकिन वह भी अधिकतर सामंती तत्त्वों से ही अपना भरण-पोषण कर रही थी और डॉ. मुकर्जी की पसंद के हिसाब से वह पार्टी बेहद रूढ़िवादी व अनुदारवादी थी। नई पार्टी एक भिन्न पार्टी होगी, एक नई पार्टी, जिसके साथ कोई अतीत नहीं जुड़ा हो और जिसके साथ वैचारिक स्तर पर वह सहज महसूस कर सकें।

लिहाजा वर्ष 1950 की गरमियों में उसकी खोज शुरू हुई। एक दस्तावेज, जिसका शीर्षक था—'वांटेड ए नेशनल फ्रंट' और 'भारत महासभा' का प्रस्ताव था, जो अल्मोड़ा से 29 जून, 1950 को लिखा हुआ उनके पास पहुँचा, ताकि वे उसका अध्ययन करके अपना मत बना सकें। वह दस्तावेज उनके निजी कागजातों में मिला, लेकिन उसके लेखक का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। दस्तावेज के अनुसार, भारत महासभा ने विभिन्न जातियों, नस्लों उनके मतों और धर्मों का उत्साहपूर्वक स्वागत किया था। शर्त यह थी कि वे भारत के प्रति अपनी निष्ठा का ऐलान करें और गौ, गंगा और गायत्री

के प्रति सम्मान की घोषणा करें, क्योंकि उनसे हम काफी लाभ लेते हैं। भारतीयों में न केवल हिंदूवाद की शाखाएँ—सिख, बौद्ध और जैन आदि—शामिल थीं, बल्कि मुसलिम, ईसाई, पारसी सरीखे दूसरे संप्रदायों को भी सम्मिलित करना तय हुआ था। महासभा ने अनुसूचित जातियों की 35 करोड़ आबादी के लिए विशेष रूप से एक ऊँचा स्थान आरक्षित किया था। हालाँकि वे भारतीयों की विशाल बिरादरी के ही अभिन्न अंग हैं, लेकिन उन्हें कभी भी सम्मानजनक व्यवहार नहीं मिला। निश्चित तौर पर महासभा देश की चीर-फाड़ के खिलाफ थी और उसकी इच्छा थी कि इस स्थापित तथ्य को अस्थिर किया जाए। हालाँकि उसने पैरवी की थी कि इन सब बातों पर यथार्थवादी विचार करना चाहिए।

डॉ. मुकर्जी ऐसे ही प्रस्तावों और देश के विभिन्न हिस्सों से आग्रहपूर्वक सुझाव प्राप्त कर रहे थे। उसी दौरान एक विशेष संगठन, जिसे ऊँचे दर्जे का अनुशासित, शक्तिशाली एवं यथार्थवादी और जो अभी तक राजनीति से बिलकुल अलग था और वास्तव में राजनीति को उसके चुने हुए उद्देश्यों को रोकनेवाली मानता था, ने राजनीति के साथ अपने सदस्यों के जुड़ने के विचार पर सोचना शुरू कर दिया था, लेकिन संगठन को पूरी तरह अलग रखते हुए यह विचार उभरा था। यह संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (रा.स्व. संघ) था। इस संगठन ने डॉ. मुकर्जी की पार्टी की स्थापना में और उनकी राजनीति में ऐसी मुख्य भूमिका अदा की कि सबकुछ व्यवस्थित हो गया।

डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने रा.स्व. संघ की स्थापना की थी। वह नागपुर में एक चिकित्सक थे। उन्होंने कलकत्ता मेडिकल कॉलेज से शिक्षा प्राप्त की थी तथा बंगाल के क्रांतिकारी आंदोलन के संपर्क में आए। स्वामी विवेकानंद और श्रीअरविंद के विचार भी सामने आए। लेकिन उन्होंने आजादी की लड़ाई का घिसा-पिटा रास्ता छोड़ दिया और दलील दी कि भारत को देर-सबेर आजादी मिलनी ही है, लेकिन उसे जानकारी नहीं होगी कि इस आजादी के साथ क्या किया जाए? ऐसा तब तक रहेगा जब तक इसे संचालित करनेवाले चरित्रवान् लोग नहीं होंगे। लिहाजा तब उन्होंने खुद ही एक ऐसा संगठन बनाना तय किया, जो युवाओं को विकसित करेगा और उनके चरित्र का निर्माण करेगा। उन्होंने इसे 'व्यक्ति-निर्माण' नाम दिया। संगठन का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि एक कठोर अभ्यास, जिसमें शारीरिक व बौद्धिक दोनों ही शामिल होंगे, के द्वारा हिंदू युवाओं को चरित्र-निर्माण के लिए प्रेरित किया जाएगा। उसके फलस्वरूप हिंदू समाज को जाग्रत्, संगठित और एकजुट किया जा सके। एकजुट इसलिए, ताकि भाषाई, जातीय और संप्रदाय संबंधी अवरोधों के पार जाकर हिंदू समाज एकाकार हो सके।

आर.एस.एस के संस्थापक डॉ. हेडगेवार का सन् 1940 में निधन हो गया और उनके द्वारा चुने गए उत्तराधिकारी माधव सदाशिवराव गोलवलकर (श्रीगुरुजी) ने सरसंघचालक (रा.स्व. संघ के मुखिया) के रूप में नेतृत्व सँभाला। श्री गोलवलकर ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्राणी विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में अपना कॅरियर शुरू किया था, लेकिन रामकृष्ण मठ और मिशन में शामिल होने के लिए उसे छोड़ दिया। इसकी स्थापना महान् हिंदू संत रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानंद ने की थी। गोलवलकर ने ब्रह्मचारी के रूप में स्वामी अखंडानंद के सान्निध्य में भी काम किया। वह भी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। गोलवलकर ने बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले के सरगाछी में स्थित 'आश्रम ऑफ द मठ' में कुछ समय सेवा की थी। स्वामी अखंडानंद के निधन के बाद रा.स्व. संघ से जुड़ने के लिए उन्होंने मठ छोड़ दिया। संघ में वे डॉ.

हेडगेवार के तुरंत ध्यान में आए। उनकी बौद्धिक योग्यता और संगठन क्षमता के कारण डॉ. हेडगेवार ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी चुन लिया।

भारत में ऐसे राजनीतिक या सामाजिक संगठन कम हैं, जिन पर तीन बार पाबंदी लगी हो, इतना बदनाम किया गया हो, उसे इतना गलत समझा गया हो और अपने आलोचकों तथा संबद्ध मीडिया से कटु आलोचना झेलनी पड़ी हो—वह संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ था। उसे संप्रदायवादी, पूर्णत: फासीवादी, हिंदू नवजागरणवादी, अतिदामपंथी, अतिराष्ट्रवादी, एक गुप्त संगठन, मुसलिम-विरोधी, अल्पसंख्यक-विरोधी, खाकी निक्करों में फूहड़ व्यक्तियों का एक जमघट और ऐसे ही कई अन्य उपनाम दिए गए। और सबसे बदतर तो यह है कि उसे गांधी की हत्या से लगातार जोड़ा जाता रहा है। हालाँकि इसके स्वयंसेवकों की निष्ठा चट्टान की तरह स्थिर देखी जा सकती है और प्रत्येक पाबंदी के बाद न केवल संगठन ने नवजीवन पाया, बल्कि और ज्यादा ताकत भी हासिल की। इसके आलोचकों में अधिकतर वामपंथी, फीके गुलाबी नेहरूवादियों से लेकर गहरे लाल कम्युनिस्टों तक रहे हैं। इसमें बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री (बाद में मुख्यमंत्री राबड़ी देवी के पति), चारा घोटाले के लिए कुख्यात और बिहार को 'पाषाण युग' में वापस धकेलनेवाले लालू प्रसाद यादव सरीखे स्वतंत्र विचारोंवाले नेता भी शामिल हैं।

इसके बारे में निरंतर शत्रुतापूर्ण प्रचार किया गया है। यदि कोई इसके घोषित उद्‌देश्यों को देखे तो कुछ समझ सके। सच है कि उसने गांधी को 'देव मानव' के स्तर तक चढ़ाकर गांधी के प्रति अंध श्रद्धा व्यक्त नहीं की, जैसा कांग्रेसियों ने किया और गांधी को 'राष्ट्रपिता' स्वीकार नहीं किया। खासतौर से इसकी जवाहरलाल नेहरू के बारे में भी 'अपुष्ट राय' थी, जो आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि घृणा आपसी थी। लेकिन पटेल के लिए विचारणीय थी। अलबत्ता रा.स्व. संघ ने एक महान् जननेता के रूप में गांधी को सराहा और एक ऐसा व्यक्तित्व माना, जिसने भारतीय मूल्यों को शिक्षित भारतीय मानस में बिठाने की कोशिश की।

गोलवलकरजी की 1930 के दशक में लिखी पुस्तक 'हम या हमारा राष्ट्रत्व परिभाषित' से ही आलोचकों ने अपनी आलोचना की सामग्री ग्रहण की। उस पुस्तक में कहा जाता है कि उन्होंने हिटलर का गुणगान किया था और मान लिया था कि अकेले हिंदुओं को ही 'भारतीय राष्ट्रत्व' का दावा करने का अधिकार है। लेकिन 1930 के दौर में दुनिया भर में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, कई प्रमुख लोगों ने बयान दिए, जिनसे बाद में वे लोग पलट गए या फिर कभी भी उनका उल्लेख नहीं किया। टैगोर और नेहरू दोनों ने स्टालिन की प्रशंसा की थी। स्टालिन के कुकर्म बेनकाब होने से पहले ही टैगोर का देहांत हो गया। लेकिन नेहरू वर्ष 1965 के बाद तक जीवित थे, जब ख्रुश्चेव ने सोवियत संघ कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में स्टालिन पर अभियोग लगाया। यहाँ तक कि इससे पहले भी नेहरू स्टालिन के कुकर्मों से अनजान नहीं हो सकते। मसलन कताइन के जंगल में पोलैंड के सैन्य अफसरों की सामूहिक हत्या या अपने पूर्ववर्ती साथियों त्रोतस्की और बुखारिन को अन्यों के साथ जल्दी से खत्म कर देना। नेहरू ने उसे कभी भी एक बार नहीं दोहराया, जो उन्होंने पहले कहा था। सुभाषचंद्र बोस ने हिटलर की न केवल प्रशंसा की थी, बल्कि वे उससे मिले भी थे। हालाँकि बाद में हिटलर ने उनके बारे में अत्यधिक अप्रशंसनीय बातें कही। भारतीय कम्युनिस्टों ने सुभाषचंद्र बोस को 'साम्राज्यवाद का दौड़ता कुत्ता'

कहा। भारत की कम्युनिस्टों की सबसे ताकतवर पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी) दुनिया भर की उन कुछ पार्टियों में से एक रह गई है, जो अब भी स्टालिन में श्रद्धा रखती है। ये तमाम दल या उनके उत्तराधिकारी अलग-अलग मात्रा में विचलित होते हैं, जब कभी उन्हें व्यक्त किए गए इन विचारों की याद दिलाई जाती है। इसी तरह, रा.स्व. संघ और गोलवलकर ने भी पुस्तक में व्यक्त की गई स्थिति से अपने को पीछे खींचा और इतने अलग हुए कि वरिष्ठ स्वयंसेवकों को भी पढ़ने के लिए पुस्तक उपलब्ध नहीं है। लेखक स्वयं एक स्वयंसेवक रहे हैं, तो भी पुस्तक की एक प्रति हासिल नहीं कर पाए।

जहाँ तक गांधी की हत्या से इसके जुड़ाव का सवाल है, यह घातक वामपंथी दुष्प्रचार के अलावा कुछ भी नहीं है, कम्युनिस्ट गांधी को उनके जीवनकाल में हमेशा गाली देते रहे। जब 30 जनवरी, 1948 को गांधी की हत्या हुई तो केंद्र सरकार ने प्रतिक्रिया में रा.स्व. संघ और हिंदू महासभा दोनों पर पाबंदी लगा दी। इस पाबंदी का बाहरी कारण था—हत्यारा नाथूराम गोडसे। वह कभी एक स्वयंसेवक था और हत्या के समय पूना के हिंदू महासभा समर्थक एक अखबार का संपादक था। पाबंदी के पहले कुछ महीनों के दौरान करीब 20,000 स्वयंसेवक गिरफ्तार किए गए। हालाँकि किसी भी स्वयंसेवक या रा.स्व. संघ के खिलाफ कोई भी ठोस प्रमाण नहीं मिला, जो उन्हें या संगठन को दूर-दूर तक भी उस हत्याकांड से जोड़ पाता। अगस्त 1948 तक सरकार को उनमें से अधिकतर को रिहा करना पड़ा। श्री गोलवलकर को भी रिहा करना पड़ा। फिर भी सरकार ने रा.स्व. संघ पर से पाबंदी को नहीं उठाया। नतीजतन नेहरू और पटेल के बीच पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। 26 फरवरी, 1948 को लिखे नेहरू के एक पत्र, जिसमें सुझाव दिया गया था कि "गांधी की हत्या एक व्यापक व संगठित अभियान का हिस्सा थी, जो मुख्यत: रा.स्व. संघ ने संचालित किया था", के जवाब में तत्कालीन गृहमंत्री और जाँच के प्रभारी सरदार पटेल ने कहा, "यह स्पष्ट रूप से सामने आया है कि रा.स्व. संघ बिलकुल भी शामिल नहीं था। यह सावरकर के प्रत्यक्ष नेतृत्व में हिंदू महासभा का एक धर्मांध गुट था, जिसने साजिश रची और उसे सरअंजाम दिया।"

नेहरू रा.स्व. संघ के बारे में शुरू से ही भ्रांति रोग से पीड़ित थे, बिलकुल ऐसे जैसे नींद में चलने की अपनी आदतों को लेकर वे मुगालते में थे। लेकिन पटेल यथार्थवादी थे। उन्होंने देखा कि स्वयंसेवकों को जेल में बंद रखना अन्याय है, लिहाजा उन्हें रिहा कराने में वह सफल रहे। एक बड़ी संख्या में कांग्रेसी भी पटेल के साथ थे, जिनमें बंबई के प्रख्यात कांग्रेस नेता एस.के. पाटिल भी शामिल थे। यहाँ तक कि पाटिल ने पटेल और गोलवलकर के बीच एक बैठक भी कराई।

हालाँकि गोलवलकर को नवंबर 1948 में दोबारा गिरफ्तार कर लिया गया तो करीब 60,000 स्वयंसेवक सत्याग्रह पर बैठ गए। सरकार नरम पड़ी और रा.स्व. संघ पर से पाबंदी उठाने को सहमत हो गई, यदि संगठन एक ऐसा लिखित 'रा.स्व. संघ संविधान' धारण कर ले, जो सरकार को भी स्वीकार्य हो। ऐसा किया गया, पटेल ने इसे स्वीकार कर लिया और 11 जुलाई, 1949 को संघ पर से पाबंदी उठा ली गई। गोलवलकर को जेल से रिहा कर दिया गया और घोषणा की गई कि रा.स्व. संघ ने अपने विचारों एवं लक्ष्यों से कोई समझौता नहीं किया है।

दरअसल पटेल स्वयंसेवकों के आदर्शवाद एवं कठोर अनुशासन से बहुत प्रभावित थे और

उन्हें कांग्रेस में लाना चाहते थे। रा.स्व. संघ नेतृत्व, जो अभी तक किसी भी तरह की राजनीति में संलिप्त होने के बहुत विपरीत था, ने उसी दौरान अपनी राजनीतिक भूमिका पर गंभीरता से विचार करना शुरू कर दिया। प्रतिबंध के दौरान रा.स्व. संघ के केंद्रीय कार्यकारी मंडल के एक सदस्य एकनाथ रानाडे और सरदार पटेल ने इसी के मद्देनजर गुप्त बातचीत की थी। चूँकि पाबंदी उठाने से पहले सरकार ने रा.स्व. संघ के लिखित संविधान की शर्त रखी थी, उसी तरह रानाडे के दो सहायकों पी.बी. दाणी और बाला साहेब देवरस ने गोलवलकर की स्वीकृति के साथ एक मसविदा तैयार किया। कुछ और बातचीत के बाद, कुछ खुलेआम और कुछ गुप्त रूप से, संविधान को मौलिचंद शर्मा, रानाडे और दीनदयाल उपाध्याय (तब एक युवा संघ प्रचारक) ने दोबारा लिखा। सरकार ने उसे स्वीकृत कर लिया और रा.स्व. संघ पर से पाबंदी उठा ली गई।

लेकिन कांग्रेस में विलय या एक गठबंधन बनाने की बातें सफल नहीं हो सकीं। खुद कांग्रेस इस मुद्दे पर बेहद बँटी हुई थी और शुरू में कांग्रेस कार्य समिति ने मान लिया कि स्वयंसेवक कांग्रेस के प्राथमिक सदस्य के तौर पर पार्टी में शामिल हो सकते हैं, जबकि वे स्वयंसेवक भी बने रह सकते हैं। इस बैठक के वक्त नेहरू विदेश में थे। एक महीने के बाद 17 नवंबर, 1949 को कांग्रेस कार्य समिति ने अपना फैसला उलट दिया और तय किया कि प्राथमिक सदस्य बनने के लिए स्वयंसेवकों को रा.स्व. संघ के साथ संबंध तोड़ने पड़ेंगे। स्पष्ट है कि कोई भी स्वयंसेवक ऐसी शर्त को स्वीकार नहीं कर सकता था और इस तरह पूरा प्रस्ताव बेकार हो गया।

एंडरसन और दामले ने गौर किया है—''प्रतिबंध के दौरान पटेल और रा.स्व. संघ नेताओं की बातचीत यह खुलासा करती है कि गोलवलकर, बातचीत की शुरुआत में, रा.स्व. संघ और कांग्रेस के बीच किसी भी तरह के संबंध को स्वीकार करने को तैयार थे, जिसमें आर.एस.एस. को चरित्र-निर्माण का दायित्व सौंपा जाए और कांग्रेस राजनीति के साथ रहे, चूँकि कांग्रेस ने न्यूनतम राजनीतिक संलिप्तता के भी सारे दरवाजे बंद कर लिये। अंततः एक फैसला हुआ कि राजनीति में उससे भी कहीं ज्यादा सम्मिलित हुआ जाए, जितना मूलतः गोलवलकर ने अनुमान लगाया था। इस बहस का एक और निष्कर्ष यह था कि आर.एस.एस. के इर्द-गिर्द उसके संबद्ध संगठनों की स्थापना को स्वीकृति देनेवाला फैसला हुआ।'' आज सदस्य और स्वयंसेवक इन संगठनों को 'विविध संगठन' के तौर पर जानते हैं और बाहरी दुनिया उन्हें 'संघ परिवार' के नाम से मान्यता देती है। अब रा.स्व. संघ और गोलवलकर के सामने उस राजनीतिक संबद्ध संस्था के निर्माण का काम था।

रा.स्व. संघ का अधिकतर परंपरावादी नेतृत्व हमेशा यह दावा करता आया है कि रा.स्व. संघ का राजनीति से कोई सरोकार नहीं और वह पूर्णतः सामाजिक कार्य के प्रति समर्पित रहा था। दूसरी ओर, यह एक अकाट्य तथ्य है कि कमोबेश भारत में राजनीति को सामाजिक कार्य से पूरी तरह अलग करना असंभव सा है। यह दलील दी गई कि ऐसे अलगाव के लिए बाध्य करने से रा.स्व. संघ के राष्ट्रवादी उद्देश्य कमजोर होंगे। प्रतिबंध उठाने की बातचीत के दौरान ही गोलवलकर ने सरकार को स्पष्ट किया कि रा.स्व. संघ की राजनीतिक भूमिका के लिए उनका निजी विरोध दरअसल इसके प्रति नापसंदगी ही कारण है। जब बातचीत टूट गई तो गोलवलकर ने एक प्रेस वक्तव्य जारी किया कि राजनीति की ओर रा.स्व. संघ की गतिविधियों की किसी भी तरह की

नई स्थिति के वे सख्त खिलाफ हैं। उन्होंने यह भी सुस्पष्ट किया कि रा.स्व. संघ ऐसी राजनीतिक पार्टी नहीं है, जिसका लक्ष्य देश की राजनीतिक सत्ता हासिल करना हो और अपने अस्तित्व के इन तमाम वर्षों के दौरान रा.स्व. संघ पार्टी प्रतिद्वंद्विता और सत्ता के लिए छीना-झपटी करनेवाली राजनीति से बिलकुल अलग रहा है। हालाँकि गांधी की हत्या के बाद जो पूर्वग्रह और उत्पीड़न रा.स्व. संघ को झेलना पड़ा था, उसके मद्देनजर संगठन के भीतर यह अभिमत तुरंत स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया कि किसी भी तरह राजनीति में शामिल होना चाहिए। यह अनिवार्य है और इससे भागा नहीं जा सकता। हालाँकि रा.स्व. संघ के मूल उद्देश्यों की रक्षा के दृष्टिकोण से राजनीतिवाला विचार अवांछनीय था।

अब रा.स्व. संघ नेतृत्व के सामने कई विकल्प थे। वह (1) खुद को एक राजनीतिक दल में रूपांतरित कर सकता था, (2) एक राजनीतिक शाखा बना सकता था, (3) हिंदू महासभा या किसी अन्य सद्भावी राजनीतिक समूह के साथ बंदोबस्त किया जा सकता था, (4) किसी भी तरह की राजनीतिक गतिविधि से दूर रहा जाए, (5) कांग्रेस के साथ बातचीत जारी रखी जाए। पहले विकल्प को तो पूरी तरह खारिज कर दिया गया। हिंदू महासभा के साथ सहयोग की संभावना पर कभी भी गंभीरता से विचार नहीं किया गया। महासभा ने युद्ध के बाद सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेंबली के चुनावों में बेहद खराब प्रदर्शन किया था। उसपर संदेह के बादल छाए थे। बंगाल और महाराष्ट्र के बाहर महासभा जमींदारों और व्यापारियों द्वारा ही नियंत्रित थी, जो इसे जनाधारवाली राजनीतिक पार्टी के रूप में उभरते हुए देखने के लिए तैयार नहीं थे।

विचाराधीन प्रक्रिया से हिंदू महासभा को अलग किए जाने के बाद रा.स्व. संघ के कुछ सक्रियतावादी, खासतौर पर दिल्ली के प्रांत प्रचारक वसंतराव कृष्ण आलोक और बलराज मधोक, कश्मीर से तत्कालीन युवा प्रचारक डॉ. मुकर्जी से मिले और एक नई राष्ट्रवादी पार्टी के गठन का प्रस्ताव रखा। डॉ. मुकर्जी से शुरुआती संपर्क शायद रा.स्व. संघ के शीर्ष नेतृत्व की अनुमति से नहीं हुआ था। यहाँ तक कि संघ अपने प्रचारकों की राजनेताओं के साथ मैत्रीपूर्ण मुलाकातों को लेकर कुछ आशंकित था। हालाँकि बलराज मधोक के साथ साक्षात्कार में जिस 'रा.स्व. संघ' का उल्लेख किया गया था, उससे स्पष्ट होता है कि रा.स्व. संघ के साथ मिलकर काम करना कभी भी डॉ. मुकर्जी की सोच से बहुत दूर नहीं था। यहाँ तक कि मधोक के अनौपचारिक प्रस्ताव देने के पहले भी डॉ. मुकर्जी के विचार में था कि रा.स्व. संघ के सहयोग से कुछ किया जाए।

ऐसा नहीं है कि डॉ. मुकर्जी रा.स्व. संघ के लिए बिलकुल अजनबी थे। अप्रैल 1940 में वह राजा दीनेंद्र स्ट्रीट, कलकत्ता में एक रा.स्व. संघ शाखा में उपस्थित हुए थे और स्वयंसेवकों के सैनिक जैसे अनुशासन से प्रभावित हुए थे। तीसरे सरसंघचालक बननेवाले बाला साहेब देवरस उस शाखा में मौजूद थे।

डॉ. मुकर्जी जानते थे कि रा.स्व. संघ सर्वाधिक संगठित, प्रशिक्षित, अनुशासित और सक्षम एक गैर-राजनीतिक राष्ट्रीय संगठन है, जिसका बुनियादी सरोकार देश के हिंदुओं से जुड़ा था। संस्कृति, राष्ट्रवाद और विभाजन की समस्याओं के प्रति उसकी सोच को उनकी संपूर्ण स्वीकृति थी। अगले ही महीने वह बंबई में हिंदू महासभा की एक बैठक से कलकत्ता लौट रहे थे, जब उन्हें पता चला कि रा.स्व. संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार गंभीर रूप से बीमार हैं और नागपुर

में बाबा साहेब घटाटे के घर शय्यासीन हैं। उस समय गोलवलकर नागपुर में ही 'अधिकारी शिक्षा वर्ग' के एक शिविर का संचालन कर रहे थे। डॉ. मुकर्जी ने नागपुर में ही ठहरने और उनसे मिलने का कार्यक्रम तय किया। हालाँकि उस समय डॉ. हेडगेवार इतने बीमार थे कि डॉ. मुकर्जी सुहावनी सी बातें करने के अलावा कुछ ज्यादा नहीं कर सके। उसके बाद जल्दी ही डॉ. हेडगेवार का निधन हो गया। हालाँकि डॉ. मुकर्जी ने यह सवाल जरूर किया था कि क्या रा.स्व. संघ हिंदू महासभा की उसके काम में मदद कर सकता है? और डॉ. हेडगेवार ने एक बार फिर यह अभिपुष्टि की थी कि रा.स्व. संघ को राजनीति से दूर ही रहना है।

डॉ. मुकर्जी के महासभा में शामिल होने के पहले भी दोनों संगठनों के बीच संपर्क थे। डॉ. हेडगेवार ने महासभा के विनायक दामोदर सावरकर और डॉ. बालकृष्ण शिवराम मुंजे के साथ करीबी संबंध कायम रखे थे। उसी साल डॉ. मुकर्जी ने पंजाब के लाहौर में स्वयंसेवकों की एक सभा को संबोधित किया था। तब तक पंजाब में रा.स्व. संघ शक्तिशाली संगठन बन गया था और उन्होंने 'भारत के बादली आकाश में चमकती हुई रेखा' के तौर पर संगठन की व्याख्या की थी। लिहाजा यह दैवी आदेश ही था कि वह नेता और संगठन आपस में मिलेंगे और वे मिले भी, डॉ. मुकर्जी के इस्तीफे के कुछ दिनों बाद।

वर्ष 1950 की गरमियों में कलकत्ता में एक स्वयंसेवक के घर पर डॉ. मुकर्जी और श्रीगुरुजी (गोलवलकरजी) की बैठक कराई गई। तत्कालीन युवा प्रचारक स्वर्गीय बंसीलाल सोनी और बाद में भाजपा में भी उन्होंने लंबे समय तक सेवा की, वे उस मुलाकात के दौरान उपस्थित थे। उन्होंने याद करते हुए बताया था कि डॉ. मुकर्जी लड़खड़ाती सी हिंदी बोलने की कोशिश कर रहे थे। बैठक के दौरान उनमें मतभेद थे, लेकिन उन्होंने अपनी उस स्पष्टवादिता से उन सलवटों को मिटाने की कोशिश की, जो भारत के राजनेताओं में दुर्लभ ही दिखाई देती है। डॉ. मुकर्जी ने एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में पहले ही कह दिया था कि हिंदू महासभा वस्तुतः सांप्रदायिक थी, क्योंकि उसका 'हिंदू राष्ट्र' में विश्वास था। श्रीगुरुजी (गोलवलकरजी) ने उन्हें बताया कि रा.स्व. संघ भी भारत को 'हिंदू राष्ट्र' के रूप में देखना चाहता है, हालाँकि हिंदू महासभा की तरह उतनी कठोरता से नहीं। अतः क्या उन्होंने रा.स्व. संघ को भी दूर रखना पसंद किया? यदि उन्होंने ऐसा किया तो वह स्वयंसेवकों का सहयोग पाने में सफल नहीं होंगे। सभी स्वयंसेवकों का 'हिंदू राष्ट्र' में विश्वास है। हालाँकि डॉ. मुकर्जी ने स्वीकार किया कि उन्होंने एक असावधान टिप्पणी कर दी थी और हिंदू राष्ट्र के आदर्श पर अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त की। बदले में श्रीगुरुजी भी उनकी सहायता करने को सहमत हो गए और शीघ्र ही कुछ सर्वश्रेष्ठ स्वयंसेवक उन्हें देने का वायदा किया। यह भी संकल्प किया गया कि उनकी पार्टी की स्थापना के लिए रा.स्व. संघ के निष्ठावान् और कार्यदक्ष कार्यकर्ता भी दिए जाएँगे। श्रीगुरुजी ने बाद में 'पाञ्चजन्य' हिंदी साप्ताहिक में छपे अपने एक लेख में कहा था कि हिंदू राष्ट्र की पुनर्स्थापना पर डॉ. मुकर्जी की उनके साथ सहमति किसी भी तरह एक आधुनिक लोकतंत्र की स्थापना के संदर्भ में बेमेल या विसंगत नहीं थी। एक हिंदू राष्ट्र अनिवार्य रूप से अपने तमाम नागरिकों को, गैर-हिंदू समेत, सभी धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मामलों में 'आजादी के अधिकार' की गारंटी देता है। एक अतिरिक्त धारा यह थी कि इस आजादी के दुरुपयोग, राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों में लिप्त होने की अनुमति नहीं दी जाएगी।

गोलवलकरजी ने आगे लेख में लिखा था कि डॉ. मुकर्जी को वे स्वयंसेवक देने के बाद उन्होंने स्वयं को राजनीतिक क्षेत्र से पीछे खींच लिया और रा.स्व. संघ के राष्ट्रकार्य में खुद को समर्पित कर दिया। हालाँकि डॉ. मुकर्जी और उनके बीच बेहद सौहार्दपूर्ण संबंध बन गए थे और डॉ. मुकर्जी की मृत्यु तक वह उनके निरंतर संपर्क में रहे। डॉ. मुकर्जी हमेशा ही पार्टी के सभी कार्यक्रमों की जानकारी उन्हें देते रहते थे और पार्टी की प्रगति से भी अवगत कराते थे। वे और डॉ. मुकर्जी यथाशीघ्र आपस में विचार-विमर्श करते थे कि उनके अपने-अपने संगठनों द्वारा क्या किया जाना है और यह सुनिश्चित करते थे कि वे आपस में किसी क्षेत्र का अतिक्रमण न करें। उन्होंने यह भी लिखा था कि एक जोखिम भरे काम में डॉ. मुकर्जी ने उनकी सलाह नहीं ली और जिसे लेकर उन्हें गंभीर संकोच था, वह था कश्मीर का घातक दौरा, जो डॉ. मुकर्जी की त्रासद मौत के साथ समाप्त हुआ।

गोलवलकरजी ने डॉ. मुकर्जी को जो स्वयंसेवक दिए थे, उनमें प्रमुख थे—अटल बिहारी वाजपेयी, जो बाद में भारत के प्रधानमंत्री बने; पं. दीनदयाल उपाध्याय, जिन्होंने डॉ. मुकर्जी की असामयिक मृत्यु के बाद पार्टी का पालन-पोषण किया और उसे परिपक्वता तक लाए; सुंदर सिंह भंडारी, एक संगठनात्मक प्रतिभा; जगदीश प्रसाद माथुर, जिन्होंने नई पार्टी के जनसंपर्क की जिम्मेदारी सँभाली; भाऊराव देवरस, जिन्होंने उत्तरी भारत में पार्टी को खड़ा किया; जगन्नाथ राव जोशी, वैद्य गुरुदत्त और कई अन्य नाम भी थे।

लेकिन अभी पार्टी की औपचारिक स्थापना होनी थी। नेता और संगठन दोनों ही अपेक्षाकृत सावधानी से आगे बढ़ रहे थे—कदम-दर-कदम। हरेक के पुख्ता विश्वास, राजनीतिक मजबूरियाँ एवं कुछ अतीत का सामान था। उन्हें पूर्वानुमान की जरूरत थी और उन सलवटों (छोटी-मोटी समस्या) को समतल करना था, जो उनके साथ-साथ आने के दौरान अपरिहार्य रूप से उभरी थीं। दोनों पक्षों को उनके बीच एक समझ विकसित करनी पड़ी। जब एक राजनीतिक पार्टी जल्दबाजी में साथ-साथ आती है, तो अकसर वह साथ लंबा नहीं चल पाता। बहुत बाद में यह सबक सीखा, जब वर्ष 1977 में जयप्रकाश नारायण द्वारा बनाई गई जनता पार्टी दो साल से कम वक्त में ही खंड-खंड होना शुरू हो गई। बहरहाल, कलकत्ता में डॉ. मुकर्जी और गोलवलकर के बीच व्यापक सहमति के बाद रा.स्व. संघ ने उन्हें 3 दिसंबर, 1950 को नई दिल्ली में आयोजित उसके वार्षिक समारोह की अध्यक्षता करने को आमंत्रित किया। उस समारोह में उन्होंने रा.स्व. संघ के ताजा प्रदर्शन की खूब प्रशंसा की। एक संगठन, जो भारत भर में हिंदुओं के तमाम वर्गों के बीच एकता और भाईचारे की भावना तथा भारतीय संस्कृति के विकास को समर्पित है। वेदना, व्यथा और बलिदान ने उसकी ताकत व ऊर्जा को ही बढ़ाया है। उनका आकलन था कि तब यह और भी दृढ़ एकजुट हुआ, जितना पहले कभी नहीं हुआ था। राष्ट्रहित में डॉ. मुकर्जी ने माँग की कि भाषाओं, रुचियों और रीति-रिवाजों की विविधता में जो एकता निहित है, उसकी भावना को और तेज करो; क्योंकि हिंदुओं ने आपसी फूट व ईर्ष्या के कारण ही अपनी राजनीतिक आजादी खोई। उन्होंने आगे माँग की कि अतीत की हिंदू संस्कृति और सभ्यता का पुनरुत्थान करो और उसे मजबूत बनाओ। उसकी आलोचना को प्रतिक्रियावादी और निम्न स्तर की मानकर खारिज कर दो, क्योंकि वह आलोचना अज्ञानता या हीन भावना में से पैदा हुई है।

यह सार्वभौमिक अपील थी और भगवद्गीता, रामायण एवं महाभारत का उदात्त व महान् संदेश, सत्य, सेवा और बलिदान की भावना पर आधारित हिंदू पुनरुत्थान की बुनियाद बननी चाहिए। यह स्वतंत्र भारत के विकास में सर्वोच्च महत्त्व का कार्य था। डॉ. मुकर्जी ने निस्स्वार्थ स्वयंसेवकों से अपील की कि वे एक सशक्त और स्वस्थ सार्वजनिक मत बनाने के लिए अभियान चलाएँ, ताकि भारत के सामने खड़ी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को हल किया जा सके। डॉ. मुकर्जी ने कालाबाजारी, मुनाफाखोरी, खाद्यान्न की ऊँची कीमतों और कपड़े व मकान के अभाव आदि को ऐसी समस्याएँ करार दिया। उन्होंने भारत के विभाजन का संदर्भ दिया, जो लाखों लोगों के लिए अपमान, घोर दु:ख व दरिद्रता लाया और गंभीर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक नतीजे भुगतने पड़े। ऐतिहासिक कारणों से उस एक पार्टी ने ही इस विभाजन को स्वीकार किया था, जो आज भारत में शासन कर रही है और वह भी स्पष्ट रूप से प्रकट फासीवादी प्रवृत्तियों के साथ, जिनमें लोकतंत्र के लिए कोई जगह नहीं। उन्होंने उन सभी दलों को पूरी आजादी देने की भी माँग की, जिनका संप्रदाय हिंसा का न हो और जो उनके दृष्टिकोण का भी प्रचार करें। उन्होंने जोर देकर कहा कि करीब 1,000 वर्षों के बाद हिंदुओं को अपने ही देश पर शासन करने का अवसर मिला है। उन्हें इतिहास में खुद को साबित करना है कि वे इस स्थिति के योग्य थे।

डॉ. मुकर्जी ने अपनी प्रस्तावित पार्टी के लिए पहले सोचा कि वह उसे 'यंग इंडिया पार्टी' कहेंगे, फिर बदलकर उसका नाम 'ऑल इंडिया पीपुल्स पार्टी' सोचा। रा.स्व. संघ ने सुझाव दिया कि नाम हिंदी में होना चाहिए और उसका ध्वज 'केसरिया' होना चाहिए। कुछेक ने 'भारतीय लोक संघ' नाम का सुझाव दिया। लेकिन बलराज मधोक के मुताबिक डॉ. मुकर्जी ने टिप्पणी की—''लोक के मायने 'भीड़' होता है। लिहाजा नाम 'जन संघ' होने दीजिए—लोगों की पार्टी।'' इस तरह नाम 'भारतीय जन संघ' रखा गया।

उन्होंने पार्टी की कल्पना न केवल अपने नेतृत्व के स्वयंसेवकों की पार्टी के रूप में की थी, बल्कि उन तमाम राजनीतिक दलों और संगठनों के परिसंघ के तौर पर भी की थी। वे दल और संगठन उससे जुड़ सकते थे और इस तरह देश में लोकतांत्रिक कार्य-प्रणाली के हितों में कांग्रेस पार्टी का प्रतिपक्ष बनाया जा सकता था। उनके चिंतन-मनन में जो दल थे, उनमें उनकी पुरानी पार्टी हिंदू महासभा और निश्चित रूप से रा.स्व. संघ, सोशलिस्ट पार्टी, रामराज्य परिषद्, फॉरवर्ड ब्लॉक, आर.एस.पी. (दोनों ही पश्चिम बंगाल से); किसान सभा, शोषित पार्टी (पूर्वी उत्तर प्रदेश की) और गणतंत्र परिषद् (उड़ीसा के पूर्व शाही राज्य से) आदि पार्टियाँ थीं। वर्ष 1947 से कांग्रेस की ही सरकार थी; क्योंकि पूर्व ब्रिटिश प्रशासन और कांग्रेस के बीच यही संक्रमणकालीन बंदोबस्त तय हुआ था। अब संविधान अपनाया जा चुका था, चुनाव कराने पड़ेंगे और कांग्रेस यथाशीघ्र चुनाव कराने को चिंतित थी, ताकि अन्य दलों को संगठित होने का समय न मिल सके और वे उसे चुनौती न दे सकें। डॉ. मुकर्जी इस खेल में कांग्रेस को परास्त करने पर आमादा थे। लिहाजा उन्होंने कलकत्ता में एक सम्मेलन आयोजित किया और प्रतिपक्ष के सभी दलों को आमंत्रित किया (कम्युनिस्टों को छोड़कर), ताकि वे विपक्षी दल एक परिसंघ में शामिल हो सकें। सम्मेलन में इन दलों और संगठनों के नेताओं के अलावा कुछ प्रख्यात हस्तियाँ भी बुलाई गईं— पी.आर. दास, के.सी. नियोगी, डॉ. जॉन मथाई, हनुमान प्रसाद पोद्दार, डॉ. चैतराम गिडवानी,

सर सी.पी. रामास्वामी अय्यर, डॉ. एम.आर. जयकर तथा कई अन्य राजनेता, अंग्रेजी एवं भाषाई अखबारों के संपादक और प्रमुख वकील।

इस दौरान 'पीपुल्स पार्टी' के कार्यकर्ताओं ने आकलन किया और उन राजनीतिक दलों व समूहों की ताकत पर एक नोट तैयार किया, जो कांग्रेस के विपक्ष में काम कर रहे थे। नोट में तर्क दिया गया था कि इन दलों में से हिंदू महासभा ने भारत-विभाजन के बाद सांप्रदायिक लाइन पर एक अच्छे-खासे जनाधार को आकर्षित किया। स्वाभाविक था कि हिंदू जनता उसकी ओर मुड़ी, जब हिंदुओं के हित खतरे में थे—धर्मनिरपेक्ष कांग्रेस सरकार या पाकिस्तान सरकार की संकीर्ण सांप्रदायिक नीति के जरिए। लिहाजा महासभा की एक सामूहिक अपील थी। लेकिन उसका पार्टी संगठन कमजोर था और बौद्धिक जमात ने सामान्यत: उससे किनारा कर लिया था। यदि उसने आगामी चुनावों में बिना मदद के काम किया तो वह केंद्रीय और प्रादेशिक विधान सभाओं में, कुल वोटों के आठवें हिस्से से ज्यादा, वोट हासिल करने की अपेक्षा नहीं कर सकती। लिहाजा वह अपने बूते ही कांग्रेस को सत्ता से बाहर करने की उम्मीद नहीं कर सकती और अपने ही हित में उसे दूसरे दलों के साथ जुड़ना पड़ेगा। सोशलिस्ट पार्टी की आर्थिक स्थिति कमजोर थी और जो कार्यकर्ता समाजवाद को समझते थे, उनकी संख्या भी सीमित थी।

जबकि वह इधर-उधर कुछ सीटें हासिल कर सकती थी, लेकिन कांग्रेस के विरोध में सरकार बनाने की अपेक्षा वह भी नहीं कर सकती थी। रा.स्व. संघ उत्कृष्ट योग्यता वाले कार्यकर्ताओं का और अपने प्रेस प्रबंधन से युक्त एक सशक्त स्वयंसेवी संगठन था। जैसा कि संघ आनेवाले चुनाव लड़ने को अनिच्छुक था, तो उसके नेता गोलवलकर को मनाना पड़ेगा कि उनका संगठन उस नई पार्टी को अपना समर्थन दे, जो आगामी चुनावों में कांग्रेस का विरोध करने के लिए गठित हो रही थी। आधुनिक बौद्धिक वर्गों के समर्थन के बिना रामराज्य परिषद् ने रूढ़िवादी भावनाओं से अपील की थी, वह भी अधिक प्रगति करने की अपेक्षा नहीं कर सकती थी। लिहाजा ऑल इंडिया पीपुल्स पार्टी में ही शामिल होने में पार्टी का हित था, जबकि फॉरवर्ड ब्लॉक बंगाल में एक महत्त्वपूर्ण संगठन था। नेताजी सुभाषचंद्र बोस की अनुपस्थिति में बंगाल के बजाय अन्य प्रदेशों में, पार्टी जनता से अपील करने में नाकाम रही थी। यदि उसने भी बिना मदद के काम किया तो बंगाल में वह कुछ सीटें हासिल कर सकती थी, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर कोई प्रभाव पैदा नहीं कर पाएगी। लिहाजा एक ही व्यावहारिक विकल्प था कि अपनी ताकत को नई ऑल इंडिया पीपुल्स पार्टी के साथ जोड़ दे, यदि वह वास्तव में कांग्रेस को सत्ता से बाहर करना चाहती है। आर.एस.पी. को भी बंगाल से बाहर शायद ही कोई जानता था। किसान सभा भी तब तक एक निष्क्रिय समूह बन चुकी थी, जबकि शोषित पार्टी पूर्वी उत्तर प्रदेश में ताकतवर थी और यूनियन बोर्ड के हाल के चुनावों में उसने लगभग सभी सीटों पर कांग्रेस को बाहर कर दिया था। पर उसकी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा नहीं थी और उसके कार्यकर्ता, जो बमुश्किल ही अंग्रेजी जानते थे (उन दिनों एक महत्त्वपूर्ण जरूरत थी), राष्ट्रीय राजनीति में अपनी भूमिका अदा करने की अपेक्षा नहीं कर सकते थे। उससे भी पीपुल्स पार्टी में शामिल होने की अपील की गई।

जिन लोगों के साथ डॉ. मुकर्जी ने नई पार्टी बनाने के विचार पर चर्चा की थी, उनमें पंजाब नेशनल बैंक के अध्यक्ष लाला योधराज, बलराज मधोक और पं. मौलिचंद्र शर्मा भी थे। ये तीनों

दिल्ली व पंजाब की राजनीति में प्रभावशाली थे। दिल्ली रा.स्व. संघ प्रमुख लाला हंसराज गुप्ता, प्रबंध निदेशक, भारत प्रकाशन (दिल्ली) लिमिटेड; महाशय कृष्ण, दिग्गज पत्रकार एवं आर्यसमाज के नेता; चौधरी श्रीचंद, चौधरी छोटूराम के भतीजे एवं राजनीतिक उत्तराधिकारी—छोटूराम हरियाणा के जाट नेता और पूर्व यूनियनिस्ट पार्टी के नेता थे; लाला बलराज भल्ला, एक पुराने क्रांतिकारी एवं शिक्षाविद् आदि प्रमुख जनों से भी नई पार्टी के गठन के लिए चर्चा की गई थी। उनमें से कुछ इस पक्ष में थे कि शुरुआत में नई पार्टी को पंजाब, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली तक ही सीमित रखा जाए। डॉ. मुकर्जी उन विशेष जरूरतों व समस्याओं को महसूस कर रहे थे, जो शरणार्थियों के आने और पाकिस्तान की ओर सरकार की कमजोर नीति के कारण पंजाब, पेप्सू, दिल्ली और जम्मू व कश्मीर झेल रहे थे। फिर भी डॉ. मुकर्जी एक अखिल भारतीय पार्टी यथाशीघ्र बनाने के पक्ष में थे। उन्हें पूरा यकीन था कि वह अपने प्रदेश पश्चिम बंगाल में तुरंत ही एक पार्टी बना सकते थे; लेकिन ऐसे क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय राजनीति और नीतियों पर ज्यादा प्रभाव डालने में नाकाम रहेंगे।

लिहाजा उनके सुझाव पर यह तय किया गया कि एक अखिल भारतीय पार्टी के लिए तैयारियाँ तुरंत शुरू कर दी जानी चाहिए। बुनियादी सिद्धांत, विचारधारा और कार्यक्रम पर चर्चा हो चुकी थी और घोषणा-पत्र का प्रारूप एवं पार्टी संविधान तैयार करने के लिए एक उपसमिति नियुक्त कर दी गई। इन लोगों की बैठक में ही पार्टी का अस्थायी नामकरण 'भारतीय जन संघ' किया गया। डॉ. मुकर्जी ने महसूस किया कि नई पार्टी को 'हिंदू राष्ट्र' का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। यह एक श्रेष्ठ और उदार अवधारणा थी, जिसमें किसी भी तरह का संप्रदायवाद नहीं था। और वह भारतीय संस्कृति, भौगोलिक व ऐतिहासिक एकता की प्रतिनिधि बने। लेकिन डॉ. मुकर्जी चाहते थे कि हिंदू के बजाय 'भारतीय' और 'इंडियन' दोनों ही विशेषणों का इस्तेमाल किया जाए, जो पाश्चात्य प्रभाववाले लोगों को भी ज्यादा स्वीकार्य होंगे। यह तब तक किया जाए, जब तक लोग सामान्यतः 'हिंदू' को स्वीकार न कर लें। यह भी तय किया गया कि यथासंभव कई राज्यों में 'जन संघ' का गठन किया जाए, ताकि वहाँ यह आकार ग्रहण कर सके और विकास करना शुरू कर दे।

इसी दौरान एक त्रासदी घटित हो गई। भारत के उप-प्रधानमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने 15 दिसंबर, 1950 को अंतिम साँस ली, जो भारतीय राजनीति में एक यथार्थवादी नेता और नेहरू के 'धर्मनिरपेक्ष' आदर्शवाद के प्रमुख प्रतिरोधक थे। इससे पार्टी के भीतर नेहरू का राजनीतिक प्रभाव बहुत बढ़ गया और उनके तमाम विरोधी कांग्रेसी निराश हुए। उन्होंने सोचा कि अब बेहतर राजनीति यह होगी कि नेहरू के अनुसार ही चला जाए। सरदार पटेल की मृत्यु के साथ ही डॉ. मुकर्जी ने एक ईमानदार शुभचिंतक खो दिया, जिस पर वह भरोसा कर सकते थे, बावजूद इसके कि दोनों ही धुर विरोधी, अलग-अलग दलों के थे। अब डॉ. मुकर्जी पार्टी बनाने में और ज्यादा देरी नहीं कर सकते थे और जल्दी ही उसके साथ आगे बढ़ना चाहते थे। डॉ. मुकर्जी की शुरुआती कार्य योजना यह थी कि पहले क्षेत्रीय स्तर पर संगठित किया जाए और उसके बाद सभी क्षेत्रीय संगठनों को एक राष्ट्रीय सम्मेलन में एकजुट किया जाए। लेकिन रा.स्व. संघ नेतृत्व, जिसका ज्यादा जोर संगठनात्मक कार्यों पर था, चाहता था कि पार्टी को अस्तित्व में लाने के लिए अभी और वक्त लिया जाए। यदि जन संघ का पहले गठन हो गया होता तो कई दल, जिन पर डॉ.

मुकर्जी ने चिंतन-मनन किया था, संभवत: एकजुट हो गए होते। हालाँकि धकेलने और घसीटने की प्रक्रिया के साथ ही भारत जैसे विराट् देश के विभिन्न कोनों में घटनाओं ने अपनी गति के साथ होना शुरू कर दिया।

उसी दौरान डॉ. मुकर्जी पर चारों ओर से दबाव बढ़ रहा था कि नई पार्टी की शुरुआत में अब और देरी न की जाए। उड़ीसा के गणतंत्र प्रसाद उनपर बेहद दबाव डाल रहे थे। (अंततः वे पार्टी में शामिल नहीं हुए।) मद्रास प्रेसिडेंसी और पश्चिम बंगाल में ऐसे ही कई तत्त्व थे। कलकत्ता में कई प्रमुख राजनीतिज्ञ आशुतोष मेमोरियल हॉल में इकट्ठा हुए, जहाँ उन्होंने खुद ही एक क्षेत्रीय परिषद् का गठन किया और डॉ. मुकर्जी को एक प्रादेशिक कार्यसमिति बनाने को अधिकृत किया तथा उसके पदाधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार भी उन्हें सौंप दिया। डॉ. मुकर्जी ने माखनलाल सेन और चारु भट्टाचार्य को अस्थायी सचिव चुना।

अजीब तरह से पश्चिम बंगाल इकाई नियंत्रित हो गई। उसके युवा कार्यकर्ताओं में डॉ. मुकर्जी का एक हमनाम युवा वकील था, जिसका नाम भी श्यामाप्रसाद मुकर्जी था। (वे अब भी जीवित हैं और डॉ. मुकर्जी की तरह ही अपने नाम की वर्तनी लिखते हैं।) यहाँ 'एडवोकेट मुकर्जी' के तौर पर उनका संदर्भ लेंगे। वह याद करते हैं कि नई पार्टी की पश्चिम बंगाल इकाई की पहली बैठक वर्ष 1951 में कभी मिदनापुर जिले (अब पश्चिमी मिदनापुर) के गारबेटा में हुई थी। रामप्रसाद दास संगठन सचिव थे और एक मराठी प्रचारक प्रभाकर पौद पुरकर को छात्र संगठन का प्रभारी बनाया गया एवं मुरलीधर नाइक श्रम संगठन के प्रभारी थे। एक मुसलिम कॉलेज अध्यापक अब्दुल अली प्रदेश इकाई के उपाध्यक्ष थे।

श्यामाप्रसाद की शख्सियत ने कई प्रमुख हस्तियों को नई पार्टी की ओर आकर्षित किया। उनमें प्रख्यात बँगला अभिनेता शिशिर कुमार भादुड़ी थे। एडवोकेट मुकर्जी यह भी स्मरण करते हैं कि डॉ. मुकर्जी युवा और नौसिखुआ कार्यकर्ताओं को पार्टी में लेने की ओर अत्यधिक विचार कर रहे थे और व्यक्तिगत रूप से पूछताछ किया करते थे। जब भी उन्हें मौका मिलता था तो पूछते थे कि वे कैसे हैं!

पश्चिम बंगाल इकाई का पहला कार्यालय 3 बैंशशाल स्ट्रीट, कलकत्ता के बिजनेस जिले के बिलकुल मध्य में स्थित था। बाद में यह 6 मुरलीधर सेन, ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ हाइजिन ऐंड पब्लिक हेल्थ से आगे की इमारत में चला गया, जहाँ पहले अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् का कार्यालय था। वर्तमान में भाजपा की प्रदेश इकाई का कार्यालय यहाँ स्थित है।

गोरखपुर, उत्तर प्रदेश के हनुमान प्रसाद पोद्दार ने डॉ. मुकर्जी को लिखा कि स्वतंत्र उद्देश्य और आदर्शों, विभिन्न अभियान और शायद कुछ भावनात्मक मतभेदों के बावजूद जन संघ, रामराज्य परिषद्, रा.स्व. संघ और हिंदू महासभा को वर्तमान के लिए अपने मतभेद भुला देने चाहिए और आनेवाले चुनावों में कांग्रेस के खिलाफ एक संयुक्त मोरचा बनाना चाहिए, ताकि करीब 30 से 40 फीसदी सीटें हासिल की जा सकें। उन्होंने इन चार हिंदू दलों के नेताओं से भी अनुरोध किया था कि दिल्ली या कलकत्ता जैसे बड़े शहर में वे मिलें और चुनाव लड़ने के लिए एक समझौता करें। उन नेताओं में स्वामी करपात्रीजी, एम.एस. गोलवलकर (गुरुजी) और डॉ. एन.बी. खरे के नाम प्रमुख थे।

उसी दौरान पंजाब और दिल्ली के नेताओं ने तय किया कि पंजाब और पेप्सू में जन संघ का गठन तुरंत किया जाए और राष्ट्रीय जन संघ बनाने के बाद हिमाचल व दिल्ली में शाखाएँ स्थापित की जाएँ। उसी के अनुसार पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और दिल्ली में करीब 300 प्रतिनिधि नागरिकों का एक सम्मेलन 27 मई, 1951 को जालंधर में बुलाया गया, ताकि इन चार समीपस्थ राज्यों में जन संघ का गठन किया जा सके, जो व्यावहारिक तौर पर एक ही इकाई थी। प्रतिक्रिया बेहद उत्साहजनक थी। जिन्हें आमंत्रित किया गया था, वे लगभग सभी आए। सम्मेलन में पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और दिल्ली के लिए भारतीय जन संघ के गठन का संकल्प लिया गया, जिसे जन संघ संगठन के उद्देश्य के लिए एक इकाई माना गया। सम्मेलन के तुरंत बाद ही क्षेत्र में राजनीतिक काम शुरू हो गया। पं. मौलिचंद्र शर्मा ने पंजाब और पेप्सू का तूफानी दौरा किया। वे करीब 30 शहर-कस्बों में गए और 50 से अधिक भाषण दिए। यह सिर्फ एक महीने में ही किया गया। हर जगह लोगों ने जोश-खरोश के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। सदस्यता अभियान सफलतापूर्वक आगे बढ़ता रहा और जुलाई 1951 के अंत तक करीब 1 लाख सदस्य बन चुके थे। पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और दिल्ली के प्रत्येक जिले में तब तक जन संघ मौजूद था।

मध्य भारत राष्ट्रीय सभा ने भी सकारात्मक जवाब दिया और उनकी तरफ से एडवोकेट आनंद बिहारी मिश्रा, विधायक एवं नेता प्रतिपक्ष ने डॉ. मुकर्जी की पार्टी में अपनी दिलचस्पी व्यक्त की और उन्हें आश्वस्त किया कि मध्य भारत राज्य उनके कार्यक्रमों के लिए बेजोड़ क्षेत्र साबित हो सकता है। जयपुर आधारित राजस्थान क्षत्रिय महासभा, जिसके कुँवर जसवंत सिंह, बीकानेर शाही राज्य के पूर्व प्रधानमंत्री, सांसद् और डॉ. मुकर्जी के साथी थे, ने भी डॉ. मुकर्जी द्वारा एक राष्ट्रीय दल के गठन पर खुशी जताई और नई पार्टी के बारे में पूरे ब्योरा जानने की इच्छा जाहिर की। जवाब में डॉ. मुकर्जी ने सलाह दी कि राजस्थान में श्री सिंह का संगठन जोरदार ढंग से काम करे और समय-समय पर वह उनकी गतिविधियों की सूचना उन्हें देते रहें तथा दिल्ली में पं. मौलिचंद्र शर्मा के संपर्क में रहें।

डेमोक्रेटिक स्वराज पार्टी की बंबई में सन् 1933 में स्थापना हुई थी। वह राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक दर्शन पर आधारित थी और नीति तथा कार्यक्रम की पैरोकारी बाल गंगाधर तिलक, सी.आर. दास, विट्ठलभाई पटेल, लाला लाजपत राय और एन.सी. केवकर सरीखे नेताओं ने की थी। अब वे सभी गैर-कांग्रेसी समूहों के सहयोग से आगामी चुनाव लड़ने को तैयार थे। वे समूह सिद्धांत रूप में उसके साथ सहमत भी हो गए थे। उसके नेता जमुनादास मेहता ने 23-24 जून, 1951 को महाराष्ट्र में एक अनौपचारिक सम्मेलन बुलाया और बंबई प्रदेश के अलावा सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र व कर्नाटक तथा केंद्रीय प्रदेशों और बिहार से करीब 150 नेताओं को आमंत्रित किया। बंबई में आयोजित उस अनौपचारिक सम्मेलन की अध्यक्षता डॉ. मुकर्जी ने की। अगस्त में लखनऊ और इंदौर में सम्मेलन आयोजित किए गए, ताकि उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में जन संघ का गठन किया जा सके। लखनऊ सम्मेलन ने पं. दीनदयाल उपाध्याय, तब रा.स्व. संघ के प्रचारक, को उत्तर प्रदेश जन संघ का पहला महासचिव चुना और राव कृष्णपाल सिंह उसके अध्यक्ष बने।

हालाँकि इस समय जो कांग्रेस पूरी तरह नेहरू के अँगूठे के नीचे थी, उसने इस नई पार्टी के उभार को लेकर आशंकित होना शुरू कर दिया और इस प्रक्रिया को रोकने तथा विफल करने की कोशिश करना तय किया। मई 1951 के जालंधर सम्मेलन की स्वागत समिति ने सभी बंदोबस्त एंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल के प्रांगण में किया था। स्कूल जालंधर की नगरपालिका की हद में था। लेकिन सम्मेलन के सिर्फ 24 घंटे पहले ही जिला मजिस्ट्रेट ने नगरपालिका के भीतर सभी बैठकों पर पाबंदी लगा दी। माना गया कि ऐसा वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं के निर्देश पर किया गया। लिहाजा रातोरात आयोजन स्थल बदलना पड़ा और यह एक कोल्ड स्टोरेज प्लांट के अहाते में स्थानांतरित किया गया, जो नगरपालिका की हद से बाहर था। वहाँ भी मीडिया के साथ मिल-जुलकर ऐसा अभियान चलाया गया, ताकि नई पार्टी के पदाधिकारियों में भ्रम पैदा हो सके। कुछ अंग्रेजी अखबारों ने मौलिचंद्र शर्मा और बलराज मधोक की यह रपट छापी कि उन्होंने घोषणा की है कि भारतीय जन संघ पंजाब कांग्रेस के साथ काम करेगा और उसका बंगाल जन संघ से कोई लेना-देना नहीं। डॉ. मुकर्जी इसपर हैरान हुए और पं. मौलिचंद्र शर्मा से पूछा कि क्या उन्होंने अखिल भारतीय संगठन का विचार छोड़ दिया है?

10 जुलाई को डॉ. मुकर्जी को जवाब देते हुए शर्मा ने कहा कि वह प्रेस रिपोर्ट गलत है और उसका खंडन किया गया है। लेकिन उस खंडन को 'स्पष्ट कारणों' के तहत उतना प्रचार नहीं मिला। शर्मा ने जोर देकर लिखा कि अब उन्हें बिना देरी किए एक अखिल भारतीय पार्टी के तौर पर विकसित हो जाना चाहिए। और यही मुद्दा था, जिस पर वे और डॉ. मुकर्जी हमेशा जोर देते आ रहे थे।

डॉ. मुकर्जी अब भी आश्वस्त नहीं थे कि क्या वह एक अखिल भारतीय पार्टी का दावा कर सकते हैं? अंतत: बलराज मधोक के अनुरोध और अधिकृत किए जाने पर उन्होंने निर्वाचन आयोग को एक पत्र लिखा कि वे विभिन्न प्रदेशों में संगठन बना रहे हैं और इसकी उम्मीद है कि जल्दी ही वे एक अखिल भारतीय संगठनों में विलय कर लेंगे। उन्होंने चुनाव आयोग को लिखे पत्र की एक प्रति बलराज मधोक को भेज दी। उन्होंने तब राहत की साँस ली होगी, जब भारत के निर्वाचन आयोग ने 7 सितंबर, 1951 को घोषणा की कि आगामी आम चुनाव के लिए एक राष्ट्रीय दल के तौर पर अखिल भारतीय जन संघ को 'दीपक' चुनाव चिह्न आवंटित कर दिया गया है।

इसके तुरंत बाद 9 सितंबर, 1951 को दिल्ली में एक बैठक हुई और डॉ. मुकर्जी के अलावा पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और दिल्ली के क्षेत्रीय जन संघ के अध्यक्ष, सचिव और कुछ अन्य प्रमुख कार्यकर्ता भी बैठक में शामिल हुए। उत्तर प्रदेश और मध्य भारत की नवगठित इकाइयाँ भी उपस्थित हुईं। बैठक में यह फैसला हुआ कि पार्टी को अखिल भारतीय प्रारूप दिया जाए, जिससे क्षेत्रीय जन संघ संबद्ध हो सकते हैं। राष्ट्रीय पार्टी की स्थापना के उद्देश्य के लिए एक अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित करने का काम जन संघ की पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और दिल्ली इकाइयों को सौंपा गया। उसके ठीक बाद तय किया गया कि सम्मेलन नई दिल्ली में अक्तूबर में होगा, अत: पार्टी के महासचिव बलराज मधोक को पार्टी का संयोजक नियुक्त कर दिया गया। इसके बाद के सप्ताहों में जयपुर, नागपुर और पटना में क्षेत्रीय सम्मेलन भी हुए, ताकि क्रमश: राजस्थान, मध्य भारत और बिहार में

क्षेत्रीय जन संघ का गठन किया जा सके। इस तरह पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी भारत में जन संघ की स्थापना हुई। इस प्रकार भारतीय जन संघ उत्तरी भारत के तमाम प्रदेशों में असम और विंध्य प्रदेश को छोड़कर पार्टी के अखिल भारतीय आकार लेने से पहले ही अस्तित्व में आ गया।

इसी दौरान प्रस्तावित पार्टी के अग्रिम पंक्ति के नेताओं—लाला हंसराज गुप्ता, पं. मौलिचंद्र शर्मा और बलराज मधोक ने डॉ. मुकर्जी की सहमति हासिल कर ली कि अखिल भारतीय सम्मेलन में उन्हें पार्टी के प्रथम अध्यक्ष के तौर पर चुना जाए। बेशक डॉ. मुकर्जी की हैसियत, कद और ताकत की देश भर में कोई भी तुलना नहीं थी। उस दिन से ही उन्होंने नए संगठन के निर्माण में अपने दिलोदिमाग को झोंक दिया, जिसकी उन्होंने कल्पना की थी कि वह देश में राष्ट्रवादी ताकतों की अगुवाई करेगा। दिन-प्रतिदिन डॉ. मुकर्जी ने पं. शर्मा और मधोक के साथ घंटों बैठकर जन संघ के घोषणा-पत्र के मसौदे को आखिरी रूप दिया, जिसे अखिल भारतीय सम्मेलन में रखा जाना था। देश भर से नई पार्टी के प्रमुख शुभचिंतकों ने घोषणा-पत्र बनाने में अपना-अपना योगदान दिया। कलकत्ता के दिग्गज और अनुभवी पत्रकार हेमेंद्र प्रसाद घोष ने मसौदे में अपने सुझाव दिए। पूना यूनिवर्सिटी के कुलपति एम.आर. जयरकर ने मसौदे को अत्यंत उत्कृष्ट बताते हुए डॉ. मुकर्जी को सलाह दी कि हिंदू महासभा के कार्यक्रम के साथ उनकी नई पार्टी के कार्यक्रम की समरूपता को थोड़ा अलग करें और अपने संगठन में अल्पसंख्यक समुदायों की स्थिति का और भी प्रचुरता से खुलासा करें, ताकि यह भाव पैदा न हो कि उनकी पार्टी हिंदू महासभा का ही एक नया स्वरूप है।

इस जीवनीकार को दिए एक साक्षात्कार में बलराज मधोक ने पार्टी अध्यक्ष के चयन के एक दिलचस्प पहलू का वर्णन किया था। मध्य प्रदेश से एक कांग्रेसी नेता द्वारका प्रसाद मिश्र (वह बाद में मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री बने) ने एक सुझाव भेजा कि वह पार्टी अध्यक्ष बनने को तैयार हैं और वह सब करेंगे, जो पार्टी के लिए वह कर सकते हैं, यदि उन्हें अध्यक्ष बनाया जाता है। जब यह खबर मधोक तक पहुँची तो उन्होंने डॉ. मुकर्जी से बात की, उन्होंने कहा, ''ठीक है। पार्टी को एक सिफारिश करनी चाहिए, यदि वे आने और काम करने को तैयार हैं। मैं उनके साथ काम करूँगा।'' तब मधोक ने कहा, ''डॉक्टर साहब, आप उनके साथ काम करने को तैयार हो सकते हैं, लेकिन हम तो आपके सिवा किसी के साथ भी काम करने को तैयार नहीं हो सकते हैं।'' जब मिश्र को जानकारी मिली कि उनके नाम पर विचार नहीं किया जा रहा है, तो वह दूर हट गए।

अंततः अखिल भारतीय सम्मेलन 31 अक्तूबर, 1951 को नई दिल्ली के रघुमल आर्य कन्या हायर सेकंडरी स्कूल में संपन्न हुआ। करीब 1,000 विशेष आमंत्रित दिल्ली के नागरिकों में से थे और करीब 500 प्रतिनिधियों ने भारत के विभिन्न हिस्सों से सम्मेलन में सहभागिता की। अखिल भारतीय जन संघ का सर्वसम्मति से औपचारिक गठन हुआ। इसी तरह पार्टी के संविधान और घोषणा-पत्र को भी सर्वसम्मत मतों से स्वीकार किया गया। अंततः अध्यक्ष पद के लिए डॉ. मुकर्जी का नाम पंजाब के लाला बलराज भल्ला ने प्रस्तावित किया और भारत के विभिन्न हिस्सों से आए अनेक प्रख्यात प्रतिनिधियों ने उसका अनुमोदन किया। इस तरह सर्वसम्मत मतों से डॉ. मुकर्जी को अध्यक्ष चुना गया।

उस ऐतिहासिक जन समूह के सामने डॉ. मुकर्जी ने अपने अध्यक्षीय संबोधन में कहा था, "हमारी पार्टी को सभी वर्गों के लोगों तक उम्मीद और सद्भावना का संदेश पहुँचाने का काम करते रहना है। (आगामी आम चुनाव के बाद भी) और एक प्रसन्न व संपन्न तथा स्वतंत्र भारत के पुनर्निर्माण में उनके सर्वश्रेष्ठ प्रयासों को हासिल करने की कोशिश करनी है"। कांग्रेस के शासन में तानाशाही के प्रदर्शन के मुख्य कारणों में एक यह है कि सुसंगठित विपक्ष अनुपस्थित रहा है, जबकि अकेला प्रतिपक्ष ही बहुमत वाली पार्टी के क्रिया-कलापों पर निगाह रख सकता है। भारतीय जन संघ आज एक अखिल भारतीय राजनीतिक दल के रूप में उभरा है, जो प्रमुख विपक्षी दल के रूप में काम करेगा। हमने भारत के सभी नागरिकों के लिए अपनी पार्टी को खुला रखा है, बेशक वे किसी भी जाति, पंथ, संप्रदाय अथवा समुदाय के हों, जबकि हमारी मान्यता है कि रीति-रिवाज, रुचि, आदतें, धर्म एवं भाषा के मामलों में भारत एक अद्‌भुत विविधता प्रस्तुत करता है और लोगों को मैत्री व समझदारी के बंधन के जरिए एकजुट होना चाहिए, जो एक साझा मातृभूमि के प्रति गहरे समर्पण और निष्ठा से प्रेरित हों। जाति और धर्म के आधार पर राजनीतिक अल्पसंख्यकों के विकास को बढ़ावा देना खतरनाक होगा। भारत की आबादी के व्यापक बहुमत को ही यह आश्वस्त करना है कि सभी वर्गों के लोग, जो अपनी मातृभूमि के सच्चे निष्ठावान् हैं, कानून के तहत पूरी सुरक्षा और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक मामलों में समानता के अधिकारी होंगे। हमारी पार्टी यह आश्वासन निस्संकोच देती है। हमारी पार्टी का विश्वास है कि भारत का भविष्य भारतीय संस्कृति व मर्यादा का सम्मान करने और उन्हें क्रियान्वित करने में ही निहित है।"

उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत अपेक्षाकृत बुरी स्थितियों में फँसा है। जनता में निराशा और कष्ट आजादी पूर्व के दिनों की तुलना में ज्यादा गहरे हैं। इसका मुख्य कारण कांग्रेस शासन की तानाशाही है, जो उसे जन्मजात मिली है और इस निरंकुशता का कारण विपक्षी दलों की गैर-मौजूदगी रहा है। लिहाजा भारतीय जन संघ एक अखिल भारतीय राजनीतिक पार्टी के तौर पर उभरने के बाद प्रमुख विपक्षी दल की तरह काम करेगा। बेशक उन्हें सरकारी कदमों, प्रस्तावों, फैसलों की आलोचना करनी पड़े; लेकिन उनका उद्‌देश्य सभी समस्याओं के प्रति रचनात्मक भाव रखना होगा, ताकि वे जनता को सतर्क रख सकें और देश के मजबूत प्रशासन के लिए एक वास्तविक लोकतांत्रिक ढाँचा विकसित करने में विनम्र योगदान भी दे सकें।

उन्होंने भारत के तमाम सच्चे बेटे व बेटियों—हिंदू, सिख, ईसाई, मुसलिम और बौद्ध—को सुस्पष्ट किया कि उन्हें अपनी श्रेष्ठ, उदार और चिरस्थायी विरासत पर गर्व करना चाहिए। हालाँकि आधुनिक और वैज्ञानिक युग की जरूरतों के संदर्भ में उस विरासत में कुछ जरूरी बदलाव किए जाने चाहिए। उन्होंने फिर दोहराया कि यह उनकी पार्टी का विश्वास है कि भारतीय संस्कृति और मर्यादा में ही भारत का भविष्य निहित है, जो देश के सभी लोगों को मैत्री और बंधुत्व के बंधन में इकट्ठा जोड़ सकती है। लोगों की खराब होती आर्थिक स्थिति की बेहद विकट समस्या के बारे में उन्होंने स्पष्ट किया कि उनकी पार्टी 'सर्वोदय' योजना की तर्ज पर एक विकेंद्रीकृत राष्ट्रीय आर्थिक योजना की पक्षधर है। पार्टी छोटे समूहों और उद्योग-संगठनों के हाथों में आर्थिक शक्ति के विचार के खिलाफ है। वह निजी जमीन-जायदाद की पावनता का निरीक्षण

करेगी और निजी उद्यमों को निष्पक्ष व खरा क्षेत्र मुहैया कराएगी। यह राष्ट्रीय कल्याण के संदर्भ में किया जाएगा। वह सरकारी स्वामित्व और सरकारी नियंत्रण का इस्तेमाल तभी करेगी, जब जनहित में ऐसा करना आवश्यक महसूस किया जाएगा। पार्टी प्रगतिशील विनियंत्रण और सामाजिक-आर्थिक शोषण पर निगरानी रखने के पक्ष में है। पार्टी निष्पक्ष और समान वितरण की भी माँग करेगी और ऐसा माहौल बनाना चाहेगी, जहाँ उत्पादन बढ़ाने के लिए सभी साझा तौर पर काम कर सकें।

अपने संबोधन में डॉ. मुकर्जी ने पाकिस्तान के बारे में अत्यंत निश्चित विचार व्यक्त किए और कहा, ''हम पहले से ही जानते हैं कि भारत का विभाजन एक त्रासदपूर्ण मूर्खता थी। इससे कोई मकसद पूरी नहीं हो पाया और किसी समस्या के समाधान में मदद नहीं मिली, बेशक वह समस्या आर्थिक, राजनीतिक या सांप्रदायिक हो। हम भारत के पुनर्निर्माण के लक्ष्य में विश्वास रखते हैं। जब तक पाकिस्तान जारी रहता है, तब तक हम सख्त आदान-प्रदान की नीति का अनुरोध करेंगे। हमारी पार्टी विभाजन के बाद के पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों की समस्याओं के संतोषजनक समाधान की जरूरत पर अत्यधिक जोर देती है और खाली कराई गई जायदाद के मामले भी सुलझाए जाएँगे, जिनसे कांग्रेस सरकार हमेशा जी चुराती आई है। हमारा इन समस्याओं के प्रति प्रस्ताव या निवेदन बिलकुल भी सांप्रदायिक नहीं है। वे मुख्यत: राजनीतिक व आर्थिक हैं और दो सरकारों के बीच एक निष्पक्ष तथा सीधे-सरल तरीके से उनका निपटारा करना पड़ेगा।''

कश्मीर का संदर्भ देते हुए जो मुद्दा राजनीतिक क्षितिज पर एक गंभीर समस्या की तरह पहले से ही व्यापक स्तर पर मँडराना शुरू हो चुका था, उन्होंने ऐलान किया, ''हमारी पार्टी महसूस करती है कि संयुक्त राष्ट्र से कश्मीर का मामला वापस लिया जाना चाहिए और आगे से जनमत-संग्रह का कोई सवाल न उठाया जाए। कश्मीर भारत का अभिन्न हिस्सा है और किसी अन्य प्रदेश की तरह उसे भी माना जाना चाहिए।''

वह नेहरू के बहुत बड़े आलोचक थे, जिन्होंने डॉ. मुकर्जी और उनके सहयोगियों के खिलाफ 'सांप्रदायिक' शब्द का इस्तेमाल करना पहले ही शुरू कर दिया था। उन्होंने कहा, ''मुसलिम संप्रदायवाद की वेदी पर भारतीय राष्ट्रवाद का बार-बार बलिदान देते हुए और विभाजन के बाद भी पाकिस्तान सरकार की सनक और चीख-चिल्लाहट के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए नेहरू को दूसरों पर सांप्रदायिकता का आरोप नहीं लगाना चाहिए। आज भारत में कोई सांप्रदायिकता नहीं है, सिर्फ मुसलिम तुष्टीकरण की नई नीति को छोड़कर, जिसकी शुरुआत पं. नेहरू और उनके मित्रों ने आनेवाले चुनाव में उनके वोट हासिल करने के मकसद से की थी। आज देश में क्षेत्रवाद और वर्ग या जातीय मतभेद तो हैं। आओ, हम साझा तौर पर इन बुराइयों को दूर करने की कोशिश करें, ताकि एक सच्चे लोकतांत्रिक भारत की बुनियाद रख सकें।''

उन्होंने अपने उल्लेखनीय संबोधन का अंत इन शब्दों के साथ किया, ''हमने अपने काम में पूर्ण विश्वास, उम्मीद और साहस के साथ प्रवेश किया है। हमारे कार्यकर्ताओं को निरंतर यह याद रहे कि सिर्फ सेवा और बलिदान के जरिए ही वे जन-समूह का विश्वास जीतने योग्य होंगे। भारत को नया जीवन देने और पुनर्निर्माण का महान् कार्य हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। बच्चे के वर्ग, जाति या धर्म पर विचार किए बिना ही माँ ने सेवा करने के लिए बच्चों को अपने पास

बुलाया है। हालाँकि वर्तमान अंधकारमय हो सकता है, लेकिन भारत की नियति महान् है, जिसे आनेवाले वर्षों में पूरा करना है। आनेवाले चुनाव में हमारी पार्टी का चिह्न साधारण सा मिट्टी का दीपक आशा, एकता, विश्वास और साहस का प्रकाश फैलाए, ताकि देश के चारों ओर घेरा डाले अंधकार छितराकर दूर भाग जाए। यात्रा अभी शुरू ही हुई है। ईश्वर हमें ताकत और सहनशीलता दे, ताकि हम हमेशा सही रास्ते पर रहें, किसी भय के सामने कमजोर न पड़ें या किसी पक्षपात के लिए न ललचाएँ और भारत को महान् व सशक्त बनाने में मदद करें, ताकि यह देश धन-दौलत और संपन्नता की सुरक्षा में एक उपयुक्त और श्रेष्ठ माध्यम बन सके।''

उसी शाम को उन्होंने गांधी मैदान में एक विशाल बैठक को संबोधित किया, जिसमें उन्होंने स्मरण किया कि सुभाषचंद्र बोस ने उसी दिन, यानी 21 अक्तूबर को इंडियन नेशनल आर्मी (आजाद हिंद फौज) की शुरुआत की थी। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि भारतीय जन संघ देश की सेवा में आई.एन.ए. की लड़ाई की परंपरा को जारी रखेगा।

उन्होंने नेहरू की धमकी का भी संदर्भ दिया, जिन्होंने कहा था, ''मैं तुम्हारे जन संघ को कुचल दूँगा।'' जवाब में डॉ. मुकर्जी ने कहा, ''मेरा कहना है कि मैं आपकी कुचलनेवाली मानसिकता को कुचलकर रख दूँगा।''

भारत के लोगों को एक नेता की जरूरत थी और वह उन्हें डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के रूप में मिल गया था। नेता को एक पार्टी की जरूरत थी और अब वह भारतीय जन संघ के रूप में प्राप्त कर ली गई थी।

□

13

पार्टी अध्यक्ष और संसद् सदस्य

(1951-1953)

नई पार्टी के अध्यक्ष के सामने पहली चुनौती अपनी टीम के गठन की थी। इस उद्देश्य से उन्होंने एक स्थायी कार्यकारी कमेटी को चुना, जो इस प्रकार थी—

अध्यक्ष : डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी

महासचिव : भाई महावीर और मौलिचंद्र शर्मा (दोनों दिल्ली के)।

सदस्य : लाला बलराज भल्ला (अध्यक्ष, पंजाब इकाई), पं. दीनदयाल उपाध्याय (महासचिव, उत्तर प्रदेश इकाई), दादा दवे (मध्य भारत), बापूसाहेब सोहानी (अध्यक्ष, बेरार इकाई), बिमल चंद्र बनर्जी (जबलपुर, अध्यक्ष, महाकौशल इकाई), घीसू लाल (अजमेर), चिरंजीव लाल मिश्रा (अध्यक्ष, राजस्थान इकाई), राजकिशोर शुक्ला (विंध्य प्रदेश), शिव कुमार द्विवेदी (अध्यक्ष, बिहार इकाई), पी.एच. कृष्णराव (बंगलौर, उपाध्यक्ष, मैसूर इकाई), बलराज मधोक (महासचिव, पंजाब पूर्व इकाई), महाशय कृष्ण (दिल्ली), रंग बिहारी लाल (अध्यक्ष, दिल्ली इकाई), राव कृष्ण पाल सिंह (अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश इकाई) और मन्मथनाथ दास (पश्चिम बंगाल)।

यह सूची पार्टी के शुरुआती दौर के नेतृत्व से जुड़ी कई दिलचस्प विशेषताओं की ओर इशारा करती है। इस चरण में भी उत्तर भारतीयों की ओर झुकाव स्पष्ट दिख रहा था। ज्यादातर सदस्यों का संबंध एक-दूसरे से मजबूती से जुड़े उस बृहत् क्षेत्र से था, जिनकी सीमाएँ हिंदीभाषी लोगों की आबादी से तय होती थीं, जो पूर्व की ओर बिहार होते हुए पश्चिम बंगाल तक बढ़ रही थीं। देश के बाकी हिस्से का प्रतिनिधित्व सिर्फ दो इकाइयों के जिम्मे था—पहला बरार, जो मध्य प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में था और दूसरा मैसूर। पार्टी का एक भी सदस्य पार्ट ए के राज्यों बंबई, मद्रास, असम और उड़ीसा या पार्ट बी के राज्यों हैदराबाद, सौराष्ट्र और त्रावणकोर-कोचिन से नहीं था। यही नहीं, इस टीम में रा.स्व. संघ के कई सदस्य भी थे (महावीर, मधोक, उपाध्याय और सोहानी)। मधोक के मुताबिक, दो महासचिवों में से एक पर महावीर का नामांकन डॉ. मुकर्जी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेताओं के बीच मौन सहमति का नतीजा था।

जन संघ के कार्यक्रमों की जहाँ तक बात थी तो इसकी मुख्य विचारधारा का अंदाजा पिछले कुछ महीनों में भारत के अलग-अलग हिस्सों में प्रादेशिक स्तर पर इसके कामकाज के तरीकों

से ही लग गया था। अखिल भारतीय जन संघ के प्रस्तावित घोषणा-पत्र को विस्तृत रूप में तैयार किया गया और फिर राष्ट्रीय सम्मेलन में आए प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श के बाद उसे पारित कर दिया गया। घोषणा-पत्र ने इस बात के महत्त्वपूर्ण संकेत दिए कि पार्टी दूसरे समूहों की तुलना में अपने आप को कहाँ रखना चाहती है। जहाँ तक आर्थिक व सामाजिक मुद्दों की बात थी, पार्टी उदारवादी रुख अपनाए करना चाहती थी, न कि रूढ़िवादी। इसका नजरिया सुधार की उन संभावनाओं को तलाशना था, जिनसे उत्पादकों की आजादी बढ़ सके और आर्थिक पहलुओं को नियंत्रित करने में राज्य की भूमिका को एक सीमा में रखा जा सके। इसने आर्थिक और प्रशासनिक विकेंद्रीकरण का समर्थन इस तर्क के साथ किया कि इनसे उद्योगवाद की कई बुराइयों को समाप्त किया जा सकेगा। इस बात को स्वीकार किया कि भोजन, कपड़ा और मकान का इंतजाम करना देश के सामने सबसे बड़ी आर्थिक चुनौती है और इस चुनौती के आगे विफल होने का नतीजा क्रांति के रूप में सामने आ सकता है। भोजन, कपास और जूट की पैदावार को बढ़ाने के महत्त्व को स्वीकार करते हुए ज्यादा-से-ज्यादा जमीन को खेती योग्य बनाने पर जोर दिया गया। इसके लिए घोषणा-पत्र में कई उपाय भी सुझाए गए। इनमें बेहतर भंडारण की व्यवस्था और बेहतर बीज, जमीनों के बँटवारे को कम करना, सिंचाई की सुविधा में सुधार और खेती में मशीनी उपकरणों के इस्तेमाल को बढ़ावा देने जैसे उपाय शामिल थे। घोषणा-पत्र में इस बात का भी ऐलान किया गया कि पार्टी पैदावार बढ़ाने के लिए जमीन के पट्टे में जमींदारी प्रथा को समाप्त कर देगी। इसमें यह प्रस्ताव भी था कि पुराने जमीन मालिकों को मुआवजा देकर जमीन खेती करनेवालों को सौंप दी जाएगी। गाँवों में कुटीर-उद्योगों को बढ़ावा देकर जीवन को बेहतर बनाने का भी वादा किया गया, ताकि कृषि पर निर्भर आबादी को आय का एक वैकल्पिक साधन मिल सके। गो-हत्या पर रोक लगाई जाए। पार्टी ने गायों की प्रजाति में सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाने की भी योजना बनाई, ताकि इसे कृषि-आधारित जीवन में आमदनी का साधन बनाया जा सके। उद्योग के क्षेत्र में घोषणा-पत्र ने ऐलान किया कि ऐसे उद्योग, जो खासतौर पर रक्षा की अनिवार्य जरूरतों को पूरा करने में जुटे हैं, उनका स्वामित्व सरकार के पास होना चाहिए, जबकि अन्य बड़े निजी औद्योगिक उपक्रमों पर ग्राहकों और उत्पादकों के एक बराबर हितों को देखते हुए सामान्य सरकारी नियंत्रण को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इस प्रकार यथार्थवाद ने समाजवाद की जगह ले ली। ठीक उसी दौरान यह वादा किया गया कि मुनाफाखोरी पर लगाम लगाने और आर्थिक शक्तियों के गिने-चुने बड़े लोगों के हाथों में जाने से एकाधिकार जैसी स्थिति को रोकने के लिए कारगर कदम उठाए जाएँगे। यह भी कहा गया कि पार्टी देश को उपभोक्ता सामानों के मामले में आत्मनिर्भर बनाने का भरपूर प्रयास करेगी और इसके लिए बड़े पैमाने पर लघु व कुटीर उद्योगों को जापानी मॉडल पर विकसित किया जाएगा। इसे हासिल करने के लिए कई उपाय सुझाए गए। इनमें जल विद्युत् ऊर्जा का तेजी से विकास, ग्रामीण इलाकों में पॉलिटेक्निक की स्थापना और कुटीर उद्योगों के लिए बाजार की सुविधा के इंतजाम जैसी बातें शामिल थीं।

आर्थिक समस्याओं के प्रति डॉ. मुकर्जी का नजरिया नितांत व्यावहारिक था, दक्षिण या वामपंथी विचारधारा के बंधनों से एकदम उन्मुक्त और यह औद्योगिक संबंधों के अध्याय से भी स्पष्ट है। उत्पादन में बढ़ोतरी के हित में पार्टी ने वादा किया कि श्रमिकों को उद्योग के मुनाफे में हिस्सेदारी

दी जाएगी। लेकिन परिवर्तन के दौर में तमाम हड़ताल और तालाबंदी, खासतौर पर राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों में, अवैध घोषित कर दी जाएँगी। तीव्र गति से औद्योगिकीकरण के लिए पूँजी निर्माण की वकालत की गई और राजनीतिक बंदिशों को तोड़कर विदेशी निवेश के स्वागत की हिमायत की गई। पार्टी ने आत्मनिर्भरता और स्वदेशी के हित में उपभोक्ता सामानों के आयात के विरोध का फैसला किया, साथ ही एक राज्य से दूसरे राज्य के बीच व्यापार की बाधाओं को दूर करने और कर लगाने की ऐसी नीति का समर्थन किया, जो आय की विषमता को कम कर सके।

कार्यक्रम के कुछ हिस्से, जिनमें ऐसे मुद्दे थे, जो हिंदू राष्ट्रवादियों को परेशान कर रहे थे, उनमें थोड़ी नरमी लाई गई, ताकि मसौदे को ज्यादा-से-ज्यादा स्वीकार्य बनाया जा सके। जहाँ समाज के पिछड़े वर्गों के लिए खास मदद का वादा किया गया, वहाँ घोषणा-पत्र में बताया कि पार्टी सभी भारतीय नागरिकों के समान अधिकारों में विश्वास करती है, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म या समुदाय के हों; साथ ही यह अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों को उनके धर्म के आधार पर कभी मान्यता नहीं देगा। हिंदी को राष्ट्रभाषा के तौर पर मान्यता दिलाने के साथ ही इसने अन्य भारतीय भाषाओं का संपूर्ण उत्साहवर्धन करने का फैसला किया, ताकि बंगाल और मद्रास से झगड़ा न हो। इसने 'हिंदू कोड बिल' (उस वक्त बहस का गरम मुद्दा था) पर अपेक्षाकृत नरम रवैया अपनाया और यह प्रस्ताव रखा कि दूरगामी परिवर्तन लानेवाले कदमों पर जब तक जनादेश नहीं मिलता, तब तक उन्हें लागू नहीं किया जाना चाहिए। पार्टी ने अविभाजित भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का समर्थन किया और मिश्रित संस्कृति के किसी भी तर्क को, और इसके आधार पर सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद तथा प्राचीन संस्कृति से उदाहरण लेते हुए किसी धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना का विरोध किया। इसने शपथ ली कि शैक्षिक तंत्र का भारतीय संस्कृति के आधार पर पुनर्गठन किया जाएगा और उसमें सर्वोच्च वैज्ञानिक व अनुसंधानात्मक शिक्षण की व्यवस्था राष्ट्रीय भाषाओं में की जाएगी, जिससे उच्चतम स्तर तक की शिक्षा अमीर और गरीबों को समान रूप से उपलब्ध हो।

पार्टी की सबसे बड़ी प्राथमिकताओं में भारत की सैन्य क्षमता को युवा पुरुषों और महिलाओं को सैन्य प्रशिक्षण देकर जल्द-से-जल्द सुदृढ़ बनाना था। इसके लिए सुरक्षा बलों के राष्ट्रीयकरण, एक विशाल प्रादेशिक सेना का गठन और रक्षा क्षेत्र से जुड़े उद्योगों का तेजी से विकास करने जैसे प्रस्ताव शामिल थे। पार्टी की विदेश नीति का निर्धारण मुख्य रूप से प्रबुद्ध राष्ट्रीय हितों के आधार पर होगा। सही अर्थों में भारतीय परंपराओं और हिंदुत्व के प्रति समर्पित, पार्टी वैश्विक शांति और आपसी समझ-बूझ बढ़ाने की दिशा में काम करेगी। साथ ही साम्राज्यवादी और विस्तारवादी ताकतों का विरोध करेगी और देश में मौजूद विदेशी ताकतों के गढ़ को समाप्त करेगी। विशेष तौर पर पाकिस्तान के संदर्भ में यह कहा गया कि उस देश के साथ निपटने के लिए सख्त नीति अपनाई जाए (आज की जुबान में जो युद्धकारी कही जाएगी) और इस बात पर जोर दिया गया कि पार्टी तमाम उचित तरीकों से हिंदुस्तान की एकता के लिए काम करेगी; लेकिन जब तक पाकिस्तान का अस्तित्व एक अलग देश के रूप में रहेगा, जन संघ आपसी संबंधों में कठोर नीति का समर्थन करेगा, न कि तुष्टीकरण की नीति का, जैसा कि आज देश के हितों और सम्मान को नुकसान पहुँचाते हुए किया जा रहा है।

पार्टी मानती है कि यह भारत की नैतिक और कानूनी जवाबदेही है कि वह पाकिस्तान के अल्पसंख्यक समुदाय के उन सदस्यों के पुनर्वास का इंतजाम करे, जो कभी भी बँटवारा नहीं चाहते थे, लेकिन बँटवारे से मुसीबत में पड़े और पाकिस्तान में जान-माल को खतरा पैदा होने की वजह से भागकर भारत आने पर मजबूर हुए; उन हजारों औरतों को रिहा कराए, जो अब भी वहाँ मुसलमानों के कब्जे में हैं। इन्हीं तेवरों में यह भी ऐलान किया गया कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है, यानी कश्मीर के विवाद को संयुक्त राष्ट्र संघ से वापस ले लेना चाहिए और फिर कभी राज्य में जनमत-संग्रह की बात नहीं उठनी चाहिए, बल्कि उसे बिना किसी विशेष दर्जा दिए भारत संघ में मिला लेना चाहिए।

संविधान का मसौदा, जिसे प्रारूप समिति ने पेश किया और सम्मेलन ने पारित किया, उसके मुताबिक भारतीय जन संघ की भूमिका भारतीय संस्कृति और मर्यादा के आधार पर भारत के पुनर्निर्माण की थी, ताकि भारत एक संपन्न, शक्तिशाली, अखंड एवं विकासशील देश बने और दूसरे देशों के आक्रामक रवैए का सामना करते हुए राष्ट्रों के समूह में विश्व-शांति के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर सके। भारत के विभिन्न हिस्सों में खुद को स्थापित करने के लिए संघ स्थानीय निकायों के जरिए काम करेगा, जैसे स्थानीय समिति, जिला समिति, प्रांतीय समिति, प्रांतीय कार्यकारी समिति, अखिल भारतीय समिति और अखिल भारतीय कार्यकारी समिति। सभी निकायों और उनके पदाधिकारी एक साल के लिए चुने जाएँगे। भारतीय जन संघ का एक सत्र सामान्य तौर पर वर्ष में एक बार किसी ऐसी जगह पर होगा, जिसका चुनाव अखिल भारतीय कार्यकारी समिति करेगी, जो संघ की सर्वोच्च कार्यपालिका थी और जो तय की गई नीतियों को लागू करने के लिए अखिल भारतीय समिति के प्रति जवाबदेह थी। दिल्ली में हुए सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि जब तक संविधान के तहत प्रस्तावित संवैधानिक घटकों की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक अस्थायी अखिल भारतीय कार्यकारी समिति को चुना गया, जिसका प्रधान अखिल भारतीय कार्यकारी समिति की नियुक्ति करेगा। इस प्रकार से बनाई गई अखिल भारतीय कार्यकारी समिति के पास अनौपचारिक प्रांतीय समितियों के गठन का अधिकार होगा, जो विभिन्न प्रांतों में संघ की गतिविधियाँ चलाएँगे और यह उनका प्राथमिक कर्तव्य होगा कि वे स्थानीय व जिला समितियों में अपने संगठन को मजबूत बनाने के लिए जी-जान से काम करें।

इसी दौरान कांग्रेस, जो जन संघ के प्रचार-प्रसार से लोगों पर पड़ने वाले प्रभाव को लेकर सतर्क थी, खासतौर पर पंजाब और बंगाल में आए विस्थापितों पर, उसने एक जवाबी प्रचार की शुरुआत की, जिसमें पार्टी के चाल-चलन, चेहरा और चरित्र को लेकर भ्रामक संदेश दिए गए। इस दुष्प्रचार में उन्हें समाजवादियों और कम्युनिस्टों का भी साथ मिला, जो नई पार्टी की सशक्त राष्ट्रवादी विचारधारा के विरोधी थे। इन तमाम परिस्थितियों ने डॉ. मुकर्जी को इस बात के लिए मजबूर किया कि वे पूरे देश का दौरा करें, जिसकी शुरुआत पंजाब से हुई। दिल्ली सम्मेलन के फौरन बाद वे जन संघ के कार्यक्रमों और नीतियों से देश को अवगत कराने के लिए निकल पड़े।

कलकत्ता के मैदान में 2 दिसंबर, 1951 को जन संघ के बैनर तले आयोजित एक विशाल जनसभा को संबोधित करते हुए डॉ. मुकर्जी ने विस्तार से पार्टी की व्यावहारिक और रचनात्मक नीतियों का वर्णन किया, खासतौर पर बंगाल की अनोखी समस्या का भी जिक्र किया। उन्होंने

पूरे जोर-शोर से ऐलान किया कि जन संघ ही एकमात्र ऐसी पार्टी है, जो बंगाल की समस्या के प्रति एक यथार्थवादी सोच रखती है, खासतौर पर जिस प्रकार के मुद्दे बँटवारे के बाद सामने आए, जिन्हें सुलझाने में कांग्रेस की सरकार पूरी तरह नाकाम रही।

उन्होंने पाकिस्तान में मौजूद अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान किए जाने की जरूरत पर भी बल दिया। अगर पाकिस्तान उन्हें सुरक्षा देने में नाकाम रहता है तो वे मानते थे कि ये कर्तव्य भारत की सरकार का बनता है। जन संघ ने इस समस्या का निपटारा एक सम्मानजनक तरीके से राष्ट्रीय स्तर पर किए जाने पर जोर दिया। डॉ. मुकर्जी ने ऐलान किया कि अगर विधानसभाओं और संसद् में जन संघ, जिसकी स्थापना के कुछ महीने ही हुए हैं, इसके बावजूद जिस प्रकार उसने करोड़ों लोगों का भरोसा हासिल किया है, उसके सदस्यों की अच्छी-खासी संख्या होगी तो उनके पास वहाँ की सरकार के फैसलों को प्रभावित कर सकने की शक्ति होगी। मजबूत और सकारात्मक विपक्ष की गैर-मौजूदगी ने कांग्रेस प्रशासन को भ्रष्ट और गैर-जवाबदेह बना दिया है। इसकी वजह से लोकतंत्र का सही तरीके से काम करना नामुमकिन हो गया है। जन संघ ही एक अकेली राजनीतिक पार्टी है, जिसने बंगाल की समस्या को राष्ट्रीय स्तर का विषय बनाया और केवल इस वजह से ही वह बंगाल के लोगों का समर्थन पाने की हकदार है।

नेहरू का आरोप कि जन संघ एक सांप्रदायिक संगठन है, उसे कांग्रेसी लगभग एक तोते की तरह रटते रहे थे। इस आरोप पर पलटवार करते हुए डॉ. मुकर्जी ने कहा कि पिछले 35 वर्षों में कांग्रेस का इतिहास गवाह है कि उसने मुसलमानों के तुष्टीकरण और सांप्रदायिकता के सामने घुटने टेकने के सिवाय कुछ नहीं किया है। जन संघ की सदस्यता सभी समुदायों के लिए खुली थी, जो पार्टी की एक देश, एक राष्ट्र और एक संस्कृति की नीति को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। उन्हें इसके बदले संपूर्ण सुरक्षा एवं अवसरों की समानता का भरोसा दिया गया। डॉ. मुकर्जी ने पश्चिम बंगाल में मुसलमानों और बाकी समुदायों से जन संघ में बड़ी संख्या में शामिल होने की अपील की।

पार्टी के आर्थिक कार्यक्रमों की विस्तार से चर्चा में उन्होंने खाद्य पदार्थों की पैदावार बढ़ाने, मुनाफाखोरी और कालाबाजारी के खिलाफ जनमत जुटाने, लघु व मध्यम स्तर के औद्योगिक उपक्रमों की संगठित योजना बनाकर पश्चिम बंगाल में मध्यम वर्ग की बेरोजगारी, जिसने विकराल रूप ले लिया था, उसे दूर करने और सुंदरवन में भयंकर अकाल से उबरने के उपायों पर जोर दिया। उन्होंने बंगाल में कारोबार से पैसा कमा रहे बड़ी संख्या में मौजूद गैर-बंगालियों से बंगाल की समस्याओं को अपनी सेवाओं और अपने त्याग के बल पर दूर करने की भी अपील की। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि पश्चिम बंगाल की सीमाओं को उसकी जरूरतों के मुताबिक भाषागत, प्रशासनिक, आर्थिक और रणनीतिक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए फिर से व्यवस्थित किया जाना चाहिए।

विभिन्न दलों के बीच विचारधारा के मतभेदों को स्वीकार करते हुए डॉ. मुकर्जी ने बंगाल में उन दलों का एक संयुक्त मोरचा बनाने पर जोर दिया, जो आपसी झगड़ों की वजह से टूटते रहते थे और जिनमें एक पार्टी की भावना का भी अभाव था। इस वजह से पूर्वी बंगाल की समस्याओं को सुलझाने और वहाँ रह रहे अल्पसंख्यकों की सुरक्षा, वहाँ से आए विस्थापितों के

पुनर्वास, खाद्यान्न की पैदावार बढ़ाने के लिए जरूरी भूमि सुधार और बंगाल की सीमा की सुरक्षा का जिम्मा उसके ही लोगों को सौंपे जाने जैसे मुद्दों पर आम राय नहीं बन पाती थी। डॉ. मुकर्जी ने तमाम राजनीतिक दलों से देश को बचाने और एक ऐसे प्रधानमंत्री के मनोबल को तोड़नेवाले प्रभावों से सुरक्षा की अपील की, जो खुद कांग्रेस अध्यक्ष भी थे और उन राजनीतिक दलों को कुचल देने की बात खुलेआम किया करते थे, जो कांग्रेस की विचारधारा का विरोध करते थे, खासतौर पर जन संघ जैसे दल। यह स्पष्ट करते हुए कि जन संघ की स्थापना सही मायने में रचनात्मक कार्य के लिए हुई, न कि सिर्फ चुनाव लड़ने के लिए और यह अपने बलबूते पर जी-जान से किए जा रहे प्रयासों की वजह से भारत के विभिन्न हिस्सों में आगे बढ़ रही है।

डॉ. मुकर्जी ने बंगाल के लोगों से हजारों-लाखों की संख्या में पार्टी में शामिल होने की अपील की और इसे एक सच्चा राष्ट्रीय संगठन बनाने के लिए कहा, जो जन-कल्याण के प्रति समर्पित हो।

डॉ. मुकर्जी ने जन संघ के कार्यक्रमों और नीतियों से पूरे देश को अवगत कराने के लिए दिल्ली सम्मेलन के बाद एक देशव्यापी दौरा शुरू किया। यह पार्टी के लिए चुनौतियों से भरा अभियान था, क्योंकि पार्टी के पास न तो उनकी सहूलियतों का खयाल रखने के संसाधन थे और न ही दौरे में तेजी लाने के लिए जगह-जगह गाड़ी-घोड़े का इंतजाम करनेवाला संगठन था। प्रेस भी, खासतौर पर अंग्रेजी प्रेस, पूरी तरह से जन संघ के खिलाफ था, जो प्रधानमंत्री की बोली बोलता था, क्योंकि उसे प्रचार वगैरह के नाम पर सरकारी खजाने से बड़ी रकम मिला करती थी। पेड न्यूज सिंड्रोम तब तक ईजाद नहीं हुआ था, लेकिन ये बीमारी उस वक्त फैल चुकी थी। हालाँकि, एक सम्मानित अखबार 'द स्टेट्समैन' (दिल्ली और कलकत्ता) ने डॉ. मुकर्जी का एक लेख 'द भारतीय जन संघ' 21 दिसंबर, 1951 को छापा। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि के समान था। इस अखबार में पहले आम चुनावों से ठीक पहले छपे लेख में उन्होंने पार्टी की घरेलू और विदेश नीतियों को संक्षेप में बताया। इसका बड़ी तेजी से व्यापक प्रचार हुआ। डॉ. मुकर्जी की कई इच्छाओं में से एक यह थी कि वे जनसंघ को कांग्रेस के खिलाफ संविधान के दायरे में रहकर मुख्य विपक्षी पार्टी के रूप में देखना चाहते थे। उस लेख में उन्होंने दावा किया कि उनकी पार्टी, जिसे अक्तूबर 1951 के तीसरे हफ्ते में दिल्ली में एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन घोषित किया गया था और जिसने सिर्फ कुछ महीने पहले कई प्रांतों में कार्य करना शुरू किया था, वह एक छोटे अंतराल में अपने पक्ष में भारत के विभिन्न हिस्सों में भारी जनमत जुटाने में सफल हुई है। इस सफलता के पीछे की वजह को देखें तो इसने कांग्रेस के कमजोर पहलुओं को स्पष्ट तौर पर उभारा और राष्ट्रीय नीति के कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों को जिस तरह सीधे-सीधे उठाया, उसने लोगों के अंत:करण को छुआ, जो अकसर अपनी दबी हुई भावनाओं और चिंताओं पर मुखर हो जाया करते हैं।

उन्होंने इससे आगे बढ़कर कहा कि जन संघ किसी वाद से बँधा हुआ नहीं है, जैसाकि उसके आर्थिक कार्यक्रम ने खाद्य पदार्थों और अन्य अनिवार्य वस्तुओं की पैदावार बढ़ाने के लिए व्यावहारिक उपायों पर खास जोर दिया, ताकि तेजी से बढ़ती महँगाई को रोका जा सके। जमींदारों के उन्मूलन का समर्थन करते हुए इसने एक ऐसी राजकीय नीति की हिमायत की, जिससे

उपलब्ध और अप्रयुक्त जमीन को सरकार अपने कब्जे में लेकर भूमिहीनों में बाँट दे। पार्टी के आर्थिक उद्देश्यों पर बोलते हुए डॉ. मुकर्जी ने कहा, चूँकि पार्टी आधारभूत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करती है, यह निजी उपक्रमों का दो शर्तों पर खुलकर समर्थन करेगी, नाजायज मुनाफाखोरी पर रोक और ऐसे समूहों व समितियों का गठन, जिसके हाथों में बड़े पैमाने पर आर्थिक शक्ति केंद्रित हो जाए। सिर्फ समायोजन की एक तर्कसंगत प्रक्रिया और शोषण के माध्यमों पर नियंत्रण रखकर ही वर्गयुद्ध से बचा जा सकता है। यह उद्योगों के विकेंद्रीकरण और ऐसा माहौल तैयार करने में विश्वास रखती है, जिससे गाँवों की आत्म-निर्भरता सुनिश्चित हो। यह मुक्त व्यापार को बढ़ावा देनेवाले व्यावहारिक उपायों को अपनाए जाने की हिमायत करेगी। निजी संपत्ति से किसी भी हाल में छेड़छाड़ न की जाए और निजी कारोबार चलानेवालों को साफ-सुथरा माहौल मिले, बशर्ते वे राष्ट्र-कल्याण का खयाल भी रखें। सरकार का स्वामित्व और सरकार का नियंत्रण तभी लागू किया जाएगा जब जनहित में ऐसा करना अनिवार्य हो जाएगा; लेकिन इसे किसी अव्यावहारिक सोच का हिस्सा बनने नहीं दिया जाएगा। पार्टी प्रगतिशील विनियंत्रण का समर्थन करेगी और हर हाल में सामाजिक व आर्थिक शोषण पर रोक लगाएगी। बँटवारा न्यायपूर्ण एवं बराबर-बराबर होना चाहिए और ऐसा माहौल तैयार होना चाहिए, ताकि उत्पादन में वृद्धि के लिए सभी मिलकर काम कर सकें।

जन संघ का गठन वर्ष 1952 के आम चुनावों को लड़ने के लिए चुनाव से ठीक पहले किया गया था। उस समय तक सरदार पटेल की मृत्यु हो चुकी थी और नेहरू कांग्रेस व देश के निर्विवादित नेता बन चुके थे, इतने बड़े नहीं तो साधारण तौर पर किसी राजा से कम नहीं थे। विचारधारा से जुड़े मतभेदों और डॉ. मुकर्जी से व्यक्तिगत चिढ़ की वजह से नेहरू ने उन्हें और जन संघ को चुनावों में अपना मुख्य प्रतिद्वंद्वी मान लिया था तथा अपनी पूरी ऊर्जा इस नवगठित दल से लड़ने और इसे बदनाम करने में लगा दी। बलराज मधोक को याद करते हैं कि नेहरू ने डॉ. मुकर्जी से पूछा था कि वे उनके अपशब्दों का जवाब क्यों नहीं देते? तो डॉ. मुकर्जी ने जवाब दिया था, मैं क्यों जवाब दूँ? ये एक रोगग्रस्त दिमाग के विस्फोट हैं। सच कहूँ तो वे हमारा भला ही कर रहे हैं, कम-से-कम वे हर दिन लोगों के बीच हमारा नाम तो लेते हैं और मीडिया हमारा नाम छापता है। हमारा नाम तो लोगों तक पहुँच रहा है, जो किसी और तरीके से नहीं पहुँच सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ. मुकर्जी अपनी पार्टी और शक्तिशाली कांग्रेस पार्टी के बीच में कितना बड़ा फर्क है, इससे पूरी तरह अवगत थे और वे यह भी समझते थे कि गैर-कांग्रेसी वोट के बँट जाने से कांग्रेस को कितना फायदा मिल सकता है। यह उस फर्स्ट पास्ट द पोस्ट प्रक्रिया यानी चुनाव में सबसे ज्यादा वोट मिलनेवाले को विजेता घोषित करने की पद्धति को संविधान-निर्माताओं के द्वारा अपनाए जाने या ब्रिटेन से उधार लिये जाने का नतीजा है, बनिस्पत कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के, जिसमें जिस पार्टी को जितने प्रतिशत वोट मिलें, उसे उतनी सीटें भी दी जाती हैं। यह बात भलीभाँति सब जानते हैं कि इस पद्धति से किसी पार्टी को चुनाव में पड़े वोट और इसके द्वारा जीती गई सीटों में भारी अंतर पैदा हो जाता है।

दिल्ली नगर निगम के वर्ष 1952 के चुनावों में यह बात साफतौर पर दिख गई थी कि वोटों के बँटवारे से सत्तासीन दल को कितना फायदा पहुँचता है। इसके बावजूद डॉ. मुकर्जी ने तय

किया कि पुरुषार्थ के दम पर वे चुनाव में हिस्सा लेंगे। सीमित समय में वे जो कुछ भी थोड़ा-बहुत कर सकते थे, उन्होंने चुनाव प्रचार और गठबंधन के जरिए किया। गठबंधन सिर्फ हिंदू महासभा और राम राज्य परिषद् के साथ हो सका। कुछ राज्यों में तालमेल अच्छी तरह चला, जबकि दूसरे राज्यों में महासभा और परिषद् की प्रांतीय इकाइयों पर केंद्रीय नेतृत्व की पकड़ इतनी ढीली थी कि इसका भारी नुकसान उठाना पड़ा। ज्यादातर मामलों में समझौता नाकाम रहा। इन संगठनों के केंद्रीय नेतृत्व का राज्य की इकाइयों पर नियंत्रण कमजोर था और निजी पसंद-नापसंद तथा राज्य की इकाइयों में आपसी प्रतिद्वंद्विता के मुद्दे केंद्र में बैठे नेताओं के निर्देशों पर हावी हो गए। इससे भी कहीं ज्यादा, पार्टी का अभी जन्म ही हुआ था या देश की एक बहुत बड़ी आबादी इसे जानती तक नहीं थी, ऐसे में इसकी एकमात्र ताकत प्रशिक्षित और कर्मठ कार्यकर्ता थे, जिनमें से ज्यादातर स्वयंसेवक थे।

डॉ. मुकर्जी ने अपने लिए इतना कठोर कार्यक्रम बनाया था, जो किसी सजा से कम नहीं था। बलराज मधोक, जिन्होंने कई दौरे उनके साथ किए, बताते हैं कि वे 200-300 मील की दूरी ट्रेन या कार से तय किया करते थे, रात भर सफर करते थे और अगले दिन दर्जन भर सभाएँ किया करते थे। इस दौरान वे 5 बजे सुबह उठ जाया करते थे, 6.30 बजे तक तैयार हुआ करते थे और रात 10 बजे तक बिना रुके प्रचार किया करते थे। वे जहाँ भी जाते, एक भारी जन-सैलाब उमड़ पड़ता। नेहरू ने संभवतः उनसे ज्यादा यात्राएँ कीं, लेकिन ऐसा करते हुए उन्होंने सरकारी परिवहन का खूब इस्तेमाल किया। उनके लिए बँगले तैयार रहा करते थे और अन्य सुविधाओं का इंतजाम हुआ करता था। उन दिनों वैसे भी चुनाव की प्रक्रिया को परिष्कृत नहीं किया गया था, जैसा कि आज है। अब तो चुनाव प्रचार के लिए सरकारी गाड़ियों और विमानों के इस्तेमाल की मनाही है।

केदारनाथ साहनी तब रा.स्व. संघ के एक युवा विभाग प्रचारक थे, जिनका कद इतना बढ़ा कि आगे चलकर जन संघ के कई महत्त्वपूर्ण पदों को सँभाला, भाजपा और सरकार में भी रहे—वे डॉ. मुकर्जी के कई चुनावी दौरों में साथ थे। ऐसी ही एक यात्रा थी रोहतक की और फिर वहाँ से फिरोजपुर की। रात की ट्रेन थी और डॉ. मुकर्जी चाहते थे कि सफर के दौरान उन्हें थोड़ा आराम मिल जाए, लेकिन करीब-करीब हर स्टेशन पर लोग उनके मिलने का इंतजार कर रहे थे—कभी वे बहुत कम संख्या में होते तो कुछ जगहों पर सैकड़ों में। लेकिन लोगों की संख्या का खयाल किए बिना डॉ. मुकर्जी उनसे मिलते रहे और जहाँ भीड़ ज्यादा होती, वहाँ एक भाषण दे देते। साहनी कहते हैं कि वे उनकी ऊर्जा और धैर्य को देखकर दंग रह गए। एक बार भी उनमें चिड़चिड़ाहट नजर नहीं आई, या यह कहते नहीं सुने गए कि अब बहुत हुआ। फिरोजपुर में वे राय साहिब कुंदनलाल आहूजा के घर रुके, जो पार्टी के एक शुभचिंतक थे। वहाँ एक कॉलेज था, जिसका नाम देव समाज कॉलेज था, जिसके प्रिंसिपल एक बंगाली थे और वे सर आशुतोष के पुराने छात्र रह चुके थे। उन्होंने डॉ. मुकर्जी को अपने कॉलेज में आमंत्रित किया, और डॉ. मुकर्जी ने आमंत्रण स्वीकार किया, जबकि उनका कार्यक्रम बेहद व्यस्त था।

वहाँ अपने भाषण में डॉ. मुकर्जी ने कहा कि वे हमेशा श्रीअरविंद से पुदुचेरी में मिलना चाहते थे, लेकिन कभी ऐसा हो न सका। श्रीअरविंद की मृत्यु के बाद डॉ. मुकर्जी को पुदुचेरी (तब फ्रांस

के कब्जे में था) जाने का मौका मिला और वहाँ उस जगह को देखने की उनकी इच्छा पूरी हुई, जहाँ बैठकर श्रीअरविंद ध्यान लगाया करते थे। डॉ. मुकर्जी ने कहा कि वे यह देखकर हैरान रह गए कि जिस चित्र के सामने श्रीअरविंद बैठा करते थे, वह किसी देवी-देवता का नहीं था, बल्कि भारत का एक विशाल नक्शा था। उनमें देशभक्ति की भावना इस हद तक थी।

फिरोजपुर से बाहर निकलते हुए जब वे रेलवे स्टेशन पहुँचे तो देखा कि उनका सामान नहीं पहुँचा है और ट्रेन छूटने वाली है। फिर भी उनके चेहरे पर परेशानी का भाव कहीं नहीं था, बल्कि वे चुपचाप ट्रेन में सवार हो गए। उनके कार्यकर्ताओं ने कार से ट्रेन का पीछा किया और अगले स्टेशन पर उनके सामान के साथ पहुँच गए। लुधियाना में उन्होंने एक बड़ी जनसभा को संबोधित किया, जहाँ साहनी को याद है, तिलक राज नाम के एक नौजवान ने एक खूबसूरत गीत सुनाया, जिसके बोल थे—'ये दीपक तो जलता ही रहेगा, ये दीपक (जो जन संघ का चुनाव चिह्न था) सदा के लिए जलता रहेगा।' डॉ. मुकर्जी गाने को सुनकर भावुक हो गए थे।

श्री बलराज मधोक ने नेहरू के चुनाव प्रचार के तौर-तरीके की तुलना डॉ. मुकर्जी के तरीके से की थी और कहा था कि नेहरू इस दौरान सत्ता के नशे में पूरी तरह चूर हैं। इस हद तक कि उनकी पसंद-नापसंद की बातों को कोई बढ़ा-चढ़ाकर भी कहता तो उन्हें ऐतराज नहीं था, कुछ चीजें जो उन्होंने कही और कीं, जो वाकई हैरान करनेवाली थीं। मधोक के मुताबिक, वो नौटंकी पर उतर आते थे और अकसर गुस्से में तमतमाने लगते थे, जैसे सबकुछ पर उनका जन्मसिद्ध अधिकार हो; जैसा कि लुधियाना में हुआ, जहाँ उन्होंने स्थानीय कांग्रेस अध्यक्ष को इतने जोर का धक्का दिया कि सिर्फ किस्मत ने ही उन्हें मंच से नीचे गिरने से बचाया। वो जन संघ को सांप्रदायिक कहने में कभी नहीं चूके।

नेहरू के विपरीत, डॉ. मुकर्जी अनेकानेक शारीरिक कष्ट झेलकर भी हमेशा शांत रहते थे। कभी-कभी तो, जब तनाव उनके लिए असह्य हो जाता, वे कहते, "बलराज, आज तुम मेरी जान लेकर ही रहोगे।" और फिर अपने तय कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में लग जाते, बिना किसी तरह की वेदना को चेहरे पर लाते हुए। चुनाव प्रचार के दौरान वे अपने भाषण हिंदी में ही दिया करते थे, बावजूद इसके कि उनकी भाषा सधी हुई नहीं थी और उनकी हिंदी में बँगला की छाप स्पष्ट थी, फिर भी वे कभी हिचके नहीं। साहनी बताते हैं, "एक बार जालंधर में वो हिंदी बोलने पर अड़ गए, हालाँकि लोग कह रहे थे कि अंग्रेजी में बोलें। उन्होंने देशवासियों को आगाह किया कि आर्थिक कार्यक्रम, बेहद अहम होते हुए भी, सबकुछ नहीं है और लोगों के आर्थिक उत्थान के साथ-साथ उनका आध्यात्मिक व सांस्कृतिक उत्थान भी होना चाहिए। उनकी इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही उनके शिष्य पं. दीनदयाल उपाध्याय ने 'एकात्म मानववाद' के दर्शन को सामने रखा। उन्होंने दो मुद्दों पर नेहरू की जमकर खिंचाई की—एक, उनकी विदेश नीति पर और दूसरा जो उनका नेहरू के सांप्रदायिकता के आरोप पर पलटवार था।"

नेहरू की विदेश नीति बीते समय की विवेचना से प्रतीत होता है कि उन सिद्धांतों पर आधारित थी, जिसे आज उदात्त नैतिक रुख कहा जाता है और जो अंतरराष्ट्रीय जगत् में उनके कद को ऊँचा करनेवाला था, लेकिन उनमें राष्ट्रहित के लिए जरा भी आदर नहीं था। डॉ. मुकर्जी ने खासतौर पर नेहरू की दो बड़ी गलतियों के लिए उनकी धज्जियाँ उड़ा दीं—पहली, तिब्बत

पर चीन के कब्जे का स्वागत करना, जिसकी वजह से दो महाशक्तियों के बीच का एक महत्त्वपूर्ण देश खत्म हो गया और दूसरा, कश्मीर की लड़ाई के दौरान एकतरफा युद्ध-विराम घोषित कर पाकिस्तान को खुली छूट देना। भावी पीढ़ी के कथनों ने इन मुद्दों पर उनकी दूरदर्शिता के आभाव को पूरी तरह साबित कर दिया है, जैसा कि सरकार से जुड़े अन्य पहलुओं पर (मसलन हिंदुओं व मुसलमानों के बीच गृहयुद्ध की आशंका), जिनका वर्णन पहले भी किया गया है। हालाँकि कांग्रेस समर्थक और नेहरू-गांधी परिवार के समर्थक इतिहासकारों ने नेहरू की इन महान् भूलों को चतुराई से नजरअंदाज करने की कोशिश की है।

बलराज मधोक ने कहा था कि डॉ. मुकर्जी को जवाहरलाल नेहरू के खिलाफ बयानबाजी अच्छी नहीं लगती थी, क्योंकि वे नेहरू के मंत्रिमंडल में कैबिनेट मंत्री के रूप में काम कर चुके थे। उन्होंने एक बार भी उन बातों का खुलासा नहीं किया, जो उनके कार्यकाल में कैबिनेट की बैठक में हुआ करती थीं। लेकिन नेहरू ने अपनी हरकतों से उन्हें किस कदर उकसा दिया था, इसका अंदाजा शिमला के कालीबाड़ी में दिए बयान से साफ हो जाता है। जब मैं भारतीय इतिहास के पूरे दौर पर गौर करता हूँ तो मुझे एक भी आदमी ऐसा नहीं मिलता, जिसने देश को इतना नुकसान पहुँचाया, जितना कि पं. नेहरू ने। मधोक ने आगे कहा कि नेहरू का जानबूझकर राष्ट्र-विरोधी, अव्यावहारिक नीतियों को अपनाना, जबकि उनसे ऐसा न करने की बार-बार अपील की जाती थी। इन बातों से खिन्न होकर डॉ. मुकर्जी इस नतीजे पर पहुँचे थे। उन्होंने देश के बँटवारे और उसके बाद लोगों ने जो कष्ट उठाए, उसके लिए नेहरू को मुख्य रूप से जिम्मेदार माना। इस बात से मौलाना आजाद भी काफी हद तक सहमत थे। उन्होंने पूर्वी बंगाल से धीरे-धीरे हिंदुओं के खदेड़े जाने और उनकी तबाही का भी जिम्मेदार माना। अपनी पार्टी के खिलाफ नेहरू के सांप्रदायिकता के आरोपों, जिसे कांग्रेस समर्थक मीडिया भी जोर-शोर से उछालती थी, के जवाब में उन्होंने कहा कि ये उलटा चोर कोतवाल को डाँटे वाली बात है। उनका विचार था कि एक संस्था, जिसने लगातार सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया, उसे बरकरार रखा, वह कांग्रेस के सिवाय और कोई नहीं है। वे उनसे पूछते थे, क्या आपने कम्यूनल अवार्ड (1932 में रामसे मैक्डोनॉल्ड के) के खिलाफ जंग लड़ी या सांप्रदायिक प्रतिशतता का हिसाब लगा रहे थे, ताकि मुसलिम लीग के साथ किसी तरह का समझौता हो जाए? और बँटवारे के लिए राजी कौन हुआ?

डॉ. मुकर्जी ने फिर कहा, ''अगर अपने समुदाय से प्रेम करना और दूसरे समुदायों के बारे में बुरा न सोचना सांप्रदायिकता है, अगर हम चाहते हैं कि 1,000 साल बाद आजाद हुए भारत में 40 करोड़ हिंदुओं को एकजुट करने के प्रयास होने चाहिए, अगर हम अपने खोए हुए स्थान को फिर से हासिल करने की बात उन तरीकों से करना चाहते हैं, जिसे स्वामी विवेकानंद ने हिंदुत्व के प्रगतिशील सिद्धांत करार दिया, तो मुझे सांप्रदायिक होने में गर्व है।'' नेहरू के बारे में उन्होंने शिमला में पंजाब के कुछ खास लोगों के साथ हुई बैठक में कहा, ''पं. नेहरू दावा करते हैं कि उन्होंने भारत की खोज की है; लेकिन उन्होंने अब तक अपने दिमाग की खोज नहीं की है, जिसके ऊपर एक मोटी परत चढ़ी है, जिसे गैर-भारतीय और गैर-हिंदू कहा जाता है।''

शिमला-कालका रूट पर मधोक के साथ यात्रा के दौरान नई पार्टी के आनेवाले चुनावों में संभावित प्रदर्शन पर चर्चा करते हुए उनके मन में सवाल उठ रहे थे कि क्या एक नई पार्टी के

साथ, जिसे बमुश्किल दो महीने हुए हैं, चुनाव के मैदान में उतरने का फैसला सही है? इस सवाल पर मधोक के जवाब का इंतजार किए बिना वे बोल पड़े, "अब हम पीछे नहीं हट सकते, क्योंकि हम मैदान में उतर चुके हैं।" कुछ देर चुप रहने के बाद कहा, "मैं इस आदमी को दुरुस्त कर दूँगा, अगर मैं अपने दस लोगों को भी संसद् तक पहुँचा सका तो!" चुनाव प्रचार के दौरान डॉ. मुकर्जी को लोगों से युवाओं और बुजुर्गों को जानने-पहचानने का मौका मिला, जो जन संघ के लिए शहरों, जिलों और प्रांतीय स्तर पर काम कर रहे थे। उन्हें एक समस्या नजर आई, जो ज्यादातर रा.स्व. संघ से आए युवा कार्यकर्ताओं और विभिन्न सामाजिक व राजनीतिक पृष्ठभूमि वाले बुजुर्ग कार्यकर्ताओं के बीच उत्पन्न हो रही थी। उन्होंने रा.स्व. संघ से आनेवाले युवा कार्यकर्ताओं के अदम्य जोश, विनम्रता और कड़े परिश्रम को पहचानने में देर नहीं की। वे इन कार्यकर्ताओं से बेहद प्रभावित थे। एक शिक्षाविद् होने के नाते वे युवाओं के मन को भी अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने महसूस किया कि बुजुर्गों के लिए जो एक अलग माहौल में बड़े हुए हैं, उनके लिए इन युवा स्वयंसेवकों के साथ तालमेल बिठाना संभव नहीं है। लिहाजा, उन्होंने युवा नेताओं को प्रशिक्षण के लिए चुनना शुरू किया, जिसका मकसद पार्टी के लिए नेताओं की दूसरी लाइन तैयार करना था। मधोक ने कहा है कि उनके ये कदम मूल रूप से नेहरू से अलग थे, जो जान-बूझकर ऐसे कदम उठाते थे, जिससे कोई भी व्यक्ति, युवा हो या बुजुर्ग, कितना भी क्षमतावान क्यों न हो, उसका कद उनके करीब आने लायक न बढ़ जाए, ताकि कांग्रेस पार्टी और सरकार में उनके वर्चस्व को चुनौती देकर उनका खेल खराब कर सके। 1950 के दशक में (लेकिन 1962 में चीन के आक्रमण के बाद नहीं) एक सवाल अकसर पूछा जाता था, नेहरू के बाद कौन? नेहरू अकसर इस सवाल को मीठी मुसकान के साथ टाल दिया करते थे। लेकिन जब वे मृत्यु-शैया पर लेटे थे, तब कहा जाता है कि वे बोले—'मेरे बाद मेरे दायित्व इंदु (इंदिरा गांधी) को सौंपे जाने चाहिए।' नेहरू परिवारवाद से मोह नहीं छोड़ पा रहे थे।

जोरदार चुनाव प्रचार ने डॉ. मुकर्जी की कुछ विशिष्टताओं को उभारा, जिन्हें पहले उतनी गहराई से महसूस नहीं किया गया था। उनका आत्मसंयम खीज पैदा करनेवाले भाषणों की माँग के रूप में सामने आने पर भी कायम रहता था। जैसा कि साहनी ने भी बताया कि इनकी वजह से न वे सो पाते थे और न आराम कर पाते थे। साहनी ने यह भी बताया कि उन्हें किसी के घर में रुकने पर कोई परहेज नहीं था। अगर उसकी नीयत अच्छी है तो वे न उसकी हैसियत देखते थे, न यह कि वो जीवन में किस मुकाम तक पहुँचा है। पंजाब में चुनाव प्रचार के दौरान (जिसमें तब हरियाणा और हिमाचल प्रदेश शामिल था), शिमला से आगे के रास्ते में, वे सोलन में रुके, पंजाब विश्वविद्यालय के कुलपति के साथ चाय पी और मोहन मीकिंस ब्रेवरीज के गेस्ट हाउस में ठहरे। भाग-दौड़ के बीच भी उन्हें छोटी-छोटी बातें याद रहती थीं। एक मिस्टर सेन थे, जो हिंदुस्तान स्टैंडर्ड, कलकत्ता से निकलनेवाले दैनिक के रिपोर्टर थे और उनके साथ सफर कर रहे थे। अकसर डॉ. मुकर्जी पूछ लिया करते थे कि उनका खयाल रखा जा रहा है या नहीं?

शिमला में 'द माल' के आस-पास घूमते हुए, उन्होंने टहलनेवाली छड़ियों की एक दुकान देखी और कलकत्ता में अपने बुजुर्ग रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए कई छड़ियाँ खरीदीं। जब उन्होंने भाड़े की कार को छोड़ा तो बिना पूछे अपने ड्राइवर को एक सर्टिफिकेट दिया, जो उसके

वाहन चलाने की दक्षता का प्रमाण था। कई दिनों और हफ्तों तक जोरदार प्रचार और दर्जनों सभाएँ करने के दौरान कुछ दिन ऐसे गुजरते जब उन्हें जरा सा भी आराम नहीं मिलता। इन सबके दौरान डॉ. मुकर्जी को खुद अपनी सीट कलकत्ता साउथ पर समय और ध्यान देने का मौका नहीं मिला। दिसंबर 1951 में उन्होंने एक अपील जारी की, जिसमें पूरी इच्छा के बावजूद मतदाताओं से व्यक्तिगत तौर पर न मिल पाने का अफसोस जाहिर किया; लेकिन इसके साथ उनके समर्थन की उम्मीद जताई और कहा कि उनके सच्चे प्रयासों से देश के वास्तविक हितों की रक्षा की जा सकेगी और बाकी लोगों को भी इसका लाभ मिलेगा। उनकी सीट के करीब 23 प्रतिशत मतदाता मुसलमान थे, जो कांग्रेस के इस भ्रामक प्रचार से गुमराह किए जा रहे थे कि जन संघ उनका सबसे ख़तरनाक दुश्मन है। कांग्रेस ने एक करोड़पति, उद्योगपति मृगांक मोहन सूर को अपने उम्मीदवार के तौर पर मैदान में उतारा था। सूर परिवार के पश्चिम बंगाल में कई कल-कारखाने और उद्योग थे। कम्युनिस्ट उम्मीदवार साधन गुप्ता भी मजबूत दावेदार थे, जो नेत्रहीन होने के बावजूद शानदार वकील थे। हालाँकि डॉ. मुकर्जी को अपने चुनाव जीतने पर जरा भी संदेह नहीं था और एक बार अपने गिने-चुने भाषणों के दौरान बँगला में उन्होंने कहा कि आप जरूर मेरे लिए वोट करेंगे; लेकिन मैं चाहता हूँ कि आप मेरी पार्टी के लिए भी वोट करें। जैसी उम्मीद थी, उसके मुताबिक मतदाताओं ने बंगाल और भारत के लिए उनकी सेवा को देखते हुए उन्हें भारी मतों से विजयी बनाया।

मगर वर्ष 1952 के संसदीय चुनाव में पार्टी का कुल मिलाकर परिणाम डॉ. मुकर्जी की सेंट्रल एसेंबली के लिए 1945 में हुए चुनाव में हार की तरह एक दु:खद पुनरावृत्ति थी। जन संघ ने 489 सीटों पर 94 उम्मीदवार उतारे थे। उसे 3.06 प्रतिशत वोट मिले और लोकसभा में बड़ी मुश्किल से उसके सिर्फ 3 उम्मीदवार पहुँच सके। इनमें दो ने पश्चिम बंगाल से और एक ने राजस्थान में जीत दर्ज की। कांग्रेस पार्टी के दमदार 45 प्रतिशत वोट की तुलना में बाकी गैर-कांग्रसी पार्टियों, सोशलिस्ट पार्टी को 10.6 प्रतिशत, कम्युनिस्ट पार्टी को 3.3 प्रतिशत, किसान मजदूर प्रजा पार्टी (के.एम.पी.पी.) को 5.8 प्रतिशत वोट मिले। जन संघ ने विधानसभा चुनावों में 3,283 सीटों पर 742 उम्मीदवार उतारे थे, जिनमें से 35 उम्मीदवार जीतकर आए और उसे वैध मतों के 2.77 प्रतिशत वोट मिले। इन 35 उम्मीदवारों में से 9 पश्चिम बंगाल से थे और 8 राजस्थान से। पूर्वी पंजाब में, जहाँ जन संघ सबसे मजबूत दिख रही थी, वहाँ इसे एक भी सीट नहीं मिली। जहाँ तक इस हार के कारणों की बात है, मधोक ने कहा कि संगठन का अपने शैशव काल में होना, संगठनात्मक ढाँचे का अभाव (रा.स्व. संघ को छोड़कर), युवा कार्यकर्ताओं में अनुभव की कमी और पैसों की किल्लत ने खेल बिगाड़ दिया। इसके विपरीत, कांग्रेस व कम्युनिस्टों के पास अनुभव था और इससे बढ़कर कांग्रेस को सत्ता में होने का भी एक बड़ा फायदा मिला।

वर्ष 1952 में चुनाव प्रचार में सरकारी साधनों के इस्तेमाल पर कोई पाबंदी नहीं थी। सत्ताधारी दल के उम्मीदवार खुलकर उनका इस्तेमाल कर रहे थे, जिसकी इजाजत इन दिनों नहीं है। मधोक ने यह भी कहा था कि सरकारी मशीनरी का खुलकर दुरुपयोग हुआ और मतपेटियों से छेड़छाड़ की भी खबरें मिलीं। उन दिनों हर पार्टी के लिए अलग मतपेटी हुआ करती थी, जिस पर पार्टी का चुनाव चिह्न लगा होता था। वोटर जिस पार्टी को वोट देना चाहता था, वह उस पार्टी

के बक्से में अपना वोट डालता था। यह भारत का पहला आम चुनाव था, चुनाव कराने वाले नौसिखिए थे और इस तरह की छेड़छाड़, खासतौर पर सत्ताधारी पार्टी के द्वारा की जाने वाली गड़बड़ी को रोकने के उपाय मौजूद नहीं थे। चुनाव आयोग की स्वतंत्रता भी जितनी आज है, उतनी उस वक्त नहीं थी। मधोक ने कहा है कि नेहरू ने खुद संसद् में स्वीकार किया था कि बैलेट बक्सों से इस तरीके से छेड़छाड़ की गई कि एक पार्टी के निशान को उखाड़कर दूसरी पार्टी के बक्से पर चिपका दिया गया।

हालाँकि, इस बात को झुठलाया नहीं जा सकता कि जन संघ ने कांग्रेस को सबसे साफ-सुथरी और दमदार टक्कर दी, जहाँ कहीं भी उसका सामना कांग्रेस से हुआ। जन संघ के खराब प्रदर्शन में एक अच्छी बात सामने आई कि जिस संख्या में इसे वोट मिले, उसके मुताबिक़ चुनाव आयोग ने इसे देश की चार पार्टियों में से एक के रूप में पहचाना। इस चुनाव ने नवजात जन संघ को कई पुरानी पार्टियों को पीछे धकेलते हुए सबसे आगे ला खड़ा किया। एक जन्मजात आशावादी की तरह डॉ. मुकर्जी ने तर्क दिया कि उन्हें चुनाव परिणामों से काफी कुछ सीखने को मिला है। उनके लिए सबसे बड़ा फायदा यह था कि जन संघ का नाम और उसकी विचारधारा सुदूर गाँवों तक पहुँच चुकी थी, खासतौर पर उन इलाकों में, जहाँ इसने चुनाव लड़ा, साथ ही इसने देश में और इसके लोगों के दिलों में अपने लिए एक जगह बना ली थी। हालाँकि सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यही था कि कई पुरानी पार्टियों को दरकिनार कर जन संघ अब राजनीतिक पटल पर पहली पंक्ति की पार्टी बन चुकी थी। चुनाव आयोग ने जन संघ को चुनावों में मिले वोट को देखते हुए देश की चार पार्टियों में से एक के तौर पर मान्यता दी। एक नई पार्टी के लिए यह कोई मामूली उपलब्धि नहीं थी। डॉ. मुकर्जी के अग्रगण्य नेतृत्व में एक संयुक्त विपक्षी संसदीय दल तैयार करने के उद्देश्य से विपक्ष के तमाम गैर-कम्युनिस्ट सदस्यों को नई दिल्ली में होनेवाली एक मंथन बैठक का न्योता भेजा गया। ये बैठक संसद् की शुरुआत से ठीक पहले रखी गई। निमंत्रण-पत्र पर डॉ. मुकर्जी, एन.सी. चटर्जी, जो हिंदू महासभा के अध्यक्ष थे (लोकसभा के स्पीकर बने सोमनाथ चटर्जी के पिता), पटना के राजेंद्र नारायण सिंह देव, जो गणतंत्र परिषद् के नेता थे, सरदार हुकम सिंह, अकाली दल के नेता, जयपाल सिंह, झारखंड पार्टी के नेता और कुछ निर्दलीय सदस्यों के दस्तखत थे। यह बैठक वर्ष 1952 में 28 मार्च को कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में हुई, जिसे बलराज मधोक ने बुक किया था और जिसमें करीब 20 व्यक्तिगत सदस्य और ग्रुप लीडर शामिल हुए।

डॉ. मुकर्जी जन संघ के नेता थे, जो विचारधारा के लिहाज से कम्युनिस्टों से एकदम दूसरे छोर पर थे, यहाँ तक कि कांग्रेस से भी कई कदम दूर। बावजूद इसके उनके व्यक्तित्व में वह आकर्षण था कि हीरेन मुकर्जी, जो कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख सांसद थे, डॉ. मुकर्जी के काफी अच्छे दोस्त बन गए। हीरेन मुकर्जी ने बहुत बाद में लिखे एक लेख में डॉ. मुकर्जी के एक मजाक का जिक्र किया, जो उन्होंने कुछ इस प्रकार किया था—क्या तुम जानते हो हीरेन, उन्होंने मुझे रहने के लिए तुगलक क्रिसेंट में मकान दिया है। नहीं-नहीं, गौर से सुनो, तुगलक रोड में नहीं, तुगलक क्रिसेंट में और मैंने एक बार भी पलक तक नहीं झपकाई! हीरेन मुकर्जी ने इस बात का भी जिक्र किया, चूँकि डॉ. मुकर्जी और जवाहरलाल नेहरू के बीच विचारधारा के साथ-साथ

सोच-समझ का भी इतना फर्क था कि एक तरह से दोनों को एक-दूसरे से चिढ़ थी, फिर भी दोनों एक-दूसरे की सराहना करते थे। कम्युनिस्टों के साथ सरकार के खिलाफ एक दोस्ताना गठबंधन था, जिसे इन दिनों फ्लोर कॉर्डिनेशन के नाम से जाना जाता है। कुछ मुद्दों पर जैसे राजनीतिक कारणों से नजरबंदी या गिरफ्तारी पर दोनों एक साथ आ जाते थे। हीरेन मुकर्जी उनकी हाजिर-जवाबी को भी नहीं भूलते। इसका एक उदाहरण सामने आया था, जब विपक्षी नेताओं को बिना मुकदमा चलाए जेल में बंद किया गया और सरकार की खिंचाई हो रही थी, तब उन्हें सत्ता पक्ष से एक आवाज सुनाई पड़ी—सच का सामना करो। और इसपर उनका जवाब था—कैसे करूँ, मेरा सामना तो सरकारी पक्ष से है! अपनी नई पार्टी को आगे बढ़ाने के लिए अथक प्रयासों के साथ-साथ एक शानदार व्यक्तित्व के स्वामी होने की वजह से संसद् सदस्य के तौर पर भी अपनी जबरदस्त भूमिका निभाते रहे और सही अर्थों में सरकार के गले की हड्डी बन गए, खासतौर पर अपने चिर प्रतिद्वंद्वी जवाहरलाल नेहरू के लिए। 28 मार्च, 1951 को लोकसभा में विदेश मंत्रालय की अनुदानों की माँग पर चर्चा के दौरान उन्होंने लुंज-पुंज पाकिस्तान नीति के लिए सरकार की बखिया उधेड़ दी। खासतौर पर पाकिस्तान के साथ व्यापारिक समझौते और निश्चिंतता के भाव को देखते हुए उन्होंने कहा, ''मैंने आज तक ऐसा दुर्लभ नजारा नहीं देखा, जहाँ एक स्वाभिमानी राष्ट्र दूसरे देश के साथ युद्ध लड़ रहा हो और ठीक उसी समय उस देश को अपने गले लगा रहा हो, जबकि उस देश के लोग युद्ध की तैयारियों में जुटे हैं। आप उस देश के साथ डॉ. जैकिल और मिस्टर हाइड वाली नीति नहीं अपना सकते। आपको उठ खड़ा होना होगा एक इनसान के तौर पर, एक मूलभूत तत्त्व के तौर पर और उस देश के साथ निपटते समय वह रुख अख्तियार करना होगा, जो आपके देश के सर्वोच्च हितों के द्वारा निर्देशित हो। तब से लेकर अब तक साढ़े तीन साल बीत चुके हैं (कश्मीर में युद्ध जैसी स्थिति की शुरुआत)। मैं समझता हूँ, कश्मीर में जंग लड़ने पर खर्च हुए पूरे पैसे का हिसाब लगाएँ तो वे करीब 100 करोड़ रुपयों के करीब बैठता है। हमें दिमाग में सिर्फ पैसों की बात नहीं बिठानी चाहिए, बल्कि हमें कश्मीर में अपने लोगों के बहाए खून और पसीने के बारे में भी सोचना चाहिए। यह वाकई चौंकाने वाला है कि भारत का केस न्यायोचित और सच्चा होने के बावजूद हमें संयुक्त राष्ट्र संघ में शोभायमान कई तथाकथित महाशक्तियों से वह प्रतिक्रिया नहीं मिलती, जिसके हम हकदार हैं। हमें अब इनसे कश्मीर की समस्या सुलझाने में किसी भी तरह की मदद की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। पं. नेहरू ने जनमत-संग्रह का प्रस्ताव रखा था। लेकिन यह संभव नहीं हो सकता कि युद्ध और जनमंत-संग्रह दोनों साथ-साथ चलते रहें। पाकिस्तान युद्ध चाहता था।

''अगर वह अब भी युद्ध चाहता है, तो उसे इसका मजा जरूर चखाना चाहिए। लेकिन उसे यह हक नहीं है कि उसे जनमत-संग्रह भी मिल जाए और दूसरी तरफ वह अन्य प्रकार की साजिश भी करता रहे।''

भारत-पाकिस्तान के बीच व्यापार के मुद्दे पर वे गरजे, ''अगर मैं गलत नहीं हूँ तो हर दिन करीब 250 वैगन कोयला भरकर भारत से पश्चिमी पाकिस्तान जा रहा है। ये किसलिए? न सिर्फ इसलिए कि पाकिस्तान अपने उद्योग-धंधे चला सके या दूसरे जरूरी रोजगार कर सके, बल्कि कश्मीर पर हमले की तैयारी भी कर सके या मौका पड़ते ही कश्मीर पर अपनी नीति को

लागू कर सके। क्या कोई और देश ऐसी आत्मघाती नीति अपनाता है?''

उनके सबसे यादगार भाषणों में से एक था हिंदू कोड बिल पर दिया गया भाषण, जो उन्होंने 17 सितंबर, 1951 में दिया था। उन्होंने पुरजोर तरीके से अखिल भारतीय आम नागरिक संहिता के विचार को उठाया था और कहा था कि इस संहिता को खारिज कर हम एक नई बीमारी के शिकार हो गए हैं, जिसे सेक्युलरिटीज कहा जाता है। संसद् को यह कैसे गवारा होता है कि वह ऐसा कानून बनाती है, जो समुदाय के सिर्फ एक वर्ग पर लागू होता है? उन्होंने सवाल उठाया—''मुझे इसमें पूरा संदेह है कि इस कोड में कुछ ऐसे सुझाव हैं, जिन्हें लागू करने की बात कुछ समुदायों, खासतौर पर मुसलमानों, के बीच कही नहीं जा सकती।'' आगे कहा, ''हम एक पत्नी विवाह की बात को नजरअंदाज कर रहे हैं। मैं कहता हूँ यह शायद ही कोई कहेगा कि एक पत्नी विवाह सिर्फ हिंदुओं के लिए है या बौद्धों के लिए है या सिखों के लिए है।...'' उन्होंने आगे कहा कि जो लोग एक पत्नी विवाह की वकालत कर रहे हैं, वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह सिद्धांत के तौर पर सभ्य है और इसे सभी पर एक समान रूप से लागू किया जाना चाहिए, अगर इस सभ्य दुनिया के हर इनसान पर नहीं भी लागू किया जा सके तो कम-से-कम भारत के हर नागरिक पर लागू किया जाए, जो इस संसद् में बने कानून के प्रति जवाबदेह हैं। लिहाजा एक पत्नी विवाह पर एक अलग बिल क्यों न हो, जो इसे सभी नागरिकों पर लागू करे? ये तर्क कोई भी नहीं दे सकता कि एक पत्नी विवाह सिर्फ हिंदुओं के लिए अच्छा है और दूसरों के लिए नहीं है! हमें एक सामाजिक सिद्धांत को अपनाना चाहिए।'' उन्होंने पूरी ताकत से कहा, ''अगर आप समझते हैं कि एक पत्नी विवाह एक सामाजिक तंत्र के रूप में भारत के लिए सबसे अच्छी चीज है तो इसे सिर्फ हिंदुओं के नजरिए से देखने की कोशिश मत कीजिए। इसे मानवता के नजरिए से देखिए और फिर इसे सब पर लागू कीजिए। एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के जैसा बरताव कीजिए, कम-से-कम इस मुद्दे पर। दोनों हाथों से एक जैसा व्यवहार कीजिए और उन्हें मजबूत करते हुए यह सुनिश्चित कीजिए कि एक पत्नी विवाह भारत के हर नागरिक पर लागू हो।... अगर आप इसे सिद्धांत के तौर पर स्वीकार करते हैं तो इसे अभी पूरे भारत पर लागू कर दीजिए।''

यहाँ इस बात का जिक्र करना महत्त्वपूर्ण है कि हिंदू कोड बिल, जिसे वर्ष 1951 में संसद् में पेश किया गया था, उसे लटका दिया गया और बहुत बाद में उसे चर्चा के लिए लाया गया। यही नहीं, उसे चार अलग-अलग बिलों में बाँट दिया गया; हिंदू मैरिज ऐक्ट यानी हिंदू विवाह कानून के तौर पर पास किया गया, जबकि अब तक कोई भी सरकार बहुविवाह प्रथा और तीन तलाक, जिसके जरिए मुसलमान पति तुरंत और एकतरफा तलाक दे देता है, जैसे मुद्दों पर न तो कुछ कर सकी है, न करना चाहती है।

पार्टी के नतीजे चाहे जैसे भी रहे हों, डॉ. मुकर्जी का कद नई संसद् की विशालकाय इमारत से कहीं कम नहीं था। नई संसद् में 21 मई, 1952 को अपना पहला भाषण देते हुए उन्होंने विपक्ष के प्रति सही नजरिया रखने की एक ईमानदार और भावुक अपील की—''जैसा कि मैं दो दिनों से इस सदन में देख रहा हूँ, मुझे लगता है, और इस सदन के ज्यादातर सदस्यों की यही भावना होगी कि यह स्वतंत्र भारत के प्रतीक के तौर पर दिखता है।... यह इतिहास के महानतम प्रयोगों में से एक है, जो हम यहाँ कर रहे हैं। हम में से हर एक, चाहे हम किसी भी पार्टी या ग्रुप से

संबंध रखते हों, यह जरूरी है कि हम खास समस्याओं के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण रखें और बाकी समस्याओं से उनके अंतर के महत्त्व को भी समझें। हमें हर हाल में इन समस्याओं के समाधान का प्रयास करना चाहिए और उस हल तक पहुँचना चाहिए, जो देश की भलाई के लिए अच्छा हो।'' उन्होंने संक्षेप में मद्रास प्रेसीडेंसी के रायल सीमा और पश्चिम बंगाल के कुछ हिस्सों में भोजन के संकट की समस्या का भी जिक्र किया, जो उस समय की एक मुख्य समस्या थी और जिससे देश जूझ रहा था। उन्होंने जातिवाद, प्रांतवाद और सांप्रदायिकता के बढ़ते खतरे से भी आगाह किया। ये सब मिलकर देश की एकता और अखंडता के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न कर रहे थे। उन्होंने साफ कहा कि सांप्रदायिकता, जातिवाद और प्रांतवाद की निंदा काफी हद तक राष्ट्रपति के अभिभाषण में की गई है और जो सही भी है, उसका फायदा कांग्रेस पार्टी ने चुनाव जीतने के लिए हर मुमकिन मौके पर उठाया है।

उन्होंने जम्मू व कश्मीर की समस्या का भी जिक्र किया, जिसने भारत की एकता और अखंडता को भंग करने का खतरा पैदा कर दिया था। उन्होंने प्रधानमंत्री से कश्मीर में युद्ध लड़ रही भारतीय सेना का खयाल रखने की अपील की और कहा कि जरा शेख अब्दुल्ला के उस ऐलान पर गौर करें, जिसमें कहा गया था कि जम्मू व कश्मीर भारतीय संसद् के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। हमेशा की तरह नेहरू इस बार भी बौखला गए।

''मैं कश्मीर के बारे में डॉ. मुकर्जी से ज्यादा जानता हूँ।'' नेहरू ने टोका। डॉ. मुकर्जी ने भी तत्काल और सधा हुआ पलटवार किया। उन्होंने कहा, ''कुल मिलाकर समस्या यह है कि प्रधानमंत्रीजी को दुनिया भर में किसी भी चीज के बारे में किसी और से ज्यादा जानकारी है और वे किसी दूसरे का सुझाव कभी कबूल ही नहीं करेंगे। अगर मैं उन्हें एक सलाह देता हूँ, तो वो कहते हैं—मैं आपसे ज्यादा जानता हूँ।...अब मैं यह जानना चाहता हूँ, क्या कश्मीरी पहले भारतीय हैं और फिर कश्मीरी या वे कश्मीरी पहले हैं और फिर भारतीय या कश्मीरी पहले, दूसरे और तीसरे हैं लेकिन कहीं से भी भारतीय नहीं हैं? ये बेहद अहम सवाल हैं, जिसका हमें जवाब ढूँढ़ना है।'' उन्होंने बंगाल में हिंदुओं की दयनीय स्थिति का भी वर्णन किया, जो और भी गंभीर रूप धारण करती जा रही थी। उन्हें यह जानकारी मिली थी कि पूर्वी बंगाल से हिंदुओं का बड़ी संख्या में एक बार फिर विस्थापन होने वाला है, जिसकी शुरुआत हो चुकी थी, लेकिन नेहरू ने कहा था कि आँकड़े इसे झुठला रहे हैं।

जहाँ तक दूसरी समस्याओं की बात है, जो डॉ. मुकर्जी के दिमाग में हलचल मचा रही थी, वह थी पूर्वी बंगाल में हिंदुओं की दशा, जो नेहरू के दिमाग में अंतिम स्थान रखती थी। नेहरू ने लियाकत अली के साथ दिल्ली समझौते पर दस्तखत किए थे। इसके बाद ही डॉ. मुकर्जी और के.सी. नियोगी ने इस्तीफा दे दिया, जबकि समझौता उनके लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। वे इस बात को साबित करने पर तुले थे कि समझौते के बाद हिंदुओं के साथ पूर्वी बंगाल में सबकुछ ठीक हो गया है। लेकिन क्यों? क्योंकि लियाकत अली ऐसा कह रहे थे, भले ही हकीकत में हालात कुछ और ही हों। अगर ऐसा है तो ये उनका दुर्भाग्य है। हकीकत में अगर यह स्वीकार कर लिया जाता कि पूर्वी पाकिस्तान में हिंदुओं को प्रताड़ित किया जा रहा है, तो डॉ. मुकर्जी सही साबित हो जाते और नेहरू गलत, मगर जो समझौता था, वह मूर्खतापूर्ण गलती से कम नहीं था।

और भारत का बेताज बादशाह आखिर यह कैसे कबूल करता? इसलिए जब डॉ. मुकर्जी ने कहा कि उन्हें यह जानकारी है कि एक बार फिर विस्थापन शुरू हो गया है तो यह एक जिम्मेदार प्रधानमंत्री का कर्तव्य था कि वह खड़ा हो और कहे कि सरकार इस बात पर गौर करेगी और इसे रोकने के उपाय करेगी; लेकिन इसकी बजाय, एक झल्लाए नेहरू का जवाब था—'सम्मानित सदस्य मेरे बयान को चुनौती दे रहे हैं!' इसके उत्तर में डॉ. मुकर्जी ने कहा कि 'ये चुनौती और चुनौती के जवाब का सिलसिला पूरे सत्र तक चलता रहेगा।'

पूर्वी पाकिस्तान से हिंदुओं, साथ में गिने-चुने ईसाइयों और बौद्धों का निष्कासन (हिंसात्मक और कई दौर में खदेड़े गए) एक घोर अपराध था और मानव अधिकारों का भारी उल्लंघन था। लेकिन इस गंभीर समस्या पर सौ में से एक फीसदी भी ध्यान नहीं दिया गया। हैरानी इस बात की है कि इसका कारण सिर्फ नेहरू की बनाई नीतियाँ नहीं हैं, बल्कि इस अपराध का शिकार हुए लोगों में भी अपराध को छिपाने की प्रवृत्ति है, जिसे सिर्फ स्टॉकहोम सिंड्रोम या जिसे डॉ. मुकर्जी सेक्युलरिटीज कहा करते थे, उसके एक प्रकार के तौर पर परिभाषित किया जा सकता है। डॉ. मुकर्जी ही अकेले ऐसे सदस्य थे, जिन्होंने इस मुद्दे पर बिना किसी लाग-लपेट के सबकुछ साफ-साफ कह दिया। लोकसभा में 10 अगस्त, 1951 के एक भाषण में पूर्वी बंगाल के हालात का जिक्र करते हुए डॉ. मुकर्जी ने कहा कि पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों को खदेड़ने की नीति के तहत हिंदुओं के मकानों पर कब्जा किया जा रहा है, अगवा करने की घटनाएँ हो रही हैं, शिक्षा का इसलामीकरण हो रहा है, आर्थिक बहिष्कार लागू कर दिया गया है और हिंदुओं की प्रताड़ना आम हो गई है। भारत और काफिरों के खिलाफ जेहाद के ऐलान के दुष्परिणाम अल्पसंख्यकों के सामने आ रहे थे। वर्ष 1951 में भी वहाँ करीब 80 लाख से 1 करोड़ के करीब हिंदू रह रहे थे। उन्होंने यह सवाल उठाया कि क्या भारत की उनके प्रति कोई जिम्मेदारी है? सच है कि वे एक अलग देश में रहते हैं, लेकिन क्या हम उन आश्वासनों को भुला सकते हैं, जो प्रधानमंत्रीजी ने उन्हें दिए और जिनका अफसोस सरदार पटेल और देश के अन्य नेताओं को था कि अगर अल्पसंख्यकों से सही बरताव नहीं हुआ तो भारत और स्वतंत्र भारत की सरकार जरूरी कदम उठाने से नहीं हिचकेगी तथा एक अहम भूमिका निभाएगी? नेहरू के अति अंतरराष्ट्रीयतावाद का मजाक उड़ाते हुए उन्होंने कहा कि हमें फॉरमोसा के भविष्य पर खेद है। हम जापान के लोगों के भविष्य को लेकर भी चिंतित रहते हैं। हमें परशिया में तेल पर उठे विवाद के असर पर भी चिंता है। लेकिन हमें उन बहनों और भाइयों के वर्तमान और भविष्य को लेकर जरा भी चिंता नहीं है, जिनके त्याग और बाप-दादाओं के बहाए खून की बदौलत ये महान् और अतिविशिष्ट नेता सत्ताधारी दल के लिए निर्धारित सीटों पर बैठे हैं?

जादवपुर इलाके में बिजॉयगढ़ नाम की एक जगह है, जो उस वक्त कलकत्ता का एक दक्षिणी नगर था। यहाँ पूर्वी बंगाल से आए शरणार्थियों को बसाया गया था, जबकि पश्चिम बंगाल सरकार पूरी तरह इसके खिलाफ थी। इन्हें उजाड़ने के प्रयासों को नाकाम करने वजह से ही इस जगह को बिजॉय (हिंदी में 'विजय') नाम दिया गया था। 19 नवंबर, 1952 को डॉ. मुकर्जी इसी जगह पर पूर्वी बंगाल से आए शरणार्थियों की भारी भीड़ के सामने भाषण दे रहे थे। उन्होंने कहा कि उस वक्त पाकिस्तान आर्थिक संकट से जूझ रहा था और यह सही समय है कि भारत सरकार

उसके खिलाफ आर्थिक प्रतिबंध लगाए और उसे यह सिखाए कि पूर्वी क्षेत्र में उसे हिंदू अल्पसंख्यकों के साथ कैसा सलूक करना चाहिए।

चाणक्य को राज-काज चलाने की कला का गुरु माना जाता है, लेकिन नेहरू को तो उनसे भी ज्यादा जानकारी थी।

चार दिन बाद, 23 नवंबर को, हजारों की संख्या में स्त्री व पुरुष नई दिल्ली के रामलीला मैदान में इकट्ठा हुए थे। इस दिन 'पूर्वी बंगाल दिवस' मनाया जा रहा था। इस अवसर पर बोलते हुए डॉ. मुकर्जी ने माँग रखी कि पाकिस्तान के खिलाफ आर्थिक प्रतिबंध लगाए जाएँ और तमाम व्यापारिक रिश्तों को कुछ दिनों के लिए खत्म कर दिया जाए। इतिहास में एक अलग राष्ट्र की पहचान बनाने का इससे अच्छा मौका नहीं मिल सकता। उन्होंने कहा, ''देश की आबादी के एक वर्ग के धर्म के आधार पर उन करोड़ों लोगों के अधिकारों का दमन किया गया, जो भावनात्मक रूप से एक अखंड भारत में विश्वास करते हैं। उसके बाद की घटनाओं और उन परिस्थितियों का एक संपूर्ण और बेबाक अध्ययन किया जाना चाहिए, न कि शुतुरमुर्ग की तरह मुँह छिपा लेना चाहिए। उन परिस्थितियों में अकर्मण्यता या तुष्टीकरण न तो सम्मानजनक था और न गरिमामय, बल्कि कायरतापूर्ण और पाखंडपूर्ण था।''

उन्होंने बँटवारे के फौरन बाद दो पंजाबों के बीच भयानक विस्थापन और नरसंहार को याद किया। खून-खराबे के बीच एक देश से दूसरे देश की आबादी की जबरदस्ती अदला-बदली हुई और सरकार ने इसके आगे घुटने टेक दिए। डॉ. मुकर्जी के मुताबिक, पूर्वी बंगाल के हिंदुओं ने, जिनकी आबादी करीब 1 करोड़ 40 लाख रही होगी, कभी बँटवारा नहीं चाहा था और जिन्होंने एक अखंड भारत की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया था। उन्हें कांग्रेस पार्टी और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं ने ठोस आश्वासन दिया था कि अगर पाकिस्तान ने उन्हें सताया या प्रताड़ित किया तो भारत की सरकार वहाँ भी उनके जीवन और सम्मान की रक्षा के लिए उनके साथ रहेगी। अब वह वक्त आ गया था, जब इस वादे की परीक्षा ली जानी थी कि यह वादा सच्चा था या एक निर्दयतापूर्ण फरेब, जो अवसरवादी राजनीतिज्ञों ने उनके साथ किया था। पिछले पाँच वर्षों के दौरान करीब 30 लाख लोग अपने घरों से खदेड़ दिए गए और हजारों को कत्ल कर दिया गया या बरबाद कर दिया गया। भारत सरकार ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए पाकिस्तान के साथ तीन बार समझौते किए। इन समझौतों का भी वही हश्र हुआ, जो पहले वालों का हुआ था। पाकिस्तान उनका उल्लंघन करता रहा, और इधर भारत सरकार सोती रही।

भारत सरकार की कमजोर और दुविधापूर्ण नीतियों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि यह निश्चित तौर पर स्थिति बदतर हुई, इससे पाकिस्तान सरकार को हर कदम पर मनमानी करने का हौसला भी मिला है। कौन यह बात कभी सोच सकता था कि एक विदेशी सरकार, जिसने ताकत के दम पर किसी दूसरे देश के हिस्से पर कब्जा जमा रखा है, जैसा कि पाकिस्तान ने कश्मीर के साथ किया है, उसे इसके बावजूद एक साझे का देश समझा जाएगा और आक्रमणकारी देश के खिलाफ कोई भी कारगर प्रतिबंध नहीं लगाए जाएँगे? कश्मीर की धरती पर युद्ध और पाकिस्तान के दूसरे हिस्से में समर्पण व तुष्टीकरण की दोहरी नीति ने अपने लोगों की नजर में ही भारत को गिरा दिया है और उसे मजाक का एक विषय बना दिया है। उन्होंने यह भी कहा—

अब हमें संसद् की ओर देखना है, खासतौर पर लोकसभा या निचले सदन की ओर, जो वर्ष 1952 में हुए चुनाव की वजह से अस्तित्व में आई है। कांग्रेस पूरी ताकत के साथ सत्ता में रहनेवाली सरकार की पार्टी है, जिसके पास 466 सदस्यों वाले सदन में 339 सदस्य हैं और उनके निर्विवादित नेता हैं नेहरू। आश्चर्य नहीं कि वे खुद को एक राजा समझते थे और उसकी ही तरह उनका आचरण भी था! दूसरी तरफ विपक्ष एक पंचरंगा मिश्रण था। कम्युनिस्ट उस समय के हिसाब से एक सशक्त समूह था, उसके 18 सदस्य थे। समाजवादियों के 12 और आचार्य कृपलानी की किसान मजदूर प्रजा पार्टी, जो कांग्रेस से टूटकर अलग हुई थी, के 10 सदस्य थे। इन दोनों के आपस में विलय से बनी प्रजा समाजवादी पार्टी (पी.एस.पी.) की कुल सदस्य संख्या 22 हो गई। कम्युनिस्टों ने उनके साथ गठबंधन बनाना चाहा और उस साझा दल का नेतृत्व पी.एस.पी. के किसी उम्मीदवार को सौंपने का प्रलोभन भी दिया। लेकिन समाजवादी वर्ष 1935-40 के दौरान कम्युनिस्टों के साथ हुए गठबंधन के अनुभव से अब ज्यादा समझदार हो गए थे, सो उन्होंने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

भारतीय जन संघ, जो राष्ट्रीय स्तर की एक और पार्टी थी, उसके सिर्फ 3 सदस्य थे। राम राज्य परिषद्, जिसका गढ़ मुख्यत: मध्य भारत में था, उसके भी 3 सदस्य थे। हिंदू महासभा के 4 और प्रांतीय या स्थानीय पार्टियाँ जैसे उड़ीसा की गणतंत्र परिषद्, अकाली दल—जो पंजाब के सिखों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था, बिहार की जनजातियों की झारखंड पार्टी और तमिलनाडु टॉयलर्स पार्टी के क्रमश: 5, 4, 3 और 4 सदस्य थे। निर्दलीयों की संख्या 33 थी, ये सभी एकजुट कारवाई करने में अक्षम थे। उनमें से कुछ तो जान-बूझकर समझते थे कि उन्हें पूरी तरह निर्दलीय ही रहना चाहिए, जबकि दूसरे अपने निर्दलीय होने का इस्तेमाल अपनी मरजी से या अपने फायदे को देखते हुए करने में यकीन करते थे। इस पंचरंगे विपक्ष की एक और विचारणीय खूबी यह थी कि इसमें प्रतिभा की कमी थी; कम्युनिस्टों के ज्यादातर चोटी के नेता या समाजवादियों और के.एम.पी.पी. के नेता जीतने में असफल रहे थे। विपक्ष में सिर्फ एक आदमी था, जो दूसरों के मुकाबले में खड़ा हो सकता था। वह और कोई नहीं, डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ही थे। जब अगस्त 1952 में संसद् का पहला सत्र समाप्त हुआ तो किसी के भी दिमाग में इस बात पर कोई शक नहीं रह गया था। प्रेस का नियंत्रण सत्ता दल के पास था। वह किसी भी मायने में उनके प्रति नरम नहीं थी, इस बात को वे स्वीकार भी करते थे और अखबारों के कई संपादकीय लेखों में इसपर टिप्पणी भी की गई।

सबसे उल्लेखनीय 'द टाइम्स ऑफ इंडिया' में छपा लेख था, जिसमें कहा गया था कि सरदार पटेल की सोच-समझ की झलक डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी में दिखती है। यह अब तक की सबसे सटीक श्रद्धांजलि थी, क्योंकि डॉ. मुकर्जी ने नेहरू सरकार पर उसी प्रकार नींद से जगाने वाले और लगाम लगानेवाले प्रभाव सरकार के बाहर से डालने की कोशिश की, जो सरदार पटेल जब तक जीवित रहे, सरकार के अंदर से डालने का प्रयास करते थे। डॉ. मुकर्जी का देश की ज्यादातर समस्याओं के प्रति अनिवार्य रूप से वही नजरिया था, जैसा सरदार पटेल का था, जिन्हें उन्होंने 26 जून को कश्मीर पर दिए भाषण में यादगार श्रद्धांजलि अर्पित की। दोनों का ही काम-काज को लेकर व्यावहारिक रवैया था, जिनकी जड़ें भारत में गहरी थीं और जिन्होंने नाम

एवं अंतरराष्ट्रीय ख्याति जैसी चीजों को देश के वास्तविक हितों के सामने कभी अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। बलराज मधोक ने भी उल्लेख किया है कि सरदार पटेल ने नेहरू के साथ तब भी काम करना जारी रखा, जब डॉ. मुकर्जी ने कैबिनेट से इस्तीफा दे दिया, क्योंकि वे यह जानते थे कि उनके हटने का मतलब होगा कांग्रेस का अंत। अपनी बेहतर सोच-समझ के बावजूद उस संगठन के प्रति प्रेम, जिसे उन्होंने अपने लहू से सींचा था, सरदार पटेल किसी तरह नेहरू के साथ जुड़े रहे।

पहली निर्वाचित लोकसभा के पहले सत्र में कई यादगार भाषणों में से एक, जो डॉ. मुकर्जी ने दिए थे, जो उन्होंने राज्यों की सीमाओं को फिर से तय किए जाने पर दिया था, उसका उल्लेख अलग से किया जाना जरूरी हो जाता है। जैसा कि पहले कई अवसरों पर हो चुका है, इसमें डॉ. मुकर्जी की राजनीतिक दूरदर्शिता और शासन-कौशल का परिचय मिलता है। उन्होंने प्रवाह की नीति की कड़ी आलोचना, जिसका अनुसरण सरकार कर रही थी और कहा, ''इससे पहले कि हालात बिगड़ जाएँ, मैं इस सदन में याचना करना चाहता हूँ कि इस प्रश्न पर गहराई से विचार करना चाहिए··· शुतुरमुर्ग जैसी नीति अपनाने का कोई फायदा नहीं और यह सोच लेने का भी फायदा नहीं मिलेगा कि सब ठीक है। अगर आप कहते हैं—हम किसी भी वजह से भारत की सीमाओं का पुनर्निर्धारण नहीं करेंगे, अगर यही सरकार की नीति है, तो उन्हें इसकी घोषणा करनी चाहिए और इसके परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। तब लोगों को पता चलेगा कि वे कहाँ हैं? अगर आप कहते हैं कि फिर से बँटवारे का आधार उन उद्घोषणाओं को बनाया जाएगा, जो कांग्रेस ने पिछले 35 वर्षों में की हैं तो इस मुद्दे को उन संबंधित दलों को तय मत करने दीजिए, बल्कि उन्हें अपने हाथों में ले लीजिए। यह पं. नेहरू से मेरी अपील है। वे खुद इस मामले में पहल करें, एक आयोग का गठन करें, सलाहकारों की नियुक्ति करें या जानकारी के लिए उस इलाके के चोटी के नेताओं का सम्मेलन बुलाएँ और मसले को इस तरह सुलझाएँ कि एक सुखद नतीजा निकले, जो सभी पक्षों को मंजूर हो। यह बहस में बढ़त हासिल करने के मुद्दे नहीं हैं, न तो कांग्रेस की तरफ से और न गैर-कांग्रेस पक्ष से। यह एक पहले दर्जे की राष्ट्रीय समस्या है, जिसे राष्ट्रीय स्तर पर सुलझाने की जरूरत है, न कि एक दल के स्तर पर।

जैसा कि आज हम सब जानते हैं, नेहरू एवं उनकी सरकार ने कुछ नहीं किया और स्थिति को बस समय के साथ चलते रहने दिया। ये सब डॉ. मुकर्जी पहले ही भाँप चुके थे, खासकर तब जब तेलुगु-भाषी इलाके को मद्रास प्रेसिडेंसी से अलग कर आंध्र प्रदेश राज्य बनाने की माँग के लिए अनशन कर रहे पोट्टी श्रीरामुलू की शहादत हुई।

इसके बाद जिस प्रकार अराजकता और बरबादी का अभियान छिड़ा, उसने सरकार को हरकत में आने पर मजबूर कर दिया। पानी सिर से निकल जाने के बाद सरकार ने वर्ष 1957 में राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति का फैसला किया, जिसे देश भर में राज्यों की सीमाएँ तय करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। इसके बाद भी बँटवारे की आवाज उठती रही। अगला कदम था दो भाषाओं वाले बंबई राज्य का गुजरात और महाराष्ट्र के रूप में बँटवारा। इसके बाद पंजाब और असम अलग हुए और यह सिलसिला जारी रहा। लेकिन ये सब तब अलग हुए जब कोई आंदोलन छिड़ा या इनकी वजह से जब सरकार हिली और हरकत में आई, वैसे ही जैसा कि आंध्र

प्रदेश के मामले में हुआ। डॉ. मुकर्जी की शासनकला और दूरदर्शिता का संकेत उनके इस सुझाव से भी मिलता है, जिसमें उन्होंने कहा कि सरकार इस बारे में एक नीति बनाए, न कि जो चल रहा है, उसे चलते रहने दे और फिर कभी एक तो कभी दूसरे आंदोलन से जूझती रहे; क्योंकि एक आंदोलन के बाद दूसरे आंदोलन की शुरुआत का सिलसिला चलता रहता है।

डॉ. मुकर्जी किसी की आलोचना सिर्फ आलोचना करने की नीयत से नहीं करते थे, ऐसे मौकों पर वे सरकार की प्रशंसा करने से नहीं चूकते थे, जब कोई सराहनीय काम किया गया हो। इसे ही सकारात्मक आलोचना का नाम दिया गया है। पहली पंचवर्षीय योजना पर 16 दिसंबर, 1952 को उनके भाषण में इसका परिचय बखूबी मिलता है। ठीक उसी समय उन्होंने वित्त के लिहाज से अनिश्चित और गैर-भरोसेमंद उपायों की तरफ ध्यान दिलाया, जिनके दम पर योजना तैयार की गई थी; जबकि शिक्षा, स्वास्थ्य और औद्योगिक आत्म-निर्भरता के प्रति कोई ध्यान नहीं दिया गया। यहाँ भी उनकी दूरदर्शिता साबित हुई, जब आगे चलकर यह महसूस किया गया कि सरकार की ओर से आमदनी की चिंता किए बगैर जिस हिसाब से पैसे बहाए जा रहे थे, उससे देश का मुद्राकोष खाली होता जा रहा था और विकास की गतिविधियों के लिए पैसे जुटाने का बोझ देश की आम जनता पर भारी टैक्स वसूल कर डाला जा रहा था। ज्यादा टैक्स लगाने का नतीजा बड़े पैमाने पर कर चोरी, कर से बचने और भ्रष्टाचार के रूप में सामने आया। शिक्षा और स्वास्थ्य की उपेक्षा पर उनके बयान किसी संत की वाणी से कम नहीं थे, जैसा कि इस बात से साबित हो चुका है कि आजादी के 65 साल बाद भी देश में अब तक पूर्ण साक्षरता और सबके लिए पेयजल का इंतजाम नहीं हो सका है।

उन्होंने सरकार का ध्यान खासतौर से इस ओर दिलाया कि जब तक लोगों में उत्साह जगाकर और उनके सहयोग के साथ योजना में उनकी भागीदारी सुनिश्चित नहीं की जाती, तब तक योजना के उद्देश्यों को हासिल नहीं किया जा सकेगा। उन्होंने कहा कि लोगों का सहयोग तभी मिल सकेगा, जब सत्ता में बैठी पार्टी योजना को देश के लिए लागू करेगी, न कि पार्टी के लिए। आम लोगों का सहयोग तभी मिलेगा, जब कुछ अनिवार्य शर्तों को पूरा किया जाए। अगर आप एक ईमानदार कोशिश के साथ कहेंगे कि आप ऐसी अर्थव्यवस्था बनाना चाहते हैं, जो सिर्फ संपन्न वर्ग के लिए या कुछ गिने-चुने लोगों के लिए न हो, बल्कि उन लाखों दबे-कुचले लोगों के लिए है, योजना न सिर्फ कागजी हो, बल्कि हकीकत में लागू की जाए। अगर आप यह संदेश उन तक पहुँचाएँगे, उनका सहयोग जरूर मिलेगा, वो आगे आकर कहेंगे कि हम आपको सहयोग करने के लिए तैयार हैं। उन्होंने जोर देकर कहा, ''हम लोग एक-दूसरे के आमने-सामने बैठे दुश्मन नहीं हैं।''

''आप जैसा अपने देश के लिए महसूस करते हैं, वैसा ही हम अपने देश के लिए। हम चाहते हैं कि देश का विकास हो। हम जानते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता के तब तक कोई मायने नहीं हैं और वे निष्फल हैं, जब तक कि इसके बाद आर्थिक स्वतंत्रता और सामाजिक समानता न आ जाए। लेकिन हमें पार्टी के हिसाब से नहीं चलना चाहिए। हममें ज्यादा सहिष्णुता होनी चाहिए, दूसरे व्यक्ति की सोच की थोड़ी और प्रशंसा करनी चाहिए। अगर हममें से कुछ आपसे सहमत नहीं होते, आपसे आँख मिलाकर बात नहीं करते तो तुरंत यह मत सोचिए कि हम

साजिशकर्ता हैं और देश के दुश्मन हैं। हम यहाँ देश की सेवा करने आए हैं। मैं जो बोल रहा हूँ, सच्चे मन से बोल रहा हूँ।''

उस सत्र में उनके महान् अभिभाषणों में एक था, जो उन्होंने निवारक निरोध बिल पर 2 अगस्त, 1952 को दिया था, जिसे डॉ. के.एन. काटजू ला रहे थे। इसने कम्युनिस्ट समेत न सिर्फ पूरे विपक्ष को डॉ. मुकर्जी के पक्ष में ला खड़ा किया, बल्कि डॉ. काटजू ने भी पूरी तरह घुटने टेक दिए। डॉ. मुकर्जी के अंदर लोकतंत्र और आजादी के प्रति प्रेम ने उन्हें सुनवाई के बगैर कारावास के सिद्धांत का विरोधी बनाया था। सत्ता पक्ष को जिस बात ने सबसे ज्यादा हैरान और परेशान किया, वह थी उनकी सरकारी पक्ष के भाषणों और उनके लेखों में से सटीक अंशों को चुनने की अद्भुत क्षमता। सिर्फ मौजूद नेताओं के ही नहीं, डॉ. मुकर्जी उनके पूर्ववर्ती नेताओं जैसे मोतीलाल नेहरू की बातों को उठाकर भी उन सिद्धांतों की निंदा करते थे, जिन पर उस बिल को तैयार किया गया था और जिसे उन्होंने दुनिया के किसी भी सभ्य हिस्से में किसी भी लोकतांत्रिक संविधान के खिलाफ बताया, सिवाय उन हालात के, जो आपातकाल या संकट में पैदा होते हैं। कुछ लोग बताते हैं (हालाँकि ये दर्ज नहीं है) कि एक बार उन्होंने शरारतपूर्ण मजाक किया, जब पं. मोतीलाल नेहरू के बयान का उल्लेख करते हुए वे जान-बूझकर उनका पहला नाम छोड़ते हुए अपनी बात कह गए, इस पर नेहरू उछल पड़े और कहा, 'मैंने ऐसा कभी नहीं कहा!' इसके बाद बारी डॉ. मुकर्जी की थी, उन्होंने कहा कि जिस नेहरू की बात हो रही है वो आपके दिवंगत पिता हैं। उन्होंने शब्दश: यह भी उद्धृत किया और वो भी असरदार तरीके से महज अज्ञात और अकसर निराधार शक के आधार पर बिना किसी आरोप या सुनवाई के की गई गिरफ्तारी प्राकृतिक न्याय के तमाम विचारों और सभ्य प्रशासन के सभी सिद्धांतों के खिलाफ है। यह उद्धरण एक पुस्तक से था, जिसका उन्होंने न नाम बताया, न लेखक के नाम का खुलासा किया, जिसकी वजह से काटजू ये पूछने पर मजबूर हो गए कि आखिर उस पुस्तक का क्या नाम है, जिससे सम्मानित सदस्य ने इसे उद्धृत किया। इसी मौके की तलाश में थे डॉ. मुकर्जी, जिन्होंने सहर्ष कहा कि मैंने यह किसी और की पुस्तक से पढ़कर नहीं सुनाया, बल्कि यह पुस्तक खुद कैलाश नाथ काटजू की है। काटजू इसके बावजूद खुद अपनी बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। अपनी पार्टी के प्रचंड बहुमत की वजह से पूरी तरह आश्वस्त काटजू हर उस तर्क को सिर हिलाकर खारिज कर रहे थे, जो डॉ. मुकर्जी दे रहे थे। यह देखकर डॉ. मुकर्जी ने जो जवाब दिया, उसे करीब-करीब सब जानते हैं—वह (डॉ. काटजू) कभी कुछ नहीं सीखेंगे। सबकुछ तो भूल ही जाइए और सबकुछ का गड़बड़ घोटाला कर देंगे।

पूर्वी बंगाल के हिंदुओं की कहानी की संक्षेप में चर्चा हो चुकी है, लेकिन जम्मू व कश्मीर की कहानी अभी बाकी है, जो उनकी जीवनी में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। लिहाजा अब यह जरूरी हो गया है कि सीधे जम्मू व कश्मीर की बात की जाए, ताकि वहाँ की परिस्थिति को समझा जा सके। इस क्रम में उस राज्य का एक संक्षिप्त परिचय देना भी जरूरी हो जाता है।

जम्मू व कश्मीर क्षेत्रफल के हिसाब से ब्रिटिश भारत का सबसे बड़ा राज्य था, जो 84,471 वर्ग मील में फैला था। इसके निम्नलिखित व्यापक भौगोलिक प्रभाग थे—जम्मू, जो हिंदू बहुल इलाका था, यहाँ डोगरी बोलनेवाले लोग बसे थे, जो हिंदू सांस्कृतिक परंपराओं और स्थानीय

रीति-रिवाजों को मानते थे; मशहूर कश्मीर की घाटी, जहाँ सुन्नी मुसलमान बहुलता (93 प्रतिशत) में थे, जबकि हिंदुओं की अल्पसंख्यक आबादी (7 प्रतिशत) थी, जिन्हें पंडित के रूप में जाना जाता है। दोनों ही समुदाय एक ही भाषा कश्मीरी बोलते थे और उर्दू लिखते थे। मुजफ्फराबाद-मीरपुर का इलाका, जो घाटी के सबसे पश्चिमी हिस्से में थे और जो झेलम के किनारे बसे थे, वहाँ पंजाबी बोलनेवाले मुसलमान बड़ी संख्या में थे, साथ ही अल्पसंख्यक सिख भी अच्छी खासी संख्या में थे। सुदूर उत्तर में गिलगिट और बाल्टिस्तान थे, जो दो मशहूर पर्वत-शृंखलाओं हिंदूकुश और कराकोरम के संधि-स्थल पर बसे थे, साथ ही उनका एक किनारा पामीर पठार से भी जुड़ा था। यहाँ पहाड़ी इलाकों में छिटपुट आबादी बसी थी। राज्य के पूर्वोत्तर कोने में बसा था लद्दाख, व्यावहारिक रूप से अलग-थलग सिवाय विरल जोजीला दर्रे को छोड़कर, जहाँ ज्यादातर तिब्बती महायान बौद्ध और कुछ हद तक शिया मुसलमान रहते थे, जो धर्म के लिहाज से और भाषा सुन्नी कश्मीरी मुसलमानों से एकदम भिन्न थे। इनके अलावा कई पर्वतीय इलाके भी थे, जहाँ छिटपुट आबादी थी या वे एकदम निर्जन थे, जैसे जांस्कर क्षेत्र और अकसाई चीन। जिस प्रकार आबादी का मुख्य तत्त्व के रूप में जिक्र किया गया है, उसे छोड़ दें तो कुछ छोटे कबाइली समहू थे, जैसे गुर्जर और बकरवाल। इनकी अपनी ही भाषा और रीति-रिवाज थे।

ब्रिटिश शासन के अंतिम चरण के दौरान इस राज्य पर डोगरा राजा हरिसिंह का राज था। नेहरू ने इस राज्य के भारत में विलय के मुद्दे पर जितनी लापरवाही दिखाई और इसे कभी खत्म न होने वाली समस्या बना दिया, उसका वर्णन अध्याय 10 में किया गया है। हालाँकि इस समस्या का एक और पहलू भी था। हरिसिंह के शासनकाल के दौरान कश्मीरी पंडितों और जम्मू के डोगरा लोगों को कुछ अलिखित विशेषाधिकार मिले हुए थे, जिन्हें कश्मीरी मुसलमान ईर्ष्या के भाव से देखते थे। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में जब श्रीनगर में सरकार बनी, तब सत्ता का झुकाव पूरी तरह से कश्मीरी मुसलमानों की तरफ हो गया और सरकार ने भी हिसाब बराबर करने का फैसला कर लिया। डोगरा और जम्मू के लोगों के लिए प्रताड़ना व उपेक्षा का दौर शुरू हो गया। इस समय कुछ वक्त के लिए पंडितों को बख्श दिया गया, लेकिन उनकी बदनसीबी कई वर्षों बाद उनपर चोट करने वाली थी, 1980 के दशक के अंतिम दौर में। इस बीच बड़ी संख्या में पंडितों ने काम की तलाश में घाटी छोड़ी और भारत के कई हिस्सों में फैल गए। डोगरा लोगों और जम्मू इलाके के बाकी लोगों के मुद्दे को जम्मू व कश्मीर प्रजा पार्टी ने उठाया, जिनका शेख अब्दुल्ला की सरकार ने पुरजोर विरोध किया। नेहरू ने शेख अब्दुल्ला पर जो भरोसा जताया था, उसे ठीक-ठीक कहा जाए तो बचकाना था, कम-से-कम अगस्त 1953 तक, जब उन्होंने अब्दुल्ला को बेदखल करने और गिरफ्तार करने का फैसला किया। चूँकि जन संघ प्रजा परिषद् के संघर्ष को समर्थन दे रहा था, नेहरू को गुस्सा आ गया और उन्होंने तत्काल सांप्रदायिकता की रट लगानी शुरू कर दी—और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि आंदोलन हिंदुओं के द्वारा चलाया जा रहा था, जो मुख्य रूप से एक मुसलमान सरकार द्वारा सताए गए और अपने को वंचित महसूस कर रहे थे।

इस बीमारी के शिकार लोगों को डॉ. मुकर्जी सेक्युलरिटीज कहते थे, जिसके मुताबिक एक मुसलमान कभी गलत काम नहीं कर सकता।

मगर यह भी तय था कि डॉ. मुकर्जी यह सब चुपचाप सहनेवाले नहीं थे। सांप्रदायिकता के आरोप का जिक्र करते हुए, जिसका इस्तेमाल उन्हें उनके संगठन और इसके साथ ही प्रजा परिषद् को भी बदनाम करने के लिए किया जा रहा था, उन्होंने प्रधानमंत्री से पूछा कि वे बताएँ, उनके या उनकी पार्टी में ऐसा क्या सांप्रदायिक है? या तो वे स्पष्ट बताएँ या इसकी रट लगाना बंद करें और फिजूल के आरोप लगाना भी छोड़ें। वे गरजे, ''मैं जानता हूँ कि प्रधानमंत्री हम सभी पर सांप्रदायिकता का आरोप लगाते हैं। उन्हें जब कोई दलील नहीं सूझती तो यही उनका जवाब होता है। मैं पूरी तरह तैयार हूँ। मैं कोई चुनौतीपूर्ण सुझाव नहीं दे रहा हूँ, क्योंकि मैं इस बेबुनियाद आरोप को सुन-सुनकर ऊब चुका हूँ, चलिए हम इस मुद्दे पर बहस की एक तारीख तय करते हैं और इसपर विस्तार से चर्चा करते हैं। सरकार को अपने आरोप सामने लेकर आने दीजिए। चलिए, हमें भी जवाब देने का एक मौका दीजिए। हम इस देश में सांप्रदायिकता नहीं चाहते। हम उसे धर्म या जाति के आधार पर नहीं चाहते, जहाँ देश का एक वर्ग दूसरे के खिलाफ नफरत की भावना रखता हो। हम ऐसा समाज बनाना चाहते हैं, जहाँ विभिन्न धर्मों के लोग मिल-जुलकर नागरिकों के तौर पर रह सकें और जिनके अधिकार भी समान हों। लिहाजा, अगर सरकार इस प्रकार के किसी आरोप-पत्र के साथ आना चाहती है तो यह तभी जायज और सही होगा, जब ये आरोप सही मायने में आरोप होने चाहिए, ताकि हम एक-दूसरे के नजरिए को अच्छी तरह समझ सकें। हममें मतभेद हो सकते हैं। हम असहमत होने के लिए ही सज्जनतापूर्वक सहमत हों और सिर्फ आरोप-प्रत्यारोप और एक-दूसरे को अपशब्द न कहें; क्योंकि इसका कोई नतीजा नहीं निकलेगा।''

डोगरों के उत्पीड़न और दमन का विरोध करते हुए उन्होंने कहा, ''आप डोगरों को खत्म नहीं कर सकेंगे। मैंने उनमें से कुछ को देखा है, वे बेहतरीन लोग हैं। यह देखकर मेरी आँखें छलक जाती हैं। मैंने कुछ पुरुषों और महिलाओं को देखा है। वे महान् हैं, देशभक्त हैं, निडर लोग हैं। वे अब तक हिंसक नहीं हुए हैं। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि अगर कोई आंदोलन करना है, विरोध-प्रदर्शन करना है, तो इसका आधार अहिंसा को बनाया जाना चाहिए; क्योंकि आप राज्य की संगठित हिंसा से नहीं लड़ सकते और फिर आप लोगों की सहानुभूति भी खो देंगे। यह सवाल है नागरिक अधिकारों का। यह सवाल है उनके जीवन-मरण का, उनके वजूद का! उन पर यकीन कीजिए। मैंने पं. प्रेमनाथ डोगरा को देखा है, जिनकी मैं तहे दिल से इज्जत करता हूँ। मैं इसके लिए शर्मसार नहीं हूँ। मैंने अपने जीवन में कई लोगों से मुलाकात की है। हो सकता है, कुछ लोग अच्छे हों या बुरे हों या प्रेमनाथ डोगरा से भी महान् हों। वे एक वफादार नागरिक हैं और सबकुछ चुपचाप सहन करनेवाले भी हैं। वे एक नेता हैं, जो कभी अपना विवेक नहीं खोते। अब भी प्रधानमंत्रीजी से मेरी यही अपील है कि हम बीती बातों को भुला दें। उन्हें सफाई का एक मौका दें। वे इस चुनौती पर खरे उतरेंगे। वे शेख अब्दुल्ला के साथ मिलकर अच्छा काम करेंगे। मैं एक पल के लिए भी यह नहीं सोचता कि आपको सरकार को अपमानित करना चाहिए; क्योंकि तब आप किसको अपमानित करते हैं? खुद अपनी सरकार को, जिसे हमारे ही देश के लोगों ने चुना है।

''यहाँ सवाल एक-दूसरे को अपमानित करने या यहाँ एक अंक हारने और वहाँ एक अंक

जीतने का नहीं है। यहाँ सवाल एक मुद्दे को सुलझाने का है, जो राष्ट्रीय महत्त्व का है, जो भारत के एक बड़े हिस्से की शांति व खुशियों को तबाह कर देगा। मैं अपील करता हूँ प्रधानमंत्रीजी से कि वे कुछ करें, इससे पहले कि बहुत देर हो जाए।''

लेकिन यह अध्याय 7 अगस्त, 1952 को लोकसभा में दिए उनके भाषण का जिक्र किए बिना पूरा नहीं होगा। यह एक लंबा-चौड़ा भाषण था, जिसमें उन्होंने कश्मीर की समस्या पर विस्तार से चर्चा की और इसके सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला। भाषण में उन्होंने सरकार की कश्मीर-नीति में विसंगतियों और खामियों को स्पष्ट रूप से गिनाया। लेकिन सबसे ज्यादा उन्होंने शेख अब्दुल्ला की हेकड़ी का जिक्र किया, जिसे सरकार की भी मौन सहमति मिली हुई थी, जबकि ऐसा करने या कुछ भी न करने का मतलब कितने बड़े खतरे को चुनौती देना था, इसकी शायद उसे समझ नहीं थी। उन्होंने अपने भाषण की शुरुआत इस बेझिझक स्वीकारोक्ति से की कि केंद्रीय कैबिनेट के एक सदस्य के तौर पर वे कश्मीर की समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाने के फैसले में शामिल थे, जिसने बिला वजह एक द्विपक्षीय विवाद का अंतरराष्ट्रीयकरण कर दिया। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने कहा कि इस फैसले के पीछे उस समय के कुछ ऐसे हालात थे, जिनका जिक्र करने की आजादी उन्हें नहीं है। उन्होंने कहा, ''यह कहा गया है कि जब कश्मीर मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाया गया तो मैं उस फैसले का एक अंग था। ये तथ्य बिलकुल सही है। मुझे अधिकार नहीं है और मैं चाहता भी नहीं कि मैं बताऊँ कि वे असाधारण परिस्थितियाँ क्या थीं, जिनकी वजह से वह फैसला लिया गया। हम विलय के सवाल पर संयुक्त राष्ट्र संघ में नहीं गए थे, क्योंकि विलय तब एक सर्वविदित तथ्य था। जहाँ तक कि कश्मीर के मुद्दे की बात है तो किसी तरह से अब हमें इसे वापस ले लेना चाहिए।''

इसके पश्चात् उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि चूँकि उस राज्य का भारत संघ में विलय अंतिम रूप से हो चुका है, और यह किसी संदर्भ से जुड़ा नहीं है तो फिर कोई कारण नहीं कि कश्मीर को कोई विशेष दर्जा दिया जाए, जो सरकार की नीति में विसंगति की मूल वजह थी। इस प्रक्रिया में उन्होंने सरकार की दोमुँही नीति की कड़ी आलोचना की और कहा, ''हम कहते हैं कि कश्मीर भारत का एक अंग है। यह है भी, परंतु भारत का एक हिस्सा आज भी दुश्मनों के कब्जे में है और हम असहाय हैं! हम शांति के पुजारी हैं, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन शांति के पुजारी किस हद तक? क्या इस हद तक कि अपने इलाके के एक हिस्से पर दुश्मन को कब्जा करने दें?... क्या ऐसी कोई उम्मीद है कि हम दोबारा उस इलाके को हासिल कर सकेंगे? यह संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों से हमें नहीं मिलने वाला है, हमें यह पाकिस्तान के साथ बातचीत और शांतिपूर्ण तरीकों से भी नहीं मिल सकता है। इसका मतलब है कि हमने इसे खो दिया है, तब तक कि हम ताकत का इस्तेमाल न करें और ऐसा करने के लिए प्रधानमंत्रीजी राजी नहीं हैं। चलिए, हम सच्चाई का सामना करें। क्या हम इसे खोने के लिए तैयार हैं? यह कहा गया है कि संविधान में कुछ प्रावधान हैं कि हम कुछ वचनों से बँधे हैं, जो हमने दिए हैं। वचन? बेशक, हमने कई वचन दिए हैं। अगर हम वचनों की बात करें तो हमने कई मौकों पर वचन दिए हैं।

''हमने पूर्वी बंगाल के अल्पसंख्यकों को भी वचन दिया था, जो स्वतंत्रता हासिल करने के बाद दिए गए थे। किसी दिन प्रधानमंत्री ने कहा था कि अगर कश्मीर का भारत में विलय नहीं

होता और जब कश्मीर पर घुसपैठियों ने हमला किया था, तब मानवीय आधार पर भारतीय सेना कश्मीर मार्च करती थी और व्यथितों व शोषितों की रक्षा कर रही थी। मैं गौरवान्वित हुआ। लेकिन अगर मैं वैसा ही बयान दूँ, या उससे मिलता-जुलता सुझाव दूँ, जिससे हमारे 90 लाख भाई-बहनों के जीवन और उनके सम्मान की रक्षा हो सके, जिनके त्याग की वजह से हमें आजादी मिली, तो मैं सांप्रदायिक बन जाता हूँ, मैं प्रतिक्रियावादी और युद्ध की बात करनेवाला बन जाता हूँ!''

डॉ. मुकर्जी ने कहा, ''शेख अब्दुल्ला ने कश्मीर की संविधान सभा में तीन या चार महीने पहले कहा था, और वे शब्द अब तक वापस नहीं लिये गए हैं, जबकि उनकी वजह से तमाम हिंदुस्तानियों के दिमाग में अच्छी-खासी गलतफहमी पैदा हुई। मैं नहीं जानता कि प्रधानमंत्रीजी ने इसे पढ़ा भी है या नहीं।

''हम सौ फीसदी एक संप्रभु संस्था हैं। कोई भी देश हमारी तरक्की की राह में रोड़े नहीं अटका सकता। न तो भारतीय संसद् और न ही इस राज्य से बाहर की किसी भी संसद् का हमारे राज्य पर कोई अधिकार है।

''और फिर झंडा। झंडे का अपना एक महत्त्व होता है। प्रधानमंत्री के यह कहने से नहीं चलेगा कि यह भावनात्मक मुद्दा है। यह अखबारों में तीन दिन पहले घोषित किया गया था कि भारतीय झंडा सिर्फ दो औपचारिक मौकों पर फहराया जाएगा, अन्यथा सिर्फ राज्य का झंडा ही लहराएगा। अगर आपको लगता है कि भारत की एकता व अखंडता पर असर नहीं पड़ेगा और इससे विखंडनकारी ताकतें पैदा नहीं होंगी तो इसे स्वीकार कीजिए और हमेशा के लिए इसे भूल जाइए। लेकिन आप ऐसा क्यों करते हैं, लगता है, जैसे आपने शेख अब्दुल्ला की माँगों के आगे घुटने टेक दिए हों?

''वे खुद को प्रधानमंत्री कहना चाहते हैं। उसी लिहाज से उन्होंने शुरुआत भी की थी। हममें से कुछ को यह बात पसंद नहीं आई। हम कश्मीर समेत भारत में एक ही प्रधानमंत्री को जानते हैं, जो यहाँ बैठे हैं। आखिर दो-दो प्रधानमंत्री कैसे हो सकते हैं—एक प्रधानमंत्री दिल्ली में और दूसरा प्रधानमंत्री श्रीनगर में? जहाँ तक आपातकालीन प्रावधानों की बात है, यह चौंकानेवाला रवैया है। अगर आंतरिक गड़बड़ी की वजह से कोई इमरजेंसी है तो आखिरी समय में भारत के राष्ट्रपति को कुछ कहने का अधिकार नहीं है। भला भारत के राष्ट्रपति से ऐसा भी क्या डरना! मैं अपनी बात इस रचनात्मक सुझाव के साथ खत्म करना चाहूँगा। मैं कहना चाहता हूँ कि हमें कुछ मानदंडों के हिसाब से आगे बढ़ना चाहिए। सबसे पहले राष्ट्रपति के पास जो आदेश देने के अधिकार हैं, संविधान के प्रावधानों में हेर-फेर करनेवाले नहीं हैं। आप इन सभी तत्त्वों पर विचार कीजिए और फिर अपने प्रावधानों को इतना लचीला बनाइए कि आप उन्हें या तो पूरे भारत पर लागू कर सकें या सिर्फ उन हिस्सों में लागू कर सकें, जहाँ भारत की संसद् समझती है कि इस प्रकार का विशेष दर्जा दिए जाने की जरूरत है।

''संवैधानिक तौर-तरीकों के अनुसार आगे बढ़िए, न कि संविधान से खिलवाड़ करके। यह एक पवित्र दस्तावेज है और यह वो दस्तावेज है, जो कठिन परिश्रम और पर्याप्त सोच का परिणाम है। अगर आपको लगता है कि कुछ बदलाव जरूरी हैं, ताकि भारत में धीरे-धीरे विकसित होते

जा रहे नए ढाँचे का खयाल रखा जा सके, चाहे वह कश्मीर में हो या भारत के किसी अन्य हिस्से में, तो देश के लोगों को अपने विचार प्रकट करने का पर्याप्त अवसर दिया जाना चाहिए।''

अंत में, इस बात का खयाल रखते हुए कि शेख एक कश्मीरी मुसलमान है। और उसके लिए राज्य के बाकी लोगों के साथ भेदभाव करना उपयुक्त ही है, जैसे कि डोगरा, लद्दाखी, गुर्जरों, बकरवालों और करगिल इलाके के शिया मुसलमानों के साथ। उन्होंने चेतावनी दी—''वही अधिकार, जो आप आज कश्मीर के लिए माँग रहे हो, वही जम्मू व लद्दाख के लोग माँगेंगे। हमें दोस्ताना माहौल में आगे बढ़ना चाहिए। शेख अब्दुल्ला ने एक महीने पहले खुद ही कहा था कि उन्हें इस बात पर ऐतराज नहीं होगा। अगर जम्मू और लद्दाख के लोग भारत के साथ जाना चाहते हैं तो उन इलाकों में रहनेवालों के लिए यह मुमकिन बनाया जाना चाहिए कि वे अपना मन बना सकें कि उनके लिए किस ओर जाना सही रहेगा, और यह उस आत्मनिर्भरता के सिद्धांत के अनुसार भी होगा, जो शेख अब्दुल्ला की मूल माँगों में शामिल है और जिसका समर्थन प्रधानमंत्रीजी करते हैं।

□

14

प्रजा परिषद् का जम्मू आंदोलन

(1952-53)

जम्मू व कश्मीर में असाधारण परिस्थिति काफी हद तक पं. जवाहरलाल नेहरू के एक-तरफा युद्धविराम (अध्याय 10 देखें) जैसे दिवालिया कदम की वजह से उत्पन्न हुई थी। यह बात डॉ. मुकर्जी के दिमाग में उस वक्त भी घूम रही थी, जब वह अपनी नवजात पार्टी को एक आकार देने में बेहद व्यस्त थे और जिसके बाद वह 1952 के चुनाव में कूदे। अब जबकि यह काम खत्म हो चुका था और पूर्वी बंगाल में कोई नया संकट सामने नहीं आया था, तब उन्हें जम्मू व कश्मीर में पैदा हुए हालात और उसकी वजह से आनेवाले खतरे का एहसास हुआ, जिसके बाद उन्होंने उस राज्य पर अपना पूरा ध्यान केंद्रित करना शुरू कर दिया। राज्य पर शेख अब्दुल्ला की नेशनल कॉन्फ्रेंस का शासन था और नेहरू ने उसे बिना किसी शक-सुबहा के अपना पूरा समर्थन दे रखा था, संभवतः इस उम्मीद में कि उसके समर्थन से वह उस राज्य का एकीकरण भारतीय संघ के साथ कर सकेंगे। वही पुरानी कहानी और कांग्रेस की वही तुष्टीकरण की परंपरा और गोद में जाकर बैठने की वह आदत थी, जो गांधी के खिलाफत आंदोलन के समर्थन से शुरू हुई थी और गांधी-जिन्ना की वर्ष 1944 में हुई वार्त्ता तक चलती रही। वह नीति जो अकसर विफल रही थी, इस बार कश्मीर में भी विफल हुई। शेख कहीं से भी भारतीय नहीं थे, लिहाजा उन्हें बेदखल करना पड़ा और गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन यह सब तो बाद में हुआ, उस वक्त तो शेख को खूब मजा आ रहा था और उनके मन में जो आता था, वह करते थे तथा जो कहने की इच्छा होती थी, कह देते थे। कहा जाता है कि पूर्ण शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट बना देती है और शेख इसके अपवाद नहीं थे। नतीजा यह हुआ कि राज्य में बेहद गंभीर समस्याएँ खड़ी होने लगीं।

राज्य में संकट के दो महत्त्वपूर्ण पहलू थे, जैसा कि डॉ. मुकर्जी ने अपनी गहरी समझदारी से महसूस किया था। एक तो शेख अब्दुल्ला का यह दिखावा करना कि जिस तरह भारत एक स्वतंत्र देश है, उनका राज्य भी स्वतंत्र है और दूसरा उनका कश्मीर घाटी के सुन्नी मुसलमानों को दी जानेवाली तरजीह थी, जबकि राज्य के दूसरे हिस्सों, खासतौर पर जम्मू क्षेत्र को, वह लगभग अछूत की तरह मानते थे। पिछले अध्याय में भौगोलिक डिवीजनों के बारे में संक्षेप में जानकारी

दी जा चुकी है। जम्मू और घाटी या कश्मीर की घाटी, दो मुख्य भौगोलिक क्षेत्र थे, जो भारत के नियंत्रणवाले राज्य में थे और इन दोनों के बीच एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता थी। दूसरे क्षेत्र के प्रति शेख के भेदभावपूर्ण रवैए ने आगे चलकर समस्या खड़ी कर दी। इस वजह से अब हमें एक बार फिर जम्मू व कश्मीर के हालात की ओर पीछे लौटना होगा, ताकि हम उन परिस्थितियों में डॉ. मुकर्जी की भूमिका को अच्छी तरह समझ सकें।

संकट की शुरुआत सन् 1948 में पं. नेहरू के एकतरफा युद्ध-विराम के बाद हो चुकी थी। शेख अब्दुल्ला को महाराजा हरिसिंह ने विलय के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करते समय आपातकालीन प्रशासन के प्रमुख के तौर पर राज्य की कुरसी पर बिठा दिया था। सत्ता सँभालने के फौरन बाद उन्होंने सरकारी अफसरों की पहली मीटिंग को संबोधित किया, जिसमें उन्होंने कहा, ''पाकिस्तान हमारा दुश्मन नहीं है और हमारे अंदर जिन्ना साहब के लिए उतना ही सम्मान है जितना पहले था। हम कश्मीर समस्या का हल बातचीत से चाहते हैं और अगर इस मकसद से मुझे कराची जाकर जिन्ना साहब से मिलना होगा तो मैं वहाँ जाने के लिए तैयार हूँ।''

इस एक वाक्य ने उनके पार्टी कार्यकर्ताओं के दिमाग में यह बात बिठा दी कि उन्हें अब किस तरह का बरताव करना है, जो धीरे-धीरे हिंदुस्तान के खिलाफ युद्धकारी, जबकि पाकिस्तान के साथ और डोगरा के खिलाफ हो गए। वे किस हद तक जा सकते थे, इसका अंदाजा आगे आनेवाले भाषणों से लग जाता है। उदाहरण के लिए, 24 मार्च, 1952 को शेख अब्दुल्ला कैबिनेट में राजस्व मंत्री मिर्जा अफजल बेग ने राज्य की संविधान सभा में कहा कि जम्मू व कश्मीर राज्य भारतीय संघ के अंदर एक गणतंत्र होगा। जहाँ तक राज्य के संविधान का प्रश्न है, तो हम इसका ढाँचा ऐसा बनाना चाहते हैं कि हमारा राज्य एक गणतंत्र हो, जैसे कि दूसरे गणतंत्र हैं। हमारी योजना के मुताबिक राज्य का अपना राष्ट्रपति होगा, एक अलग राष्ट्रीय एसेंबली और एक न्यायिक व्यवस्था होगी। इसके कुछ ही दिन बाद 29 मार्च को राज्य की संविधान सभा में खुद शेख अब्दुल्ला ने, जो कुछ दिनों पहले पेरिस से लौटे थे, जहाँ उन्हें भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा था, उन्होंने यह गर्वित घोषणा की, ''हमारी 100 प्रतिशत संप्रभु सरकार है। कोई भी देश हमारी प्रगति में रोड़े नहीं अटका सकता। न तो भारतीय संसद् और न राज्य के बाहर की किसी और संसद् का हमारे ऊपर कोई अधिकार है।''

इसके बाद उन्होंने इससे भी ज्यादा विध्वंसकारी भाषण 10 अप्रैल को रणबीरसिंह पुरा में दिया, जहाँ उन्होंने कहा, ''कश्मीर में भारत के विलय को सीमित प्रकृति का होना होगा, जब तक कि भारत की धरती पर सांप्रदायिकता मौजूद है।'' पूर्ण विलय के समर्थन में दिए जानेवाले तर्क को उन्होंने बचकाना, अव्यावहारिक और पागलपन करार दिया। फिर उन्होंने भारत को यह कहते हुए लताड़ लगाई—''कई कश्मीरी डरते हैं कि उन्हें और उनके दर्जे का क्या होगा! अगर उदाहरण के लिए कहें तो पं. नेहरू को कुछ हो जाने के बाद। हम नहीं जानते। हम यथार्थवादी कश्मीरियों को किसी भी हालात से निपटने के लिए वैकल्पिक इंतजाम कर लेना होगा।''

अब्दुल्ला ने अपना और अपनी पार्टी का पूरे राज्य के ऊपर प्रभुत्व दिखाने के लिए जो पहले कदम उठाया, वह था हरिसिंह के आखिरी प्रधानमंत्री मेहर चंद महाजन का बोरिया-बिस्तर बाँधना और उन्हें जम्मू से दिल्ली पहुँचवा देना। उन्होंने नेहरू के समर्थन और उनकी सहमति से कार्यभार

ग्रहण किया, बतौर जम्मू व कश्मीर के प्रधानमंत्री, न कि किसी और राज्य के मुख्यमंत्री की तरह। अब्दुल्ला की पार्टी जम्मू व कश्मीर नेशनल कॉन्फ्रेंस ने 27 अक्तूबर, 1950 को राज्य की संविधान सभा का गठन करने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया, जिसके सदस्य राज्य के चुने हुए प्रतिनिधि होंगे।

इस बीच महाराजा हरिसिंह के 21 वर्षीय पुत्र युवराज (राजकुमार) कर्णसिंह को जम्मू व कश्मीर का सदर-ए-रियासत (राज्य का प्रमुख) नियुक्त किया गया। जबकि भारत की संविधान सभा ने अपना काम खत्म कर लिया था और देश को एक संविधान दे दिया था। जम्मू व कश्मीर की संविधान सभा उस देश को एक संविधान देने में अब तक जुटी थी। इसके बाद शेख के आदेश से तमाम सरकारी इमारतों पर तिरंगा नहीं, उनकी जम्मू व कश्मीर नेशनल कॉन्फ्रेंस का झंडा लहरा रहा था। लिहाजा वर्ष 1952 तक देश में, जिसका जम्मू व कश्मीर अभिन्न अंग था, वहाँ दो-दो प्रधानमंत्री थे, नेहरू और अब्दुल्ला; दो-दो राज्य प्रमुख थे, भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति और जम्मू व कश्मीर के सदर-ए-रियासत; दो-दो संविधान, एक जो अभी बन ही रहा था और दो झंडे भी थे।

क्या दुनिया के किसी भी देश ने, जो किसी प्रदेश को अपना अभिन्न हिस्सा मानता हो, खुद अपनी इतनी बेइज्जती की है? इसी अपमान का विरोध करते हुए डॉ. मुकर्जी गरज पड़े थे—''एक देश में दो विधान, दो प्रधान और दो निशान नहीं चलेंगे।''

लोगों का एक समूह ऐसा भी था, जिनके आगे शेख अब्दुल्ला की एक नहीं चलती थी और वे थे जम्मू के डोगरा, जो देश में सुन्नी कश्मीरी मुसलमानों के बाद दूसरे सबसे बड़े स्थानीय भाषाई थे। उनके हीरो थे पं. प्रेमनाथ डोगरा, जो डोगरा अधिकारों के लिए निष्काम भाव से लड़े। बलराज मधोक के साथ मिलकर उन्होंने जम्मू व कश्मीर प्रजा परिषद् पार्टी की स्थापना की। मधोक बाद में दिल्ली चले गए और जनसंघ की स्थापना में उनकी अहम भूमिका रही। लेकिन पं. प्रेमनाथ डोगरा जम्मू में ही रहे और प्रजा परिषद् का नेतृत्व किया। डोगरा अधिकारों के अलावा प्रजा परिषद् ने भारत में राज्य के पूर्ण विलय की लड़ाई बिना रुके, बिना थके लड़ी। वे सब शेख को फूटी आँख नहीं सुहाते थे और उन्होंने डोगराओं पर अत्याचार शुरू किया तथा नेहरू की मदद से उनकी पार्टी को छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्होंने जम्मू क्षेत्र में मिली-जुली आबादीवाले इलाकों में से मुसलमान-बहुल जिले बनाने शुरू किए। राज्य के आला अधिकारी, संभवतः शेख के इशारे पर, कश्मीरी राष्ट्र की बातें करने लगे, जो भारत से अलग होगा। राज्य की बेशकीमती वस्तुएँ, दुर्लभ पांडुलिपियाँ और कुछ संस्थानों को जम्मू से श्रीनगर ले जाने की शुरुआत हो गई। इस काररवाई और कभी-कभार पाकिस्तान के पक्ष में खुले प्रचार ने जम्मू व कश्मीर के राष्ट्रवादियों में शक और डर पैदा कर दिया। जम्मू व कश्मीर के प्रधानमंत्री के पद पर बैठने के कुछ ही समय बाद उन्होंने पं. प्रेमनाथ डोगरा को किसी आरोप के बिना ही गिरफ्तार करवा लिया और बिना सुनवाई के जेल में बंद रखा। प्रजा परिषद् ने विरोध में शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक सत्याग्रह शुरू किया। इस सत्याग्रह के दौरान जम्मू के सभी हिस्सों में सैकड़ों पुरुष और महिलाओं ने गिरफ्तारी दी। अंततः भारत सरकार के दखल के बाद कश्मीर सरकार ने उन्हें सन् 1948 के अंत में रिहा कर दिया और प्रजा परिषद् को यह भरोसा दिया गया कि उनकी सामान्य लोकतांत्रिक गतिविधियों में किसी प्रकार का अड़ंगा नहीं लगाया जाएगा।

कुछ महीने बाद राज्य के लिए विधान सभा के चुनाव की घोषणा की गई। प्रजा परिषद् ने

इस विधानसभा के लिए चुनाव लड़ने का फैसला किया और फौरन इसकी तैयारियाँ शुरू कर दीं। लेकिन जब प्रजा परिषद् के उम्मीदवारों ने नामांकन दाखिल किया, तब 59 में से 42 नामांकन पत्रों को रिटर्निंग अफसरों ने निहायत मनमाने और सनकीपन से खारिज कर दिया। प्रजा परिषद् ने इस मुद्दे से भारत सरकार को भी अवगत कराया; लेकिन वहाँ से कोई भी उचित जवाब नहीं मिला।

शेख अब्दुल्ला जम्मू के डोगरा लोगों को किसी भी रूप में बिलकुल पसंद नहीं करता था, जिसे कुछ हद तक नफरत भी कहा जा सकता है। इस पर न सिर्फ इंटेलिजेंस ब्यूरो के निदेशक बी.एन. मलिक ने टिप्पणी की है, जिन्हें नेहरू ने प्रतिनियुक्ति पर जम्मू व कश्मीर भेजा था (इस अध्याय में आगे देखें), बल्कि सदर-ए-रियासत कर्णसिंह ने भी इसका जिक्र किया है। अपनी आत्मकथा में डॉ. कर्णसिंह ने प्रजा परिषद् के आंदोलन पर लिखा है, ''राज्य का भारत में संपूर्ण विलय का उनका नारा उनके इस उद्घोष से स्पष्ट हो जाता है—एक विधान, एक निशान, एक प्रधान।'' इस आंदोलन ने अगले कुछ महीनों में जोर पकड़ लिया। जब इसने डोगराओं के उस गुस्से को अपना हथियार बनाया, जो अचानक हुए एक फैसले के बाद राज्य में न सिर्फ अपना विशिष्ट दर्जा खो चुके थे, बल्कि अपने बहुत बड़े शत्रु शेख अब्दुल्ला के रहमोकरम पर छोड़ दिए गए थे। शेख ने अपनी ओर से जम्मू के लोगों के गुस्से को शांत करने का कोई प्रयास नहीं किया। इसके उलट उन्होंने अपना शत्रुतापूर्ण और आक्रामक रवैया बनाए रखा। इसी का एक उदाहरण सामने आया, जब सवाल उठा कि जम्मू सचिवालय पर कौन सा झंडा फहराया जाएगा! राज्य का पुराना झंडा उतार दिया गया था। मैंने सरकार को सुझाव दिया था कि नए झंडे के साथ राष्ट्रीय झंडा भी फहराया जाए। इसे शेख ने तुरंत खारिज कर दिया तो मैंने बदले में यह सुझाव ठुकरा दिया कि मुझे व्यक्तिगत तौर पर नया झंडा फहराना चाहिए। इस समय डॉ. मुकर्जी नेहरू-लियाकत समझौते के मुद्दे पर मंत्रिमंडल से इस्तीफा देने का मन बना चुके थे और उनके दिमाग पर पूर्वी बंगाल का संकट छाया हुआ था। इस बीच प्रजा परिषद् ने चुनावों के बहिष्कार का मन बना लिया था। जब डॉ. मुकर्जी और प्रजा परिषद् के बीच वार्त्ता हुई तो डॉ. मुकर्जी, जो एक संविधान-सम्मत राजनीतिज्ञ थे, ने कहा कि जम्मू व कश्मीर की संविधान सभा, जो पूरी तरह गैर-कानूनी है, उसे इसका लाभ उठाने नहीं देना चाहिए। लेकिन तब तक नामांकन की प्रक्रिया खत्म हो चुकी थी। ऐसे में शेख अब्दुल्ला को पूरी संविधान सभा को अपने गुर्गों, कम्युनिस्टों और पाकिस्तान-समर्थक तत्त्वों से भरने का मौका मिल गया।

नेशनल कॉन्फ्रेंस का डोगरा-विरोधी उत्पीड़न वर्ष 1952 के शुरुआती दौर में अपने चरम पर पहुँच गया। एक सरकारी समारोह में जम्मू के सरकारी गांधी मेमोरियल स्कूल के छात्रों ने नेशनल कॉन्फ्रेंस पार्टी के झंडे को सलामी देने की बाध्यता का विरोध किया तो उनके साथ बहुत बुरा बरताव किया गया।

इसके खिलाफ जम्मू में कॉलेज के छात्र हड़ताल पर चले गए। नेशनल कॉन्फ्रेंस ने इस मौके का फायदा उठाया, जम्मू शहर में 82 घंटे का कर्फ्यू लगा दिया गया और पं. प्रेमनाथ डोगरा को गिरफ्तार कर लिया गया। इन गतिविधियों की सूचना राज्य के बाहर पहुँचने लगी, पूरे देश ने गौर करना शुरू किया और यह महसूस किया जाने लगा कि शेख अब्दुल्ला के अधीन कश्मीर के

हालात ठीक नहीं हैं और वे उसी थाली में छेद कर रहे हैं, जिसमें खा रहे हैं। साथ ही यह सबकुछ, जैसा कि पं. नेहरू ने देश के लोगों को कश्मीर के बारे में कहा था, उससे एकदम अलग था और वह प्रजा परिषद् को बलि का बकरा बनाकर खुद को सही साबित करने में जुट गए थे।

जो कुछ हो रहा था, उससे डॉ. मुकर्जी बहुत दुःखी थे। संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर पर चल रही बातचीत जिस अप्रत्याशित मोड़ पर पहुँच गई थी, वह इस बात से भी चिंतित थे। संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद् ने 30 मार्च, 1951 को एक प्रस्ताव 91 पारित किया, जिसमें कहा गया कि वह उस चुनाव को (जम्मू व कश्मीर की संविधान सभा के लिए हुए चुनावों के संदर्भ में), जो सिर्फ भारतीय प्रशासन वाले कश्मीर में हुआ, उसे स्वतंत्र और निष्पक्ष जनमत-संग्रह का विकल्प नहीं मानते, जब तक कि उसमें पूरे जम्मू व कश्मीर के लोग शामिल नहीं होते। उन्होंने महसूस किया कि इस मामले में घरेलू और अंतरराष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर लापरवाही की जा रही है। एक सार्वजनिक बयान में उन्होंने दल-बदलू शेख अब्दुल्ला की कड़ी निंदा की, जिसकी तुलना उन्होंने मरहूम जिन्ना से की और उनके भाषण के बारे में कहा कि यह एक विलय का ऐसा प्रस्ताव है, जिसमें उन्होंने अपने आस्तीन में फूट की साजिश को छुपा रखा था। इस बीच जम्मू व कश्मीर की सरकार पर खुद उनके और दूसरों के तथा भारत सरकार के जरिए लगातार पड़ रहे दबाव की वजह से शेख अब्दुल्ला को पं. प्रेमनाथ डोगरा को जेल से छोड़ना पड़ा। डोगर तब दिल्ली आए और उन नेताओं के सामने अपना पक्ष रखा, जिनकी जनमत-संग्रह में भूमिका थी।

पं. डोगरा वर्ष 1952 के मई की शुरुआत में डॉ. मुकर्जी से उनके वेस्टर्न कोर्ट के कक्ष में मिले। बलराज मधोक ने इस बैठक को बहुत महत्त्वपूर्ण बताया, जिसकी पुष्टि आगे चलकर सामने आए परिणामों से भी हो गई। डोगरा ने डॉ. मुकर्जी को उन परिस्थितियों के बारे में विस्तार से बताया, जो शेख अब्दुल्ला के सत्ता में आने से पहले थीं और जो उनके सत्ता में आने के बाद पैदा हुईं। इन सब बातों से डॉ. मुकर्जी पहले ही परिचित थे। उन्होंने बताया कि कैसे अब्दुल्ला तब तक जम्मू में दाखिल नहीं हो सके, जब तक कि उन्हें डोगरा ने समर्थन का भरोसा नहीं दिया; कैसे अब्दुल्ला ने उनपर नेशनल कॉन्फ्रेंस में शामिल होने का दबाव बनाया, जिसके लिए उन्हें कैबिनेट मंत्री बनाने तक का लालच दिया गया। लेकिन जब उन्होंने अपने जमीर को बेचने और सरकारी प्रलोभनों के आगे झुकने से इनकार कर दिया तो अब्दुल्ला ने उन्हें अपना दुश्मन बना लिया। उन्होंने यह भी बताया कि कैसे प्रजा परिषद् के उस प्रस्ताव को शेख अब्दुल्ला ने ठुकरा दिया, जिसमें राज्य की सुरक्षा और लोगों की बेहतरी के सुझाव दिए गए थे।

मधोक ने आगे चर्चा की है कि ये सब बातें किसी खुलासे की तरह डॉ. मुकर्जी के सामने आती चली गईं और वे पं. डोगरा को ध्यान से सुनते रहे। पहली बार उन्हें शेख अब्दुल्ला द्वारा दिए गए उपर्युक्त वक्तव्यों का माजरा साफतौर पर समझ में आ रहा था और ये बयान जिस उद्देश्य से दिए गए, वह भी स्पष्ट हो गया था। उन्हें यह भी अच्छी तरह समझ आ गया कि प्रजा परिषद् ने जो रुख अपनाया है, वह कितना जायज है और इसका फायदा भारत की एकता और अखंडता को व्यापक रूप से मिल सकता है।

डॉ. मुकर्जी 70 साल के बुजुर्ग पं. डोगरा की ईमानदारी से भी बेहद प्रभावित हुए थे और

प्रजा परिषद् की लड़ाई में अपना समर्थन माँगे जाने की बात सुनकर भावुक हो गए थे। अंतत: जब पं. डोगरा ने उन्हें जम्मू आने का न्योता दिया तो वे तुरंत तैयार हो गए। पं. डोगरा ने उसके बाद पंडित नेहरू से भी मिलने की कोशिश की; लेकिन नेहरू, जिन्हें किसी और की भावनाओं से कहीं ज्यादा शेख अब्दुल्ला की भावनाओं की चिंता थी, ने पं. डोगरा जैसे कद्दावर नेता से मिलने से भी इनकार कर दिया। डॉ. मुकर्जी एक बार जब डोगराओं के संघर्ष से सहमत हो गए और उन्हें शेख अब्दुल्ला की शैतानी चाल का पता चल गया तो इसे दुरुस्त करने के काम में तत्काल जुट गए। उन्होंने इसकी शुरुआत भारतीय जन संघ की कार्यकारी परिषद् में 14 जून, 1952 को एक प्रस्ताव पारित करके की, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि जम्मू व कश्मीर राज्य भारत का अभिन्न अंग है, साथ ही यह घोषणा भी की गई कि राज्य की संविधान सभा का यह फैसला कि एक चुना हुआ राष्ट्रपति और एक अलग झंडा होगा, ये बातें भारत की संप्रभुता और भारतीय संविधान की मूल भावनाओं के विरुद्ध हैं। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि समिति ने इन बातों को गंभीरता से लिया है और भारत के लोगों एवं सरकार को हम आगाह करना चाहते हैं कि वर्ष 1946 के कैबिनेट मिशन स्कीम का भी, जिसमें तीन विषयों के साथ एक कमजोर केंद्र की बात की गई थी, उसका कांग्रेस और भारतीय जनमत ने यह कहते हुए विरोध किया था कि देश की एकता और हितों के खिलाफ है। मुसलिम लीग की विखंडनकारी प्रवृत्तियाँ हालाँकि हिंदुस्तान को बाँटने में कामयाब रहीं और जिसका नतीजा विनाशकारी रहा। जम्मू व कश्मीर राज्य को भी उसी रास्ते पर जाने देना इतिहास को अपने आपको दोहराने का मौका देने के बराबर होगा। इसका मतलब भारत में विघटनकारी ताकतों को देश की एकता और अखंडता को नुकसान पहुँचाने का न्योता देना होगा, जिसे इतनी भारी कीमत के बाद हासिल किया गया है। इस प्रस्ताव ने भारत के लोगों से 29 जून, 1952 को कश्मीर दिवस के रूप में मनाने को कहा और जन संघ ने जो रुख अपनाया, उसके समर्थन में जनसभाएँ, बैठकें और प्रदर्शन आयोजित हुए।

26 जून को, यानी 'अखिल भारतीय कश्मीर दिवस' मनाए जाने से तीन दिन पहले, डॉ. मुकर्जी ने कश्मीर पर किए अपने महान् संबोधनों में से पहला भाषण संसद् में दिया। इस भाषण से पहले उस दिन दिल्ली के लोगों ने संसद् के सामने शेख अब्दुल्ला की अलगाववादी नीतियों के खिलाफ एक बहुत बड़ा प्रदर्शन किया। इस भाषण के दौरान डॉ. मुकर्जी ने एक-एक कर हर मुद्दे का जिक्र किया—अलग झंडे का सवाल, वंशवादी महाराजा की जगह राज्य में चुने गए संवैधानिक मुखिया की नियुक्ति और भारत के संविधान के अनुच्छेद 370, जिसके आधार पर शेख अब्दुल्ला राज्य के लिए एक अलग संविधान चाहते थे और अपने भाषण से उन्होंने शेख अब्दुल्ला की दलीलों एवं कैबिनेट में मौजूद उनके समर्थकों की धज्जियाँ उड़ा दीं। झंडे के सवाल का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा, ''आप बँटी हुई निष्ठा नहीं रख सकते। शेख अब्दुल्ला ने कहा है—हम दोनों झंडों को एक जैसा सम्मान देंगे। लेकिन आप ऐसा नहीं कर सकते। यह फिफ्टी-फिफ्टी का सवाल नहीं है। यह समता का भी सवाल नहीं है। यह सवाल है पूरे भारत के लिए एक झंडे के इस्तेमाल का! उस भारत का, जिसमें कश्मीर भी शामिल है। यह सवाल ही नहीं उठता कि कश्मीर का एक अलग गणतंत्र हो सकता है, जिसका एक अलग झंडा होगा।''

वंशानुगत महाराजा को हटाकर एक चुने हुए व्यक्ति को राज्य का मुखिया बनाने के मुद्दे पर वे बोले, ''महाराजा जा चुके हैं, लेकिन आप चाहते हैं कि देश के बाकी हिस्सों में कोई और महाराजा न हो और किसी एक ईकाई के ऊपर संवैधानिक मुखिया भी बनाना चाहते हैं तो इसे गंभीरतापूर्वक, सही ढंग से और संविधान के अनुसार कीजिए। अगर देश की संसद् को लगता है कि भारत के संविधान में संशोधन होना चाहिए और किसी महाराजा का शासन नहीं होना चाहिए, किसी राजप्रमुख का शासन नहीं होना चाहिए, तो फिर इस पर बहस की जानी चाहिए।''

संविधान का अनुच्छेद 370 स्पष्ट रूप से संविधान का एक अस्थायी और क्षणिक प्रावधान है, जिसे खुद शेख के कहने पर संविधान सभा में हुई बहस के बाद शामिल किया गया था। डॉ. मुकर्जी ने शेख की कटु आलोचना की थी। संविधान सभा में इस अनुच्छेद के पास होने का इतिहास भारी उथल-पुथलवाला है। इसे समाप्त करने का मुद्दा डॉ. मुकर्जी की पार्टी और उसकी उत्तराधिकारी भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी.) के लिए इतना अहम रहा है कि यहाँ एक बार फिर इसे और इसके प्रभावों को समझने के लिए विषय-परिवर्तन जरूरी हो गया है।

यह धारा, जो काफी लंबी-चौड़ी है, इस प्रकार से है—

भारत के संविधान के अनुच्छेद 370 (जिसमें जम्मू व कश्मीर राज्य के संदर्भ में अस्थायी प्रावधान हैं)

1. इस संविधान में किसी भी बात के होते हुए भी—

(ए) धारा 238 के प्रावधान जम्मू व कश्मीर राज्य के संबंध में लागू नहीं होंगे;

(बी) इस राज्य के लिए कानून बनाने में संसद् के अधिकारी इन विषयों तक सीमित रहेंगे;

(i) संघीय और समवर्ती सूची में शामिल वैसे मुद्दे, जो राष्ट्रपति के द्वारा घोषित किए जाते हैं और उन विनिर्दिष्ट विषयों के अनुरूप, जो इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन में विशेष तौर पर शामिल हैं और जिनके जरिए राज्य का भारत में विलय हुआ है, उनसे जुड़े कानून उस राज्य का विधानमंडल ही बना सकता है; और

(ii) और उस सूची में मौजूद अन्य विषयों पर, राज्य सरकार की सहमति से, राष्ट्रपति आदेश दे सकता है। स्पष्टीकरण इस अनुच्छेद के अनुसार, राज्य की सरकार का मतलब वह व्यक्ति है, जिसे कुछ समय के लिए राष्ट्रपति के द्वारा जम्मू व कश्मीर के महाराजा के तौर पर मान्यता मिली है, जो मंत्रियों के एक समूह की सलाह पर काम करता है, जो उस समय महाराजा के 5 मार्च, 1948 की घोषणा के मुताबिक शासन में है;

(सी) धारा 1 के प्रावधान और ये धारा इस राज्य के संदर्भ में लागू होगी;

(डी) इस संविधान के ऐसे ही दूसरे प्रावधान उस राज्य के संदर्भ में लागू होंगे, जिनमें जरूरत और आशा के अनुरूप राष्ट्रपति के आदेश से बदलाव किए जाएँगे;

(i) बशर्ते कि ऐसा कोई भी विषय जो इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन में शामिल विषयों के अंतर्गत नहीं आता, जैसा कि पैराग्राफ (i) सब-क्लॉज (बी) को राज्य सरकार से विचार किए बगैर जारी नहीं किया जा सकता;

(ii) बशर्ते ऐसा कोई आदेश, जो उन विषयों से अलग है, जिनका कि जिक्र पिछले प्रावधानों

में है, उन्हें बिना राज्य सरकार की सहमति के जारी नहीं किया जा सकता।

(2) अगर राज्य सरकार की सहमति, जैसा कि पैराग्राफ (ii) सब क्लॉज (बी) के क्लॉज (1) या उस क्लॉज के सब क्लॉज (डी) के दूसरे प्रावधानों में संविधान सभा के समक्ष रखा गया है, ताकि राज्य का संविधान बनाया जा सके। इसे उस सभा के सामने रखा जाना चाहिए, जो अपना फैसला लेगी।

3. अनुच्छेद के पिछले प्रावधानों में जो कुछ नहीं है, उनके विषय में एक सार्वजनिक सूचना देकर राष्ट्रपति चाहे तो घोषित कर सकता है कि यह खत्म किया जाता है या तभी लागू होगी जब उसमें जरूरी सुधार कर दिए जाएँगे और वह उस तारीख से लागू होगा, जिसकी अधिसूचना जारी की जाएगी। बशर्ते राज्य की संविधान सभा सिफारिश करे, जिसका जिक्र क्लॉज (2) में है, उस सूरत में राष्ट्रपति के लिए जरूरी अधिसूचना जारी करना अनिवार्य हो जाता है।

4. इसके तहत मिले अधिकारों के बाद राष्ट्रपति ने जम्मू व कश्मीर राज्य की संविधान सभा की सिफारिश पर यह घोषणा की कि नवंबर की 17वीं तारीख, 1952 से उक्त धारा 370 उन संशोधनों के बाद लागू होगी, जिन पर क्लॉज (1) में स्पष्टीकरण दिया गया है और वह स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

''स्पष्टीकरण इस धारा के लिए, राज्य की सरकार का मतलब वह व्यक्ति है, जिसे विधानसभा की सिफारिश के बाद राष्ट्रपति एक निश्चित समय के लिए जम्मू व कश्मीर के सदर-ए-रियासत के तौर पर मान्यता देता है, और वो राज्य के मंत्रियों के समूह के सुझावों पर काम करता है, जो उस समय सत्ता में हो।''

यह बात किसी को भी तुरंत समझ में आ जाती है कि यह व्यवस्था उस बुनियादी प्रस्तावना से भटकी हुई है, जिसके मुताबिक जम्मू व कश्मीर का राज्य भारत का अभिन्न अंग है; क्योंकि यह स्पष्ट करता है कि रक्षा, विदेश के मामले, वित्त और संचार (इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन में दिए गए विषय) को छोड़कर भारत की संसद् के लिए जरूरी है कि वह किसी भी अन्य कानून को लागू करने के लिए राज्य सरकार की सहमति हासिल करे। इस प्रकार राज्य के लोग एक अलग ही कानून के तहत रहते हैं, जिनमें नागरिकता का कानून, संपत्ति का स्वामित्व और भारतीय नागरिकों की तरह ही अलग मौलिक अधिकार भी शामिल है। यही नहीं, दूसरे राज्यों के भारतीय नागरिकों में से जो पुरुष जम्मू व कश्मीर की महिला से शादी करते हैं या जम्मू व कश्मीर की महिला अगर दूसरे राज्य के पुरुष से शादी कर ले तो वह जम्मू व कश्मीर में जमीन या संपत्ति नहीं खरीद सकते।

इस अनुच्छेद की उत्पत्ति शेख अब्दुल्ला की उस आशंका से हुई, जिसके मुताबिक अगर हिंदू और सिख, जो पाकिस्तान से बेघर होकर भारत आ रहे थे और जो जम्मू व कश्मीर में बसाए जा रहे थे, वे कहीं घाटी को मुसलिम बहुल इलाके से बदलकर मुसलिम अल्पसंख्यक क्षेत्र न बना दें और ऐसा हुआ तो उन्हें सत्ता से हाथ धोना पड़ेगा। यही वजह है कि उन्होंने पं. नेहरू पर इस अनुच्छेद को भारत के संविधान में शामिल करने का दबाव बनाया, जो जम्मू व कश्मीर में गैर-कश्मीरियों के घुसने पर रोक लगाता था। अगर यह घातक अनुच्छेद भारत के संविधान में शामिल नहीं किया जाता, तो पश्चिमी पंजाब से आनेवाले हिंदू और सिख शरणार्थी कश्मीर में

बसाए जा सकते थे, और कश्मीर की समस्या तब पैदा ही नहीं होती, और यही उस वक्त राजनीति की माँग थी। पाकिस्तान ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में यही किया, जहाँ पंजाबी मुसलमानों को बसने की छूट दी, उनमें भारत में आए शरणार्थी भी शामिल थे, जिन्हें उत्तरी क्षेत्र कहे जानेवाले इलाके में बसने दिया गया। उधर बँगलादेश ने भी जनरल जिया उर रहमान के नेतृत्व में चटगाँव हिल पर मैदानी इलाके के बंगाली मुसलमानों को बसने के लिए उत्साहित किया गया। इस वजह से स्थानीय बौद्ध चकमा आदिवासी के लोग अल्पसंख्यक बने। सिर्फ नेहरू के नेतृत्व में भारत ने कुछ अलग करने का फैसला किया।

नेहरू ने शेख अब्दुल्ला के साथ विचार-विमर्श के बाद 370 के प्रारूप को तैयार कर लिया, जबकि सरदार पटेल को भरोसे में नहीं लिया गया। प्रारूप फाइनल होते ही नेहरू विदेश दौरे पर चले गए और गोपालस्वामी आयंगर को, जिन्हें उन्होंने अपने कैबिनेट में बिना विभाग के मंत्री के तौर पर शामिल किया था, निर्देश दे दिया कि वह शेख की मदद करें, ताकि यह अनुच्छेद संविधान सभा में पास हो जाए। डॉ. बी.आर. अंबेडकर, जो संविधान सभा की 'प्रारूप समिति' के अध्यक्ष थे, को शक हो गया। उस वक्त कांग्रेस पार्टी में विचारवानों की एक मजबूत टीम थी, जिनमें सरदार भी शामिल थे और उन लोगों ने जम्मू व कश्मीर को देश के बाकी राज्यों की तुलना में किसी भी तरह का विशेष दर्जा दिए जाने की बात को टेढ़ी नजरों से देखा और वे जम्मू व कश्मीर को विशेष दर्जा दिए जाने के मामले में एक हद से आगे समर्थन करने को तैयार नहीं थे। जब आयंगर ने पार्टी की बैठक में प्रारूप पेश किया तो उनके ऐलान के तुरंत बाद चारों तरफ से भारी विरोध के स्वर उठने लगे। आयंगर और उनके प्रस्ताव की पार्टी ने धज्जियाँ उड़ा दीं, लेकिन आयंगर मदद माँगने के लिए सरदार पटेल के पास पहुँच गए और अगले दिन कांग्रेस कार्य समिति की बैठक बुलाई।

यह बैठक पार्टी की अब तक हुई बैठकों में सबसे हंगामेदार थी। सरदार पटेल ने बीच में दखल दिया और कहा, ''चूँकि इस मामले में अंतरराष्ट्रीय पेचीदगियाँ हैं और एक तात्कालिक उपाय किया जा रहा है, जबकि संबंधों पर अंतिम फैसला नाजुक हालात को देखते हुए आपसी समझ-बूझ से लिया जाएगा, जो समय के साथ और बेहतर हो जाएगा।'' बाद में सरदार पटेल ने अपने निजी सचिव से कहा कि उन्होंने ऐसा इस वजह से किया कि आयंगर नेहरू की गैर-मौजूदगी में उनके आदेशों का पालन कर रहे थे। अगर सरदार ने उनका विरोध किया होता तो लोग यही कहते कि नेहरू से बदला लेने के लिए पटेल ने उनकी गैर-मौजूदगी का फायदा उठाया। आयंगर ने उनसे मदद माँगी थी और वे मदद से इनकार कैसे करते, जबकि उनके नेता देश में मौजूद नहीं थे?

हालाँकि इसके बाद भी शेख अब्दुल्ला कश्मीर सरकार (जिसका मतलब है वह खुद) के पक्ष में प्रावधानों को और सख्त बनाने की कोशिश यह कहकर करते रहे कि उन्हें अपने अवाम के प्रति कर्तव्यों को निभाना है और हो सकता है कि नेशनल कॉन्फ्रेंस की कार्यकारी समिति प्रारूप से सहमत न हो। आयंगर ने घुटने टेक दिए थे। उन्होंने प्रारूप में बदलाव किए और सरदार पटेल को बता दिया। अब सरदार सख्त हो चुके थे। पहले तो बदलावों को दरकिनार कर दिया और पुराने प्रारूप पर अड़ गए और फिर ये कहा कि शेख साहब, हर बार अपने लोगों के प्रति कर्तव्य

का रोना लेकर हमारे सामने आ जाते हैं। यह सही है कि उनका भारत या भारत की सरकार के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है, या व्यक्तिगत आधार पर भी, न तो आपके प्रति और न प्रधानमंत्रीजी के प्रति जिन्होंने इस हद तक आपकी बातों को शामिल करवाया और फिर कहा, ''इस परिस्थिति में मेरी सहमति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।'' इस प्रकार बदलावों को खारिज कर दिया गया और आयंगर को सदन को यह दलील देकर शांत करना पड़ा कि इस अनुच्छेद में कश्मीर को अलग दर्जा दिए जाने की बात उस राज्य में उत्पन्न विशेष परिस्थिति को देखकर की गई है, क्योंकि इन हालात में राज्य का विलय पूरी तरह से हिंदुस्तान के साथ नहीं किया जा सकता। लेकिन उन्होंने कहा कि यहाँ मौजूद हर किसी के लिए यह एक उम्मीद की बात है कि जम्मू व कश्मीर भी उस तरह भारत में शामिल होने के लायक बन जाएगा, जिस प्रकार बाकी के राज्य हुए हैं। इसके बाद मूल प्रारूप को बिना किसी शोर-शराबे के स्वीकार कर लिया गया।

अपने भाषणों में डॉ. मुकर्जी ने कहा है कि जो कुछ कांग्रेस ने अनुच्छेद 370 को संसद् में पेश करने के दौरान उसके बारे में कहा था, वह अब शेख अब्दुल्ला को समर्थन देने के लिए कही जा रही बातों से एकदम अलग है। डोगराओं की प्रताड़ना के संबंध में उन्होंने देश का ध्यान नागरिक अधिकारों के दमन की ओर खींचा; हिंदी को खत्म कर दिया गया; क्योंकि वे उसे सांप्रदायिक नजरिए से जम्मू के हिंदुओं की भाषा समझते थे, जबकि वे हकीकत में डोगरी भाषा बोलते थे; जम्मू क्षेत्र में सीटों का निर्धारण सांप्रदायिक आधार पर किया गया; धर्मार्थ संपत्तियों और फंडों को हड़प लिया गया; नौकरी में सांप्रदायिकता, जम्मू से भेदभाव, शेख अब्दुल्ला का दोहरा चेहरा, जिसमें कि वे प्रेस और भारत के लोगों को अपना जो भाषण देते थे, वे राज्य के लोगों को हित साधने के लिए दिए गए भाषण से अलग होता था। उन्होंने एक लोहे की दीवार खड़ी कर दी, जिससे कि राज्य की सूचना राज्य के बाहर के लोगों तक न पहुँचे। उन्होंने एक बार फिर अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता दिखाई, जब उन्होंने कहा कि ''अगर आप सिर्फ हवा से खेलना चाहते हैं और कहते हैं कि हम लाचार हैं तथा शेख अब्दुल्ला को जो उनकी मरजी में आता है, करने देते हैं, तो कश्मीर आपके हाथों से निकल जाएगा। मैं इस बात को पूरे यकीन से कह रहा हूँ कि कश्मीर निकल जाएगा।''

29 जून, 1952 को 'कश्मीर दिवस' पूरे जोशो-खरोश के साथ देश भर में मनाया गया। प्रेस और पब्लिक दोनों की तरफ से ही अनुकूल प्रतिक्रिया मिली, जिस पर नेहरू को भी गौर करना पड़ा। डॉ. मुकर्जी ने दिल्ली में एक विशाल जनसभा को संबोधित किया। इन गतिविधियों से परेशान नेहरू शेख अब्दुल्ला को दिल्ली बुलाने पर मजबूर हो गए। डॉ. मुकर्जी के आंदोलन की धार को कुंद करने के लिए तरीके तलाशे गए और शेख को यह सलाह दी गई कि अगर अपने कर्मों में नहीं तो कम-से-कम अपने भाषणों में थोड़ा संयम बरतें।

शेख पहले खुद छिपते नजर आए। उन्होंने अपने गुर्गों की एक टीम भेजी, लेकिन फिर 16 जुलाई को उन्हें खुद दिल्ली आना पड़ा। इसके बावजूद ऐसा नहीं था कि नेहरू ने उन्हें कोई नसीहत दी हो, उलटा उन्होंने ही नेहरू को समझा-बुझाकर भारत सरकार से कुछ ऐसी रियायतें हासिल कर लीं, जिनसे उन्हें और भी जुल्म करने के अधिकार मिल गए। नेहरू उनकी अलग नागरिक की माँग को मान गए; अलग झंडा, वंशानुगत महाराजा की बजाय एक चुना गया राज्य

का प्रमुख और एक अलग संविधान की माँग को भी मान लिया। बदले में उन्होंने भारत की सरकार को कुछ नहीं दिया, सिवाय कुछ आधे-अधूरे वादे के, जो अनेक अगर-मगर में उलझे हुए थे। जम्मू व कश्मीर तथा भारत सरकार के बीच हुए इस समझौते को 'जुलाई समझौते' के नाम से जाना गया। यह देखना वाकई दु:खदायी था कि नेहरू, जो अपने कैबिनेट और सरकार में इतने निरंकुश थे, उन्होंने खुद को शेख अब्दुल्ला के हाथों में एक पुट्टी की तरह सौंप दिया!

डॉ. मुकर्जी साफ देख रहे थे कि शेख को मिली रियायतों ने जम्मू व कश्मीर राज्य पर भारतीय संविधान के लागू होने की गुंजाइश को और भी कम कर दिया था और भारत की संप्रभुता को हर मायने में दूसरे दर्जे का बना दिया गया था। उन्होंने महसूस किया कि उस राज्य का भारत से संवैधानिक संबंधों के लिहाज से दूर जाने की दिशा में यह पहला कदम था, जिसका उदाहरण देकर देश के दूसरे हिस्सों में मौजूद विघटनकारी तत्त्व फायदा उठा सकते हैं (जैसा कि कश्मीर, मुंबई, दिल्ली के आतंकवादी हमलों में दिखा और हुर्रियत व दूसरे संगठनों ने जिस प्रकार फायदा उठाया है)। इस समझौते पर अपने विचारों और भावनाओं को व्यक्त करने का एक मौका उन्हें संसद् में 7 अगस्त, 1952 को मिला। उन्होंने नेहरू से कई सवाल पूछे। पहला सवाल राज्य के उन इलाकों पर था, जिस पर पाकिस्तान ने जबरन कब्जा जमा लिया था और दूसरा उस इलाके के बारे में था, जिस पर शेख अब्दुल्ला राज कर रहे थे। पहले सवाल को लेकर उन्होंने पूछा, ''क्या हमें अपने इलाके वापस मिल जाएँगे, इसकी कोई गुंजाइश है? हमें ये संयुक्त राष्ट्र संघ के जरिए नहीं मिलेंगे। हमें ये पाकिस्तान से बातचीत जैसे शांतिपूर्ण उपायों से भी नहीं मिलेंगे। इसका मतलब है कि हम इन्हें तब तक खोया हुआ मान लें, जब तक कि हम ताकत का इस्तेमाल नहीं करते और प्रधानमंत्रीजी ऐसा करने के लिए तैयार नहीं हैं, तो हम सच्चाई को कबूल कर लेते हैं, क्या हम इन्हें खो देने के लिए तैयार हैं?'' और फिर, नेहरू का इस बात के लिए जिक्र करते हुए कि उन्होंने किस प्रकार पूर्वी बंगाल में इसलामी दमन के आगे निरीह हिंदुओं की मदद करने से इनकार कर दिया। डॉ. मुकर्जी ने कहा, ''किसी दिन प्रधानमंत्री ने कहा था कि अगर कश्मीर का भारत में विलय नहीं होता और जब कश्मीर पर घुसपैठियों ने हमला किया था, तब मानवीय आधार पर भारतीय सेना कश्मीर मार्च करती थी और व्यथितों तथा शोषितों की रक्षा कर सकती थी। मैं गौरवान्वित हुआ। लेकिन अगर मैं वैसा ही बयान दूँ या उससे मिलता-जुलता सुझाव दूँ, जिससे हमारे 90 लाख भाई-बहनों के जीवन एवं उनके सम्मान की रक्षा हो सके तथा जिनके त्याग की वजह से हमें आजादी मिली तो मैं सांप्रदायिक बन जाता हूँ, मैं प्रतिक्रियावादी और युद्ध की बात करनेवाला बन जाता हूँ!''

उन्होंने आगे कहा, ''क्या मैं पूछ सकता हूँ, शेख अब्दुल्ला इस भारतीय संविधान का हिस्सा नहीं हैं? वह संविधान सभा के सदस्य थे; लेकिन आज वह विशेष दर्जा माँग रहे हैं। क्या उन्होंने तब इस संविधान को वैसे ही कबूल नहीं किया था, जैसे कि भारत में शामिल होनेवाले 497 राज्यों ने किया था? अगर यह उन सबके लिए बहुत अच्छा है तो उनके लिए कश्मीर में अच्छा क्यों नहीं है? नेहरू के पास इन सवालों का कोई जवाब नहीं था। वे इनसे बचने की कोशिश करने लगे और रटी-रटाई बातें दोहराने लगे, अपने चिर-परिचित अंदाज में वही दलील देने लगे, जो कश्मीर को विशेष दर्जा देने के लिए दी थीं। उनकी दलीलों से कोई भी प्रभावित नहीं हुआ।

हालाँकि उन्होंने इस बार डॉ. मुकर्जी के ठोस सवालों से झेंप को मिटाने के लिए एक नया हथकंडा अपनाया। उन्होंने सीधे तौर पर प्रजा परिषद् की निंदा शुरू कर दी। नेहरू चीख-चीखकर कह रहे थे कि प्रजा परिषद् का न तो कोई लेना-देना है और न वहाँ के लोगों के बीच उसका कोई प्रभाव है। प्रजा परिषद् ने तब तक अपने कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन जम्मू में 9 और 10 अगस्त, 1952 को आयोजित करने का ऐलान कर दिया था और कई सांसदों व नेताओं को भारत के अलग-अलग हिस्सों से बुलाया था। इस प्रकार यह उन नेताओं के लिए एक अच्छा मौका था कि वे जम्मू व कश्मीर की समस्याओं को खुद समझ सकें, जिसके बारे में उन्हें पहले उतनी जानकारी नहीं थी। साथ ही उन्हें इस बात का अंदाज भी लग जाएगा कि प्रजा परिषद् से कितने लोग जुड़े हैं और इस पार्टी को लेकर उनकी कैसी भावना है, खासतौर पर जम्मू के लोगों की।

डॉ. मुकर्जी भी आमंत्रित नेताओं में से एक थे और उन्होंने निमंत्रण सहर्ष स्वीकार किया था। उन्होंने संसद् में कहा कि वे जम्मू जा रहे हैं, ताकि वहाँ की समस्या को समझ सकें। इस ऐलान ने कुछ कांग्रेसी नेताओं और सांसदों को नर्वस कर दिया, जो वहाँ के असली हालात से वाकिफ थे। उन्होंने डॉ. मुकर्जी को जम्मू जाने का फैसला बदल देने के लिए मनाना शुरू कर दिया। उनमें से कुछ ने कहा, 'आप अपनी हैसियत कम क्यों कर रहे हैं, डॉक्टर साहब? आपको वहाँ 500 लोग भी नहीं मिलेंगे! प्रजा परिषद् को वहाँ के लोगों का जरा भी समर्थन हासिल नहीं है।' कहते हैं, उस दिन एक अज्ञात ज्योतिषी उनके घर आया और उनपर यह दबाव बनाया कि उनका जम्मू जाना ठीक नहीं है। उसने चेतावनी दी कि एक हादसे में उनकी जान जाने तक का खतरा है। लेकिन डॉ. मुकर्जी पर कोई असर नहीं पड़ा और वे 8 अगस्त को 'कश्मीर मेल' से दिल्ली से निकल पड़े। यू.एम. त्रिवेदी, बाबू राम नारायण सिंह (दोनों सांसद) साथ थे। बड़ी संख्या में पत्रकार और बलराज मधोक भी उनके साथ थे। नेहरू सरकार ने अड़ंगा डालने की कोशिश की। अंतिम समय तक उन्हें और उनके साथ जा रहे दल को कश्मीर में दाखिल होने का परमिट रोककर रखा गया। तब उन्होंने टेलीफोन पर गृह व रक्षा मंत्री से बात की और सही समय पर परमिट हासिल करने में कामयाब हुए। उन्होंने तीसरी श्रेणी में यात्रा की, क्योंकि उनके कार्यकर्ता इसी श्रेणी में थे। एक हैरान पत्रकार से उन्होंने कहा, "आप जानते हैं, हमारा संगठन गरीब है। इस प्रकार बचत करने से हमें दूसरे खर्चों के लिए पैसे मिल जाएँगे।"

पठानकोट तक डॉ. मुकर्जी की यात्रा बेहद यादगार और घटनाओं से पूर्ण थी। यहाँ तक वे ट्रेन से आए और फिर जम्मू तक कार से पहुँचे। कई स्टेशनों पर उन्हें देखने के लिए भारी संख्या में लोग इंतजार कर रहे थे और बार-बार जिद कर रहे थे कि वे उनसे दो शब्द कहें। डॉ. मुकर्जी ने कहीं भी लोगों को निराश नहीं किया। पं. प्रेमनाथ डोगरा जम्मू से चलकर पठानकोट सिर्फ उनका स्वागत करने आए थे। उन्होंने रावी नदी पर बने माधोपुर पुल को करीब दोपहर 3 बजे पार किया और फिर जम्मू व कश्मीर में दाखिल हुए।

जैसे ही उनके पाँव कश्मीर की धरती पर पड़े, लोगों का जोश चरम पर पहुँचा और नारे लगने लगे—"भारतमाता की जय! कश्मीर भारत का अंग है, एक देश में दो विधान, दो निशान, दो प्रधान नहीं चलेंगे।" वे कठुआ पहुँचे और वहाँ भाषण दिया, जिसमें कहा, "मेरे दिल्ली छोड़ने से पहले कई कांग्रेसी दोस्तों ने कहा कि मुझे जम्मू नहीं जाना चाहिए, क्योंकि प्रजा परिषद्

के साथ लोग नहीं हैं। मैं उनसे यहाँ आने को कहूँगा, ताकि वे देख सकें कि प्रजा परिषद् के साथ लोग हैं या नहीं। आप भारतीय संविधान चाहते हैं, आप भारत का झंडा चाहते हैं, आप चाहते हैं कि जो भारत के राष्ट्रपति हैं, वे आपके भी राष्ट्रपति हों। ये उचित और देशभक्ति से जुड़ी माँगें हैं। उन्हें मानना ही पड़ेगा। जहाँ तक मेरी बात है, मैं आपको भरोसा दिलाता हूँ कि मुझसे जो बन पड़ेगा, मैं करूँगा।'' और तब उन्होंने जो कहा, वह किसी संत वाणी और उसके साथ ही एक मनहूस बात भी साबित हुई—''हम विधान लेंगे या बलिदान देंगे।''

जम्मू से कठुआ तक 70 मील की दूरी का सफर एक जुलूस के साथ तय हुआ। रास्ते भर दूर-दराज के गाँवों से आए लोग एक ऐसे भारतीय नेता का इंतजार कर रहे थे, अभिवादन कर रहे थे, जो उनकी अपील पर आया था और उनकी भावनाओं और संवेदनाओं के साथ उनके दु:ख-तकलीफ को समझने आया था। उन्होंने सड़कों पर स्वागत-द्वार बना रखे थे, जिन पर पं. प्रेमनाथ डोगरा की तसवीरें लगी थीं, जिनके आगे 'राज्य केसरी' बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था। हर एक या दो मील बाद डॉ. मुकर्जी को रुकना पड़ता था और भाषण देना पड़ता था। रास्ते में पड़नेवाली दो तहसीलों—हीरानगर और सांबा—में उन्होंने दो विशाल बैठकों को संबोधित किया। आखिरकार वे जम्मू पहुँच गए, काफी देर बाद करीब शाम 7.15 बजे। लोगों में अनोखा जोश था, जो लंबी दूरी तय कर सिर्फ डॉ. मुकर्जी की एक झलक देखने आए थे, उनकी वजह से ही ये देरी हुई। डॉ. मुकर्जी के जबरदस्त स्वागत का इंतजाम हो चुका था। जैसे ही फूलों से सजी-धजी जीप पर सवार होकर वे तवी ब्रिज पहुँचे, जो शहर का आउटपोस्ट था, बहुत बड़ा जन-सैलाब उनका इंतजार कर रहा था।

लोगों की भारी भीड़ उनकी जय-जयकार कर रही थी। तवी ब्रिज से पं. प्रेमनाथ डोगरा के घर तक करीब ढाई मील के रास्ते में पूरा शहर एक ऐसे नेता को देखने के लिए अपने घर से निकलकर सड़कों पर आ गया था, जो उनके संघर्ष में साथ देने आया था। प्रेमनाथ डोगरा के घर को भी स्वागत के लिए किसी दुलहन की तरह सजाया गया था। जब वह रात 11 बजे अपनी मंजिल तक पहुँचे तो पूरी तरह दिन भर की थका देनेवाली यात्रा से चूर हो चुके थे। इस दौरान उन्होंने कम-से-कम बीस भाषण दिए। उन्हें अब इस बात का भरोसा हो चुका था कि पं. प्रेमनाथ डोगरा के साथ लोग पूरी तरह जुड़े हुए हैं और उनका संगठन भी ताकतवर है। उन्हें इस बात का भी एहसास हो चुका था कि लोगों के अंदर शेख अब्दुल्ला को लेकर जबरदस्त गुस्सा है, क्योंकि वह एक अलग झंडा और राज्य के लिए एक अलग संविधान की माँग कर धूर्तता दिखा रहे थे।

उनके आगमन के कुछ ही मिनटों के अंदर जम्मू के डिप्टी कमिश्नर उनसे मिलने पहुँचे, जो शेख अब्दुल्ला का निमंत्रण देने आए थे, जिन्होंने अगले दिन श्रीनगर आने और बातचीत के लिए बुलाया था। ऐसा प्रतीत हुआ कि शेख अब्दुल्ला को उनके अफसरों ने यह जानकारी दे दी थी कि जम्मू का माहौल कितना गरम हो चुका है और वह अपना पक्ष डॉ. मुकर्जी के सामने रखना चाहते थे, इससे पहले कि डॉ. मुकर्जी अपनी राय और मार्गदर्शन प्रजा परिषद् को देते। डॉ. मुकर्जी ने इस शर्त पर न्योता स्वीकार कर लिया कि वे उसी दिन जम्मू लौट आएँगे, ताकि पहले से तय कार्यक्रमों में शामिल हो सकें।

उन्होंने 10 अगस्त की सुबह 11 बजे जम्मू से श्रीनगर की फ्लाइट ली और दोपहर तक पहुँच गए। एयरपोर्ट से उन्हें सीधे शेख अब्दुल्ला के घर ले जाया गया, जहाँ उनकी शेख अब्दुल्ला और उनके डिप्टी बख्शी गुलाम मोहम्मद से छह घंटे लंबी बातचीत हुई। विमान को शाम के वक्त दिल्ली लौटना था। उसने कुछ देर तक उनका इंतजार किया; लेकिन जब बातचीत लंबी खिंच गई तो उन्होंने उसे जाने का संकेत दे दिया और यह फैसला किया कि वे कार से उसी रात जम्मू रवाना होंगे। श्रीनगर छोड़ने से पहले उन्होंने युवराज कर्णसिंह से भी लंबी बातचीत की, जिन्हें तब कहा जा रहा था कि वे 'सदर-ए-रियासत' बन जाएँ, यानी राज्य के राष्ट्रपति। तब वे सिर्फ बीस वर्ष के एक युवा थे, जिन्हें यह तक मालूम नहीं था कि उन्हें क्या करना है। डॉ. मुकर्जी रात 8 बजे कार से श्रीनगर से रवाना हुए, कुछ घंटे तक बटोट में रुककर सोए और सुबह 9 बजे जम्मू पहुँच गए। उन्हें उसी दिन दोपहर में जम्मू से रवाना होना था।

इसका कोई रिकॉर्ड नहीं है—न तो उस समय का, न उसके बाद का, जिससे पता चल सके कि उस बातचीत में आखिर हुआ क्या था? बस इतना पता है कि बातचीत के दौरान एक मोड़ ऐसा आया, जब शेख अब्दुल्ला दबंग बनने की कोशिश करने लगे और बख्शी गुलाम मोहम्मद को उन्हें शांत करना पड़ा। डॉ. मुकर्जी को अब्दुल्ला का सांप्रदायिक रुख अख्तियार करना जरा भी पसंद नहीं आया और उन्होंने उनके मुँह पर ही कह दिया कि अपनी नीतियों व बयानों की वजह से वे जिन्ना की तरह नजर आ रहे हैं, जिन्होंने एक मजबूत या एक कमजोर केंद्र को यह दलील देकर नामंजूर कर दिया था कि यह हिंदुओं के द्वारा नियंत्रित होगा। उन्होंने अब्दुल्ला को सलाह दी कि राज्य के लिए अलग झंडे के लिए वे जल्दबाजी न करें, क्योंकि इस विषय पर जम्मू के लोगों में भारी रोष है।

डॉ. मुकर्जी पिछले 36 घंटों से लगातार सफर कर रहे थे, जिसके दौरान उन्हें आराम करने और सोने का बहुत कम समय मिला; लेकिन वे थोड़ा सा भी वक्त गँवाना नहीं चाहते थे। जम्मू लौटने के बाद वे पं. प्रेमनाथ डोगरा से मिले और उनकी मुलाकात प्रजा परिषद् के कुछ बड़े नेताओं से भी हुई, जिन्हें अब्दुल्ला से हुई बातचीत का सार बताया। उन्होंने सलाह दी कि वे कोई भी आवेगपूर्ण काररवाई न करें या मामले को विवाद तक न ले जाएँ। पं. डोगरा ने उन्हें लोगों के गुस्से का अहसास कराया और कहा कि सम्मेलन में आए प्रतिनिधि किसी सीधी काररवाई की माँग कर रहे थे, जैसे कि सत्याग्रह। डॉ. मुकर्जी का जवाब किसी सधे हुए संवैधानिक राजनीतिज्ञ की तरह था। उनका पूरा जीवन ही ऐसा था। उन्होंने कहा, ''सत्याग्रह अंतिम चरण में उठाया जानेवाला कदम है और इसका इस्तेमाल तभी करना चाहिए, जब बाकी सारे विकल्प खत्म हो गए हों।''

उन्होंने कहा कि वह प्रधानमंत्री नेहरू से मिलनेवाले हैं उनके सामने तथ्यों एवं परिस्थितियों का पूरा लेखा-जोखा रखनेवाले हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि राज्य में तब तक लोगों को संगठित करने और उन्हें शिक्षित करने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। उन्होंने उम्मीद जताई कि पृथकतावादी नीतियों की जगह समझदारीवाले कदम उठाए जाएँगे। उन्होंने इस बात का भरोसा दिया कि जो भी आंदोलन करेंगे, उसे उनका पूरा समर्थन मिलेगा। उसी धुन में उन्होंने करीब 50 हजार से ज्यादा की भीड़ को संबोधित किया, जो चिलचिलाती धूप में भी उन्हें सुनने के लिए जमी हुई थी। उनके भाषण पर लोगों ने मिली-जुली प्रतिक्रिया दी, क्योंकि वे किसी प्रत्यक्ष काररवाई के

लिए तैयार होकर आए थे। 'द स्टेट्समैन' और 'द हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' के विशेष संवाददाताओं ने, जो उनके साथ वहाँ के हालात का अंदाजा लगाने गए थे, उनके दौरे के बारे में लिखा कि उन्होंने लोगों को शांत करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी, जिनका धैर्य खत्म हो चुका था और इस प्रकार उन्होंने आपसी समझ-बूझ एवं शांतिपूर्ण समझौते की दिशा में एक महान् योगदान दिया।

आनेवाले महीने डॉ. मुकर्जी के लिए बेहद निराशाजनक साबित हुए, खासतौर पर कश्मीर के मामले में। दिल्ली लौटने के फौरन बाद डॉ. मुकर्जी की नेहरू के साथ आमने-सामने बैठकर लंबी बातचीत हुई। उन्होंने नेहरू से कहा कि अब परिस्थिति की गंभीरता को कम करने का कोई फायदा नहीं। उन्होंने बताया कि प्रजा परिषद् कुछ असंतुष्ट और संपत्ति से बेदखल किए गए जमींदारों का संगठन नहीं है। यह एक लोकतांत्रिक राजनीतिक संगठन है, जिसके पास सक्षम नेतृत्व है और व्यापक जन-समर्थन भी। उन्होंने कहा कि जम्मू में इसका अच्छा खासा असर है और परिषद् के खिलाफ काररवाई की बात सोचना सही नहीं है। उस वक्त तक तो नेहरू प्रेमनाथ डोगरा से मिले तक नहीं थे। डॉ. मुकर्जी ने सलाह दी कि वे उन्हें अपने भरोसे में लें, जिनकी ईमानदारी और देशभक्ति पर सवाल नहीं उठाया जा सकता है और जो कश्मीर के हालात में ऐसे शख्स हैं, जिन पर भरोसा किया जा सकता है। डॉ. मुकर्जी ने इस बात पर जोर दिया कि प्रेमनाथ डोगरा उस राज्य के साथ-साथ भारत की एकता को सुदृढ़ करने में भी एक अहम भूमिका निभा सकते हैं।

जिस बात की आशंका पहले से थी, वह सच हुई। न तो शेख अब्दुल्ला ने और न ही नेहरू ने उनकी बातों पर जरा भी गौर किया। प्रचंड बहुमत से अपनी-अपनी सीट पर सुरक्षित होने की वजह से अब्दुल्ला अपनी माँगों को लागू करवाने और नेहरू उन्हें चुपचाप समर्थन देने में लगे रहे। अब्दुल्ला के दिमाग में जो योजनाएँ थीं, उनके मुताबिक जम्मू व कश्मीर को एक स्वतंत्र राज्य बनाया जा सकता था, जिसका अपना संविधान, राष्ट्रीय विधानसभा, सुप्रीम कोर्ट और झंडा होगा। प्रजा परिषद् के नेताओं ने कहीं से उस संविधान के प्रारूप की कॉपी हासिल कर ली, जो उन्होंने तैयार किया था। पं. प्रेमनाथ डोगरा ने भारत के राष्ट्रपति को एक ज्ञापन देकर उनका ध्यान इस ओर दिलाना चाहा; लेकिन इसका कोई फायदा नहीं हुआ। पं. प्रेमनाथ डोगरा 8 नवंबर, 1952 को जालंधर में डॉ. मुकर्जी से मिले, जहाँ वे पंजाब प्रांतीय जनसंघ के सम्मेलन के सिलसिले में पहुँचे थे। उनके सामने बिगड़ती परिस्थिति से जुड़े तथ्य रखे और बताया कि लोग यह महसूस कर रहे हैं कि अगर आंदोलन नहीं हुआ तो हालात ठीक नहीं हो पाएँगे।

बाद में वर्ष 1953 के जनवरी-फरवरी के दौरान डॉ. मुकर्जी, नेहरू और शेख अब्दुल्ला के बीच चिट्ठियों का त्रिपक्षीय आदान-प्रदान हुआ, जिसमें डॉ. मुकर्जी नेहरू को प्रजा परिषद् की माँगों पर कम-से-कम विचार करने की जरूरत पर जोर दे रहे थे।

इससे न तो नेहरू और न ही अब्दुल्ला को कोई फर्क पड़ा, जबकि नेहरू आँख मूँदकर अब्दुल्ला का साथ दे रहे थे, चाहे वे जो कुछ करें। प्रजा परिषद् तथा उसके आंदोलन को सांप्रदायिक करार दे दिया। नेहरू पर शेख अब्दुल्ला का इतना गहरा असर था कि उन्होंने उपराष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन के उस सुझाव को भी ठुकरा दिया, जिसमें सौहार्दपूर्ण समझौते करने की बात कही गई थी। डॉ. मुकर्जी ने अपनी तरफ से अब्दुल्ला को कहा कि उन्होंने द्वि-राष्ट्र की

थ्योरी जिन्ना से सुनी थी, लेकिन अब अब्दुल्ला एक त्रि-देश की थ्योरी आगे ला रहे हैं, जिसे उन्होंने एक खतरनाक लक्षण बताया। नेहरू भी अपनी आखिरी चिट्ठी में बेबाक और कुछ हद तक धमकी पर भी उतर आए थे। उन्होंने लिखा—''अगर आंदोलन जारी रहा तो यह हम तय करेंगे कि इस मामले में सरकार आगे और क्या कदम उठा सकती है!…'' इस तरह साफ तौर पर उन्होंने अपने आप को और अब्दुल्ला को एक पक्ष में रख दिया।

डॉ. मुकर्जी की व्यक्तिगत मुलाकात के अनुरोध पर उन्होंने लिखा—''मुझे खेद है कि कल और अगले दिन या उसके दो दिन बाद भी मैं पूरी तरह व्यस्त हूँ। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि आपकी चिट्ठी के सिलसिले में मुझे समझ नहीं आ रहा कि बातचीत के लिए आखिर सामान्य आधार है भी या नहीं।'' यह गौर करने लायक है कि जिस तरह सर्वनाम 'हम' का इस्तेमाल हुआ, ताकि वह खुद को और शेख अब्दुल्ला को एक साथ दिखा सकें। उनका असल नजरिया पूरी तरह सामने आ जाता है। इसपर डॉ. मुकर्जी ने जवाब दिया, ''मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हम आपके क्रोध और रोष के नतीजों को भुगतने के लिए तैयार हैं। पंजाब में कल निवारक निरोध अधिनियम के तहत हमारे कई कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी आनेवाले दिनों में जो होने वाला है, उसका संकेत है। इससे हमारे देश में लोकतंत्र के काम करने का एक विचित्र तरीका सामने आ रहा है, जहाँ निवारक निरोध कानून का इस्तेमाल जायज राजनीतिक विरोध से निपटने के लिए किया जा रहा है।'' इन सबके बावजूद हालात जस-के-तस रहे और ऐसा लगा कि डॉ. मुकर्जी मामले के शांतिपूर्ण हल की उम्मीद लगभग छोड़ चुके थे।

इंटेलिजेंस ब्यूरो के चीफ बी.एन. मलिक ने एक हैरान करनेवाली बात बताई है, जिससे इस बात का संकेत मिलता है कि नेहरू पूरी तरह जानते थे कि अब्दुल्ला क्या थे और क्या नहीं; साथ ही यह भी कि प्रजा परिषद् क्या है और क्या नहीं! अपनी पुस्तक 'माई इयर्स विद नेहरू : कश्मीर' में उन्होंने लिखा है कि उन्हें सन् 1953 के शुरुआत में यह जिम्मेदारी सौंपी गई थी कि शेख और प्रजा परिषद् को अपने-अपने रवैए में थोड़ी नरमी लाने के लिए राजी किया जाए (शायद नेहरू डॉ. मुकर्जी की फरियाद को फिजूल साबित करने में जुटे थे)। उन्हें प्रजा परिषद् को अपने रुख में नरमी लाने के लिए तैयार करने में कामयाबी मिल गई, लेकिन शेख ने उन्हें खाली हाथ लौटा दिया। उनके शब्द थे—''मैं उन्हें (अब्दुल्ला) एकदम बदले हुए इनसान के रूप में देखकर हैरान रह गया। तब से पहले जब मैं उनसे सितंबर 1949 में मिला था, उन्होंने अनिच्छा से मेरा स्वागत किया और फिर एक लंबा सा लेक्चर सुनाया। उन्होंने जम्मू के डोगराओं के खिलाफ हिंसक आरोप लगाए, खासतौर पर पिछले शासक और प्रजा परिषद् को निशाना बनाया। उन्होंने रा.स्व. संघ और जन संघ के बारे में अपमानजनक बातें कहीं। मैं उन्हें उनके डोगराओं के प्रति नफरत की भावना से डिगा नहीं सका, जो बार-बार उनके खिलाफ घृणा के भाव को प्रदर्शित कर रहे थे। वे तो यही चाहते थे कि सारे डोगरा कश्मीर छोड़कर भारत चले जाएँ और अपनी जमीन उन लोगों के लिए छोड़ दें, जिन्हें शेख अब्दुल्ला चाहते थे। दिल्ली लौटने पर मैंने प्रधानमंत्री को पूरी रिपोर्ट दी कि जम्मू में क्या हुआ था और मैं शेख की सोच में कोई भी बदलाव लाने में कैसे नाकाम रहा! वे (नेहरू) इस बात से परेशान थे कि शेख अब भी जम्मू के हिंदुओं के खिलाफ दुश्मनी की भावना रखते हैं और इसे खुलेआम जाहिर भी करते हैं।

प्रधानमंत्री ने टिप्पणी की थी कि यह सब शेख के सांप्रदायिक पृष्ठभूमि की वजह से है और राजनीतिक तौर पर तो उन्होंने एक नए अध्याय की शुरुआत करने की कोशिश की है, लेकिन उनका दिल कभी भी उनके पिछले पूर्वग्रहों से उन्हें मुक्त नहीं होने देता।''

बलराज मधोक के मुताबिक, ''अब डॉ. मुकर्जी के अंदर यह बात घर कर चुकी थी कि नेहरू संवैधानिक उपायों के प्रति संवेदनशील नहीं हैं। उनके लिए बहस, तर्क और जनमत का कोई मतलब नहीं है। वे अपनी पूरी जिंदगी एक आंदोलनकारी रहे थे और सिर्फ ताकत व आंदोलन ही उन्हें झुका सकते थे, न कि तर्क। इसलिए उन्होंने पं. डोगरा से कह दिया कि उन्होंने उन्हें न्याय दिलाने का भरसक प्रयास किया, लेकिन वे सफल नहीं हुए हैं और अब मुझे यह अधिकार नहीं कि आपके हाथों को बाँधकर रखूँ। फिर भी उन्होंने समझदारी से काम लेने का सुझाव दिया और इस बात का भरोसा दिलाया कि जन संघ हमेशा उनके साथ रहेगा और देश में उनके प्रति लोगों का समर्थन जुटाने के लिए जो कुछ बन पड़ेगा, वह करेगा; क्योंकि देश इस बात से सहमत था कि प्रजा परिषद् की समस्या पूरे देश की समस्या है।''

पं. प्रेमनाथ डोगरा ने डॉ. मुकर्जी से जालंधर में बहुत भारी मन से विदा ली और उनके दिमाग में अब यह बात थी कि उन्हें जम्मू के लोगों का उस संघर्ष में नेतृत्व करना है, जिसका अंजाम दु:खद होने वाला है। इसके कुछ ही अरसे बाद शेख अब्दुल्ला की सरकार ने ऐलान किया कि वह औपचारिक ढंग से नेशनल कॉन्फ्रेंस पार्टी के झंडे को फहराएगी, जिसे मामूली तब्दीली के बाद राज्य का झंडा मान लिया गया था और अब इसे 17 नवंबर को जम्मू सचिवालय पर फहराया जाना था; लेकिन ऐसा हो नहीं सका। इस बीच पं. डोगरा ने ऐलान किया कि जम्मू में और कोई झंडा नहीं, सिर्फ भारतीय राष्ट्रीय झंडा ही लहराएगा और उन्होंने लोगों को जगानेवाला आह्वान किया तथा उन्हें अपने अधिकारों के लिए और देश के साथ जुड़ने के लिए किसी भी त्याग के लिए तैयार रहने को कहा। शेख अब्दुल्ला की सरकार ने अब अपनी दमनकारी नीतियों को लागू करना शुरू किया, जिसके शिकार हुए थे जम्मू के लोग। नेहरू, जो हमेशा शेख की मदद के लिए तत्पर रहते थे, उन्होंने सेंट्रल रिजर्व और पंजाब पुलिस की टुकड़ियाँ भेजीं। पं. डोगरा और एस.एल. शर्मा, जो प्रजा परिषद् के अध्यक्ष और संगठन सचिव थे, उन्हें नवंबर 1952 में गिरफ्तार कर लिया गया, जब उन्होंने एक आमसभा में शहर के मुख्य चौराहे पर भारतीय तिरंगा लहरा रहे थे। यह प्रजा परिषद् के सत्याग्रह की शुरुआत का संकेत था। इस सबके दौरान उन्होंने अपने राजनीतिक कार्यक्रमों से दो दिन का समय निकालकर उड़ीसा के कटक में 28वें अखिल भारतीय बंग साहित्य सम्मेलन में हिस्सा लिया, जिसकी अध्यक्षता के लिए उन्हें न्योता दिया गया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी के मुकाबले क्षेत्रीय भाषाओं की भूमिका और स्थिति पर चर्चा की। उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं के विकास पर पूरा ध्यान दिए जाने का समर्थन किया और किसी भी तरह की एकरूपता को भारतीय परंपरा के खिलाफ मानते हुए थोपे जाने का विरोध किया; लेकिन हिंदी को देश में बोल-चाल की स्वाभाविक भाषा मानते हुए इसका विकास इस प्रकार करने पर जोर दिया कि यह देश के हर हिस्से में अपने विचार को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम बन जाए।

उनका यह भी विचार था, जो बंगालियों के बीच काफी प्रसिद्ध भी था कि देवनागरी, जो

कि संस्कृत की लिपि है, उसे सभी भारतीय भाषाओं की लिपि के रूप में अपनाया जाना चाहिए। उन्होंने राष्ट्रीय एकता के एक कारगर तत्त्व के रूप में एक आम लिपि का महत्त्व बताया और कहा कि इसका महत्त्व सिर्फ भाषाओं की एकता के लिए ही नहीं है।

जब वे कश्मीर के सवाल पर शेख अब्दुल्ला और नेहरू के साथ दो-दो हाथ कर रहे थे, तब यह भी जरूरी हो गया था कि वह अपनी नवजात पार्टी को वयस्क अवस्था तक ले जाएँ। पार्टी के नेता और रा.स्व. संघ के स्वयंसेवक इस काम में जी-तोड़ मेहनत कर रहे थे। भारतीय जन संघ का पहला पूर्ण सत्र कानपुर में दिसंबर 1952 के अंतिम सप्ताह में हुआ और जिस जगह यह हुआ, उसे दीप नगर (पार्टी के चिह्न दीपक के नाम पर) नाम दिया गया। इस बीच वह एक बार फिर पार्टी के अध्यक्ष चुन लिये गए थे। कानपुर पहुँचने पर उनका जोरदार स्वागत हुआ। सत्र में करीब 1,000 प्रतिनिधि जमा हुए थे और उन सबमें डॉ. मुकर्जी को सुनने की लालसा थी। जहाँ तक उनकी बात है, तो उनके पास एक एजेंडा था और वह यह कि वे उनका सक्रिय समर्थन चाहते थे, ताकि जन संघ प्रजा परिषद् की भारतीय एकता के लिए संघर्ष में पूरा साथ दे सके। यहाँ उनके लिए एक मौका भी था और चुनौती भी थी कि वे कैसे जन संघ को भारतीय नागरिकों के अधिकारों और उनकी स्वतंत्रता की रक्षा करनेवाले एक संगठन के रूप में तैयार करते हैं! इस अवसर पर उन्हें राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर अपने विचारों को रखने का अवसर मिला, जिससे उनकी पार्टी के कार्यकर्ता अवगत थे और उनके साथ व्यक्तिगत रूप से जुड़े हुए थे।

उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण से ही बैठक का मूड बदल दिया, जिसमें उन्होंने बिना घुमाए-फिराए कहा कि पार्टी की सदस्यता सभी धर्मों को माननेवालों के लिए खुली है, फिर भी पार्टी को यह लगा कि हिंदुओं के साथ न्याय नहीं हो रहा तो वे हिंदू-हितों के लिए संघर्ष करने में न चूकेगी और न कभी हिचकेगी। यही उन्होंने नेहरू और वामपंथियों की धर्मनिरपेक्षता को खुली चुनौती दी, जिसे कई राजनीतिक दलों और मीडिया के कुछ धड़ों ने स्वीकार कर लिया था और जिसका सार यह था कि भारत में एक अल्पसंख्यक कभी गलत काम नहीं कर सकता। टूटी-फूटी हिंदी (और बँगला उच्चारण के साथ) में ही सही, उन्होंने कार्यकर्ताओं को जोरदार शब्दों में संबोधित किया और कहा, ''किसी भी पार्टी की सदस्यता को लोगों की जाति, संप्रदाय और धार्मिक विचारधारा के आधार पर सीमित कर देना एक बड़ी गलती होगी। लेकिन अपने सभी नागरिकों के प्रति एक समान रुख रखते हुए जन संघ को ऐसा कहने में कोई शर्म महसूस नहीं होती कि हिंदू समाज को एकजुट न किया जाए या हम में कोई हीन भावना है कि हम गर्व से यह स्वीकार न कर सकें कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता को उथल-पुथल के लंबे दौर में महान् बनाने और हजारों वर्षों तक टिके रहने के लायक बनाने में हिंदू ऋषि-मुनियों, पंडितों, देशभक्तों की कठोर तपस्या, उनकी बुद्धि और त्याग की भूमिका है, जिनसे हमारी मातृभूमि का मान बढ़ा है।''' अगर भारत की स्वतंत्रता को सार्थक होना है तो भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषताओं का सही मूल्यांकन निहायत जरूरी है। वह देश जो अपनी पिछली कामयाबियों पर गर्व नहीं करता या उनसे प्रेरणा नहीं लेता, वह अपने वर्तमान का कभी निर्माण नहीं कर सकता और न भविष्य की योजना बना सकता है। एक कमजोर राष्ट्र कभी महान् नहीं बन सकता। और फिर, भारत अपनी पिछली परंपराओं और भविष्य में विकास की असीम संभावनाओं के साथ

शांति का माहौल तैयार करने में एक बहुत बड़ी भूमिका निभा सकता है। लेकिन गंभीर आर्थिक कमियों के साथ धर्मनिरपेक्षता की एक विकृत अवधारणा से देश के आर्थिक और मानव संसाधनों का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो गया है।''

उन्होंने उस वक्त शुरू की गई पहली पंचवर्षीय योजना पर भी टिप्पणी की और कहा, ''योजना यद्यपि हमारी अपेक्षाओं पर खरी नहीं उतरती, फिर भी हमें इसका समर्थन करना चाहिए।'' उन्होंने कश्मीर, पूर्वी बंगाल की समस्याओं और शरणार्थियों के पुनर्वास पर लंबी चर्चा की। कश्मीर के बारे में, जहाँ हर दिन प्रजा परिषद् का सत्याग्रह जोर पकड़ता जा रहा था, उन्होंने जम्मू के लोगों की शंका और डर को सहानुभूतिपूर्वक समझने पर जोर दिया। उन्होंने कहा, ''इस समय भी मैं मिस्टर नेहरू और शेख अब्दुल्ला से अपील करूँगा कि वे रुक जाएँ और झूठी प्रतिष्ठा को समझौते में रोड़ा न बनाएँ। उन्हें परिषद् के नेताओं से बातचीत शुरू कर देनी चाहिए और एक समझौते तक पहुँचना चाहिए, जो सभी के लिए न्यायपूर्ण और फायदेमंद हो।'' इस बीच उन्होंने ऐलान किया—''हमारी भावनाएँ सक्रिय रूप से जम्मू में सरकार की ज्यादतियों को एक महान् लक्ष्य के लिए चुपचाप सह रहे लोगों तक पहुँचाई जानी चाहिए।''...पूर्वी पाकिस्तान में हिंदुओं पर हो रहे अत्याचारों का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा, ''जिस हाल में आज वहाँ वे लोग रह रहे हैं, अगर ऐसा ही रहा तो वे या तो गुलाम बनकर रह जाएँगे या उनका धर्म-परिवर्तन कर दिया जाएगा।'' उन्होंने भारत के द्वारा खुद को असहाय दिखाने की कड़ी निंदा की और कहा, ''यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि पाकिस्तान की नजरों में हमारी साख इतनी कमजोर है कि वह जब चाहे, मौके-बेमौके हमें बेइज्जत करने की जुर्रत करता है और हमारी सरकार चुपचाप असहाय होकर सबकुछ देखती रहती है तथा कोई कारगर कदम नहीं उठाती।'' उन्होंने चेतावनी दी कि देश में देशद्रोहियों की गतिविधियाँ तेज हो गई हैं। अगर इसी तरह के हालात रहे तो हमारी आजादी क्षणभंगुर साबित होगी और हम एक गंभीर दुष्परिणाम को भुगतने के मोड़ पर पहुँच जाएँगे। पुनर्वास के मसले पर उन्होंने माँग रखी कि एक स्वतंत्र आयोग गठित किया जाए, जो अब तक के पुनर्वास की समीक्षा करे और आगे उठाए जानेवाले कदम सुझाए।

डॉ. मुकर्जी ने नेहरू के अति अंतरराष्ट्रीयवाद की भी कड़ी आलोचना की और कहा, ''अंतरराष्ट्रीयतावाद तभी सफल हो सकता है, जब उससे पहले मजबूत राष्ट्रीय आधार हो। लिहाजा हमें चाहिए कि हम अपने देश और उसकी सीमाओं को सुरक्षित व मजबूत बनाने के लिए कठोर कदम उठाएँ।'' बाद में भी नेहरू और अब्दुल्ला के साथ हुए पत्र-व्यवहार में जनवरी-फरवरी 1953 के दौरान उन्होंने नेहरू के अंतरराष्ट्रीय पेचीदगियों को लेकर उठी शंका का जिक्र करते हुए नेहरू का राजनीतिक माखौल उड़ाया और कहा, ''आज कोई यह दावा नहीं कर सकता कि आपने कश्मीर की समस्या पर जैसी भूमिका निभाई है, उससे हमारी अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ी है या हमें अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सहानुभूति और समर्थन मिला है। इसके बजाय आपकी नीति ने न सिर्फ देश में, बल्कि बाहर भी समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। शासनकला की जरूरत यह होती है कि आप पूरे मामले को निष्पक्ष और निष्काम होकर समझें, न कि छद्म अंतरराष्ट्रीयतावाद से डरते रहें। राष्ट्रीय अखंडता के लिए ऐसा माहौल तैयार करें, जिसमें तमाम विचारधाराओं का समावेश हो।

''अगर आप इसमें कामयाब हुए तो यह आपको उससे कहीं ज्यादा ताकत और प्रतिष्ठा देगा बनिस्पत कि उन अंतरराष्ट्रीय समझौतों से, जिनसे आप उम्मीद लगाए बैठे हैं।''

डॉ. मुकर्जी को अपने पार्टी कार्यकर्ताओं को इस बात के लिए मनाने में कोई दिक्कत नहीं हुई कि वे प्रजा परिषद् के आंदोलन का पूरी तरह समर्थन करें। वास्तव में युवा कार्यकर्ता, जो अति उत्साह में थे, वे तो यह चाहते थे कि भारत सरकार को जन संघ यह अल्टीमेटम दे कि या तो वह परिषद् की माँगों पर एक समय-सीमा के भीतर कोई ठोस कदम उठाए या सत्याग्रह के लिए तैयार रहे, जो जन संघ की ओर से समर्थन में पूरे भारत में शुरू कर दिया जाएगा। हालाँकि डॉ. मुकर्जी, जो संविधान को माननेवाले राजनेता थे, उन्होंने धैर्य रखने की सलाह दी। इस प्रकार उन्होंने यह निर्णय लिया कि वे एक आखिरी कोशिश के रूप में नेहरू और शेख अब्दुल्ला को चिट्ठी लिखेंगे, ताकि कोई हल निकल सके। कार्यकारी परिषद् में पास इस प्रस्ताव के तहत ही डॉ. मुकर्जी ने नेहरू और शेख अब्दुल्ला के साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया, जो पहले ही बताया जा चुका है कि निष्फल साबित हुआ।

मधोक कहते हैं कि सर्वपल्ली राधाकृष्णन, जो डॉ. मुकर्जी के पुराने मित्र व प्रशंसक थे और तब भारत के उपराष्ट्रपति थे, उन्होंने भी डॉ. मुकर्जी की ओर से दखल देने की कोशिश की; लेकिन इसका भी कोई असर नहीं हुआ। नेहरू को अब्दुल्ला के समर्थन का और डॉ. मुकर्जी के विरोध का पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाने का जैसे असाध्य रोग हो गया हो, उसपर सत्ता के नशे में चूर और प्रचंड बहुमत के भरोसे की वजह से उन्हें दूर-दूर तक किसी से चुनौती मिलती नहीं दिख रही थी, और यह भी संभव है कि वे घोर चाटुकारिता के भी शिकार हो गए हैं। यह वह समस्या थी, जिसका अनुभव उन्होंने खुद वर्ष 1947 में किया था, जब नेहरू ने उन्हें स्वतंत्र भारत की पहली कैबिनेट (अध्याय 10 देखें) में शामिल होने का न्योता दिया था। पर तब उनपर नियंत्रण रखने के लिए गांधी और पटेल जीवित थे और अब तो वर्ष 1953 का समय था!

कानपुर सेशन की एक गौर करनेवाली बात थी—पार्टी में युवा नेतृत्व का उदय। इनमें सबसे आगे थे एक शांत और कुछ हद तक अंतर्मुखी रा.स्व. संघ प्रचारक पं. दीनदयाल उपाध्याय। उनमें जबरदस्त आदर्शवाद और संगठन-संचालन की अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने हिंदी में तीन पत्रिकाओं की शुरुआत पहले ही कर दी थी—मासिक 'राष्ट्रधर्म', साप्ताहिक 'पाञ्चजन्य' और एक दैनिक 'स्वदेश'। एक कामयाब लेखक होने के नाते उन्होंने एक नाटक 'चंद्रगुप्त मौर्य' लिखा, शंकराचार्य की जीवनी लिखी और डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार, जो रा.स्व. संघ के संस्थापक थे, उनकी मराठी में लिखी जीवनी का हिंदी में अनुवाद किया। वह उत्तर प्रदेश में पार्टी के पहले महासचिव बने और उन्हें कानपुर में पार्टी का अखिल भारतीय महासचिव भी चुना गया। उनकी खूबियों से डॉ. मुकर्जी बेहद प्रभावित थे और उनके बारे में यह प्रसिद्ध बयान दिया, ''अगर मेरे पास दो दीनदयाल होते तो मैं भारत के राजनीतिक चेहरे को बदल देता।''

कानपुर में ही उन्होंने एक युवा एवं बेहद प्रभावशाली वक्ता और स्वयंसेवक को अपने निजी सचिव के तौर पर नियुक्त किया। उनका नाम था अटल बिहारी वाजपेयी। एक दिन वह युवा कार्यकर्ता भारत का प्रधानमंत्री बना और उस गठबंधन का नेतृत्व किया, जिसमें सबसे बड़ा दल भारतीय जन संघ का उत्तराधिकारी था और जो पहला गैर-कांग्रेसी गठबंधन था, जिसने

अपना कार्यकाल पूरा किया।

पूर्ण सत्र के खत्म होते ही डॉ. मुकर्जी ने अपना ध्यान जम्मू की समस्या और प्रजा परिषद् के आंदोलन की ओर लगाया। वर्ष 1953 के जनवरी-फरवरी महीने में उन्होंने नेहरू की सोच को सही दिशा में ले जाने के भरपूर प्रयत्न किए। इसके लिए उन्होंने राष्ट्रीय हितों का हवाला दिया और नेहरू तथा अब्दुल्ला के साथ त्रिपक्षीय पत्र-व्यवहार भी शुरू किया। मगर नतीजा शून्य ही रहा। लिहाजा, फरवरी आते-आते उन्होंने अब संघर्ष को सड़कों पर लाने का फैसला किया और लोगों से अपील की कि वे सड़कों पर उतरें, खासतौर पर उत्तर भारत के लोगों से यह कहा कि वे जम्मू के डोगराओं के समर्थन में आ जाएँ, जिनके साथ शेख अब्दुल्ला की सरकार ज्यादती कर रही है। नेहरू को शायद इसकी आशंका पहले से ही थी, अत: उन्होंने तत्काल दमनकारी उपायों को अपनाना शुरू कर दिया। इसके लिए निवारक निरोध कानून और अन्य हथकंडे अपनाए गए। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 को लागू कर चार या चार से ज्यादा लोगों के इकट्ठा होने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। कई बड़े शहरों में इसे लागू कर सभी प्रकार की बैठकों या रैलियों पर रोक लगा दी गई। दिल्ली में भी बैठकों और जुलूसों पर प्रतिबंध लग गया। पूर्वी पंजाब की सरकार ने जन संघ के लगभग सभी नेताओं को निवारक निरोध कानून के तहत गिरफ्तार कर लिया। डॉ. मुकर्जी ने अब 5 मार्च, 1953 को 'कश्मीर दिवस' मानने का आह्वान किया। इसपर भी तुरंत रोक लगा दी गई। इस बीच चार राज्यों में हुए उप-चुनावों में जन संघ को तीन सीटें मिलीं, जबकि चौथी सीट पर बहुत कम अंतर से हार हुई। कांग्रेस डर गई और उसने 5 मार्च की बैठक पर लगी रोक को हटा लिया। यह बैठक क्वींस गार्डन में हुई, जिसमें करीब 50,000 लोग शामिल हुए, जिनमें से कई यह भी नहीं जानते थे कि रोक हटा ली गई है और वे गिरफ्तारी देने तथा दमनकारी कारवाई का सामना करने के लिए तैयार होकर आए थे। इस बैठक की अध्यक्षता राम राज्य परिषद् के स्वामी करपात्रीजी ने की और इसे डॉ. मुकर्जी के अलावा पं. मौलिचंद्र शर्मा और निर्मल चंद्र (एन.सी.) चटर्जी ने संबोधित किया। कई वक्ताओं ने महाभारत का जिक्र करते हुए डॉ. मुकर्जी की तुलना श्रीकृष्ण से की, जो कौरवों को पांडवों पर ज्यादती न करने के लिए मनाने गए थे।

डॉ. मुकर्जी जानते थे कि लोगों में गुस्सा है और वे अब सीधी कारवाई चाहते हैं, फिर भी उन्होंने वहाँ आए लोगों को शांत करने के लिए यह ऐलान किया कि अगले दिन जम्मू में शेख अब्दुल्ला की पुलिस ने फायरिंग में शांतिपूर्वक प्रदर्शन कर रहे जिन लोगों को शहीद किया है, उनकी अस्थियाँ एक जुलूस के साथ दिल्ली रेलवे स्टेशन से चाँदनी चौक तक जाएँगी। इस जुलूस का नेतृत्व डॉ. मुकर्जी, निर्मल चंद्र चटर्जी और नंदलाल शास्त्री करेंगे। सरकार एक बार फिर काँप उठी और उसने फिर से बैठकों व जुलूसों पर प्रतिबंध लगा दिया। अगले दिन जब डॉ. मुकर्जी प्रतिबंध के बावजूद सड़क पर उतरे तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। निर्मल चंद्र चटर्जी, जो उस वक्त देश के एक नामी वकील थे, उन्होंने सुप्रीम कोर्ट में बंदी प्रत्यक्षीकरण यानी बंदी को पेश करने की याचिका दायर की। सुप्रीम कोर्ट ने इसपर सुनवाई की और 11 मार्च को उन्हें रिहा कर दिया गया।

इस बीच आंदोलन चलता रहा और पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश और भारत के बाकी हिस्सों

में जोर पकड़ता चला गया। जम्मू में टैक्स देने के खिलाफ एक आंदोलन शुरू हुआ। शेख अब्दुल्ला की सरकार ने भी आंदोलन को कुचलने के लिए और ज्यादा सख्ती बरतनी शुरू कर दी। उसने डोगरा पुलिस के बदले कश्मीरी पुलिस और सैनिकों को जम्मू भेजा।

उन पुलिसवालों ने जम्मू और उसके आसपास आतंक मचा दिया, यहाँ तक कि महिलाओं पर जुल्म और ज्यादती की गई। डोगरा लड़ाकू किस्म के लोग होते हैं और अंग्रेजों ने उन्हें लड़ाकू जाति में गिना (जबकि कश्मीरी मुसलमानों को ऐसा नहीं माना जाता)। भारतीय सेना में एक डोगरा रेजीमेंट भी है। डोगरा आंदोलनकारियों ने अब अपने भूमिगत हो चुके प्रजा परिषद् के सचिव दुर्गादास वर्मा से अनुमति माँगी कि वे उन्हें हिंसा का जवाब हिंसा से देने दें। उनमें से कई ने उन्हें लिखी चिट्ठी में कहा कि हम सैनिक हैं और दुनिया के कई हिस्सों में हमने जंग लड़ी है। अब तक हम आपके निर्देशों का पालन कर रहे थे और अहिंसक मूकदर्शक बने हुए थे, तब भी जब हमारी स्त्रियों का अपमान हमारी आँखों के सामने हो रहा था। इन बातों की पुष्टि कई सेवानिवृत्त नागरिकों के बयानों से होती है, जिनमें से एक पूर्व पुलिस महानिरीक्षक भी थे, जिन्होंने खुद एक घटनास्थल पर इस जुल्म को होते देखा था। उन्होंने इस रिपोर्ट की पुष्टि की थी। इसके फौरन बाद राज्य के पूर्व मंत्रियों और उच्च अधिकारियों का एक प्रतिनिधिमंडल दिल्ली पहुँचा और भारत सरकार व देश के लोगों का ध्यान जम्मू में तेजी से बिगड़ती जा रही स्थिति की ओर खींचा। डॉ. मुकर्जी ने 26 अप्रैल को संसद् में दिए अपने भाषण के दौरान नेहरू से एक आखिरी अपील में कहा कि वे कदम उठाएँ और इस मामले को खत्म करें। उन्होंने कहा कि अगर पं. नेहरू ने प्रेमनाथ डोगरा को बुलाकर उनसे बात करें और अपना नजरिया व दिक्कतों को समझाने की कोशिश करें, बजाय इसके कि बस वे उनके खिलाफ ही बोलते रहें, तो मैं संतुष्ट हो जाऊँगा। हालाँकि अब तक नेहरू के अंदर का लोकतांत्रिक नेता लगभग निष्क्रिय हो चुका था और वे फासीवादी तथा निरंकुश हो चुके थे। डॉ. मुकर्जी से उनकी चिढ़ ने हालात को और बदतर बना दिया। खासतौर पर इस वजह से भी, क्योंकि उन्हें लगता था कि डॉ. मुकर्जी उन्हें चुनौती दे रहे हैं। यही वजह थी कि उनकी तरफ से कोई जवाब नहीं आया।

जम्मू व कश्मीर में दाखिल होने के लिए परमिट की प्रणाली पर डॉ. मुकर्जी को कड़ा ऐतराज था। यह न सिर्फ सैद्धांतिक रूप से, बल्कि इस वजह से भी, क्योंकि इसके दुरुपयोग से अच्छे लोगों को भी राज्य में घुसने से रोक दिया जाता था। कुछ महीने पहले ही त्रिवेदी और देशपांडे को जम्मू में दाखिल होने से रोक दिया गया था और उनसे पहले तो राजस्थान के डिप्टी स्पीकर समेत कई विधायकों को घुसने नहीं दिया गया था, जबकि वे एक फैक्ट फाइंडिंग मिशन के तहत आ रहे थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि परमिट प्रणाली को पाकिस्तानी जासूसों और भेदियों को कश्मीर में घुसने से रोकने के लिए लागू किया गया है, लेकिन कानून के आधार पर इसका दुरुपयोग जिम्मेदार नागरिकों, जैसे सांसदों को राज्य में घुसने से रोकने के लिए नहीं किया जा सकता है। यही वजह थी कि उन्होंने रक्षा मंत्री को एक पत्र लिखकर परमिट प्रणाली में कानूनी प्रावधानों की जानकारी माँगी। एक बार फिर उन्हें कोई जवाब नहीं मिला। अब उन्होंने बिना परमिट के ही राज्य में दाखिल होने का मन बना लिया। ऐसा करने से पहले उन्हें अनगिनत लोगों ने रोकने और समझाने की कोशिश की। यह पहले भी हो चुका था, लेकिन इस बार वे काफी

ऊपर के लोगों की तरफ से आए थे और उसके पीछे अतिरिक्त ताकत का भी एहसास हो रहा था। इस यात्रा से पहले अपनी माँ का आशीर्वाद लेने के लिए वे आनन-फानन में कलकत्ता पहुँचे। कलकत्ता में वे भारत सेवाश्रम संघ गए, जो एक हिंदू मठ और परोपकारी संस्था है। इसके संस्थापक स्वामी प्रणवानंद ही उन्हें राजनीति में लेकर आए थे। मठ के मुखिया स्वामी सच्चिदानंद ने बार-बार उन्हें जम्मू न जाने की सलाह दी। वापसी में वे एक दिन के लिए पटना में रुके। यहाँ अपने मेजबान ठाकुरप्रसाद से उन्होंने जम्मू जाने की इच्छा प्रकट की। ठाकुरप्रसाद के बूढ़े पिता, जिन्होंने कई राज्यों में दीवान के पद पर काम किया था, ने डॉ. मुकर्जी को जम्मू जाने से रोका और अंत में कहा, ''जाना चाहते हो तो जरूर जाओ, लेकिन एक बात का खयाल जरूर रखना। खुद कुछ भी खाने से पहले उसे दूसरे को खिलाना, जिसपर तुम्हें भरोसा हो।'' लेकिन इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण चेतावनी एक कांग्रेस की नेत्री सुचेता कृपलानी की ओर से मिली, जो आचार्य जे.पी. कृपलानी की पत्नी थीं और खुद भी बंगाली थीं। इसका जिक्र नोआखली में 1946 के अत्याचारों के संदर्भ में भी हुआ है। इसके लिए अध्याय 8 देखें। उनकी प्रतिक्रिया का जिक्र अगले अध्याय में विस्तार से किया गया है।

यह दृश्य जूलियस सीजर की हत्या से ठीक पहले के दृश्य के समान है, जिसका जिक्र शेक्सपीयर ने किया है। सीजर जैसे ही आगे बढ़नेवाला था, रानी कालपूर्निया ने भयावह बातें कीं, वैसी ही जैसी भविष्यवक्ताओं ने चेतावनी दी थी, जिसमें कहा गया था, मार्च करने के विचार से भी होशियार और फिर लिखा—

बावजूद इसके सीजर आगे बढ़ा
कायर अपनी मौत से पहले कई बार मरते हैं;
बहादुर मौत का स्वाद कई बार नहीं, सिर्फ एक बार चखते हैं।
अब तक मैंने जितने भी चमत्कार सुने हैं,
मुझे सबसे अजीब लगता है कि योद्धा डरते हैं;
यह देखकर भी कि मौत ही अंत है,
यह जब आएगी तब आएगी।

यह कहते हुए वह रोम के सीनेट हाउस की तरफ आगे बढ़ा, जहाँ साजिश रचनेवालों ने उसे तलवार से चीरकर मौत के घाट उतार दिया। इसी प्रकार डॉ. मुकर्जी ने माधोपुर में रावी नदी का पुल पार कर शेख अब्दुल्ला की पुलिस के एक अफसर को अपनी गिरफ्तारी दी और ठीक जूलियस सीजर की तरह कश्मीर से कभी जिंदा वापस नहीं लौटे।

□

15

शहादत और उसके बाद

(1953)

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी खुद भी नहीं जानते थे कि वह एक प्राण-घातक यात्रा पर निकल रहे हैं। 8 मई, 1953 को सुबह 6.30 बजे दिल्ली रेलवे स्टेशन से पैसेंजर ट्रेन में अपने समर्थकों के साथ सवार होकर वे पंजाब के रास्ते जम्मू के लिए निकले। जिस बोगी में वे बैठे, उसे फूलों और जन संघ के झंडों से सजाया गया था। गुरुदत्त वैद्य, अटल बिहारी वाजपेयी, टेकचंद एवं बलराज मधोक और कुछ पत्रकार उनके साथ थे। ट्रेन छूटने से थोड़ी देर पहले उन्होंने एक बयान जारी कर यह जानकारी दी कि वे किस मकसद से जम्मू जा रहे हैं। मसलन, यह बात खुद पता लगाने के लिए कि प्रजा परिषद् का आंदोलन किस चरण में है और कितना गंभीर है! साथ ही जम्मू के नागरिकों पर अब्दुल्ला की सरकार कितना जुल्म ढा रही है! उस बयान का एक अंश यहाँ उद्धृत है—

''सत्याग्रह आंदोलन जम्मू में पिछले छह महीने से लगातार जारी है, जिसमें करीब 2,500 लोगों को गिरफ्तार किया गया है और 30 सत्याग्रही पुलिस की गोलियों से शहीद हुए हैं। दिल्ली और पंजाब में आंदोलन को दो महीने से ज्यादा हो गए हैं और वहाँ 1,700 सत्याग्रहियों को गिरफ्तार किया गया है। सभी प्रकार की भड़काने की कोशिशों और विभिन्न प्रकार के दमन तथा संत्रास के बावजूद, जो ब्रिटिश शासन की याद दिलाते हैं, आंदोलन अहिंसक और किसी भी तरह के सांप्रदायिक पक्षपात से दूर ही रहा है।

''इसके बावजूद कि यह आंदोलन दिल्ली और पंजाब के कुछ हिस्से तक सीमित रहा है, फिर भी देश के विभिन्न हिस्सों से भारी तादाद में सत्याग्रहियों का दिल्ली आना जारी है, जो आंदोलन को अखिल भारतीय स्वरूप दे रहा है। वे अपने साथ अपने-अपने इलाके के लोगों का समर्थन और उनकी शुभकामनाएँ लेकर आ रहे हैं। जम्मू में, लोहे की चादर के बावजूद, लोगों ने डर के आगे घुटने नहीं टेके हैं और वे शासन के गुस्से एवं रोष का सामना करने के लिए तैयार हैं, जो उनपर बेहिसाब जुल्म करता जा रहा है।''

आंदोलन ने जो सफलता हासिल की थी, उसकी चर्चा करते हुए बयान में कहा गया, ''पिछले कुछ हफ्तों में मैंने भारत के कई हिस्सों का दौरा किया है और अपने नजरिए को देश के सामने रखने

की कोशिश की है। मैंने पाया है कि धीरे-धीरे और लगातार ऐसे लोग, जो हमारे आंदोलन का पूरी तरह समर्थन नहीं भी करते, उन्हें महसूस हो रहा है कि जम्मू व कश्मीर में नेहरू की गलत नीतियों के कितने गंभीर परिणाम होंगे। इस लिहाज से हमारा आंदोलन सफल रहा है। इसने बड़े पैमाने पर लोगों का समर्थन आंदोलन के मूल मकसद के लिए हासिल किया है।''

इस बात पर सफाई देते हुए कि उन्होंने कश्मीर में दाखिल होने के लिए परमिट क्यों नहीं माँगा, बयान में कहा, ''नेहरूजी ने बार-बार ऐलान किया है कि जम्मू व कश्मीर राज्य का भारत में 100 प्रतिशत विलय हो चुका है। फिर भी यह देखकर हैरानी होती है कि इस राज्य में कोई भारत सरकार से परमिट लिये बिना दाखिल नहीं हो सकता। यह परमिट उन कम्युनिस्टों को भी मिल जाता है, जो अपना जाना-माना रोल जम्मू व कश्मीर में अदा कर रहे हैं। लेकिन उन लोगों के यहाँ आने पर प्रतिबंध है, जो भारत की एकता और राष्ट्रीयता के बारे में सोचते हैं या उस दिशा में काम करते हैं। मैं नहीं समझता कि भारत सरकार को यह हक है कि वह किसी को भी भारतीय संघ के किसी हिस्से में जाने से रोक सके, क्योंकि खुद नेहरू ऐसा कहते हैं कि इस संघ में जम्मू व कश्मीर भी शामिल है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जो कानून तोड़ेगा, उसे उसके नतीजे भुगतने पड़ेंगे।''

जम्मू जाने के उनके मकसद के बारे में यह बयान था, ''जम्मू जाने का मेरा एकमात्र मकसद यह है कि मैं खुद को इस बात से वाकिफ कराना चाहता हूँ कि वहाँ हुआ क्या है और मौजूदा हालात कैसे हैं। मैं वहाँ मौजूद नेताओं से संपर्क करूँगा, जो अलग-अलग हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रजा परिषद् के अलावा हैं। मेरा यह प्रयास होगा कि मैं यह जान सकूँ कि जम्मू के लोगों के मन में क्या चल रहा है और यह पता लगाने की कोशिश होगी कि क्या ऐसी कोई गुंजाइश है कि आंदोलन को शांतिपूर्ण और सम्मानजनक मोड़ पर लाकर खत्म किया जाए, जो न सिर्फ राज्य के लोगों के लिए बल्कि पूरे भारत के लिए उपयुक्त और न्यायोचित होगा! मैं पूरे भरोसे के साथ यकीन करता हूँ कि जब मैं इस जिम्मेदारी को निभाने की कोशिश करूँगा, मुझे सभी पक्षों का पूरा समर्थन और सहानुभूति मिलेगी। अगर मुझे राज्य में दाखिल होने दिया जाता है तो मैं अपनी खातिर इस बात से इनकार नहीं करता कि मैं शेख अब्दुल्ला से भी मिलूँगा और उनसे निजी तौर पर बातचीत करूँगा।''

इस प्रकार, उनकी जो छवि थी वह उससे अलग थी, जो नेहरू और अब्दुल्ला देश को दिखाना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि आंदोलनकारियों को भड़काया जाए, ताकि वे शेख अब्दुल्ला की सरकार के साथ टकराव के रास्ते पर और आगे चले जाएँ। एक संविधान को माननेवाले राजनीतिज्ञ की तरह वे यह चाहते थे कि आंदोलन को खत्म किया जाए, ताकि दोनों संघर्षरत पक्षों को अपने आपको बचाने का मौका मिल सके। सिर्फ एक ही बात उन्होंने नहीं मानी, वह यह थी कि उन्होंने भारत के जम्मू व कश्मीर राज्य में दाखिल होने के लिए भारत सरकार से परमिट माँगने से इनकार किया था।

जम्मू-यात्रा के कार्यक्रम में उनका पहला पड़ाव पंजाब (अब हरियाणा) के अंबाला के पास एक जगह पर था। हालाँकि जब डॉ. मुकर्जी ट्रेन पर थे, तभी उन्हें यह बात याद आई कि दिल्ली छोड़ने से पहले उन्होंने प्रोफेसर वाल्टर जॉनसन, जो अमेरिका से आए एक विशिष्ट अतिथि थे,

उनसे वादा किया था कि वे जन संघ के बारे में कुछ कागजात भेजेंगे और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात जो उनसे कही थी, वो यह कि शेख अब्दुल्ला को एक सरकारी सूचना भेज दें, जिससे उनको जम्मू व कश्मीर में दाखिल होने की जानकारी हो जाए। दरअसल, जॉनसन के साथ उन्होंने 13 मई को एक मीटिंग तय की थी; लेकिन इस आशंका से कि उन्हें कहीं गिरफ्तार न कर लिया जाए, यह बता दिया था कि हो सकता है, वह मिलने का वादा पूरा न कर पाएँ। खैर, उन्होंने अब्दुल्ला को एक टेलीग्राम भेजा, जिसमें लिखा था—'मैं जम्मू जा रहा हूँ। वहाँ जाने का मेरा मकसद यह है कि मैं वहाँ के हालात का जायजा खुद ले सकूँ और उन संभावनाओं को तलाश सकूँ, जिनसे शांतिपूर्ण समाधान हो जाए। अगर संभव हो सका तो मैं आपसे भी मिलने की कोशिश करूँगा।'

उन्होंने टेलीग्राम की कॉपी नेहरू को भी भेज दी।

वी.पी. भाटिया, जो जन संघ की स्थानीय इकाई के अध्यक्ष और आर.एस.एस. के एक स्वयंसेवक थे। डॉ. ए.एन. वर्मन उस ईकाई के सचिव, दोनों रास्ते में ट्रेन पर सवार हुए और डॉ. मुकर्जी के साथ अंबाला कैंट स्टेशन तक उसी बोगी में गए। भाटिया ने महसूस किया कि डॉ. मुकर्जी एक कद्दावर शख्सियत थे, वह बीच के बर्थ पर बैठे थे, जबकि गुरुदत्त वैद्य और टेकचंद किनारे की बर्थ पर बैठे थे। उन्होंने भाटिया को इतनी कम उम्र में अध्यक्ष बनने पर बधाई दी। ट्रेन दोपहर 2 बजे अंबाला पहुँची और वहाँ प्लेटफॉर्म पर इतनी भारी भीड़ थी कि डॉ. मुकर्जी का नीचे उतरना मुश्किल हो गया। इससे पहले कि वे नीचे उतरते, अंबाला शहर जनसंघ के अध्यक्ष एडवोकेट रघुबीर शरण ने उन्हें 'दि इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया' का नया अंक दिखाया, जिसके कवर पर डॉ. मुकर्जी व जयप्रकाश नारायण की तसवीरें थीं और शीर्षक था—'नेहरू के बाद कौन? मुकर्जी या जे.पी.?'

अंबाला से वे सड़क के रास्ते करनाल पहुँचे। रास्ते में शाहबाद और नीलोखेड़ी से गुजरे, जहाँ उन्हें लोगों की माँग पर पहले से तय न होने के बावजूद रुकना पड़ा और भाषण देना पड़ा। इससे पहले कि वे करनाल में भाषण समाप्त करते, वे बुरी तरह थक चुके थे; लेकिन वहाँ भी कार्यकर्ताओं के जोर देने पर उन्हें भाषण देना पड़ा और उनके सवालों के जवाब देने पड़े। करनाल से उन्होंने अपनी भाभी तारा देवी को एक छोटी सी चिट्ठी लिखी, जिसमें उन्होंने अब तक मिले स्वागत की जानकारी दी। उन्होंने लिखा—"जब तक कि आप अपनी आँखों से देख न लें, इस पर यकीन करना मुश्किल है। दिल्ली और अंबाला के बीच हर स्टेशन पर मेरा अभिवादन करने वालों की जबरदस्त भीड़ थी।"... उन्हें अपनी छोटी बेटी हासु की भी चिंता सता रही थी, जिसे वे दिल्ली में छोड़कर आए थे। उसके लिए उनके दिल में एक खास जगह थी—एक शांत, अंतर्मुखी लड़की, जिसने कभी नहीं जाना कि माँ का प्यार क्या होता है और उसपर से हाल ही में तपेदिक की मार से उबरी हो। उन्होंने करनाल में रात बिताई और अगले दिन सड़क के रास्ते पानीपत पहुँचे, जहाँ एक विशाल जनसभा को संबोधित किया। वहाँ से ट्रेन पकड़ी और फगवाड़ा पहुँचे। फगवाड़ा में उन्हें उस टेलीग्राम का जवाब मिला, जो उन्होंने शेख अब्दुल्ला को भेजा था। उसमें लिखा था—"आपके टेलीग्राम के लिए शुक्रिया। मुझे आशंका है कि राज्य में आपकी प्रस्तावित यात्रा के लिए यह उचित समय नहीं है और इससे कुछ हासिल भी नहीं होगा।"... नेहरू ने तो जवाब देने की भी जहमत नहीं उठाई, यहाँ तक कि पावती भी नहीं भेजी।

फगवाड़ा के बाद अगला पड़ाव था जालंधर, जहाँ उन्होंने एक पत्रकार सम्मेलन को संबोधित किया। जालंधर से उन्होंने बलराज मधोक को वापस भेज दिया और अमृतसर के लिए ट्रेन पकड़ी। ट्रेन में एक बुजुर्ग व्यक्ति ने गुरदासपुर (जिला, जिसमें पठानकोट आता है) के डिप्टी कमिश्नर के तौर पर अपनी पहचान बताई और कहा कि 'पंजाब सरकार ने फैसला किया है कि उन्हें पठानकोट पहुँचने न दिया जाए। मैं अपनी सरकार से निर्देश का इंतजार कर रहा हूँ कि आपको कहाँ गिरफ्तार किया जाए।' यह सुनकर डॉ. मुकर्जी ने अपनी गिरफ्तारी के बाद की तैयारी शुरू कर दी और बातचीत के बाद तय किया कि गुरुदत्त वैद, जो एक जाने-माने आयुर्वेदिक चिकित्सक व लेखक थे और तब दिल्ली राज्य जन संघ के अध्यक्ष थे तथा टेकचंद देहरादून के एक युवा और उत्साही कार्यकर्ता थे, वे उनके साथ जाएँगे और गिरफ्तारी देंगे। लेकिन हैरत इस बात की थी कि उन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया, न तो अमृतसर में, न पठानकोट में और न ही रास्ते में कहीं और।

अमृतसर रेलवे स्टेशन पर 20,000 से ज्यादा लोग उनके स्वागत के लिए मौजूद थे। उन्होंने अमृतसर में रात्रि-विश्राम किया। स्थानीय कार्यकर्ताओं से बातचीत की। वे इस बात पर अडिग थे कि उन्हें जम्मू जाना है, चाहे शेख अब्दुल्ला को यह पसंद आए या न आए। अमृतसर से पठानकोट तक की यात्रा एक और विजय-यात्रा की तरह थी। हर स्टेशन पर हजारों लोग उनका अभिवादन करते। पठानकोट में उनका जिस तरीके से स्वागत हुआ, वह अद्भुत था। बाजार में सड़क के दोनों तरफ हाथ जोड़े लोगों का जन-सैलाब उमड़ रहा था और उनके बीच से उनकी जीप चली जा रही थी। अमृतसर से वे निकलने ही वाले थे कि एक बुजुर्ग महिला ने पंजाब में इन शब्दों से उन्हें आशीर्वाद दिया—"वे पुत्तर! जीत के आवीं, ऐवीं ना आवीं।…" मेरे बेटे! आना तो जीतकर ही आना। पठानकोट पहुँचने के फौरन बाद गुरदासपुर के डिप्टी कमिश्नर, जो उनका पीछा कर रहे थे, ने उनसे मिलने की इजाजत माँगी। उन्होंने डॉ. मुकर्जी को बताया कि उनकी सरकार ने उन्हें निर्देश दिया है कि वे उन्हें और उनके सहयोगियों को आगे बढ़ने दें और बिना परमिट के जम्मू व कश्मीर में प्रवेश करने दें। उस अफसर को खुद हैरानी हो रही थी कि उसे जो आदेश मिलने वाले थे, वे पलट कैसे दिए गए! उसे जरा भी अहसास नहीं था, न ही वहाँ मौजूद किसी और को इस साजिश की भनक थी, जो रची जा चुकी थी और उस साजिश के मुताबिक डॉ. मुकर्जी को पंजाब में नहीं, जम्मू व कश्मीर में गिरफ्तार किया जाएगा, ताकि वे भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर पहुँच जाएँ।

उनका अगला पड़ाव रावी नदी पर बसे माधोपुर की सीमा के पास चेकपोस्ट था। रावी पंजाब की पाँच महान् नदियों में से एक थी, जो पंजाब और जम्मू व कश्मीर की सीमा बनाती हुई बीच से बहती थी। नदी के आर-पार जाने के लिए सड़कवाला एक पुल था, और राज्यों की सरहद इस पुल के बीचोबीच थी। डॉ. मुकर्जी और उनके साथी शाम 4 बजे माधोपुर चेकपोस्ट पहुँचे। गुरदासपुर के डिप्टी कमिश्नर और दूसरे अफसरों ने उन्हें ब्रिज से विदाई दी। लेकिन जैसे ही उनकी जीप ब्रिज के बीच में पहुँची, उन्होंने देखा कि जम्मू व कश्मीर पुलिस के जवानों का दस्ता सड़क के बीच में खड़ा है। जीप रुकी और तब एक पुलिस अफसर, जिसने बताया कि वह कठुआ का पुलिस अधीक्षक है, उसने राज्य के मुख्य सचिव का 10 मई, 1953 का एक

आदेश सौंपा, जिसमें राज्य में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध लगाया गया था।

"लेकिन मैं जम्मू जाना चाहता हूँ।" डॉ. मुकर्जी ने कहा।

इसके बाद उस पुलिस अफसर ने गिरफ्तारी का आदेश अपनी जेब से निकाला, जो पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट के तहत जारी किया गया था और जिस पर जम्मू व कश्मीर के पुलिस महानिरीक्षक पृथ्वीनंदन सिंह का 10 मई का दस्तखत था, जिसमें कहा गया था कि डॉ. मुकर्जी ने ऐसी गतिविधि की है, कर रहे हैं या करनेवाले हैं, जो सार्वजनिक सुरक्षा एवं शांति के खिलाफ है, इस वजह से उन्हें ऐसा करने से रोकने के लिए कैप्टन ए. अजीज, कठुआ के पुलिस अधीक्षक को निर्देश दिया जाता है कि वे डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी को गिरफ्तार करें और उन्हें अपनी हिरासत में श्रीनगर की सेंट्रल जेल पहुँचाएँ।

ठीक है, डॉ. मुकर्जी ने आदेश पढ़ने के बाद कहा और जीप से नीचे उतर गए। गुरुदत्त वैद, टेकचंद और बाकी लोग भी नीचे उतरे। अटल बिहारी वाजपेयी, जो उनके निजी सचिव थे, वे भी उस दौरान उनके साथ थे। एक आजाद व्यक्ति के रूप में अपने आखिरी संदेश में उन्होंने अटल बिहारी वाजयेपी और बाकी साथियों से कहा कि 'पूरे देश को यह बताएँ कि मैं आखिरकार जम्मू व कश्मीर राज्य में दाखिल हो गया हूँ, हालाँकि एक बंदी के तौर पर और मेरी गैर-मौजूदगी में मेरे काम को बाकी लोग आगे बढ़ाएँ।'

पुलिस की जीप थोड़ी देर के लिए लखनपुर में रुकी। उनके तीन साथियों को दूसरी बंद जीप में बिठाया गया, जिसे जम्मू शहर के तवी ब्रिज से होते हुए श्रीनगर की ओर दौड़ा दिया गया। जम्मू के लोग हजारों की संख्या में तवी ब्रिज पर अपने हीरो के स्वागत के लिए इकट्ठा हुए थे। वे पूरी रात इंतजार करते रहे, लेकिन सुबह होने तक भी उन्हें वह बंद जीप ब्रिज को पार करती नहीं दिखी। डॉ. मुकर्जी और उनके साथी रात 10 बजे ऊधमपुर पहुँचे और रात 2 बजे बटोट, जहाँ रात में सोए और अगले दिन दोपहर 3 बजे श्रीनगर सेंट्रल जेल पहुँचे।

वहाँ से उन्हें और उनके दो साथियों को जेल के अधीक्षक, पं. श्रीकांत सप्रू, डल झील के करीब एक कॉटेज में ले गए, जहाँ भारतीय संसद् के सबसे महत्त्वपूर्ण सदस्यों में से एक भारत की राष्ट्रीय पार्टी के अध्यक्ष को अपनी जिंदगी के 40 दिन बंदी के रूप गुजारने पड़े और जिसका कारण महज वह अपराध था, जो उन्होंने इस प्रकार किया था, जो सार्वजनिक सुरक्षा और शांति के खिलाफ था।

यहाँ यह गौर करना महत्त्वपूर्ण है कि कई लोग इस भुलावे में थे कि उन्हें जम्मू व कश्मीर में बगैर परमिट के घुसने की वजह से गिरफ्तार किया गया था। यह वो झूठ था, जिसे खुद शेख अब्दुल्ला ने फैलाया, जैसा कि एक प्रसारण में उन्होंने कहा और इसकी वजह क्या थी, वही ज्यादा अच्छी तरह जानते होंगे। डॉ. मुकर्जी ने हाथ से लिखे परचे में अपने वकील यू.एम. त्रिवेदी को बताया, जो बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका तैयार कर रहे थे। दरअसल, 11 मई को जम्मू व कश्मीर की सरकार ने सदर-ए-रियासत के जरिए एक अध्यादेश जारी किया, जिसके मुताबिक राज्य में बिना परमिट के दाखिल होना एक अपराध है। लेकिन जैसा कि पुलिस महानिरीक्षक पृथ्वीनंदन सिंह के आदेश से पता चलता है, डॉ. मुकर्जी को उस अध्यादेश के तहत गिरफ्तार (किया भी नहीं जा सकता था) नहीं किया गया था। जिस दिन उन्हें गिरफ्तार किया गया था,

अगर कोई परमिट जारी किया जा सकता था तो वह सिर्फ भारत सरकार जारी कर सकती थी, न कि जम्मू व कश्मीर सरकार। लेकिन जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि भारत सरकार पहले ही डॉ. मुकर्जी को बगैर परमिट जम्मू व कश्मीर में दाखिल होने की इजाजत दे चुकी थी। इससे एक विचित्र और संदिग्ध परिस्थितियों की कड़ी नजर आती है। इस बारे में अध्याय में आगे चर्चा की गई है।

इस बीच बलराज मधोक को गिरफ्तार कर लिया गया था और अंबाला सेंट्रल जेल में रखा गया था। उनके संबंध में एक बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका दायर की गई और उन्हें रिहा कर दिया गया। जब उन्हें यह पता चला कि डॉ. मुकर्जी को गिरफ्तार किया गया है और जम्मू व कश्मीर में बंदी बनाकर रखा गया है तो उन्हें बहुत गुस्सा आया और वे एक ऐसे व्यक्ति के पास पहुँचे, जो उन्हें हमेशा सही सलाह दे सकता था। यह व्यक्ति थे जस्टिस मेहरचंद महाजन, जो पहले जम्मू व कश्मीर के प्रधानमंत्री रह चुके थे और अब भारत के सुप्रीम कोर्ट के जज थे। वे काँगड़ा के थे और डोगरी भाषा बोलते थे, जो जम्मू की भाषा थी। मधोक बिना कुछ सोचे-समझे उनके पास दौड़ पड़े, यह भी खयाल नहीं रहा कि देश की सबसे बड़ी अदालत के वर्तमान मुख्य न्यायाधीश की वजह से उनके अधिकार बेहद सीमित थे और वे न्यायिक आचरण में बँधे थे। स्वाभाविक ही था कि महाजन हैरत में पड़ गए।

उन्होंने डोगरी में कहा, ''मेरी स्थिति का कुछ तो सम्मान करो। मैं सुप्रीम कोर्ट का एक जज हूँ! सिर्फ एक हफ्ते पहले मैंने तुम्हें बंदी प्रत्यक्षीकरण के जरिए रिहा किया है और अब तुम मेरे घर पहुँच गए हो और मुझे कुछ करने के लिए कह रहे हो!'' मधोक बोले, ''सर, मैं क्या करूँ, आप ही इकलौते ऐसे व्यक्ति हैं, जिनसे मैं मिल सकता हूँ।'' फिर उन्होंने मधोक से कहा, ''अगर उन्हें गुरदारपुर जिले में, पठानकोट में या कहीं और गिरफ्तार किया गया होता तो सुप्रीम कोर्ट उन्हें एक हफ्ते में रिहा करा देता, शायद उससे भी पहले; लेकिन सुप्रीम कोर्ट का जम्मू व कश्मीर राज्य पर कोई अधिकार नहीं है। अब क्या होगा, मैं नहीं कह सकता। मेरी इतनी सलाह है, तुरंत एक वकील को भेजो और उससे बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका तैयार करवाओ।''

गिरफ्तारी की खबर से पूरे देश में तूफान खड़ा हो गया। दिल्ली और बाकी जगहों पर प्रदर्शन, बैठकें, हड़ताल शुरू हो गईं। इसने सत्याग्रह को नई प्रेरणा और दिशा दी। सत्याग्रही जम्मू की ओर बढ़ने लगे और बिना परमिट के जम्मू में दाखिल होने लगे तथा गिरफ्तारी देना शुरू कर दिया। लेकिन इसका न तो अब्दुल्ला और न ही नेहरू पर कोई फर्क पड़ा। अब्दुल्ला के पास एक साजिश तैयार थी (चाहे नेहरू की सहमति या जानकारी से या इसके बगैर, हम यह कभी नहीं जान पाएँगे), जिसे वह अंजाम देने पर तुले थे।

डॉ. मुकर्जी को जिस जगह पर बंदी बनाया गया था, वह वाकई एक बहुत छोटा सा मकान था, जिसके आसपास कुछ भी नहीं था—निशात बाग के करीब, लेकिन श्रीनगर शहर से काफी दूर, जिसे एक उपजेल बना दिया गया था। यह उस पर्वत-शृंखला की ढलान पर बना था, जिसकी तलहटी में डल झील थी। इस मकान तक पहुँचने के लिए खड़ी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती थीं, जो डॉ. मुकर्जी के लिए बेशक कठिन रहा होगा, खासकर उनके खराब पैर की वजह से यह और भी मुश्किल हो जाता होगा। इसका सबसे बड़ा कमरा दस फीट लंबा और ग्यारह फीट चौड़ा था, जिसमें डॉ.

मुकर्जी को रखा गया था। वहीं किनारे के दो छोटे-छोटे कमरों में उनके साथ बंद गुरुदत्त वैद्य और टेकचंद को रखा गया था। इस उपजेल में चौथा बिस्तर तक लगाने की जगह नहीं थी। जब 19 जून को पं. प्रेमनाथ डोगरा को लाया गया तो उनके लिए परिसर में एक टेंट लगाना पड़ा। पूरे परिसर में फलों के पेड़ थे और सब्जियों की क्यारियाँ थीं, जबकि लॉन के लिए थोड़ी ही जगह बचती थी, टेनिस कोर्ट से भी छोटा, जिसमें बंदी बड़ी मुश्किल से टहल सकते थे। ये शहर से करीब 8 मील दूर था। वहाँ चिकित्सा का भी किसी तरह का कोई इंतजाम नहीं था।

शहर से कोई डॉक्टर तभी आ सकता था, जब उसे विशेष रूप से बुलाया जाता। मकान से करीब 100 गज दूर एक नहर थी और वाटर वर्क्स विभाग का एक छोटा दफ्तर था, जिसमें एक टेलीफोन था। वही टेलीफोन जंगल में बनाए गए इस जेल के भी काम आता था; लेकिन उसका इस्तेमाल ऑफिस खुला रहने के दौरान ही किया जा सकता था। सिर्फ एक अखबार 'द हिंदुस्तान टाइम्स' उन्हें दिया जाता था, हालाँकि बाद में उन्हें कलकत्ता का 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' मँगाने की इजाजत भी मिल गई। अखबार शायद ही कभी समय पर पहुँच पाते थे; अकसर दो से तीन दिन बाद पहुँचते थे। यही हाल चिट्ठियों का भी था। ये सब उन तक खुद जेल के अधीक्षक लेकर आते थे। सरकारी अफसर उनकी चिट्ठियों को लेकर पूरी तरह लापरवाह थे। औसत रूप से एक चिट्ठी को सिर्फ श्रीनगर से उनके पास तक पहुँचने में करीब एक हफ्ता लग जाता था, खासतौर पर तब, जब यह बँगला भाषा में लिखी गई हो। कुछ चिट्ठियाँ, जो कलकत्ता से 10 जून को भेजी गई थीं और जिन पर श्रीनगर के पोस्ट ऑफिस की 12 और 13 जून की मुहर लगी थी, वह उनकी मौत के बाद डिलीवर न होने की वजह से वापस लौट आईं। इस बेहिसाब देरी पर जब उन्होंने विरोध किया तो उन्हें यह जवाब मिला कि जो व्यक्ति बँगला भाषा में लिखी उनकी चिट्ठी की जाँच करता है, वह हमेशा उपलब्ध नहीं रहता है। इसके बाद उन्होंने सुझाव दिया कि ऐसे खत, जो उनके संबंधियों के नहीं हैं और राजनीतिक नहीं हैं तथा जो बँगला भाषा में लिखे गए हैं, उन्हें वह अंग्रेजी में पढ़कर अधिकारियों को सुना देंगे। लेकिन उनके इस सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। लिहाजा उन्हें अपनी निजी चिट्ठियाँ भी अंग्रेजी में लिखनी पड़ीं, ताकि शेख अब्दुल्ला को सेंसर में कोई असुविधा न हो। सोचिए, इतने महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, संभवत: भारतीय संसद् में विपक्ष के सबसे महत्त्वपूर्ण नेता, के साथ कैसा सलूक किया गया!

मधोक ने बताया कि उन्हें मिलनेवाली या उनकी लिखी कई चिट्ठियों को दबा दिया गया। यह बाद में पता चला कि शेख अब्दुल्ला ने यह आदेश दे रखा था कि डॉ. मुकर्जी को कोई अतिरिक्त सहूलियत तब तक न दी जाए, जब तक वे खुद आदेश न दें। जेल में रहने के दौरान उनके किसी भी दोस्त या रिश्तेदार को उनसे मिलने नहीं दिया गया। उनके सबसे बड़े बेटे अनुतोष ने श्रीनगर जाकर उनसे मिलने के लिए परमिट की अरजी दी। उस समय तक परमिट जारी करने के कानून में कुछ बदलाव किए गए थे और अब जम्मू व कश्मीर की सरकार परमिट जारी किया करती थी। उन्हें परमिट नहीं दिया गया। उनके कुछ रिश्तेदार उस समय श्रीनगर में थे। उन्होंने भी उनसे मिलने की इजाजत माँगी, जिसे ठुकरा दिया गया। सिर्फ दो बाहरी व्यक्ति, जिन्हें उनसे मिलने दिया गया, वे थे सरदार हुकम सिंह, जो पूर्णतया राजनीतिक कारणों से आए थे और यू.एम. त्रिवेदी, जो बैरिस्टर थे और उनके वकील के तौर पर मिलने आए थे। मधोक ने यह भी

बताया है कि एक आधे-पागल साधु को उनके साथ छोड़ दिया गया था, जिसकी बकवास सुनने के लिए वे मजबूर थे। यह सब दुनिया को सिर्फ यह बताने के लिए किया गया कि उन्हें लोगों से मिलने-जुलने दिया जाता था।

उनकी यह बरसों से इच्छा थी कि वे अपने पिता की एक जीवनी लिखें। उन्होंने इस पर काम करना शुरू भी कर दिया। वे हर दिन अपनी डायरी भी लिखा करते थे। वे उसे अपने साथ अस्पताल भी ले गए, जब उन्हें 22 जून को वहाँ भरती कराया गया। यह उनके बारे में जानकारी का सबसे अच्छा स्रोत हो सकता था, जिसमें उनके जीवन और कार्यों का वर्णन था, उनके विचार व आदर्श थे और इस सबसे कहीं ज्यादा अपनी भावनाएँ एवं उन घटनाओं की विवेचना थी, जिसकी वजह से उनकी त्रासद मृत्यु हुई। लेकिन उनकी मौत के बाद कश्मीर की सरकार ने इसे अपने पास रख लिया और इसे बार-बार गुजारिश करने के बाद भी लौटाया नहीं गया है।

24 मई को नेहरू और डॉ. काटजू आराम करने श्रीनगर पहुँचे। उनके अंदर न तो इतना शिष्टाचार था, न ही शालीनता थी कि वे अपने गरिमामय बंदी से मिलें और देखें कि उनके साथ कैसा बरताव किया जा रहा है! हालाँकि उनकी मौत के बाद नेहरू ने कहा कि उन्होंने उनके बारे में पूछताछ की थी और बताया गया कि उन्हें बड़े आराम से रखा गया है, जो डल झील के करीब एक मनोरम विला है। इस प्रकार बता दिया जाना नेहरू के लिए काफी था। डॉ. मुकर्जी के पैर में दर्द हालाँकि सूजी हुई नस की वजह से था, वह 3 जून को बहुत ज्यादा बढ़ गया। 6 जून को तारा देवी को लिखी चिट्ठी में उन्होंने जिक्र किया—"मैं पूरी तरह से ठीक था, लेकिन दाहिने पैर का दर्द बढ़ गया है और दो दिन से बहुत परेशान कर रहा है। यही नहीं, कुछ दिनों से मुझे शाम को बुखार भी आ रहा है। आँखों और चेहरे पर एक जलन सी होती है। मैं दवाई ले रहा हूँ। मुझे खाने को सिर्फ उबली सब्जियाँ मिलती हैं। मछली (जो बंगालियों के हर दिन के खाने की चीज है) नहीं मिलती है। डॉक्टर ने कहा है कि मैं ज्यादा देर तक खड़ा न रहूँ, जिससे कि पैरों पर दबाव पड़े। इसकी वजह से मैं जरा भी व्यायाम नहीं कर पाता हूँ और इस वजह से भूख भी मर गई है। मैं बहुत सवेरे करीब 5.30 बजे उठ जाता हूँ। मैं उठता हूँ और बगीचे में चला जाता हूँ, जहाँ चंडी स्तोत्र जपता हूँ।... पूरा दिन मेरे ऊपर बहुत भारी पड़ता है।... कुछ कर पाता हूँ तो वह है अध्ययन। भगवद्गीता पढ़ता हूँ और कुछ लिखता हूँ।" कैद में कुछ न कर पाने की वजह से वे उदास और हताश होते चले गए। यह अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं है कि उनके जैसे सक्रिय व्यक्ति के लिए यह कितनी बड़ी सजा थी कि उनके पास सुबह से रात तक करने को कुछ भी नहीं था!

कलकत्ता में इस चिट्ठी के 12 जून या उसके आसपास मिलने के बाद उनके भाई रमाप्रसाद डॉ. बी.सी. रॉय से मिले, उन्हें उनकी सेहत के बारे में बताया और अनुरोध किया कि वह कश्मीर से संपर्क करेंगे। डॉ. मुकर्जी को पैर का दर्द हमेशा परेशान करता था, लेकिन कभी भी इसके साथ उन्हें बुखार नहीं आया था। भूख खत्म हो जाने की वजह से दिन-ब-दिन कमजोर होते जा रहे थे। 12 जून को बैरिस्टर यू.एम. त्रिवेदी उनके बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका की पैरवी के लिए श्रीनगर में जम्मू व कश्मीर हाई कोर्ट में थे। सरकार ने यह शर्त रखी कि उन्हें एक जिलाधिकारी की मौजूदगी में अपने मुवक्किल से निर्देश लेने पड़ेंगे। इंडियन इविडेंस ऐक्ट के मुताबिक, एक मुवक्किल और उसके वकील के बीच की बातचीत पूर्णतया विशेषाधिकृत होती है और किसी

को भी इसे जाहिर करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि कोर्ट में भी नहीं। त्रिवेदी ने जिलाधिकारी के सामने बात करने से इनकार कर दिया, और उन्हें हाई कोर्ट में अकेले में बात करने की इजाजत के लिए अपील करनी पड़ी। हाई कोर्ट ने जब सरकार के आदेश को खारिज कर दिया, तब त्रिवेदी ने 18 जून को उनसे तीन घंटे तक मुलाकात की। उन्होंने डॉ. मुकर्जी को, जिन्होंने अपने जीवन की कई विषम परिस्थितियों का बहादुरी से मुकाबला किया था, बेहद कमजोर और दुःखी पाया।

पं. प्रेमनाथ डोगरा को जब उनसे मिलाने के लिए 19 जून को जम्मू से श्रीनगर लाया गया तो वह भी उनकी खराब सेहत और थोड़े से भोजन को देखकर सन्न रह गए। उन्होंने कारण पूछा तो बताया कि इसकी वजह व्यायाम न करना हो सकता है। शुरुआत से ही यह सबसे बड़ी शिकायत थी, जिस पर शेख अब्दुल्ला की सरकार ने पहले ही दिन से अपने कान बंद कर लिये थे। उन्हें टहलने का शौक था। यह उनके व्यायाम करने का सबसे अच्छा तरीका था। जिस छोटे से मकान में उन्हें कैद किया गया था, उसमें एक बहुत छोटा परिसर था, जिसमें फलों के पेड़ और सब्जियों की क्यारियों ने कब्जा जमा रखा था और दो से तीन मिनट तक टहलने के बाद रास्ता खत्म हो जाता था। व्यायाम न करने की वजह से उनकी भूख पूरी तरह मर चुकी थी और इससे पैदा हुई कमजोरी की वजह से ही उनके पैर का दर्द बढ़ गया था। सरकार ने अगर उन्हें परिसर के बाहर जाकर टहलने की अनुमति दे दी होती तो उसका कुछ नहीं जाता। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। अपनी अकड़ की वजह से या उससे भी किसी और बुरी नीयत से!

उसी रात उनके सीने और पीठ में तेज दर्द हुआ, साथ ही तेज बुखार भी आया। 20 तारीख की सुबह अधिकारियों को इस बारे में बताया गया। इसके बाद डॉ. अली मोहम्मद और डॉ. अमर नाथ रैना करीब 11.30 बजे उपजेल पहुँचे। डॉ. अली मोहम्मद ने कहा कि समस्या शुष्क पार्श्वशूल की है और उन्हें स्ट्रेप्टोमाइसिन इंजेक्शन लेने की सलाह दे दी। डॉ. मुकर्जी ने विरोध किया कि उनके फैमिली डॉक्टर ने स्ट्रेप्टोमाइसिन लेने से मना किया है, क्योंकि वह उनके अनुकूल नहीं होता। लेकिन डॉ. अली मोहम्मद ने कहा कि यह पुरानी बात है; अब तो इस दवा के बारे में कई नए तथ्य सामने आ चुके हैं और डॉ. मुकर्जी को इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए।

दोपहर 3.30 बजे के करीब स्ट्रेप्टोमाइसिन आ चुका था और जेल के डॉक्टर ने पूरा एक ग्राम इंजेक्शन उनके शरीर में डाल दिया। इसके साथ ही उन्हें कोई पाउडर खिलाया गया, जो संभवतः कोई दर्द-निवारक दवा थी (इन सबका कोई प्रेस्क्रिप्शन किसी को नहीं दिया गया), जिसे डॉ. अली मोहम्मद ने बताया कि साधारण तौर पर दिन में दो बार लेना है, लेकिन दर्द कम न हो या बहुत बढ़ जाए तो दिन में छह बार तक ले सकते हैं।

गुरुदत्त वैद्य के मुताबिक, उन्होंने जेल के अधीक्षक से कहा कि उनकी बीमारी की खबर उनके रिश्तेदारों को दे दी जाए। लेकिन न तो किसी तरह की कोई सूचना दी गई और न ही सरकार ने कोई बुलेटिन जारी किया, जब तक कि उनकी मौत नहीं हो गई। अगले दिन 21 जून को सिवाय जेल के डॉक्टर के, जो सिर्फ एक सहायक सर्जन था, कोई भी डॉक्टर—यहाँ तक कि डॉ. अली मोहम्मद भी—उन्हें देखने नहीं आए। जेल के डॉक्टर ने एक ग्राम और स्ट्रेप्टोमाइसिन का इंजेक्शन लगा दिया। दिन में उनका बुखार भी बढ गया और दर्द भी। अचानक आई इस

बीमारी की वजह से वे पं. प्रेमनाथ डोगरा से ज्यादा बातचीत नहीं कर सके, जिन्हें श्रीनगर सिर्फ इस वजह से लाया गया, ताकि वे आंदोलन खत्म करने का फैसला कर सकें। राज्य में कुछ आंतरिक बदलाव आए थे, जिनसे आंदोलन को फायदा पहुँचा था। राज्य की कैबिनेट साफ तौर पर दो खेमों में बँट गई थी। शेख अब्दुल्ला और मिर्जा अफजल बेग एक तरफ थे, जबकि बख्शी गुलाम मोहम्मद, पं. श्यामलाल सर्राफ और गिरधारी लाल डोगरा दूसरी तरफ। दूसरा खेमा पहले खेमे को पछाड़ने के लिए प्रजा परिषद् के साथ तालमेल चाहता था। पं. डोगरा को शेख अब्दुल्ला के विरोध के बावजूद डॉ. मुकर्जी से मिलाने श्रीनगर लाया गया था। डॉ. मुकर्जी तब पं. डोगरा से बातचीत के बाद प्रस्ताव तैयार करने में जुटे थे, जिस पर जन संघ और प्रजा परिषद् के सहयोगी विचार कर सकें, और जिनसे, डॉ. मुकर्जी के मुताबिक, किसी भी फैसले से पहले विचार करना जरूरी है।

22 जून की सुबह करीब 4.45 बजे एक सहायक ने गुरुदत्त वैद्य को जगाया और बताया कि डॉ. मुकर्जी उनसे तुरंत मिलना चाहते हैं। वैद्य भागकर उनके कमरे में आए और देखा तो उनका बुखार 97 डिग्री फॉरेनहाइट पर जा पहुँचा था और उन्हें खूब पसीना आ रहा था। उन्होंने नब्ज देखी, जो बेहद कमजोर थी। उन्हें इलायची और लौंग की गरम चाय पिलाई, जिससे उन्हें थोड़ी राहत मिली। डॉ. मुकर्जी ने उन्हें बताया कि सुबह 4 बजे तक वे बहुत अच्छी नींद में थे, उसके बाद उन्हें सीने में तेज दर्द हुआ और पसीने से भीग गए। उन्हें इतना चक्कर आ रहा था, जैसे वे अपने होश खो देंगे। उन्होंने सोचा कि वह रात के इस वक्त किसी को परेशान नहीं करेंगे; लेकिन उन्हें लगातार इतनी कमजोरी होती जा रही है कि वे वैद्य को बुलाने पर मजबूर हो गए। साफ था कि उन्हें एक जबरदस्त हार्ट अटैक आया था, जिसे चिकित्सा की भाषा में 'मायोकॉर्डियल इनफ्रैक्शन' कहते हैं। यह शायद उनका दूसरा या तीसरा अटैक था, जो वर्ष 1945 में बैरकपुर में आया था (अध्याय 7 देखें)।

सुबह 5.15 बजे जेल के अधीक्षक को उनकी लगातार बिगड़ती जा रही सेहत के बारे में सूचित किया गया और एक डॉक्टर के साथ फौरन पहुँचने के लिए कहा गया। डॉ. अली मोहम्मद करीब 7.30 बजे वहाँ पहुँचे। उन्होंने अधीक्षक को सलाह दी कि डॉ. मुकर्जी को तुरंत एक नर्सिंग होम में भरती किया जाए। अधीक्षक ने कहा कि इसके लिए उन्हें जिलाधिकारी से आदेश लेना होगा। तब गुरुदत्त और टेकचंद दोनों ने उनसे आग्रह किया कि वे उन दोनों के लिए भी इजाजत ले लें, ताकि वे उनके साथ अस्पताल जा सकें। लेकिन डॉ. अली मोहम्मद ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। ऐसा कहा जाता है कि वो बोले, ''मैं आपकी चिंता को समझता हूँ, लेकिन आप लोग परेशान न हों। वहाँ उनकी देखभाल के लिए अच्छे लोग हैं।''

इस बीच बैरिस्टर त्रिवेदी उन्हें देखने सुबह करीब 10 बजे आए। इस समय तक उन्हें अपने बिस्तर पर लिटा दिया गया था और त्रिवेदी ने उन्हें अच्छे मूड में देखा। उन दोनों के बीच एक घंटे तक उनके केस पर बातचीत हुई।

करीब 11.30 बजे जेल अधीक्षक वहाँ एक टैक्सी (एंबुलेंस नहीं) लेकर पहुँचे और वे डॉ. मुकर्जी को उनके बेड से चलवाकर टैक्सी तक ले गए। डॉ. मुकर्जी को वहाँ से हटा दिया गया, लेकिन किसी नर्सिंग होम में नहीं, बल्कि राजकीय अस्पताल के स्त्री रोग वार्ड में, जो वहाँ से करीब

10 मील दूर था, उन्हें पहली मंजिल के एक कमरे में रखा गया (शायद यहाँ भी उन्हें सीढ़ियाँ चढ़वाकर ले जाया गया)। वहाँ एक डॉ. जगन्नाथ जुत्शी हाउस सर्जन थे। उन्हें देखभाल की जिम्मेदारी सौंपी गई, लेकिन उनके पास सिर्फ यही जिम्मेदारी नहीं थी। उस अस्पताल में क्या हुआ, यह अब तक एक रहस्य है। बैरिस्टर त्रिवेदी यहाँ उनसे मिलने शाम 5.30 बजे पहुँचे। वह कोर्ट में अपनी दलील देकर आए थे। जस्टिस किल्लम मामले की सुनवाई कर रहे थे। त्रिवेदी को भरोसा था कि अगले दिन जब फैसला आएगा तो निश्चित तौर पर डॉ. मुकर्जी को छोड़ दिया जाएगा।

त्रिवेदी के मुताबिक उस शाम उन्होंने डॉ. मुकर्जी को जिस हाल में देखा, वह उस दिन सुबह के हाल से एकदम अलग था। लेकिन डॉ. मुकर्जी ने उनसे कहा था कि वो सुबह के मुकाबले बेहतर महसूस कर रहे हैं। इसी समय जिलाधिकारी का आगमन हुआ और उन्होंने कुछ चिट्ठियाँ सौंपी, जो करीब पंद्रह रही होंगी। उन्होंने चिट्ठियाँ पढ़ीं, कुछ कागजातों और चेक पर दस्तखत किए। वह सब उस हाल में कर रहे थे, जब उन्हें बेड पर ऊपर की ओर उठाकर लिटाया गया था और मेडिकल सुपरिंटेंडेंट डॉ. गिरधारी लाल ने त्रिवेदी से कहा था कि उन्हें इस तरह बैठना नहीं चाहिए। चिट्ठियों पर दस्तखत के बाद उन्होंने अपना हाथ अपने दिल पर रखा और चेहरे पर ऐसा भाव आया, जैसे वे दर्द महसूस कर रहे हों। त्रिवेदी उनके साथ शाम के करीब 7.15 बजे तक रुके और उनकी देखभाल करनेवाले डॉक्टर से जानना चाहा कि उनकी सही हालत क्या है!

डॉक्टर ने उन्हें यह कहकर भरोसा दिलाया कि तत्काल चिंता की कोई बात नहीं है। त्रिवेदी जाने ही वाले थे कि डॉ. मुकर्जी ने उनसे कहा कि वह उनकी रुचि के मुताबिक पढ़ने की कुछ सामग्री का इंतजाम कर दें। त्रिवेदी ने उनसे हाथ मिलाया और इस तरह उनका बुखार देखने की कोशिश की, जो उन्हें सामान्य लगा। कमरे में उनकी देखभाल के लिए एक नर्स थी और बाहर ड्यूटी पर कुछ पुलिसवाले तैनात थे। त्रिवेदी ने अगली सुबह 9 बजे एक बार फिर मिलने की इजाजत माँगी; लेकिन डॉक्टर ने कहा कि सुबह 9 बजे उनका एक्स-रे होना है, लिहाजा त्रिवेदी अगर मिलना चाहते हैं तो सुबह 8 बजे आएँ। उस समय त्रिवेदी ने आखिरी बार डॉ. मुकर्जी को जीवित देखा था।

जब वह शाम के करीब 7.30 बजे वहाँ से निकले, डॉ. मुकर्जी कमजोर लेकिन खुश नजर आ रहे थे। ड्यूटी पर मौजूद डॉक्टरों ने त्रिवेदी को बताया कि जो सबसे बुरा वक्त था, वह गुजर चुका है और अगली सुबह उनका एक्स-रे होगा और उम्मीद है कि अगले दो या तीन दिनों में वह पूरी तरह ठीक हो जाएँगे। लेकिन 23 जून को सुबह करीब 3.45 बजे त्रिवेदी को पुलिस अधीक्षक ने बताया कि डॉ. मुकर्जी की हालत खराब है और जिलाधिकारी ने उन्हें तुरंत उनके पास पहुँचने को कहा है। उन्हें फौरन अस्पताल जाने के लिए उनके होटल से ले लिया गया। पं. प्रेमनाथ डोगरा और सब जेल में डॉ. मुकर्जी के साथ बंद दो साथियों गुरुदत्त वैद्य और टेकचंद को भी उसी समय अस्पताल जाने के लिए तैयार हो जाने को कहा गया। वे सुबह करीब 4.00 बजे अस्पताल पहुँचे, जहाँ उन्हें बताया गया कि डॉ. मुकर्जी का निधन 3.40 बजे हो चुका है।

कुछ इसी तरह बलराज मधोक ने उनके अंतिम दिनों का चित्रण 'द पोरट्रेट ऑफ ए मार्टियर' में किया है और गुरुदत्त वैद्य तथा बैरिस्टर यू.एम. त्रिवेदी ने 25 जून को दिए अपने

बयानों में किया है। हालाँकि, जब इस जीवनी लेखक ने 28 अगस्त, 2008 को मधोक का नई दिल्ली के न्यू राजेंद्र नगर स्थित उनके घर में साक्षात्कार लिया तो उन्होंने कुछ नई जानकारी दी और इसमें कुछ चौंकाने वाले तथ्य जोड़े, जो उन्होंने अपनी पुस्तक में नहीं लिखे थे। मधोक की उम्र उस वक्त 88 साल से ज्यादा हो चुकी थी। शरीर से काफी कमजोर लेकिन बोलचाल एकदम स्पष्ट थी। उनकी बातों में तारीख और नाम कई बार इधर-उधर हो जाते थे (जैसे कि वे बार-बार डॉ. अली मोहम्मद को डॉ. नूर मोहम्मद कह रहे थे) और एक विषय से दूसरे विषय पर अचानक चले जाते थे; लेकिन कुल मिलाकर जो कुछ वह कह रहे थे, वह सार्थक था। कुछ अतिरिक्त जानकारी, जो उनसे निकल सकी, वह नीचे दी गई है। यहाँ यह बताना जरूरी है कि तकनीकी रूप से ये सुनी-सुनाई बातें हैं, कम-से-कम वह हिस्सा जहाँ श्रीनगर में क्या हुआ, यह बताया गया है, क्योंकि मधोक जम्मू व कश्मीर में दाखिल नहीं हो सके थे। फिर भी, जो बातें काम की हैं, उन्हें दर्ज करना जरूरी है।

स्पष्ट रूप से डॉ. मुकर्जी ने जम्मू का दौरा करने की अपनी मंशा जाहिर कर दी थी, सुचेता कृपलानी उनसे मिलने पहुँचीं। बताया गया है कि सुचेता एक बंगाली थीं और उनका विवाह आचार्य जे.बी. कृपलानी से हुआ था। सन् 1946 के नोआखाली नरसंहार के बाद जब गांधीजी का दौरा हुआ, तब वे उनके साथ थीं (देखें अध्याय 8)। यह बात मधोक ने बताई (टेप पर)। सुचेता कृपलानी ने उन्हें कहा था, कई और लोगों ने भी कहा था कि 'आप मत जाइए, नेहरू आपको वहाँ से सुरक्षित वापस आने नहीं देंगे।' डॉ. मुकर्जी ने सुचेता से कहा, 'मेरी नेहरू से कोई निजी दुश्मनी नहीं है। मैं एक मकसद के लिए लड़ रहा हूँ। आखिर मेरे लिए उनके मन में प्रतिशोध की भावना क्यों होगी?' तब सुचेता ने डॉ. मुकर्जी से कहा, 'आप नेहरू को नहीं जानते, मैं नेहरू को जानती हूँ। वो आपको अपना मुख्य प्रतिद्वंद्वी मानते हैं और वह आपको मैदान से हटाने की कोशिश करेंगे। अगर वो हटा सके तो और वह कुछ भी करने में सक्षम हैं।'

मधोक ने यह साफ नहीं किया कि उन्होंने ये बातचीत अपने कानों से सुनी या नहीं। यह भी संभव है कि सुचेता ने जो कुछ बँगला में कहा, उसे मधोक पूरी तरह समझ नहीं सके होंगे।

और फिर टेप पर उन्होंने जो कहा, वह ये है—तो जब त्रिवेदी नेडूज होटल में ठहरे हुए थे, एक दिन एक पंडित उनसे मिलने आया। उसने कहा, 'मैं एक ज्योतिषी हूँ। डॉ. मुकर्जी सुरक्षित नहीं लौटनेवाले। उन्हें जितनी जल्दी हो सके, रिहा करवा लीजिए।...'

उसी शाम पुलिस का एक अफसर आया। उसने कहा कि मैं फलाँ फलाँ हूँ, लेकिन कृपया मेरी पहचान मत बताइएगा। शेख अब्दुल्ला का एक प्लान है। डॉ. मुकर्जी को इसकी इजाजत नहीं मिल सकती (कुछ ऐसा कहा, जो सुनाई नहीं पड़ता)। उनके बंदी प्रत्यक्षीकरण पर आज चर्चा हो रही है। आप आज ही जजमेंट निकलवा लें। वह यह जोर दे रहा था कि फैसला आज ही आ जाएगा और आप देखिए कि उन्हें शायद रिहा कर दिया जाए, यानी फैसला आज ही आएगा और वह आज छोड़ दिए जाएँगे।

इस जीवनीकार ने मिसेज सविता बनर्जी, जो डॉ. मुकर्जी की सबसे बड़ी बेटी थीं, उनसे उनके पुणे के गोरेगाँव फ्लैट में 24 अप्रैल, 2010 को बातचीत की। उन्होंने एकदम अलग बात बताई। उस समय वह एक विधवा थीं, जिनकी उम्र करीब 84 वर्ष रही होगी, लेकिन वह पूरी

तरह स्वस्थ थीं, बोलचाल स्पष्ट थी और अपने सारे काम खुद किया करती थीं। मदद के लिए बस एक नौकर था। उनकी बेटी मंजू एक अलग फ्लैट में रहती थी, जो बिल्डिंग के उसी ब्लॉक में था। उनके इंटरव्यू को मंजू ने ही लिखा और फिर चेक किया। सविता बनर्जी की मृत्यु एक साल बाद हो गई। ये वे बातें हैं, जो उन्होंने अपने पिता के आखिरी दिनों के बारे में बताईं।

डॉ. मुकर्जी की मृत्यु के बाद उनके सबसे बड़े बेटे अनुतोष ने कश्मीर जाने के लिए परमिट माँगा। अरजी में किसी को भी अपने पिता का नाम लिखना जरूरी था और शायद अपने पिता का नाम लिखने की वजह से ही उन्हें परमिट नहीं मिला। तब सविता और उनके पति निशीथ ने उनकी जगह कश्मीर जाने का फैसला किया; लेकिन गुपचुप तरीके से खुद को एक पर्यटक की तरह दिखाते हुए। उनके साथ उनके दो बच्चे भी थे। उन्हें किसी तरह की समस्या की आशंका नहीं थी (उन्हें समस्या हुई भी नहीं), क्योंकि तब शादीशुदा महिलाओं के आवेदन-पत्र में उनके पिता का नहीं बल्कि पति का नाम लिखा जाता था। वहाँ उनका अनुभव बेहद तनावपूर्ण रहा। उन्होंने समस्या से बचने के लिए और मुमकिन गिरफ्तारी को टालने के लिए फैसला किया था कि वे अपनी पहचान छुपाकर रखेंगे। उन्होंने झेलम के एक बड़े बोट हाउस में अपने रहने का बंदोबस्त किया। संयोग से लंदन के दिनों से डॉ. मुकर्जी के एक दोस्त जतिंद्रनाथ मजूमदार भी उन दिनों घूमने-फिरने कश्मीर आए हुए थे। वे बनर्जी दंपती से मिलने उनके बोट हाउस में आए और वे सब बँगला में बात कर रहे थे, तभी बोट हाउस का एक बैरा चाय लेकर आया। मजूमदार ने बैरा के सामने ही डॉ. मुकर्जी का नाम लिया और उनकी बेटी से पूछा कि क्या उन्होंने वह मकान देखा है, जहाँ उन्हें रखा गया है?

सविता ने आँखें झपकाकर उन्हें चुप हो जाने का इशारा किया और सविता यह सोचकर निश्चिंत हो गई कि बैरा उनकी बातों को नहीं समझ सका होगा, क्योंकि उसके लिए बँगला समझना मुमकिन नहीं था। जैसे ही मजूमदार वहाँ से निकले, बैरा ने उन दोनों से पूछा कि क्या वे डॉ. मुकर्जी को जानते हैं? सविता ने कहा, नहीं। वे लोग उनके बारे में सिर्फ इस वजह से बातें कर रहे थे कि वह भी बंगाली हैं। बैरा ने कहा कि उसके पूर्वज हिंदू थे और उनका धर्म परिवर्तन कर उन्हें मुसलमान बनाया गया था; लेकिन आत्मा से वह आज भी खुद को हिंदू मानता है। उसने कहा कि वह उन लोगों को वह मकान दिखा सकता है, जहाँ डॉ. मुकर्जी को रखा गया है। उसने वह मकान उन्हें दिखाया भी।

वे पहाड़ी के नीचे तक एक टैक्सी से पहुँचे, जो डल झील के किनारे थी और फिर चढ़ाई चढ़कर चोटी के ऊपर बने उपजेल तक पहुँचे। चढ़ाई के दौरान सविता सोच रही थीं कि उनके प्रिय बापी के लिए यहाँ तक पहुँचना कितना मुश्किल रहा होगा; क्योंकि उनके पैर में तकलीफ थी और उन्हें किसी तरह जबरन यहाँ तक चढ़ाया गया होगा। वह बँगला छोटा था और निर्जन पहाड़ी की चोटी पर बना था, जो उजाड़ और झंखाड़ सा दिखता था। उपजेल में उन्होंने एक के बाद एक लगी तीन चारपाइयाँ देखीं। सविता ने बैरे से उस डॉक्टर का पता पूछा, जिसने अंतिम दिनों में उनका इलाज किया था। बैरे ने कुछ भी बताने से इनकार कर दिया, लेकिन उसने कहा कि वह उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के पास ले जा सकता है, जो उनके साथ उस वक्त भी था जब उनकी मृत्यु हुई। वह व्यक्ति थीं मिस राजदुलारी टिक्कू, जो एक हिंदू नर्स थीं। वह राजकीय अस्पताल के स्त्री रोग वार्ड

में उनकी लगातार देखभाल करती थीं। डॉ. मुकर्जी हमेशा हिंदू नर्स की माँग किया करते थे।

वे उस नर्स के श्रीनगर स्थित घर तक पहुँचे। वहाँ दो महिलाएँ रह रही थीं—एक नर्स और दूसरी उनकी माता। जैसे ही सविता ने अपनी पहचान बताई, नर्स ने कहा कि वह कुछ नहीं बता सकती और उनसे वहाँ से चले जाने को कहा। अब तक बनर्जी दंपती भावनात्मक रूप से बेहद आवेग में आ चुके थे। सविता के आँसू फूट पड़े और वह नर्स से गिड़गिड़ाने लगी कि वह उन्हें कुछ बताएँ। यह भी कहा कि वह कभी भी उसका नाम किसी को नहीं बताएगी।

तब नर्स ने सबकुछ सामने रख दिया।

जब डॉ. मुकर्जी बीमार पड़े तो उन्हें प्रसूति गृह ले जाया गया था, जैसा कि नर्स ने बताया। वहाँ उनके अंतिम दिनों में वह ड्यूटी पर तैनात थी। वह सो रहे थे। डॉक्टर चला गया और जाते-जाते नर्स को बता गया कि जब डॉ. मुकर्जी जागें तो उन्हें इंजेक्शन दे दिया जाए और उसके लिए उसने एमप्यूल नर्स के पास छोड़ दिया। कुछ देर बाद वे जागे थे और उसने इंजेक्शन दे दिया (उसने सविता से कहा, 'मुझे पता नहीं, मैंने ऐसा क्यों किया?')। जैसे ही मैंने ऐसा किया, डॉ. मुकर्जी उछल पड़े और पूरी ताकत से चीखे, 'जल जाता है, हमको जल रहा है।' मैं टेलीफोन की तरफ दौड़ी, ताकि डॉक्टर को सूचित कर सकूँ और पूछूँ कि अब क्या करूँ? उसने कहा, 'ठीक है, सब ठीक हो जाएगा।' इस बीच डॉ. मुकर्जी मूर्च्छित हो चुके थे और शायद मौत की नींद सो चुके थे।

फिर उसने कहा, 'मैंने घोर पाप किया है और मुझे यह आपको बताना था। लेकिन मैं इस घर को फौरन छोड़ दूँगी, क्योंकि आप कलकत्ता लौट जाओगे। वहाँ इस बारे में बात करोगे और जो कुछ मैंने आपको बताया, वह बाहर आ ही जाएगा। और फिर मेरा कत्ल कर दिया जाएगा।' दरअसल उसी ने डॉ. मुकर्जी को मार डाला था। अगले दिन जब सविता और निशीथ उसे ढूँढ़ते हुए पहुँचे तो देखा कि माँ और बेटी दोनों वहाँ से जा चुकी थी। नर्स ने अपना नाम भी बताने से इनकार कर दिया था।

'दि ऑर्गनाइजर' में 20 जुलाई, 1953 को छपी एक रिपोर्ट के मुताबिक, जिसे उमाप्रसाद की पुस्तक में अनुवादित और प्रकाशित किया गया था, मिस टिक्कू, जो नर्स थी, उसने डॉ. मुकर्जी की हालत बिगड़ने के बाद उस डॉक्टर का गिरेबान पकड़ने की कोशिश की, लेकिन वह डॉक्टर उसे मिला ही नहीं।

टिक्कू ने तब नूर अहमद नाम के एक अर्दली से कहा कि वह डॉ. जुत्शी को बुलाकर लाए। डॉ जुत्शी फौरन पहुँचे और डॉ. अली मोहम्मद से फोन पर सलाह माँगी। इस बीच उनकी स्थिति और बिगड़ गई और रात करीब 2.15 बजे उनकी मृत्यु हो गई, न कि सुबह 3.40 बजे। डॉ. अली मोहम्मद उनकी मृत्यु के करीब आधे घंटे बाद पहुँचे। यह रिपोर्ट किसने दी, इसकी जानकारी नहीं है।

कश्मीर सरकार ने उनकी मौत के बाद 23 जून को जो विज्ञप्ति जारी की, उसमें डॉ. अली मोहम्मद एम.आर.सी.पी. (एडिन) और रामनाथ परिहार एम.डी. (एडिन) की रिपोर्ट शामिल थी और बताया गया कि ये दोनों उनका इलाज कर रहे थे। रिपोर्ट में कहा गया कि डॉ. मुकर्जी को अस्पताल में 22 जून की दोपहर को भरती किया गया था। उनके खून व मूत्र की जाँच के बाद और एक ई.सी.जी. के बाद डॉक्टर इस नतीजे पर पहुँचे कि उन्हें दिल का दौरा पड़ा है। उन्हें नींद की गोलियाँ दी गई थीं, एंटीबायोटिक और माँगे जाने पर ऑक्सीजन भी दिया गया। उनकी

स्थिति सामान्य तौर पर बेहतर हुई तथा शाम 4 बजे और भी अच्छी थी, जब बैरिस्टर त्रिवेदी एवं जिलाधिकारी उनसे मिलने पहुँचे थे। रात करीब 9 बजे वह पूरी तरह ठीक थे, लेकिन हाइपरटेंशन और धड़कन में असाधारण उतार-चढ़ाव की शिकायत हुई। बेचैनी कम करने के लिए उन्हें रात 11 बजे ऑक्सीजन दिया गया। बेचैनी बढ़ती जा रही थी। ब्लड प्रेशर भी 100/80 होकर नीचे आ गया था। उन्हें नस के जरिए ग्लूकोज और एमिनोफिलीन दिया गया। रात करीब 1 बजे उन्हें सीने में तेज दर्द हुआ और वे बेचैन हो गए। उनकी नब्ज बहुत कमजोर हो चुकी थी और ब्लड प्रेशर 90/70 हो चुका था। लगातार ऑक्सीजन दी जा रही थी और एक सीसी पेथीडाइन उनके दर्द को कम करने के लिए दिया गया। रात 2.30 बजे तक उनकी साँस और नब्ज दोनों बेहद कमजोर पड़ चुकी थीं और उन्हें कोरामाइन व एमिनोफिलाइन नस से चढ़ाया जा रहा था। उनकी हालत जस-की-तस थी और सुबह 3 बजे उनकी नब्ज लगभग थम सी गई थी, तब उनकी नस में कोरामाइन का एक और इंजेक्शन दिया गया। सुबह 3.20 बजे तक उनकी साँस बहुत कमजोर हो गई थी और बीच-बीच में टूट रही थी। ऑक्सीजन दी जाती रही। उनकी नब्ज और साँस सुबह 3.40 बजे थम गई थी।

इस विज्ञप्ति के बाद 26 जून को शेख अब्दुल्ला का एक बेपरवाह सा बयान आया और फिर 1 जुलाई को स्वास्थ्य व जेल विभाग के मंत्री पं. एम.एल. सर्राफ का एक विस्तृत बयान आया। अपने बयान में पंडित ने यह सफाई दी है कि डॉ. मुकर्जी को जेल में हरसंभव सुविधा दी गई थी और उनके इलाज में किसी तरह की गड़बड़ी नहीं हुई है। उन्होंने चुन-चुनकर डॉ. मुकर्जी की चिट्ठियों में से उद्धरण उठाए और यह साबित करना चाहा कि उन्हें उपजेल में आनंद आ रहा था।

इस बीच 77 आशुतोष मुकर्जी रोड पर, जो मुकर्जी परिवार का कलकत्ता स्थित निवास-स्थान था, वहाँ एक दिल दहलाने वाली घटना सामने आने वाली थी। इसका वर्णन डॉ. मुकर्जी के छोटे भाई उमाप्रसाद की पुस्तक में है। सुबह के करीब 5.45 बज रहे थे, जब मुकर्जी परिवार के घर में टेलीफोन की घंटी बज उठी और ऑपरेटर ने बताया कि जस्टिस मुकर्जी के लिए श्रीनगर से ट्रंककॉल है। रमाप्रसाद फोन की तरफ दौड़े और पूरा परिवार उनके आसपास इकट्ठा हो गया। उनकी माँ जोगमाया ग्राउंड फ्लोर पर थीं और हर दिन की तरह पूजा की तैयारी कर रही थीं। उन्हें भी फोन के करीब लाया गया।

वह मुसकरा रही थीं, बेहद उत्सुक और उम्मीद में थीं कि उन्हें अपने प्रिय पुत्र से बात करने का मौका मिलेगा। लेकिन रमाप्रसाद के चेहरे पर मुसकान नहीं थी। इसकी बजाय वह पूरी ताकत से चीख रहे थे, 'हाँ-हाँ, जस्टिस मुकर्जी बोल रहा हूँ। क्या-क्या?' और तब उन्होंने माँ से कहा कि उनका बेटा ठीक नहीं है और अच्छा होगा कि वह नीचे जाकर अपनी पूजा में लीन हो जाएँ।

दरअसल कलकत्ता से श्रीनगर तक की लाइन सीधी नहीं थी। दिल्ली में बैठा ऑपरेटर श्रीनगर से संदेश लेता था और उन्हें कलकत्ता की तरफ जारी करता था। नई दिल्ली में बैठी ऑपरेटर ने कहा कि उसे श्रीनगर से शेख अब्दुल्ला का संदेश मिला है कि डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की मौत हो चुकी है और शेख अब्दुल्ला जानना चाहते हैं कि उनके शव का क्या करना है? रमाप्रसाद, जो पूरी तरह घबराए हुए थे, उन्होंने ऑपरेटर से पूछा कि ये संदेश किसने दिया और डॉ. मुकर्जी की मौत कैसे हुई, ये पता लगाकर बताए। नई दिल्ली के ऑपरेटर ने श्रीनगर

से पूछा और जवाब मिला कि कोई मिस्टर दुर्गाप्रसाद धर हैं, जो कश्मीर के डिप्टी होम मिनिस्टर हैं, जिन्होंने यह संदेश दिया है। तीन दिन पहले उन्हें पार्श्वशूल की शिकायत हुई थी और एक दिन पहले ही उन्हें अस्पताल में भरती कराया गया था। वहाँ उन्हें अचानक हार्ट अटैक हुआ और 23 तारीख की सुबह 3.40 बजे उनकी मृत्यु हो गई। तब रमाप्रसाद ने कहा कि शव को कलकत्ता भिजवाया जाए, लेकिन उन्होंने पूरी जानकारी माँगी। ऑपरेटर ने उन्हें बताया कि आधे घंटे बाद कश्मीर सरकार से कोई-न-कोई उनसे बात करेगा।

'अमृत बाजार पत्रिका' में 24 जून को छपी एक खबर के मुताबिक, कश्मीर सरकार ने एक फ्लैश संदेश भारत सरकार को भेजा, लेकिन मुकर्जी परिवार को कुछ नहीं बताया गया। यह तो केंद्रीय गृह सचिव ए.वी. पई थे, जिन्होंने कहा कि उन्हें परिवार से संपर्क करना चाहिए, तब जाकर रमाप्रसाद के पास वह फोन आया।

25 जून को दिए अपने बयान में बैरिस्टर त्रिवेदी ने बताया कि वह सुबह करीब 3.55 बजे अस्पताल पहुँचे और देखा कि डॉ. मुकर्जी के कैबिन का दरवाजा बंद था और एक डॉक्टर आगंतुकों के कमरे में बैठा था। उसने उनसे बस बैठने को कहा और चुप हो गया। करीब एक मिनट बाद त्रिवेदी ने उससे पूछा कि डॉ. मुकर्जी कैसे हैं? वहाँ पुलिस अधीक्षक भी मौजूद थे, उन्होंने कहा कि उन्हें ऑक्सीजन दी जा रही है। त्रिवेदी ने कहा कि वह कैबिन में जाना चाहते हैं। पुलिस अधीक्षक खुद कैबिन में गए और एक डॉक्टर के साथ लौटे। डॉक्टर ने त्रिवेदी को बताया कि उनके आने से 5 मिनट पहले डॉ. मुकर्जी ने अपनी आखिरी साँस ली।

यह सुनते ही कि डॉ. मुकर्जी नहीं रहे, त्रिवेदी कैबिन में दाखिल हुए, शरीर के पास आए और उनके ऊपर पड़ी चादर को हटाकर उनके चेहरे को देखने की कोशिश की, डॉ. मुकर्जी फिर कभी न जागने के लिए सो चुके थे। 5 मिनट के भीतर जिलाधिकारी पहुँचे। त्रिवेदी ने उनसे कहा कि शव को तुरंत कलकत्ता ले जाना होगा और इसका इंतजाम उन्हें करना चाहिए। अगर ऐसा नहीं हुआ तो त्रिवेदी ने कहा कि वह भारत सरकार से इंतजाम करने को कहेंगे। उन्होंने मुकर्जी परिवार को भी तुरंत सूचित करने को कहा, ताकि इससे पहले कि यह खबर रेडियो पर आए, उनकी माँ को जानकारी मिल जाए। गृहमंत्री बख्शी गुलाम मोहम्मद भी अस्पताल पहुँचे। त्रिवेदी ने बख्शी से पं. प्रेमनाथ डोगरा, गुरुदत्त वैद्य और टेकचंद को तुरंत रिहा करने की माँग की और उन्हें उसी हवाई जहाज से भेजने का इंतजाम करने को कहा, जिसमें डॉ. मुकर्जी का शव भेजा जाएगा।

बख्शी ने बात मान ली और कहा कि वो तुरंत उपजेल लौटें और अपना सामान समेट लें। डिप्टी होम मिनिस्टर डी.पी. धर पहले ही डॉ. मुकर्जी के परिवार को, जो कलकत्ता में था, फोन पर सूचना देने के लिए निकल पड़े थे। त्रिवेदी अपने होटल के कमरे में लौटे और ऑल इंडिया रेडियो, टाइम्स ऑफ इंडिया एवं यूनाइटेड प्रेस ऑफ इंडिया के प्रतिनिधियों को सूचना दी। सारे पत्रकार 5 मिनट के भीतर पहुँच गए और उन्हें दुर्भाग्यपूर्ण घटना की जानकारी दी गई। उन्होंने तब दिल्ली में मौलिचंद्र शर्मा को फोन करने की कोशिश की और जम्मू में प्रजा परिषद् के नेताओं से बात करनी चाही, लेकिन लाइन नहीं मिल सकी। एक बार फिर वह अस्पताल लौटे और डी.पी. धर से मिले, जिन्होंने कहा कि वह डॉ. काटजू को इत्तला दे चुके हैं। इस बीच करीब 500 लोग अस्पताल के सामने इकट्ठा हो चुके थे। शव को पिछले दरवाजे से बाहर लाया गया।

त्रिवेदी ने डॉ. मुकर्जी का सामान सौंपे जाने की माँग की। उन्हें उनकी घड़ी, पेन और एक सूटकेस दिया गया। उन्हें उनकी अटैची नहीं मिली। सूटकेस पहले से ही खुला था। बाहर उनके चप्पल पड़े थे। चश्मा भी था, लेकिन उसका कवर नहीं था।

सुबह करीब 8.40 बजे वे एयरपोर्ट के लिए निकले। पुलिस अफसरों के बीच जितने भी हिंदू थे—एस.पी., डी.एस.पी., एक सब-इंस्पेक्टर और एक हेड कांस्टेबल, सबने त्रिवेदी से कहा कि किसी भी मुसलमान को डॉ. मुकर्जी का शरीर छूने न दिया जाए और वह खुद उनका शव उठाएँगे। जम्मू व कश्मीर सरकार के ज्यादातर मंत्री, सिवाय शेख अब्दुल्ला के, एयरपोर्ट पर पहले ही इकट्ठा हो चुके थे। उनमें से कुछ बेहद नाराज दिख रहे थे। शेख अब्दुल्ला करीब 10.15 बजे पहुँचे और एक विशेष कशीदाकारी किया गया बेशकीमती शॉल दिया, जिसे उनके शरीर पर डाला गया। एयरफोर्स के डकोटा विमान का इंतजाम करने में कुछ दिक्कत आ रही थी। एक तो उन्हें पहले से बताया नहीं गया था और दूसरा मौसम भी खराब था। अंत में बख्शी गुलाम मोहम्मद ने अपने ऊपर पूरी जवाबदेही ली और स्थानीय एयरफोर्स की कमान सँभाल रहे विंग कमांडर को आदेश दिया कि वह विमान का इंतजाम करें।

विमान सामान और बेइंतहा दुखी पैसेंजरों को लेकर श्रीनगर के हुमहमा हवाई अड्डे से करीब 10.40 बजे उड़ा और जालंधर, आदमपुर एवं कानपुर एयरफोर्स बेस पर रुकते हुए कलकत्ता के दमदम एयरपोर्ट पर शाम के करीब 8.55 बजे पहुँचा।

डॉ. मुकर्जी के चाहनेवाले, रिश्तेदार और दोस्त फूट-फूटकर रो रहे थे। पहली चीज, जो उनके सबसे बड़े बेटे अनुतोष ने किया, वह यह कि जो शॉल शेख अब्दुल्ला ने दिया था, उसे उठाकर फेंक दिया। जन-सैलाब ने उस ट्रक को, जिसमें शव रखा गया था, घेर लिया। उस ट्रक को 77 आशुतोष मुकर्जी रोड तक पहुँचने में सात घंटे लगे, जो करीब 4 बजे सुबह पहुँचा। इस दूरी को तय करने में आमतौर पर एक घंटा से भी कम समय लगता है।

माँ जोगमाया ने जैसे ही अपने बेटे, जिसे पूरा देश जानता था, के शव को देखा, अत्यधिक पीड़ा से हरेंद्र कुमार मुकर्जी को देखकर चीख पड़ीं, जो पश्चिम बंगाल के राज्यपाल थे और पहले कलकत्ता यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे, जिनकी नियुक्ति डॉ. मुकर्जी ने ही की थी। दिवंगत नेता का बावनवाँ जन्मदिन 6 जुलाई को आनेवाला था, यानी सिर्फ दो सप्ताह बाद!

उस रात अनेक लोग 77 आशुतोष मुकर्जी रोड के बाहर ही सो गए, इस इंतजार में कि कब एयरपोर्ट से शव वहाँ पहुँचे। अगले दिन सड़कों पर लोगों की बाढ़ सा आ गई, जब शव को 77 आशुतोष मुकर्जी रोड से कालीघाट के करीब केवड़तला श्मशान लाया जा रहा था। सविता बनर्जी ने कहा कि उनमें से कई, खासतौर पर पूर्वी बंगाल में इसलामी राज में प्रताड़ित शरणार्थी थे, वे फूट-फूटकर रो रहे थे। यह एक कड़वा सच है कि कुछ साल बाद वही लोग राजनीतिक दृष्टि से वामपंथ की ओर झुक गए और या तो डॉ. मुकर्जी को भूल गए या उन्हें सांप्रदायिक कहने लगे।

डॉ. बिधानचंद्र रॉय, जो पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री थे और मुकर्जी परिवार के करीबी भी थे, शवयात्रा में शामिल हुए। भीड़ ने गुस्से में उनकी तरफ चीखना शुरू कर दिया। वे सभी कांग्रेसियों को इस मृत्यु का जिम्मेदार ठहरा रहे थे। आखिरकार उन्हें शव को देखने के लिए श्मशान तक दूसरे रास्ते से जाना पड़ा। कुछ लोगों ने डॉ. रॉय को केवड़तला में खुद से बुदबुदाते

हुए सुना, 'कितनी बार उनसे कहा था—मत जाइए, मत जाइए।...' जैसा कि पहले वर्णन किया गया है, पं. लक्ष्मीकांत मैत्रा, जो कांग्रेस के सांसद थे, लेकिन डॉ. मुकर्जी के बहुत बड़े प्रशंसक थे, उन्होंने उनकी शवयात्रा देखी थी। उन्हें डॉ. मुकर्जी से इतनी आत्मीयता थी कि उनका शव देखते ही सदमे से उनकी तबीयत बिगड़ गई और कुछ महीनों बाद उनकी मृत्यु हो गई।

उनके सबसे बड़े बेटे ने उन्हें मुखाग्नि दी। इसके बाद चिता प्रज्वलित की गई और अंततः पार्थिव शरीर अग्नि के हवाले कर दिया गया। इस प्रकार एक महान् व्यक्ति का सफर, जो देश को कई बुराइयों से बचा सकते थे, जिन्हें मिटाने में कई साल लग गए, समय से पहले ही खत्म हो गया, जब वह सिर्फ 52 वर्ष के थे। अलविदा कह चुके महान् नेता के लिए देश भर से बड़ी संख्या में शोक संदेश आए। उनके करीबी और अनन्य सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने सबसे मार्मिक अंश लिखे। राधाकृष्णन, जो उस वक्त भारत के उपराष्ट्रपति थे, और यह जरूरी था कि वे अपने पद की गरिमा का खयाल करते हुए अपने शब्दों को सोच-समझकर चुनें, लेकिन इसके बावजूद उन्होंने अपनी भावनाओं को सीधे-सादे शब्दों में अभिव्यक्त किया, जब उन्होंने डॉ. मुकर्जी के बारे में लिखा, "अपने सार्वजनिक जीवन में वह अपनी अंतरात्मा की आवाज को व्यक्त करने में कभी नहीं डरते थे। खामोशी से सबसे निर्दयी झूठ बोले जाते हैं। जब बहुत बड़ी ज्यादती होती है, तब इस उम्मीद में चुप रहना आपराधिक होता है कि एक दिन सच को आवाज मिल जाएगी। लोकतांत्रिक समाज में अपनी बात कह देनी चाहिए, खासतौर पर तब, जब हम अपने अंदर ऐसी ताकत पैदा कर रहे हैं कि जो हम नहीं देखना चाहते, उसे नहीं देखते हैं।"

सरोजिनी नायडू के भाई हरिंद्रनाथ चट्टोपाध्याय, जो एक कवि और अभिनेता थे, उन्होंने लिखा—

"एक विशालकाय व्यक्ति का निधन हुआ है। देखो!
बौद्धिकता का एक विराट् सूरज अस्त हुआ है
एक के बाद एक विशालकाय व्यक्तित्व जा रहे हैं
जिनका हमारा शोक-संतप्त देश कर्जदार है।..."

उनकी खूबियों की प्रशंसा करनेवाले और सहानुभूति प्रकट करनेवाले तथा उनकी अकाल मृत्यु पर दुःख व्यक्त करनेवाले संदेश कई जाने-माने लोगों की तरफ से आ रहे थे। उनमें से कुछ उनके कट्टर राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी थे, जिनमें ए.के. गोपालन, मौलाना अबुल कलाम आजाद, जयप्रकाश नारायण, लाल बहादुर शास्त्री, आचार्य जे.बी. कृपलानी और फ्रैंक एंथनी शामिल थे। इनके अलावा अपने दोस्तों और सहयोगियों के तो अनेक संदेश आए, जैसे विनायक दामोदर सावरकर, माधव सदाशिव गोलवलकर, एम.आर. मसानी, पं. हृदयनाथ कुंजरू।

कलकत्ता हाईकोर्ट में फुल कोर्ट रेफरेंस हुआ, जहाँ जस्टिस पी.बी. चक्रवर्ती ने उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दी। उनके एक समय के साथी और फिर एक समय के विरोधी फजलुल हक ने पूर्वी पाकिस्तान से उन्हें एक टेलीग्राम भेजा, जिसमें लिखा कि उन्होंने एक भाई खो दिया है।

28 जून को कलकत्ता के शेरिफ ने विश्वविद्यालय के सीनेट हाउस में एक स्मृति सभा का आयोजन किया। एक लाख से ज्यादा लोग उस सभा में इकट्ठा हुए। गवर्नर हरेंद्र कुमार मुकर्जी, जिन्होंने डॉ. मुकर्जी को प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़ाया था, वह भी सभा को संबोधित करने पहुँचे।

लेकिन भारी भीड़ की वजह से उनकी कार स्थल तक नहीं पहुँच सकी और उन्हें हॉल तक पहुँचने के लिए पैदल चलकर आना पड़ा। उन्होंने अपना पहले से तैयार किया गया भाषण पढ़ना शुरू किया और कहा कि वह नाम मात्र के और राज्य सरकार के संवैधानिक प्रमुख हैं। तभी भीड़ में से किसी ने उन्हें टोका और पूछा, ''हम आपसे ये जानना चाहते हैं कि आपके पूर्व छात्र डॉ. मुकर्जी क्या सांप्रदायिक और संकीर्ण मानसिकता वाले थे?'' मुकर्जी ने प्रश्न पूछने वाले को देखा, अपना भाषण जेब में रखा और बिना पढ़े बोलना शुरू किया। वह करीब 35-40 मिनट तक बोलते रहे, बीच में अपने आँसुओं को पोंछने के लिए रुकते थे। उन्होंने कहा कि उनके राजनीतिक विरोधियों ने चाहे उन्हें सांप्रदायिक या संकीर्ण सोचवाला कहकर कितना ही बदनाम करने की कोशिश की हो, वह कहीं से भी ऐसे नहीं थे। सुखरंजन सेनगुप्ता पश्चिम बंगाल के एक पुराने पत्रकार थे, उन्होंने कहा कि उस दिन तमाम श्रोताओं की आँखों से झर-झर आँसू गिर रहे थे। कलकत्ता के अखबार 'द स्टेट्समैन' ने दो दिन बाद खबर दी कि केंद्र सरकार राज्यपाल के भाषण के कुछ अंशों को लेकर उलझन में पड़ गई है और केंद्रीय गृह मंत्रालय ने राज्य सरकार से उनके भाषण की पूरी प्रतिलिपि माँगी है।

इस महान् व्यक्ति के जीवन और मृत्यु पर लिखा गया कोई भी इतिहास तब तक पूरा नहीं होगा, जब तक कि दो विषयों पर चर्चा न हो—पहला, क्या वह स्वाभाविक मौत मरे या यह लापरवाही बरतकर की गई हत्या थी, या उससे भी बदतर एक सोची-समझी साजिश थी? इस पर कई लोगों ने विस्तार से चर्चा की है और उनमें से एक बड़े हिस्से की यहाँ चर्चा होगी। दूसरा विषय इतना जाना हुआ नहीं है। इसे ट्राम आंदोलन कहा जाता है, एक रणनीतिक और कामयाब कोशिश, जो कम्युनिस्टों ने पश्चिम बंगाल के लोगों का ध्यान डॉ. मुकर्जी की मृत्यु से भटकाने के लिए की।

किसी भी महान् हस्ती या विशिष्ट व्यक्ति की अकाल या हिंसक मौत के बाद अकसर साजिश की थ्योरी सामने आने लगती है। कुछ में दम होता है और कुछ पूरी तरह काल्पनिक होती हैं। सन् 1963 में अमेरिकी राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या से जुड़ी साजिश की थ्योरी आज भी खत्म होने का नाम नहीं ले रही, जबकि उस घटना को करीब 50 साल हो चुके हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सभी साजिश की थ्योरियों को सिरे से खारिज कर देना चाहिए। यह स्पष्ट है कि उनकी मौत से जुड़ी परिस्थितियाँ संदेहजनक थीं, इसके बावजूद कि भारत के प्रधानमंत्री ने सवाल उठाए जाने का भारी विरोध किया था। अगर हम उन थ्योरियों पर नजर डालें, तो हमें उन हालात को समझने में मदद मिलेगी। इनमें बहुत हद तक संभव से लेकर असंभव सी लगनेवाली थ्योरी हैं।

पहला सवाल है, आखिर डॉ. मुकर्जी को गुरदासपुर में गिरफ्तार क्यों नहीं किया गया, बल्कि उन्हें इजाजत दी गई, यहाँ तक कि उकसाया गया कि वह जम्मू व कश्मीर राज्य में दाखिल हो जाएँ? जब उन्हें गिरफ्तार किया गया, राज्य का वह अध्यादेश, जिसके मुताबिक बगैर परमिट राज्य में प्रवेश को अपराध माना गया, उसे अब तक लागू क्यों नहीं किया गया था; जबकि किसी व्यक्ति के बिना परमिट दाखिल होने के लिए सिर्फ भारत सरकार का कानून अमल में था। लिहाजा जब उन्होंने गुरदासपुर जिले के अधिकारियों को बताया कि वह जम्मू व कश्मीर में दाखिल होनेवाले हैं, तो उन्हें गिरफ्तार किया जाना चाहिए था, जैसा कि गुरदासपुर के डिप्टी

कमिश्नर भी सोच रहे थे कि वह उन्हें गिरफ्तार कर लेंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया, बल्कि उन्होंने कहा कि सरकार का आदेश है कि उन्हें जम्मू व कश्मीर राज्य में दाखिल होने दिया जाए। दरअसल, सिर्फ एक महीने पहले, 1953 अप्रैल में, जब बैरिस्टर यू.एम. त्रिवेदी और जी.वी. देशपांडे, दोनों ही जन संघ के सांसद थे, जब जम्मू व कश्मीर में बिना परमिट दाखिल होने की कोशिश की तो उन्हें तो काफी पीछे जालंधर में ही 'निवारक निरोध कानून' के तहत गिरफ्तार कर लिया गया, पर डॉ. मुकर्जी को नहीं किया गया! क्यों? दूसरा सवाल—अगर, जैसा कि जम्मू व कश्मीर पुलिस के आई.जी. पृथ्वीनंदन सिंह के हस्ताक्षर वाले गिरफ्तारी के आदेश पर लिखा था—'डॉ. मुकर्जी ने कार्य किया है, कार्य कर रहे हैं या इस तरीके के कार्य करनेवाले हैं, जो सार्वजनिक सुरक्षा और शांति के खिलाफ है, ऐसे में समझदारी भरा कदम यह होता कि उन्हें राज्य में दाखिल ही न होने दिया जाता। ऐसा कोई रास्ता नहीं था कि वह जबरन राज्य में घुस जाते और तब वह उस प्रकार का कार्य नहीं करते, जो सार्वजनिक सुरक्षा और शांति के खिलाफ होता, क्योंकि तब वह राज्य के बाहर होते। इसकी बजाय, उन्हें राज्य में दाखिल होने दिया गया और फिर दो महीने के लिए बंदी बना लिया गया, आखिर किस हिसाब से?

इन दोनों बातों से कोई भी इस नतीजे पर पहुँचेगा कि उन्हें जम्मू व कश्मीर में फँसाने की एक साजिश थी, भारत के सुप्रीम कोर्ट की पहुँच से बाहर, जैसा कि जस्टिस महाजन ने बलराज मधोक से कहा था। और दोनों ही सरकारें—भारत सरकार और जम्मू व कश्मीर की सरकार—इस साजिश में शामिल थीं। एन.सी. चटर्जी ने संक्षेप में बहुत बड़ी बात लोकसभा में कही थी (आगे देखें)।

अगला सवाल—डॉ. मुकर्जी कोई आम कैदी नहीं थे। वह भारतीय संसद् के एक सदस्य थे और उनमें भी सबसे विशिष्ट सदस्य तथा भारत के पूर्व केंद्रीय मंत्री भी रह चुके थे। उन्हें पहले भी एक या शायद दो हार्ट अटैक आ चुके थे। आखिर उन्हें एक दम घोंट देनेवाले छोटे से बँगले में क्यों ठूँस दिया गया—लोगों से इतनी दूर, जहाँ कोई डॉक्टर तक नहीं था, जहाँ एक टेलीफोन तक नहीं था? आखिर क्यों बँगले के बाहर टहलने की इजाजत उन्हें नहीं दी गई, जबकि उन्होंने बार-बार कहा था कि उन्हें टहलने की जरूरत है और कंपाउंड के अंदर जरा सी भी जगह नहीं थी? उनकी चिट्ठियाँ उन्हें सही समय पर क्यों नहीं दी जाती थीं? आखिर उनके बेटे, साथियों और रिश्तेदारों को उनसे क्यों नहीं मिलने दिया गया? आखिर क्यों? और यह बेहद गंभीर है। इस पर डॉ. एन.बी. खरे ने भी टिप्पणी की है (आगे देखें)। उपजेल से उनके बिस्तर से टैक्सी तक पैदल चलवाकर लाया गया और शायद स्त्री रोग वार्ड तक, जो हॉस्पिटल की पहली मंजिल पर था, वहाँ भी सीढ़ियाँ चढ़वाकर लाया गया? आखिर 22 जून को उन्हें राजकीय अस्पताल तक ले जाने के लिए किसी एंबुलेंस की बजाय सामान्य टैक्सी का इस्तेमाल क्यों किया गया?

यह भी पता नहीं है कि उस समय कोई इंटेंसिव कार्डिक केयर यूनिट (आई.सी.सी.यू.) था भी या नहीं, शायद नहीं था। लेकिन यह निश्चित है कि कोई वी.आई.पी. वार्ड जरूर रहा होगा, जहाँ डॉ. मुकर्जी को चौबीसों घंटे की देख-रेख में रखा जा सकता था और जहाँ एक डॉक्टर हमेशा मौजूद रहता! निस्संदेह शेख अब्दुल्ला या उनसे पहले महाराजा को कभी उस स्त्री रोग वार्ड के छोटे से कैबिन में, जहाँ पर चारपाई से पेंट की पपड़ियाँ निकल रही हों, वहाँ बीमार पड़ने पर नहीं रखा गया होगा! तो फिर डॉ. मुकर्जी को उनके जैसी सुविधाएँ क्यों नहीं दी गईं?

ये ऐसे तथ्य हैं, जिनपर कोई विवाद नहीं है। आखिर उनका शेख अब्दुल्ला के बारे में क्या कहना है, जिन्होंने डॉ. मुकर्जी को बिना उनसे आदेश लिये किसी भी तरह की अतिरिक्त सुविधा दिए जाने पर रोक लगा दी थी? क्या यह सिर्फ विचारधारा का मतभेद था, अकथनीय निष्ठुरता या उससे कहीं बदतर?

अगला कोई सवाल नहीं, एक देखी गई बात है। पं. जवाहरलाल नेहरू और कैलाशनाथ काटजू (इत्तफाक से दोनों कश्मीरी हिंदू थे), जब 24 मई को श्रीनगर पहुँचे, शायद आराम करने के लिए, तब उन्होंने डॉ. मुकर्जी को जिस तरह नजरअंदाज कर बेरुखी का रवैया दिखाया, वह उनके अपमान से कम नहीं था।

एन.सी. चटर्जी (पूर्व लोकसभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी के पिता) ने 18 सितंबर, 1953 को लोकसभा में एक चौंकानेवाला खुलासा किया। उन्होंने पहले जम्मू व कश्मीर सरकार को यह कहते हुए कठघरे में खड़ा किया कि मेरा यह आरोप है कि कश्मीर की सरकार ने डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के साथ ऐसा व्यवहार किया, जैसे वे कोई सजायाफ्ता अपराधी हों। डॉ. मुकर्जी के नई दिल्ली और कश्मीर की सरकार के साथ मौलिक राजनीतिक मतभेद थे। लेकिन वह कोई अपराधी नहीं थे कि उनपर उनकी बीमारी के दौरान भी रहम नहीं किया गया। यहाँ तक कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन में उनके कद के किसी नेता को तब जेल में बंद नहीं रखा गया था, जब वह बीमार हो। इसके बाद उन्होंने नेहरू के बारे में खुलासा करना शुरू किया, जो डॉ. मुकर्जी की मृत्यु के दौरान लंदन में ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ II की ताजपोशी में हिस्सा ले रहे थे।

नेहरू को जब डॉ. मुकर्जी के निधन की खबर मिली, तब वह जेनेवा से काहिरा के लिए रवाना होने वाले थे। यह बात कुछ अखबारों में भी छपी थी कि जब एक पत्रकार ने नेहरू को उस तत्काल मिली खबर के बारे में बताया कि डॉ. मुकर्जी की श्रीनगर में कैद में मौत हो गई है, नेहरू ने सीटी बजाई और उछलकर उठ बैठे तथा उस जगह से निकल गए अपनी छड़ी दिखाते हुए, जो अब हमेशा उनके साथ रहने लगी थी। जब नेहरू विदेश दौरे से लौटे और बंबई एयरपोर्ट पहुँचे, उसने (पत्रकार ने) देखा कि वह खुश होकर लौटे थे और उस त्रासदी पर एक शब्द नहीं बोला, जिसने उनकी गैर-मौजूदगी में पूरे देश को स्तब्ध कर दिया था।

अब अगर हम तथ्यात्मक रूप से निश्चित संभावनाओं, अनुमानों और खुलासों की तरफ बढ़ें, साथ ही अप्रामाणिक बयानों पर गौर करें तो तसवीर और भी धुँधली हो जाती है। क्या सुचेता कृपलानी ने डॉ. मुकर्जी को चेतावनी दी थी या गुमनाम पुलिस अफसर ने त्रिवेदी को, जैसा कि मधोक का आरोप है? क्या डॉ. बी.सी. रॉय कुछ जानते थे, जब उन्होंने कथित तौर पर डॉ. मुकर्जी को कश्मीर न जाने की सलाह दी? और क्या सबकुछ वास्तव में वैसा ही हुआ, जैसा कि मिसेज सविता बनर्जी ने बताया, यानी जैसे ही नर्स ने आखिरी इंजेक्शन लगाया, डॉ. मुकर्जी दर्द से तड़पने लगे?

क्या ठाकुरप्रसाद (पटना अध्याय 14 देखें) के पिता को कोई शक हुआ था? ये सभी लोग अब इस दुनिया में नहीं हैं और शायद हमें कभी पता नहीं चल सकेगा; लेकिन संभवत: कुछ सच्चाई सामने आ सकती थी, अगर एक ईमानदार जाँच की जाती। इस पहलू पर आगे चर्चा की गई है।

यहाँ आश्चर्य करने की और भी गुंजाइश है, उनके लिए जो कुछ रहस्यमयी ताकतों में यकीन करते हैं। 'भारत सेवाश्रम संघ' के अध्यक्ष स्वामी सच्चिदानंद ने डॉ. मुकर्जी को जाने से

मना किया था। मधोक ने एक ज्योतिषी के बारे में बताया था, जो त्रिवेदी से मिला था, और पुदुचेरी की मदर ने मनोज दासगुप्ता को बताया था, जो आश्रम के एक ट्रस्टी थे कि *Ils l'ont tue"*, जिसका फ्रेंच में मतलब है, 'उन लोगों ने उन्हें मार डाला है।'

अब मेडिकल की दृष्टि की बात करते हैं—कई डॉक्टरों की राय है कि इलाज में लापरवाही हुई, कम-से-कम इतना तो तय है। डॉ. एन.बी. खरे, जो एम.डी. थे, उन्होंने कहा है कि जिस वक्त डॉक्टरों को संदेह हुआ था कि उन्हें हृदय रोग है, उन्हें जरा सा भी इधर-उधर नहीं ले जाना चाहिए था। इसकी बजाय वह जहाँ थे, वहीं इलाज करना चाहिए था। इसके बाद, जब 22 तारीख को दोपहर 12 बजे जब डॉक्टर इस नतीजे पर पहुँचे कि उन्हें हार्ट अटैक हुआ है तो उन्हें एमीनोफिलिन तुरंत देना चाहिए था; जबकि वह रात के 11 बजे दिया गया, जो कि अटैक के 11 घंटे बाद दिया गया। और अंत में, जब एमीनोफिलिन के इंजेक्शन के बाद उनका ब्लड प्रेशर कम होकर 100/80 से 90/70 हो गया तो उन्हें सदमे का इलाज शुरू कर देना चाहिए था और नस से ड्रिप के जरिए डेक्ट्रान चढ़ाना चाहिए था। अंततः, डॉ. खरे ने कहा कि देश भर में उनकी मौत की जाँच की जो माँग उठ रही है, वह बिलकुल जायज है। डॉ. नलिनी रंजन सेनगुप्ता, एम.डी. और उस समय कलकत्ता के सबसे नामी डॉक्टरों में से एक थे, उन्होंने कहा कि जब 22 जून की सुबह 4 बजे डॉ. मुकर्जी को दिल का दौरा पड़ा था, उन्हें लगातार देखरेख में रखा जाना चाहिए था। जिस तरह उन्हें उपजेल से ले जाने के लिए टैक्सी का इस्तेमाल किया गया, उससे लगता है कि डॉक्टरों को इस बात का अंदाजा ही नहीं था कि उन्हें दिल का दौरा पड़ा है। उन्हें स्पंदनरोधी दवा के तौर पर मॉरफीन दिया जाना चाहिए था; इसकी बजाय उन्हें पेथीडाइन दिया गया, जो मॉरफीन का कमजोर विकल्प है और वह भी रात को 1 बजे दिया गया, अटैक के 18 घंटे बाद। उन्होंने यह भी कहा कि जो डॉक्टर उनकी देखरेख कर रहे थे, वे हार्ट अटैक से निपटने के मामले में झोलाछापों से कुछ ही बेहतर थे।

डॉ. अमल कुमार चौधरी, एम.डी. कलकत्ता के एक और नामी डॉक्टर थे। उनका कहना था कि डॉक्टरों ने गलत डायग्नोस किया और बड़ी गड़बड़ कर दी। जिसे शुष्क पार्श्वशूल समझा गया, वह हृदय रोग से जुड़ी एक बीमारी थी या निमोनिया था, जो कुछ दिन पहले ही शुरू हो गया होगा। उन्होंने भी कहा कि मरीज को मॉरफीन दिया जाना चाहिए था और उनका प्रोथ्रॉम्बिन टाइम नोट किया जाना चाहिए था।

अजमेर के डॉ. अंबालाल शर्मा और उनके बोर्ड ने बताया कि जब सिस्टॉलिक प्रेशर कम होकर 100 पर पहुँच गया था, तब एमीनोफिलिन देने का फैसला गलत था। ग्वालियर के डॉ. कमल किशोर के बोर्ड ने कहा कि पेथीडाइन की बजाय मॉरफीन दिया जाना चाहिए था और डॉ. मुकर्जी को किसी भी सूरत में बैठने नहीं दिया जाना चाहिए था, जैसा कि उन्होंने 22 जून की शाम को किया था। सच कहें तो शरीर का जरा सा भी हिलना-डुलना, सिवाय नित्य क्रिया के, होने नहीं देना चाहिए था।

वे भी इस बात से सहमत हुए कि जब ब्लड प्रेशर कम था तो एमीनोफिलिन देना बहुत बड़ी गलती थी। डॉ. टी.एन. बनर्जी, जो पटना मेडिकल कॉलेज के प्रिंसिपल थे, उन्होंने भी कहा कि इलाज में लापरवाही हुई होगी।

मौजूदा समय के डॉक्टरों की राय हालाँकि कुछ अलग है। यहाँ इस बात पर गौर करना होगा कि वर्ष 1953 के बाद से अब तक आंतरिक चिकित्सा के क्षेत्र में व्यापक प्रगति हुई है और कार्डियोलॉजी अब एक अलग विषय है। डॉ. आर.एन. दास, जो कलकत्ता में आंतरिक चिकित्सा के मशहूर डॉक्टर हैं, उन्होंने एक तीसरी संभावना की ओर इशारा किया है। उनकी राय है कि डॉ. मुकर्जी के मोटापे और पैरों में लगातार दर्द को देखते हुए डीप वेन थ्रॉम्बोसिस (DVT) की आशंका से इनकार नहीं किया जा सकता। वेरिकोस वेन जब तक कि संक्रमित न हो, तब तक उसमें इतना दर्द नहीं होता कि चलना भी मुश्किल हो जाए, और इस तरह के संक्रमण का कोई प्रमाण नहीं है। DVT की वजह से किसी गहरी नस में खून का थक्का जम जाता है (सतह से दूर), खासतौर पर शरीर के निचले अंगों में। अगर वह थक्का खून के साथ चलकर फेफड़ों तक पहुँच जाए तो एक खतरनाक पुलमोनरी एमबॉलिज्म हो जाता है, जो दिल की धड़कन रोक सकता है और इनसान की मौत हो जाती है। डॉ. दास की यह राय भी थी कि मायोकॉर्डियल इनफ्रैक्शन या अनस्टेबल एंजाइना के मरीज को एमीनोफिलिन दिए जाने से दिल की धड़कन बहुत तेज हो जाती है और ऐसा नहीं किया जाना चाहिए। यह बात वर्ष 1953 में भी डॉक्टरों को मालूम थी। एमीनोफिलिन का इस्तेमाल दिल के मरीजों के लिए अब पूरी तरह बंद कर दिया गया है। जहाँ तक मॉरफीन की बजाय पेथीडाइन देने की बात है, डॉ. दास कहते हैं कि इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ता, जब तक कि इंजेक्शन का डोज पर्याप्त है। डॉ. शुवो दत्ता, कलकत्ता के मशहूर हृदय रोग विशेषज्ञ, भी डॉ. दास से सहमत थे।

दोनों डॉक्टरों को पूरा यकीन है कि उनकी मृत्यु हृदय गति बंद हो जाने से हुई, न कि स्ट्रेप्टोमाइसिन के एनाफाइलेक्टिक सदमे से, जैसा कि कुछ डॉक्टरों को शक हुआ था। वह इस बात पर भी एकमत से यकीन करते हैं कि उन्हें जो इलाज मिला, वह ऐसा हार्ट अटैक के लिए निश्चित तौर पर या कम-से-कम एक कारक के तौर पर जिम्मेदार है। दिल के एक मरीज को पैदल चलाकर सीढ़ियों से ऊपर-नीचे ले जाना और उन्हें बेड पर बैठकर कागजी काररवाई करने देना तो कहीं सुना तक नहीं जाता, और यह उन दिनों भी अनहोनी ही थी। एमीनोफिलिन या DVT (अगर वहाँ मौजूद था) की वजह से दिल का दौरा पड़ सकता है।

सुखरंजन सेनगुप्ता के मुताबिक, डॉ. बी.सी. रॉय ने शेख अब्दुल्ला को टेलीफोन किया था और उनसे डॉ. मुकर्जी के इलाज का प्रेस्क्रिप्शन और डॉक्टरों के नाम माँगे थे। उन्हें जब यह जानकारी मिली, तब उन्होंने इलाज पर और डॉक्टरों की काबिलियत पर तीखी टिप्पणी की थी। एक महत्त्वपूर्ण मुख्यमंत्री, जो एक जबरदस्त फिजीशियन भी था, कहा जाता है कि उनकी इस टिप्पणी से नेहरू कुछ हद तक बौखला गए थे।

गैर-चिकित्सकीय क्षेत्र के कुछ आम लोगों के लिए यह समझना मुश्किल है कि कौन सही है और कौन गलत? लेकिन वहाँ एक गंभीर लापरवाही बरती गई थी, यह काफी हद तक मुमकिन है और यह सब सामने भी आ जाता, अगर उनकी मृत्यु के मामले की पुख्ता जाँच होती। अब यह बात साफ है कि इसके अंदर की कोई कहानी है।

कभी भी जब एक मशहूर हस्ती की मौत होती है या संदिग्ध परिस्थितियों में वह गायब होता है, तब एक जाँच जरूर होती है। अकसर यह कमिशंस ऑफ इन्क्वायरी ऐक्ट 1952 के तहत होती है। इस तरह के कम-से-कम तीन कमीशन नेताजी सुभाषचंद्र बोस के गायब होने की जाँच करने

के लिए बनाए गए। ये कमीशन थे—शाह नवाज कमीशन (1956), जी.डी. खोसला कमीशन (1970) और मनोज मुकर्जी कमीशन (1999)। महात्मा गांधी की हत्या की जाँच कपूर कमीशन ने, इंदिरा गांधी की हत्या की जाँच ठक्कर कमीशन ने और राजीव गांधी की हत्या की दो कमीशन जे.एस. वर्मा कमीशन और एम.सी. जैन कमीशन ने जाँच की। ये सभी हत्याकांड (नेताजी के गायब होने को छोड़कर) एक बात याद रखनी चाहिए कि सबके सामने हुए और इसी वजह से किसी के दिमाग में कोई शक नहीं था कि वह आदमी कैसे मरा; फिर भी इनकी पृष्ठभूमि और साजिश का पता लगाने के लिए जाँच की गई। डॉ. मुकर्जी की अकाल और संदिग्ध मौत—इनकी तुलना में—गुप्त जगह में, परिवार और दोस्तों से दूर, एक शत्रुतापूर्ण क्षेत्र में हुई, जहाँ भारत के सुप्रीम कोर्ट का अधिकार-क्षेत्र तक नहीं है। इस वजह से डॉ. मुकर्जी के परिवार, दोस्तों, प्रशंसकों, पार्टी के कार्यकर्ताओं और कुछ अनजान लोगों के लिए, जो सार्वजनिक विषयों में दिलचस्पी रखते हैं, एक जाँच की माँग करना स्वाभाविक था।

इसकी पहल डॉ. मुकर्जी की माँ जोगमाया देवी ने की, जिन्होंने नेहरू के 30 जून, 1953 के शोक संदेश का 4 जुलाई को उत्तर दिया। उन्होंने लिखा—''मैं आपसे किसी तरह की सांत्वना पाने के लिए यह पत्र नहीं लिख रही हूँ। लेकिन मैं आपसे यह जरूर माँग करती हूँ कि न्याय हो। मेरे बेटे की मौत कैद में हुई है, कैद भी बिना सुनवाई के। आपने अपनी चिट्ठी में यह बताने की कोशिश की है कि कश्मीर की सरकार ने वह सबकुछ किया, जो किया जाना चाहिए था। आपने जो कुछ कहा, उसका आधार आपको दी गई जानकारी और भरोसा होगा। उनकी क्या कीमत है, मैं पूछती हूँ, उस जानकारी की, जो उन लोगों की ओर से दी जा रही है, जिन्हें कठघरे में खड़ा किया जाना चाहिए था? आप कहते हैं, आप मेरे बेटे की कैद के दौरान कश्मीर गए थे। आप उस स्नेह की बात करते हैं, जो उनके लिए आपके दिल में था। लेकिन आश्चर्य है कि आपको व्यक्तिगत तौर पर जाकर उनसे मिलने से किसने रोका था और क्यों नहीं आपने खुद जाकर नहीं देखा कि उनकी सेहत की देखभाल के लिए क्या इंतजाम हैं?

''उनकी मौत रहस्य से घिरी है। क्या यह सबसे चौंकाने और सदमे में डालनेवाली बात नहीं है कि जब से उन्हें वहाँ कैद किया गया, जो पहली जानकारी जो मुझे एक माँ होने के नाते कश्मीर की सरकार ने दी, वह यह थी कि मेरा बेटा अब इस दुनिया में नहीं रहा, और वह भी उसकी मौत के कम-से-कम दो घंटे बाद? और किस निर्दयी और गुप्त तरीके से वह संदेश भी दिया गया! यहाँ तक कि वह टेलीग्राम कि मेरे बेटे को अस्पताल में भरती किया गया है, वह हमें उसके मौत की हिला देनेवाली खबर के बाद मिला! इस बाद की पक्की जानकारी है कि मेरे बेटे की तबीयत कैद में डाले जाने के बाद से ही अच्छी नहीं थी। वह कई बार बुरी तरह बीमार पड़ा और वह भी एक के बाद एक कई दिनों के लिए। मैं पूछती हूँ, क्यों नहीं कश्मीर की सरकार या आपकी सरकार ने मुझे या मेरे परिवार को इस बात की जानकारी दी?

''यहाँ तक कि जब उन्होंने उन्हें अस्पताल में भरती कराया, तब भी यह जरूरी नहीं समझा कि हमें या डॉ. बिधान चंद्र रॉय को बता दें। यह भी दिखता है कि कश्मीर की सरकार ने कभी श्यामाप्रसाद के स्वास्थ्य का इतिहास जानने की कोशिश नहीं की और आपात चिकित्सा की जरूरत पड़ने पर भी स्वास्थ्य की देखरेख के इंतजाम नहीं किए गए। यहाँ तक कि उनके बार-बार बीमार

पड़ने को भी एक चेतावनी के तौर पर नहीं लिया गया। इसका परिणाम भयंकर हुआ। मेरे पास इस बात के ठोस सुबूत हैं और इसे उन्होंने 22 जून की सुबह अपने ही शब्दों में उद्धृत किया था कि उन्हें डुबो देने वाला अहसास हो रहा है। और तब सरकार ने क्या किया? चिकित्सा सुविधा देने में बेहिसाब देरी की गई। अस्पताल तक उन्हें सरासर अन्यायपूर्ण तरीके से ले जाया गया। उनके दो बंदी साथियों के उस आग्रह को ठुकरा दिया गया, जिसमें उन्होंने तकलीफ की घड़ी में साथ रहने की इच्छा जताई थी और ये सब संबंधित अधिकारियों के हृदय-विहीन तौर-तरीकों के चौंका देनेवाले उदाहरण हैं।

''सरकार और उसके अपने डॉक्टरों को उनकी जवाबदेही से न तो बचाया जा सकता है और न ही उनके दोष को डॉ. मुकर्जी की चिट्ठियों से यहाँ-वहाँ से उठाए गए कथनों से हलका किया जा सकता है (वे सर्राफ के 1 जुलाई की बात का जिक्र कर रही थीं), जिसमें कहा गया था कि वह अच्छा महसूस कर रहे हैं। उन कथनों की अब क्या कीमत है? क्या कोई भी गंभीरता से इस बात की उम्मीद कर सकता है कि वह (डॉ. मुकर्जी) अपनी कैद के दौरान, जबकि वह अपने प्रियजनों से बहुत दूर है। उसे अपनी शिकायतों को इन चिट्ठियों से जाहिर करना होगा या वह खुद अपनी बीमारी का पता लगा सकता है? सरकार की इस मामले में बहुत बड़ी और गंभीर जिम्मेदारी बनती है।

''मैं उन पर आरोप लगाती हूँ कि उन्होंने सरासर लापरवाही की और अपने आवश्यक कर्तव्य के निर्वहन में असफल रहे हैं। आपने डॉ. मुकर्जी को कैद के दौरान दी गई सुविधाओं और सुख-साधनों का जिक्र किया है। ये वे विषय हैं, जिन पर चर्चा होनी चाहिए। कश्मीर की सरकार में इतना भी शिष्टाचार नहीं था कि वे घर से आनेवाली चिट्ठियों को बिना रोक-टोक उन तक पहुँचने देती। चिट्ठियों को कई दिनों तक रोककर रखा जाता था और उनमें से कुछ तो रहस्यमयी ढंग से गायब ही हो गईं। घर का समाचार पाने की उनकी चिंता, खासतौर पर अपनी बीमार बेटी और मेरे लिए चिंता ने उन्हें बेहाल कर दिया। क्या आप यह जानकर आश्चर्यचकित होंगे कि पिछले 27 जून को हमें उनकी वह चिट्ठियाँ मिलीं, जो 15 जून की थी, जिसे कश्मीर की सरकार ने एक पैकेट में 24 जून को भेजा, यानी उनका शव भेजने के अगले दिन! उसी पैकेट के साथ वे चिट्ठियाँ भी वापस आईं, जो हमने डॉ. मुकर्जी को लिखी थीं और जो 11 व 16 जून को श्रीनगर पहुँच गई थीं, लेकिन इन्हें उन तक पहुँचाया ही नहीं गया। ये पूरी तरह से एक मानसिक प्रताड़ना का मामला है। वह टहलने के लिए पर्याप्त जगह की माँग लगातार कर रहे थे। ऐसा नहीं हो पाने की वजह से ही वह खुद को बीमार महसूस कर रहे थे। लेकिन बार-बार उनकी माँग को ठुकरा दिया गया। क्या यह मामला शारीरिक प्रताड़ना का नहीं है? मुझे आश्चर्य भी होता है और शर्म भी आती है जब आप मुझे यह बताते हैं कि उन्हें जेल में नहीं, एक प्राइवेट विला में रखा गया था, जो श्रीनगर की मशहूर डल झील के किनारे है। एक छोटे से बँगले में, जहाँ का परिसर भी बेहद छोटा था और जहाँ दिन-रात हथियारबंद गार्ड तैनात थे, वहाँ उसे जिंदगी गुजारनी पड़ रही थी। क्या आप यह गंभीरता से मानते हैं कि एक कैदी सोने के पिंजड़े में खुश रह सकता है? मैं ऐसे दुष्प्रचार से हिल जाती हूँ। मैं नहीं जानती कि उन्हें किस तरह की चिकित्सकीय सुविधा दी गई। जो सरकारी रिपोर्ट है और मुझे जो बताया गया, दोनों परस्पर विरोधी हैं। अनेक उत्कृष्ट चिकित्सकों ने अपने विचार व्यक्त किए

हैं। उनके मुताबिक, यह कम-से-कम घोर लापरवाही का तो केस था ही। इस मामले में एक निष्पक्ष और ठोस जाँच होनी चाहिए।

''मुझे अपने प्यारे बेटे की मौत का गहरा दु:ख है। आजाद भारत के एक निडर बेटे की कैद में मौत हुई है, जिसे बिना सुनवाई के कैद में रखा गया और निहायत त्रासद व रहस्यमयी परिस्थितियों में उसकी मौत हुई। मैं उस महान् आत्मा की माँ होने के नाते माँग करती हूँ कि स्वतंत्र और सक्षम लोगों के द्वारा पूरी तरह एक निष्पक्ष जाँच का ऐलान बिना किसी देरी के कर दिया जाए। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि अब किसी भी तरह उसकी जिंदगी हमें वापस नहीं मिल सकती है। लेकिन मैं चाहती हूँ कि भारत के लोग खुद अंदाजा लगा सकें कि इस महान् त्रासदी के पीछे के असली कारण क्या हैं, जिसे एक स्वतंत्र देश में अंजाम दिया गया और जिसमें आपकी सरकार ने भी एक भूमिका अदा की।''

नेहरू ने जवाब में बड़ी मीठी-मीठी बातें लिखीं, दुखियारी माँ के लिए आकंठ करुणा की अभिव्यक्ति की; लेकिन जाँच की माँग खारिज कर दी! 5 जुलाई को दिया गया जवाब कुछ भी नहीं तो कम-से-कम चौंकानेवाला जरूर था—''मैं एक माँ के दु:ख और मानसिक पीड़ा को अच्छी तरह समझता हूँ, जो अपने बेटे की मौत के सदमे में है। मेरे किसी भी शब्द से आपको पहुँची चोट कम नहीं हो सकती। मैंने आपको पहले चिट्ठी इसलिए नहीं लिखी, क्योंकि मैं डॉ. मुकर्जी की गिरफ्तारी और उनकी मृत्यु के मामले को अच्छी तरह समझ लेना चाहता था। मैंने कई लोगों से इस बारे में मालूमात हासिल किए हैं, जो इस बारे में काफी कुछ जानते थे। मैं आपको सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि मैं एक स्पष्ट और ईमानदार नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इसमें कोई रहस्य नहीं है और डॉ. मुकर्जी का पूरा खयाल रखा गया था।''

क्या किसी को भी देश के एक चोटी के नेता की मौत की संदिग्ध परिस्थितियों की जाँच की गंभीर और जायज माँग के बदले इससे ज्यादा कमजोर और लापरवाह जवाब की उम्मीद हो सकती है? उसके बाद इस बारे में मैंने बड़ी संख्या में लोगों से, पूछताछ की है, जिन्हें मौके से जुड़े कुछ तथ्यों की जानकारी थी। कितनी बड़ी संख्या? किन लोगों से? किस तरह के मौके और किस तरह के तथ्य? क्या किसी भी संख्या में ऐसे लोगों से जिनका नाम नहीं बताया गया है और वे इस मामले से कितना जुड़े हुए थे, ये सब जाने बगैर क्या व्यक्तिगत तौर पर उनके लिए तसल्ली कर लेना पर्याप्त था? क्या वे किसी बच्चे से बात कर रहे थे? लेकिन ये नेहरू थे—एक निरंकुश, जिसके अंदर का तानाशाह अब बाहर आ चुका था। मैंने पूछताछ की है, आप अपने आपको समझते क्या हैं कि आपने मुझसे सवाल पूछ लिया? मैं आपसे सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि मैं स्पष्ट और ईमानदार नतीजे पर पहुँच गया हूँ। दूसरे शब्दों में, मेरी मरजी है कि मैं इससे ज्यादा कुछ नहीं कहूँगा! मेरे स्पष्ट और ईमानदार नतीजों के बाद पूरी बहस खत्म हो जानी चाहिए। ये थे नेहरू! गांधी और पटेल दोनों की मृत्यु हो चुकी थी और अब डॉ. मुकर्जी के निधन के बाद वह आखिरी व्यक्ति, जो उनसे सवाल कर सकता था, वह भी जा चुका था। वे ऐसे राजा थे, जिनके पास दैवी अधिकार थे और उन्हें जो मन में आए, वह कर सकते थे।

मशहूर पत्रकार दुर्गादास ने लिखा है कि नेहरू युग में विपक्ष के तीन दमदार प्रवक्ता थे। ये थे श्यामाप्रसाद मुकर्जी, कृपलानी और लोहिया। इनसे पहले वे असली नेता थे, क्योंकि वे उस सबसे

बड़े वर्ग की आवाज थे, जो नेहरू की नीतियों का विरोध करता था। भाषण और वाद-विवाद के गुणों में वे उन सभी से पारंगत थे, जो उनके बाद आए।

इसके बाद उनकी माता जोगमाया ने उम्मीद छोड़ दी। नेहरू को 9 जुलाई को लिखे अपने आखिरी पत्र में उन्होंने लिखा—''आपकी चिट्ठी पूरी परिस्थिति का एक दुःखद वर्णन है। रहस्य से परदा हटाने में मदद करने की बजाय, आपके विचारों ने इसे और गहरा कर दिया है। मैंने एक निष्पक्ष जाँच की माँग की थी। मैंने आपका स्पष्ट और ईमानदार निष्कर्ष नहीं माँगा था। पूरे मामले में आपकी प्रतिक्रिया को सब जानते हैं। भारत के लोग और मैं (उनकी माँ) अब पूरी तरह समझ गए हैं। कई लोगों के दिमाग में एक शक गहराई से बैठ गया है। आखिर एक खुली, निष्पक्ष और फौरी जाँच में क्या दिक्कत है? मेरी चिट्ठी में उठाए गए प्रश्नों का कोई जवाब नहीं मिला है। मैंने आपसे साफ तौर पर कहा था कि मेरे पास पक्के सुबूत हैं, जिनसे कुछ महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक तथ्य साबित किए जा सकते हैं। आपने उन्हें जानने और समझने की जरा भी कोशिश नहीं की। आप कहते हैं, आपने बड़ी संख्या में लोगों से पूछताछ की, जो इस मौके से जुड़े तथ्यों को जानते हैं। यह विचित्र बात है कि हमें, परिवार के सदस्यों को उन लोगों के लायक नहीं समझा गया, जो इस मामले में कुछ बता सकते हैं! और फिर भी आप अपने निष्कर्ष को ईमानदार कहते हैं! अब आपसे बात करना व्यर्थ है। आप तथ्यों का सामना करने से डरते हैं। मैं कश्मीर की सरकार को अपने बेटे की मौत का जिम्मेदार मानती हूँ। मैं आपकी सरकार के इसमें शामिल होने का आरोप लगाती हूँ। हताशा में आप अपने ताकतवर संसाधनों का इस्तेमाल दुष्प्रचार के लिए कर सकते हैं; लेकिन सच सामने आकर रहेगा और एक दिन आपको भारत के लोगों को और स्वर्ग में भगवान् को भी जवाब देना होगा।''

रमाप्रसाद ने बख्शी गुलाम मोहम्मद को टेलीग्राफ और चिट्ठी के जरिए डॉ. मुकर्जी की निजी डायरी और लेखों की पांडुलिपियाँ माँगीं। बख्शी ने जवाब दिया कि उनका सारा सामान यू.एम. त्रिवेदी और टेकचंद ले जा चुके हैं, अतः रमाप्रसाद अब उनसे संपर्क करें। लेकिन त्रिवेदी या टेकचंद को उनकी डायरी नहीं मिली थी।

डॉ. कर्ण सिंह, जो सदर-ए-रियासत थे, उन्होंने बाद में अपनी आत्मकथा में लिखा—''उसके तुरंत बाद ही डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की कैद में मौत की दहला देनेवाली खबर आई। मुझे उनकी बीमारी और अस्पताल ले जाए जाने की जानकारी नहीं दी गई थी और मुझे अनधिकारिक सूत्रों से उस वक्त उनकी मौत का पता चला, जब उनके शव को श्रीनगर से विमान से बाहर ले जाया जा रहा था। जिन परिस्थितियों में राज्य सरकार की हिरासत में उनकी मौत हुई, वह भयानक गुस्से और संदेह की एक बड़ी वजह थे। जम्मू में लोगों का गुस्सा भड़क गया था, क्योंकि डॉ. मुकर्जी की शहादत प्रजा परिषद् की जंग लड़ते हुए हुई थी और यह खुली चर्चा हो रही थी कि उनकी मौत स्वाभाविक कारणों से नहीं हुई है।''

18 सितंबर, 1953 को लोकसभा में एन.सी. चटर्जी ने अपने भाषण में सबकुछ साफ कर दिया था। अपने भाषण में उन्होंने बताया कि किस हद तक भारत सरकार चाहती थी कि डॉ. मुकर्जी जम्मू व कश्मीर में दाखिल हो जाएँ और उन्हें वहाँ गिरफ्तार कर लिया जाए। यह बात इस तथ्य से साबित होती है कि जब डॉ. मुकर्जी रावी ब्रिज को पार करने वाले थे, उनका ड्राइवर घबरा गया।

उसने कहा कि उसके पास जम्मू व कश्मीर में दाखिल होने का परमिट नहीं है। तब जिलाधिकारी ने कहा कि वह आगे बढ़ें, परमिट आ जाएगा। चटर्जी ने भारत सरकार पर स्पष्ट मिलीभगत का आरोप लगाया और कहा, ''गुरदासपुर के जिलाधिकारी ने दरअसल डॉ. मुकर्जी और उनके कारवाँ को सीमा तक पहुँचाया, और ऐसा लगता कि उन्हें जम्मू और कश्मीर राज्य में धकेल दिया गया, जैसे जम्मू व कश्मीर की सरकार और भारत सरकार के बीच पहले से कोई समझौता हो!

''सर, यह स्पष्ट दिखाता है कि जम्मू व कश्मीर की सरकार और भारत सरकार के बीच किसी प्रकार का सहापराध, संयोजन, षड्यंत्र, समन्वय था। इसी वजह से डॉ. मुकर्जी को जम्मू व कश्मीर में फँसाया गया। यह एक बहुत अच्छी रणनीति हो सकती थी कि उन्हें भारत के सुप्रीम कोर्ट के अधिकार क्षेत्र से बाहर धकेल दिया जाए, ताकि एक और कानूनी असहजता से बचा जा सके, जो उस मौके पर हुई थी, जिसमें मुझे और डॉ. मुकर्जी को सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद रिहा करना पड़ा था। लेकिन इस बात ने भारत सरकार को इसमें बराबर का जिम्मेदार बना दिया है।''

जिन लोगों ने जाँच की माँग की, उनमें शामिल थे—जयप्रकाश नारायण, पुरुषोत्तम दास टंडन, हरि विष्णु कामथ, एम.आर. जयकर, मास्टर तारा सिंह, सुचेता कृपलानी, पं. हृदयनाथ कुंजरू, एस.एस. मोरे और अन्य। अतुल्य घोष, जो पश्चिम बंगाल कांग्रेस के अध्यक्ष थे और डॉ. बी.सी. रॉय ने भी दबे स्वरों में जाँच की माँग की। लेकिन ये सब, जैसी कि आशंका थी, व्यर्थ साबित हुईं। पं. जवाहरलाल नेहरू अपनी बात पर अड़े रहे।

आखिर नेहरू जाँच की माँग को खारिज करके किसे बचाने की कोशिश कर रहे थे? उन्हें शेख अब्दुल्ला से बहुत लगाव था, यह बात ठीक है और यह कहा जा सकता है कि उन्होंने शेख को बचाने की कोशिश की; तब आखिर इस बात की क्या सफाई दी जा सकती है कि सिर्फ 47 दिन बाद—8 अगस्त, 1953 को खुद शेख को प्रधानमंत्री पद से बरखास्त कर दिया गया? यह स्वीकार कर लेना असंभव है कि बरखास्तगी का फैसला इन 47 दिनों में ही किया गया और यह बात नेहरू के दिमाग में तब नहीं आई जब डॉ. मुकर्जी कैद में थे! यह सच है कि शेख को नेहरू ने नहीं, सदर-ए-रियासत डॉ. कर्ण सिंह ने बरखास्त किया; लेकिन यह भी समझा जा सकता है कि बाईस वर्ष के नाममात्र के शासक कर्ण सिंह शक्तिशाली शेख पर नेहरू की मरजी के बिना उँगली नहीं उठा सकते थे। शेख अब्दुल्ला को सदन में अपना बहुमत साबित करने तक का भी मौका नहीं दिया गया और उनके असंतुष्ट कैबिनेट मंत्री बख्शी गुलाम मोहम्मद को प्रधानमंत्री बना दिया गया। अब्दुल्ला को बाद में गिरफ्तार कर लिया गया और भारत में एक जेल से दूसरी जेल तक 11 साल तक लाया और ले जाया जाता रहा। उनपर विवादास्पद कश्मीर षड्यंत्र केस के तहत राज्य के खिलाफ साजिश रचने का आरोप लगाया गया। शेख के मुताबिक, उनकी बरखास्तगी और गिरफ्तारी के पीछे नेहरू के नेतृत्ववाली केंद्र सरकार थी। उन्होंने अपने दावे को पुख्ता करने के लिए बी.एन. मलिक के कथनों का हवाला दिया है, जो मलिक की पुस्तक 'माई इयर्स विद नेहरू' में छपे हैं। हालाँकि यह साफ है कि इसमें सच्चाई नहीं है।

एन.सी. चटर्जी ने अपने भाषण के सार में कहा कि जब अब्दुल्ला को गिरफ्तार किया गया, उसने कुछ मध्यस्थों से कहा कि उसे डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की मौत के मामले में गलत तरीके से फँसाया जा रहा है; जबकि वह निर्दोष है और वह यह सच बता सकता है कि डॉ. मुकर्जी की

मौत का जिम्मेदार असल में कौन है?

अब यह अब्दुल्ला ही जानते होंगे कि उन्होंने इस धमकी पर कभी अमल क्यों नहीं किया?

यह आम विचार के लिए रखा जा रहा है कि पिछली बातों पर गौर करते हुए यह अकारण नहीं होगा, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि नेहरू ने इस परिदृश्य में बड़ी दक्षता दिखाई—सबसे पहले एक तरफ उन्होंने बी.एन. मलिक को अब्दुल्ला और प्रजा परिषद् के रुख में नरमी लाने के लिए जम्मू व कश्मीर भेज दिया, जिससे लगता है कि वे जानते थे कि अब्दुल्ला सांप्रदायिक और जम्मू-विरोधी, डोगरा-विरोधी एवं भारत-विरोधी है और प्रजा परिषद् के आंदोलन में सच्चाई है। इसके बावजूद उन्होंने दूसरी तरफ डॉ. मुकर्जी-नेहरू-अब्दुल्ला के बीच हुए पत्र-व्यवहार में जो वर्ष 1953 के जनवरी-फरवरी के दौरान हुआ, उसमें अब्दुल्ला का जोरदार समर्थन किया और उन्हें हमेशा इतनी अच्छी स्थिति में रखा कि वह उनकी साजिश को अंजाम दे सके। उन्होंने शायद यह भी अंदाजा लगा लिया था कि डॉ. मुकर्जी परेशान होकर जम्मू व कश्मीर में दाखिल होने पर मजबूर हो जाएँगे और डॉ. मुकर्जी इस जाल में फँस भी गए। इसके बाद उन्होंने गुरदासपुर में उन्हें गिरफ्तार भी नहीं किया, जम्मू व कश्मीर में उन्हें दाखिल होने दिया और उनकी गिरफ्तारी के लिए अब्दुल्ला का इस्तेमाल किया तथा उन्हें भारतीय अदालतों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर निकलने दिया। निश्चित तौर पर यह कहा जा सकता है कि अब्दुल्ला ने डॉ. मुकर्जी जैसे बड़े नेता के साथ इतनी घोर लापरवाही भरा बरताव बिना नेहरू की मरजी के नहीं किया होगा कि उन्हें एक जीप में गिरफ्तार करके ले जाया जाए और फिर उन्हें बेहद कष्टदायी हालात में कैद करके रखा जाए। यही नहीं, शेख दम घोंटनेवाले मकान को मनोरम बँगला बताते रहे और वही शब्द नेहरू के भी थे। अंत में, अब्दुल्ला ने उनका बेहद लापरवाही से खराब और घातक इलाज करवाया। इस प्रकार नेहरू ने अब्दुल्ला का इस्तेमाल डॉ. मुकर्जी से निजात पाने के लिए किया, उनकी मौत की जाँच से इनकार किया और फिर बलिदान करने योग्य अब्दुल्ला से भी निजात पा ली।

यह पूरी कड़ी नेहरू की उस छवि से कहीं मेल नहीं खाती, जिसके मुताबिक उन्हें एक बड़ा सज्जन व्यक्ति, एक दूरदर्शी, गलती कर बैठने की हद तक उदार, बच्चों को प्यार करनेवाले चाचा नेहरू, संवेदनशील और सौंदर्य के उपासक, उत्तेजना में आनेवाले व भावुक और ऐसी अनेक बातें जो उनके बारे में कही जाती हैं। बावजूद इसके, इस नतीजे से इनकार नहीं किया जा सकता कि एक गहरी साजिश थी उस इनसान को खत्म करने की, जो पटेल के बाद नेहरू का सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी बन गया था। क्या नेहरू को किसी नौकरशाह या मंत्री के द्वारा सलाह दी जा रही थी, जैसे मलिक या रफी अहमद किदवई? हम यह कभी नहीं जान पाएँगे। लेकिन, जैसा कि अपराध की कथाएँ पढ़नेवाले पाठक जानते हैं, जब पुलिस मौत के किसी केस की चीर-फाड़ करती है तो वो सबसे पहले देखती है कि इस आदमी की मौत से सबसे ज्यादा फायदा किसे हो सकता है? और इस केस में और क्या जवाब इससे ज्यादा स्पष्ट हो सकता है?

डॉ. मुकर्जी की मौत के बाद एक कदम यह उठाया गया कि जम्मू व कश्मीर में दाखिल होने के लिए भारत के नागरिकों को परमिट लेने की बाध्यता खत्म कर दी गई। कई साल बाद तक अब्दुल्ला सत्ता में नहीं आ सके, लेकिन वह एक अलग कहानी है। इसके बाद अब सिर्फ ट्राम आंदोलन का जिक्र करना रह जाता है, जो डॉ. मुकर्जी की मौत के बाद हुआ। जून 1953 में कलकत्ता

ट्रामवेज कंपनी लिमिटेड, जो एक ब्रिटिश कंपनी थी, उसने अपने दूसरे दर्जे का किराया एक पाई (रुपए का चौंसठवाँ हिस्सा) बढ़ा दिया। कम्युनिस्ट पार्टी ने इसका विरोध किया और 13 जुलाई को बंद का ऐलान किया। इसके तहत उन्होंने कई जुलूस निकाले, करीब 13 ट्राम कारों को जला दिया और ट्राम में सफर करनेवालों पर एसिड बल्ब फेंके।

डॉ. बी.सी. रॉय, जो पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री थे, अपनी आँख के ऑपरेशन के लिए वियना गए हुए थे। उनकी गैर-मौजूदगी में सरकार ने आंदोलन से निपटने में घोर अयोग्यता का परिचय दिया।

इस आंदोलन से पहले तक डॉ. मुकर्जी की मौत पश्चिम बंगाल का सबसे ज्वलंत मुद्दा थी। नेहरू और उनके कैबिनेट मंत्री रफी अहमद किदवई की निंदा करनेवाले पोस्टर पूरे बंगाल में लगाए जा रहे थे। लोगों का गुस्सा चरम पर था। जैसा कि कहा जाता है, लोगों की छोटी याददाश्त का फायदा उठाते हुए ट्राम आंदोलन की वजह से डॉ. मुकर्जी का मुद्दा धीरे-धीरे ठंडा पड़ने लगा। कम्युनिस्टों को आंदोलन से भारी राजनीतिक लाभ मिला और पश्चिम बंगाल में उनका असर दिखने लगा, इसने लोगों के दिमाग से डॉ. मुकर्जी को भुला दिया। पूर्वी बंगाल में इसलामी प्रताड़ना के शिकार हुए शरणार्थी, जिनके लिए डॉ. मुकर्जी ने अपने कैबिनेट मंत्री के पद को लात मार दी थी, उनसे अलग हुए और अब कम्युनिस्ट पार्टी की ताकत बन गए। एक इतिहासकार ने हँसी में कहा था कि कम्युनिस्टों ने डॉ. मुकर्जी को ट्राम कार से कुचल देने में कामयाबी हासिल की। इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे पं. नेहरू को बड़ी राहत मिली। मशहूर पत्रकार सुखरंजन सेनगुप्ता ने अपनी पुस्तक में इस बात की ओर इशारा किया है कि हो सकता है, केंद्र सरकार के इंटेलीजेंस ब्यूरो (शायद नेहरू के आदेश और मलिक के नेतृत्व में) ने कम्युनिस्टों के साथ मिलकर इस आंदोलन को हवा देने का काम किया हो।

कम्युनिस्ट वर्ष 1977 में पूरी ताकत के साथ सत्ता में आ गए (इससे पहले वे वर्ष 1967-70 के बीच दो बार थोड़े समय के लिए सत्ता में आए थे) और अगले 34 साल तक राज्य में लगातार शासन किया। राज्य की पूरी राजनीतिक सोच-समझ वामपंथी हो गई और डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की स्मृति व उनके बलिदानों को असरदार तरीके से पूरी तरह तो नहीं, लेकिन काफी हद तक उनके अपने लोगों, बंगाली हिंदुओं के दिमाग से मिटा गया। उन कुछ लोगों में से जो उन्हें जानते थे, ज्यादातर उन्हें एक सांप्रदायिक राजनीतिज्ञ मानते थे, जिन्होंने तोड़ने, न कि जोड़ने की राजनीति की। दरअसल यह एक फैशन बन गया था कि लोग खुद को हिंदू नहीं, धर्मनिरपेक्ष कहने लगे थे। आखिर उन लोगों में ऐसा बदलाव कैसे आया, जो इसलामी नरसंहार के सबसे बड़े शिकार हुए हों, यहाँ तक कि पंजाब के शरणार्थियों से भी ज्यादा?

इस विडंबना का जवाब हासिल करने के लिए इस लेखक ने वामपंथी विचारधारा से प्रभावित विश्व स्तर के एक प्रख्यात इतिहासकार, जो अपना नाम नहीं देना चाहते थे, उनसे नाश्ते पर हुई खास बैठक में यह सवाल पूछा। वह इतिहासकार एक बड़े विद्वान् भी हैं और पूर्वी बंगाल मूल के ऊँची-जाति के बंगाली हिंदू भी हैं। वह पूरी तरह से आर.एस.एस. और बी.जे.पी. की राजनीति के विरोधी हैं, लेकिन उनमें डॉ. मुकर्जी के लिए कुछ सम्मान भी है। जो जवाब उन्होंने दिया, वह जितना विचित्र था, उतना ही आँखें खोल देनेवाला भी था। कौन याद रखना चाहता है, उन्होंने एक

आडंबरपूर्ण सवाल पूछा, कि उसकी माँ या बहन के साथ उसके सामने रेप हुआ था और वह कुछ भी नहीं कर सका था? इस बातचीत के दौरान विडंबना के सवाल पर विश्लेषण के बाद जो बात सामने आई, वह यह थी कि पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों ने खुद को गुस्से से मुक्ति दिलाने के लिए अपनी प्रताड़ना को अपनी अकर्मण्यता से सही ठहराना शुरू कर दिया था, जुल्म करनेवालों को उनके अपराध-बोध से मुक्ति दे दी थी और उस अपराध-बोध को अपने पूर्वजों पर थोप दिया (जिन्होंने मुसलमानों के साथ घोर दुर्व्यवहार किया) और आक्रामक रूप से धर्मनिरपेक्ष होने की आड़ में छिप गए।

यह एक तरह का संशोधित स्टॉकहोम सिंड्रोम है शायद! हालाँकि उनकी याद उनकी पार्टी के कार्यकर्ताओं, रा.स्व. संघ और उससे जुड़े संगठनों (जो पश्चिम बंगाल में भी, इतने महत्त्वहीन नहीं हैं, जितना कि कुछ लोग सोचते हैं) और उन लोगों में बाकी है, जिन्होंने पूर्वी पाकिस्तान में हिंदुओं का नरसंहार देखा है या डॉ. मुकर्जी की उपलब्धियों के बारे में जानते हैं।

उनके आदर्श और कार्य हालाँकि भारत के दूसरे हिस्सों में असर दिखा रहे हैं। इसका नतीजा भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी.), जो जन संघ की उत्तराधिकारी है और जिसकी उन्होंने स्थापना की थी, उसके केंद्र की सत्ता में आने के रूप में सामने आया। उसका नेतृत्व उनके एक समय के निजी सचिव अटल बिहारी वाजपेयी ने किया और वह भारत की पहली गैर-कांग्रेसी सरकार थी, जिसने वर्ष 1999-2004 के दौरान अपना कार्यकाल पूरा किया। 2012 में वह मुख्य विपक्षी पार्टी है और छह राज्यों में अपने दम पर और तीन राज्यों में गठबंधन की सरकार चला रही है।

उनकी और उनके उत्तराधिकारी तथा शिष्य पं. दीनदयाल उपाध्याय की तसवीरें पार्टी के सभी दफ्तरों और समारोहों में दिख जाती हैं। भाजपा ने उनके नाम पर एक रिसर्च ईकाई बनाई है, जिसे 'डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी रिसर्च फाउंडेशन' (SMRF) कहा जाता है। कई सड़कों और संस्थाओं को उनका नाम दिया गया है और उनकी मूर्तियाँ देश के कई जाने-माने शहरों में लगाई गई हैं। हालाँकि उनके पैतृक शहर कोलकाता में, जो राज्य की राजधानी है तथा जिसे उन्होंने अपनी हाथों से सँवारा, वहाँ उनकी मूर्ति को मैदान की एक महत्त्वहीन जगह पर लगा दिया गया है। जम्मू व कश्मीर और पंजाब के बीच की सीमा पर माधोपुर वह आखिरी जगह थी, जहाँ उनकी मूर्ति लगाई गई। यह वही जगह थी, जहाँ उन्हें गिरफ्तार किया गया और जहाँ से उन्हें मौत तक ले जाया गया।

उनकी पार्टी ने गठबंधन की मजबूरियों के बावजूद संविधान के अनुच्छेद 370 को खत्म करने का संघर्ष जारी रखा है। इनसे जम्मू व कश्मीर के पूरी तरह से भारत में विलय के लिए उनके संघर्ष की याद को भी मिटने नहीं दिया है। वर्ष 2010 में उनकी पुण्यतिथि पर SMRF ने जब एक मेमोरियल सेमिनार आयोजित किया, तो एक इतिहास बन गया; क्योंकि वह सेमिनार दिल्ली या नागपुर में नहीं हुआ, बल्कि श्रीनगर में हुआ, जहाँ हिस्सा लेनेवालों में से एक तो प्रोफेसर रियाज पंजाबी भी थे, जो कश्मीर विश्वविद्यालय के कुलपति थे।

उनका बलिदान व्यर्थ नहीं गया है। सच्चा त्याग कभी व्यर्थ नहीं जाता।

□

16
उपसंहार

जैसा कि पहले कहा गया है, श्यामाप्रसाद की किसी संतान या उनकी अगली पीढ़ी में से किसी ने भी राजनीति या शिक्षा या कानून के क्षेत्र में या किसी भी तरह के सार्वजनिक जीवन में कोई अभिरुचि नहीं दिखाई, जबकि ये सब श्यामाप्रसाद की विशेष योग्यताओं में शामिल थे। फिर भी, किसी जीवनी को पढ़ने के बाद पाठकों के मन में कुछ उत्सुकता हमेशा रह जाती है कि आने वाली पीढ़ी का क्या हुआ (पुस्तक की शुरुआत में दी गई वंशावली को देखें)।

श्यामाप्रसाद और उनकी पत्नी सुधा देवी की पाँच संतानें थीं। इनमें से सबसे छोटी संतान, जो एक लड़का था, की मौत शैशवकाल में ही डिप्थीरिया से हो गई थी। कुछ ही समय बाद सुधा देवी का भी निधन हो गया, जो अपने बच्चों को एक अत्यधिक व्यस्त पिता के सहारे छोड़ गईं। पिता ने बच्चों की खातिर दोबारा विवाह न करने का फैसला किया। बच्चों का लालन-पालन तारा देवी ने किया, जो उनके बड़े भाई रमाप्रसाद की पत्नी थीं और जिन्होंने बच्चों को माँ की तरह पाला। बच्चों में सबसे बड़े अनुतोष (संतू) ने बहुत बड़े बिल्डर साहिब बनर्जी की बेटी से विवाह किया और उनकी मदद से अपना कारोबार खड़ा किया। उनकी पत्नी भी एक ऑपरेशन के दौरान युवावस्था में ही चल बसी। उनके दो पुत्र थे—सुभाप्रसाद और सौराप्रसाद और दो बेटियाँ थीं—सुप्रिया और शर्मिला। सुभाप्रसाद एक उद्योगपति हैं और कोलकाता के न्यू अलीपुर में रहते हैं। उनके बेटे अग्रोतोष, जो पुरुष वंशजों की शृंखला में सबसे नए हैं, वह लंदन में रहते हैं, जहाँ वे एक मुंशी के तौर पर काम करते हैं। सौराप्रसाद भी यू.के. चले गए, लेकिन इन दिनों वह कहाँ हैं, इसका पता किसी को नहीं मालूम। छोटे पुत्र देवतोष (अंटू) जर्मनी चले गए थे, जहाँ उन्होंने शादी की और फिर तलाक हो गया। उनकी बेटी मीता आज भी जर्मनी में कहीं रहती हैं। अनुतोष और देवतोष दोनों की मृत्यु हो चुकी है। बेटियों में बड़ी लड़की सविता (बुआ) की शादी निशीथ बनर्जी से हुई थी, जो टाटा इंजीनियरिंग ऐंड लोकोमोटिव कंपनी लिमिटेड (जिसे अब टाटा मोटर्स के नाम से जाना जाता है), जमशेदपुर में इंजीनियर थे और बाद में गेस्ट कीन विलियम्स, जो कलकत्ता में थी, वहाँ भी काम किया। उन्होंने कलकत्ता के परणाश्री बेहाला में मकान बनाया था, लेकिन बाद में पुणे चले गए। उनकी दूसरी बेटी थी मंजु और उनके पति थे बिमान मुकर्जी।

सविता की मृत्यु इस पुस्तक को लिखे जाने के दौरान हुई, लेकिन इस लेखक को करीब एक साल पहले उनके साक्षात्कार का मौका मिला था। सविता के पुत्र अनूप अमेरिका के शिकागो शहर में रहते हैं। छोटी बेटी आरती (हासी) ने एक सिविल इंजीनियर परेश भट्टाचार्या से विवाह किया, जो अमेरिका चले गए। उन्होंने कुछ समय तक पुएर्तो रीको में भी काम किया और फिर न्यूयॉर्क सिटी प्लानिंग कमीशन से जुड़ गए।

आरती, जो अब श्यामाप्रसाद की संतानों में अकेली जीवित बची हैं, वह अमेरिका के न्यूयॉर्क में क्वींस के रेगो पार्क में रहती हैं। उनका इकलौता पुत्र संदीप न्यूयॉर्क की एक कंपनी में वकील है।

मुकर्जी हाउस, जिसका निर्माण सर आशुतोष ने 77 आशुतोष मुकर्जी रोड पर करवाया, वह आज भी खड़ा है और इसमें सर आशुतोष तथा उनकी आनेवाली पीढ़ियों की कई सार्वजनिक संस्थाएँ हैं। मधुपुर में गंगाप्रसाद हाउस, जो श्यामाप्रसाद को बहुत पसंद था, की देखभाल न होने और खाली पड़े रहने की वजह से ढहने लगा और फिर उसपर कब्जा किया जाने लगा। अंत में इसे बेच दिया गया और नए मालिक ने मकान को ध्वस्त कर दिया। उस स्थल पर सिर्फ एक फलक लगा है, जो उसके गौरवशाली दिनों की याद दिलाता है। 'पुरी हाउस' उनके एक उत्तराधिकारी को मिला था, जिसने उसे गिराकर एक होटल बना दिया।

□

17

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के जीवन के महत्त्वपूर्ण पड़ाव

6 जुलाई, 1901 — सर आशुतोष और लेडी जोगमाया मुकर्जी के 77 आशुतोष मुकर्जी रोड (तब रुस्सा रोड), भवानीपुर, कलकत्ता में जन्म।

1906 — भवानीपुर मित्रा संस्थान स्कूल में प्रवेश।

1917 — मैट्रिक की परीक्षा पास की और प्रेसिडेंसी कॉलेज, कलकत्ता में दाखिल हुए।

1921 — कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रेसिडेंसी कॉलेज, कलकत्ता से बी.ए. इंग्लिश ऑनर्स की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पहला स्थान प्राप्त किया। 16 अप्रैल, 1922 में मुजफ्फरपुर, बिहार की सुधा देवी (चक्रवर्ती) से विवाह।

1923 — बंगाली में एम.ए. की परीक्षा में प्रथम श्रेणी से अव्वल स्थान प्राप्त किया। 1924 बैचलर ऑफ लॉ की परीक्षा में प्रथम श्रेणी से पहला स्थान और कलकत्ता हाई कोर्ट के इंडियन बार में शामिल किए गए। मई में पिता सर आशुतोष का देहांत हुआ। उनकी जगह पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिंडिकेट में चुने गए।

1926 — बार की पढ़ाई के लिए लंदन रवाना। लिंकन्स इन में नामांकन हुआ। कॉमनवेल्थ में हुए सम्मेलन में कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया।

1927 — बार का बुलावा (बैरिस्टर बनने के लिए) आया और कलकत्ता हाई कोर्ट के इंग्लिश बार में शामिल हुए।

1929 — बंगाल विधान परिषद् के चुनाव में कांग्रेस के टिकट पर विश्वविद्यालय की सीट पर चुने गए।

1930 — विधान परिषद् के बहिष्कार के कांग्रेस के फैसले से असहमत हुए, इस्तीफा दिया, फिर से निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में चुने गए।

1933 — पत्नी सुधा का निधन।

1934 — कलकत्ता विश्वविद्याल के कुलपति रहे, लगातार दो बार।

1935 — भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलौर के कोर्ट ऐंड काउंसिल के सदस्य बने।

1937 — भारत सरकार अधिनियम 1935 के तहत कलकत्ता विश्वविद्यालय से बंगाल विधानसभा के लिए चुने गए।

1938 — कलकत्ता विश्वविद्यालय के द्वारा डी.लिट. (ओनोरिस काउसा) की उपाधि और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के द्वारा एल.एल.डी. (ओनोरिस काउसा) की उपाधि दी गई। लीग ऑफ नेशंस की बौद्धिक सहयोग समिति के भारतीय प्रतिनिधि के रूप में नामांकन हुआ।

1939 — राजनीति में प्रवेश। कलकत्ता में हिंदू महासभा के सम्मेलन में शामिल हुए।

1940 — अखिल भारतीय हिंदू महासभा के कार्यकारी अध्यक्ष चुने गए और बंगाल हिंदू महासभा के अध्यक्ष बने।

1941 — बंगाल के प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक गठबंधन मंत्रिमंडल में शामिल हुए, जिसका नेतृत्व ए.के. फजलुल हक कर रहे थे। उस सरकार के वह वित्त मंत्री थे। बिहार के भागलपुर में हिंदू महासभा के सम्मेलन में शामिल हुए। डिफेंस ऑफ इंडिया रूल के तहत गिरफ्तार हुए, बाद में रिहा किए गए।

1942 — क्रिप्स मिशन के सर स्टैफोर्ड क्रिप्स से मिले। हक के नेतृत्व वाली कैबिनेट से, मिदनापुर में भारत छोड़ो आंदोलन के आंदोलनकारियों पर कठोर कदम उठाए जाने के खिलाफ और चक्रवात-पीड़ितों की सरकारी उपेक्षा के खिलाफ इस्तीफा दिया।

1943 — अकाल राहत के काम में खुद को झोंक दिया। विधानसभा में अकाल से लापरवाही से निपटने के मामले में मुसलिम लीग सरकार की जमकर खिंचाई की। अमृतसर में अखिल भारतीय हिंदू महासभा की बैठक की अध्यक्षता की।

1944 — अंग्रेजी अखबार 'नेशनलिस्ट' की स्थापना; बिलासपुर में अखिल भारतीय हिंदू महासभा की बैठक की अध्यक्षता की।

1945 — नवंबर में आजाद हिंद फौज दिवस को छात्रों के प्रदर्शन के दौरान उत्पन्न तनाव को खत्म करने में अकेले अहम भूमिका निभाई। केंद्रीय सभा के चुनाव में हार मिली। हार्ट अटैक आया, बिस्तर पर पड़े और स्वास्थ्य लाभ के लिए मधुपुर चले आए।

1946 — विश्वविद्यालय क्षेत्र से बंगाल विधानसभा के लिए चुने गए। कैबिनेट मिशन के बाद आए संसदीय प्रतिनिधिमंडल से मिले। मुसलिम लीग के 'डायरेक्ट एक्शन' की वजह से भारी नरसंहार हुआ, जिसे 'ग्रेट कलकत्ता

किलिंग' भी कहते हैं।

1947 — भारत का बँटवारा जब लगभग तय हो चुका था, बंगाल के बँटवारे का आंदोलन छेड़ा और जिन्ना के कब्जे से पश्चिम बंगाल छीन लिया। संविधान सभा के सदस्य चुने गए। भारत को आजादी मिली। डॉ. मुकर्जी को आजाद भारत की पहली कैबिनेट में उद्योग और आपूर्ति मंत्री बनाया गया। महाबोधि सोसाइटी के अध्यक्ष नियुक्त हुए। हिंदू महासभा को सुझाव दिया कि राजनीति छोड़कर सामाजिक कार्यों में योगदान करे।

1948 — हिंदू महासभा ने उनकी सलाह मानी। छोटी बेटी आरती क्षय रोग से ग्रस्त हुई और विमान से कसौली लाया गया। दामोदर वैली कॉरपोरेशन की स्थापना अमेरिका के टी.वी.ए. की तर्ज पर केंद्र, पश्चिम बंगाल और बिहार सरकार के साझा स्वामित्व में की और धनबाद के निकट सिंदरी में उर्वरक कारखाना शुरू किया। बंगलौर के हिंदुस्थान एयरक्राफ्ट्स को सरकार के अधीन किया और मध्य प्रदेश के रायपुर के निकट भिलाई स्टील प्लांट की नींव रखी।

1949 — बुद्ध के शिष्यों सारिपुत्ता और महामउग्गल्लना के स्मृति-चिह्नोंवाली मंजूषा की जिम्मेदारी नेहरू से ली। हिंदू महासभा राजनीति छोड़ने के फैसले से पलट गई; डॉ. मुकर्जी ने महासभा के सभी पदों से इस्तीफा दे दिया।

1950 — पिछले पूर्वी पाकिस्तान में राज्य-प्रायोजित हिंदू-विरोधी सामूहिक नरसंहार शुरू हुआ। नेहरू ने लियाकत अली, जो पाकिस्तान के प्रधानमंत्री थे, के साथ समझौते की पहल की। डॉ. मुकर्जी पूरी तरह इससे असहमत थे। उन्होंने कैबिनेट से इस्तीफा दे दिया। कलकत्ता वापस लौटने पर हावड़ा में भारी संख्या में जुटे समर्थकों ने उनका स्वागत किया। कलकत्ता में पार्टी के गठन हेतु पहली बातचीत के लिए गुरुजी गोलवलकर से मिले।

1951 — पार्टी का गठन किया। पहले नाम दिया इंडियन पीपुल्स पार्टी। 21 अक्तूबर को दिल्ली के राघोमल आर्य कन्या विद्यालय में हुए सम्मेलन में नई पार्टी भारतीय जन संघ का गठन किया। डॉ. मुकर्जी को सर्वसम्मति से पार्टी का पहला अध्यक्ष चुन लिया गया।

1952 — दक्षिण कलकत्ता संसदीय सीट से पहली लोकसभा के लिए चुने गए। लोकसभा में विपक्ष के वास्तविक नेता बने। पाकिस्तान और जम्मू में डोगराओं को प्रताड़ित करनेवाली शेख अब्दुल्ला की सरकार के प्रति ढीला रवैया अपनाने के लिए सरकार की धज्जियाँ उड़ा दीं। कानपुर में जन संघ के अधिवेशन की अध्यक्षता की। महाबोधि सोसाइटी के अध्यक्ष के तौर पर बुद्ध के शिष्यों सारिपुत्ता और महामउग्गल्लना के अवशेषों को साँची के स्तूप में स्थापित कराया। कटक में बँगला साहित्यिक सम्मेलन की अध्यक्षता की। 10 अगस्त को श्रीनगर की यात्रा की, जहाँ शेख अब्दुल्ला,

		बख्शी गुलाम मोहम्मद और युवराज कर्ण सिंह से वार्त्ताएँ कीं।
जनवरी-फरवरी 1953	—	नेहरू और अब्दुल्लाह के साथ जम्मू के डोगराओं की स्थिति पर चर्चा के लिए त्रिपक्षीय पत्रों का आदान-प्रदान किया; लेकिन ये पूरी तरह से बेकार साबित हुआ।
8 मई	—	दिल्ली से जम्मू के लिए पैसेंजर ट्रेन से निकले। उनका घोषित उद्देश्य था खुद को जम्मू के हालात से रू-ब-रू कराना। उन्होंने बिना परमिट के दाखिल होने का अपना इरादा भी साफ कर दिया। अंबाला, लुधियाना, जालंधर, पठानकोट समेत कई जगहों पर उनका जोरदार स्वागत हुआ।
11 मई	—	जम्मू व कश्मीर में दाखिल होने दिया गया और राज्य पुलिस के द्वारा माधोपुर ब्रिज पर गिरफ्तार किया गया। आरोप लगाया गया कि उन्होंने ऐसा काम किया है या कर रहे हैं, जिससे सार्वजनिक शांति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया है (राज्य में बैगर परमिट घुसने का आरोप नहीं लगा)। एक बंद जीप में श्रीनगर के एक कॉटेज (उपजेल) में लाया गया और वहीं कैद कर दिया गया।
24 मई	—	नेहरू और काटजू आराम के लिए श्रीनगर पहुँचे, लेकिन उनका हाल-चाल तक नहीं पूछा।
20 जून	—	शायद उन्हें दिल का दौरा पड़ा।
22 जून	—	शायद दूसरी बार दिल का दौरा पड़ा। अपने कॉटिज से उन्हें सीढ़ियों पर चलाते हुए नीचे उतारा गया। एक टैक्सी में अस्पताल ले जाया गया। पहली मंजिल तक सीढ़ियाँ चढ़वाकर ऊपर लाया गया और वहीं प्रसूति-गृह वार्ड में भरती करा दिया गया।
23 जून	—	तड़के सुबह उनका निधन हो गया। मृत्यु का वक्त और कारण स्पष्ट नहीं है। उसी दिन उनके शरीर को विमान से कलकत्ता लाया गया।
24 जून	—	उनकी शवयात्रा में जन-सैलाब उमड़ पड़ा। केवड़ाताला श्मशान में पंचतत्त्व में विलीन।

□

संदर्भिका

ओ

क

ट

ठ

ड

ढ

प

भ

म

य

र

ल

व

श

स

ह

□□□

तथागत राय के कॅरियर की शुरुआत एक सिविल इंजीनियर के रूप में हुई। आगे चलकर वे भारतीय जनता पार्टी में शामिल हुए और पश्चिम बंगाल के प्रदेश अध्यक्ष बने। वर्तमान में भाजपा राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य हैं। उन्होंने अंग्रेजी और अपनी मातृ-भाषा बाँग्ला में काफी कुछ लिखा है, जो प्रकाशित भी हुआ है। सन् 2007 में प्रकाशित उनकी पुस्तक **'ए सप्रेस्ड चैप्टर इन हिस्ट्री'** को अपार प्रसिद्धि मिली, जिसमें हिंदुओं के पूर्वी पाकिस्तान और बाँग्लादेश से पलायन करने का वर्णन है, और इस विषय पर यह अंग्रेजी में लिखी गई गिनी-चुनी पुस्तकों में से एक है। 66 वर्षीय तथागतजी की दो बेटियाँ हैं और उनका अधिकांश जीवन कोलकाता में बीता है।

अपने सार्वजनिक जीवन में वे अपनी अंदरूनी प्रतिबद्धताओं को प्रकट करने में कभी डरते नहीं थे। खामोशी में कठोरतम झूठ बोले जाते हैं। जब बड़ी गलतियाँ की जाती हैं तब इस उम्मीद में चुप रहना अपराध है कि एक-न-एक दिन कोई सच बोलेगा।

—***डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन,*** *दार्शनिक और भारत के द्वितीय राष्ट्रपति—*
डॉ. मुकर्जी की रहस्यमय मृत्यु के बाद व्यक्त उद्गार

ऐसा लग रहा है—मैंने अपना एक भाई खो दिया।

—***अब्दुल काशेम फजलुल हक,*** *कुछ समय तक अविभाजित बंगाल, बाद में पूर्वी पाकिस्तान के प्रधानमंत्री*

यह दुःखदायी है कि असाधारण रूप से सक्षम इस राजनीतिक हस्ती की जिंदगी इतनी जल्द खत्म कर दी गई,...जब वे अपने तरीके से कश्मीर के भारत में पूरी तरह विलय की जंग लड़ रहे थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व और अप्रतिम प्रतिभा को कभी भुलाया नहीं जाना चाहिए। उनकी स्मृति को मौजूदा लेखक ने श्रद्धांजलि दी है, जिसके डॉ. मुकर्जी से उनके जीवनकाल के दौरान ही गहरे मतभेद थे।

—***हीरेन मुखर्जी,*** *सांसद और प्रख्यात कम्युनिस्ट नेता*

कुछ दिनों तक उनके साथ हिलने-मिलने के बाद मैं यह मानने लगा कि उनके बारे में हक साहब ने जो कहा था, वह सच ही था। सांप्रदायिक संबंधों के मामले में वे कई कांग्रेसियों से भी ज्यादा उदार थे। उनसे मिलने के बाद मुझे यह पहली बार अहसास हुआ कि हिंदू सभा के एक हिंदू नेता का मुसलमानों के प्रति उदार होना संभव है। (बाँग्ला से अनूदित)

—***अबुल मंसूर अहमद,*** *अविभाजित बंगाल के मुसलिम नेता, बाद में पाकिस्तान के मंत्री*

स्वतंत्रता सेनानियों के तारामंडल में डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी लगभग एक तारे की तरह चमकते हैं। भारत की एकता और अखंडता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिहाज से वे अपने जीवनकाल में ही एक प्रसिद्ध व्यक्ति बन चुके थे।

—***चौधरी रणबीर सिंह,*** *सदस्य, संविधान सभा*

...आपकी महानता, मेरे लिए आपका प्रेम, आपकी निर्भयता मेरे कण-कण में हमेशा के लिए रची-बसी रहेगी। अपने चरण-कमल में मेरा विनम्र प्रणाम स्वीकार कीजिए। (बाँग्ला से अनूदित)

—***काजी नजरुल इसलाम,*** *बंगाल के महान् कवि*

एक महामानव चला गया। आह! बौद्धिकता का एक विशाल सूरज अस्त हो गया!

—***हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय,*** *कवि, सांसद एवं सरोजिनी नायडू के भाई*

उन्होंने उन्हें मार डाला।

—***श्रीमाँ,*** पांडिचेरी

ISBN 978-93-5048-236-0

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com
₹ 800/-